॥ श्रीः ॥

सनातन-धर्मोद्धारः

भाषा-भाव प्रभा टीका समेतः

(सामान्यकाण्डस्य उत्तरार्द्धः)

तृतीय खण्डः

श्रीमन्महर्षि गौतमवंशोत्पन्न सरयूपारीण पण्डितेन

श्री काशी वासिना

उमापति द्विवेदिना (नकछेदराम शर्मणा) विरचितः ।

पण्डित मदनमोहन मालवीयस्य आदेशानुसारं

श्री रामकृष्णदासेन मुद्रितः प्रकाशितश्च ।

THE

SANATANA DHARMODDHARA

BEING

A SANSKRIT TREATISE ON

THE ETERNAL RELIGION OF INDIA

WITH A FREE RENDERING IN HINDI

BY

PANDIT UMAPATI DVIBEDI

ALIAS

PANDIT NAKCHED RAM DUBE

PRINTED AND PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF

PANDIT MADAN MOHAN MALAVIYA

BY

RAM KRISHNA DAS,

AT THE BENARES HINDU UNIVERSITY, PRESS.

धर्मो रक्षति रक्षितः

भूमिका

जब काशी में विश्वविद्यालय के स्थापन करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था, उस समय विश्वविद्यालय का एक प्रधान उद्देश्य यह प्रकाश किया गया था कि धार्मिक तथा नीति सम्बन्धी शिक्षा देकर नवयुवकों में मानसिक बल के साथ साथ धर्मबल और चरित्र-बल बढ़ाया जाय। प्रस्ताव के प्रकाश होने पर कई मित्रों ने यह पूछा कि हिन्दू जाति में कितने ही सम्प्रदाय हैं और सभी अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार अपना धार्मिक जीवन बनाते हैं। ऐसा कौन-ग्रन्थ है जिसको पढ़ाने में सब सम्प्रदाय वालों की सम्मति हो जावेगी। मैंने यह उचित समझा कि सनातनधर्म का एक ऐसा संग्रह बनाया जाय जिसको सब सम्प्रदाय स्वीकार करें और जिसके द्वारा नवयुवकों को धर्म के सिद्धान्तों की और प्रधान उपदेशों की शिक्षा मिले।

ऐसा एक संग्रह बनाया गया और जनवरी १९०६ में प्रयाग में अखिल-भारतवर्षीय सनातनधर्म महासभा के सामने कुम्भ मेले के अवसर पर प्रूफ के रूप में रक्खा गया। १९०६ के कुम्भ के अवसर पर सनातनधर्म महासभा के सभापति पूज्यपाद गोवर्धन मठ के श्री शंकराचार्य जी थे। सभा में और भी बड़े बड़े विद्वान् और तपस्वी उपस्थित थे। एक सहस्र के लगभग संग्रह की प्रतियाँ विद्वानों के सामने रक्खी गईं। विद्वानों ने संग्रह को बहुत अच्छा माना और यह सम्मति प्रकट की कि संग्रह पूरा करके प्रकाशित किया जाय। उन विद्वानों में मेरे मित्र पण्डित उमापति द्विवेदी, उपनाम पण्डित नकछेद राम दुबे भी थे। उनकी यह सम्मति थी कि संग्रह एक निबन्ध के रूप में प्रकाशित किया जाय जिसमें पूर्वापर का सम्बन्ध हो और जिसमें सनातनधर्म के जटिल प्रश्नों का विचार भी हो।

याज्ञवल्क्य जी ने विद्या और धर्म के चौदह स्थान लिखे हैं—

पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्राङ्ग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

पंडित उमापति जो इन विद्याओं के निधि थे, विशेष कर दर्शन शास्त्र के वे बड़े भारी विद्वान् थे। मैंने पंडित जी से निवेदन किया कि आप के समान दूसरा कौन विद्वान् है जिससे ऐसा ग्रन्थ लिखने को कहा जाय—आप स्वयं इस कार्य को उठाइये। पंडित जी ने ग्रन्थ का लिखना अङ्गीकार किया और बहुत परिश्रम से बहुमूल्य "सनातनधर्मोद्धार" नाम का ग्रन्थ बना दिया। पंडित उमापति जी के उत्तराधिकारियों ने यह ग्रन्थ हिन्दू विश्वविद्यालय को दे दिया है जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

ग्रन्थ बड़ी प्रौढ़ संस्कृत भाषा में लिखा गया है और ग्रन्थकार ने सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी सरल और स्वच्छ भाषा में कर दिया है जिससे केवल हिन्दी जानने वालों को भी ग्रन्थ का अभिप्राय विदित हो जाय। परन्तु ग्रन्थ के महत्व को पूर्णरूप से वे ही विद्वान् समझ सकते हैं जो याज्ञवल्क्य जी के ऊपर लिखे वचन के अनुसार विद्या और धर्म के चौदह स्थानों से परिचय रखते हों।

ग्रन्थ के दो भाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। और प्रत्येक भाग के दो दो खण्ड हैं। पहिले पूर्वार्द्ध को छपे कई वर्ष हो गए। अनेक कारणों से ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध के छपवाने में बहुत विलम्ब हुआ है, इसका मुझको खेद है। किन्तु विश्वनाथ जी के अनुग्रह से अब इस ग्रन्थ के तीसरे और चौथे भाग भी छप गए हैं और यह सम्पूर्ण ग्रन्थ विद्वानों के सामने शीघ्र पहुँच जावेगा। यह ग्रन्थ न केवल

विद्यार्थियों की धार्मिक शिक्षा में बड़ा भारी साधन होगा, किन्तु सर्व-साधारण को भी धार्मिक ज्ञान और सन्तोष देने में सहायक होगा।

ग्रन्थ के पहिले भाग में ग्रन्थकार ने चारो खण्डों की सूची अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों भाषाओं में छापी थी। मैं विद्वानों की दृष्टि उस सूची पर आकर्षित करता हूँ। सूची को देखने से ही यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थ के पहिले व दूसरे भागों में सनातनधर्म के अनेक बड़े बड़े गम्भीर प्रश्नों का ग्रन्थकार ने विवेचन किया है और पूर्ण पाण्डित्य से प्रमाण पूर्वक सनातनधर्म के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। उसमें जो देशी और विदेशी विद्वानों ने प्रचलित भाष्य व टीका से मतभेद प्रकट किया है और उस पर आक्षेप किया है उसका बड़ा पाण्डित्य पूर्ण उत्तर दिया गया है।

उत्तरार्द्ध के दोनों खण्डों में सामान्य धर्म का बहुत अच्छा निरूपण किया गया है। इसमें सनातनधर्म संग्रह में छापे गए सामान्य धर्म का उपदेश विपुल रीति से आ गया है, और ग्रन्थकार ने उसको कई अंशों में उपबृंहित किया है। जो विद्वान् इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे, उनको विदित होगा कि धर्मोपदेश का ऐसा दूसरा ग्रन्थ दुर्लभ है। पाठशाला और विद्यालय के विद्यार्थियों को इसका ज्ञान अत्यन्त उपकारी होगा और मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थ के द्वारा न केवल हिन्दू युवकों को, किन्तु सर्वसाधारण में जैसे जैसे यह ग्रन्थ पढ़ा व पढ़ाया जायगा, व कथा और उपदेश के द्वारा जनता में इसके सिद्धान्तों का ज्ञान फैलेगा, उतना ही इसके पढ़ने वालों की संख्या बढ़ेगी और पढ़नेवालों में सत्य धर्म का ज्ञान और उसमें श्रद्धा बढ़ेगी। उस समय कुण्डधार के इस कथन की सत्यता समझ में आएगी कि—

पृथ्वीं रत्नपूर्णांवामहद्वा रत्न सञ्चयम्।
भक्ताय नाहमिच्छामि भवेदेषतु धार्मिकः ॥

रत्न से भरी पृथ्वी अथवा बड़ा रत्नों का ढेर मैं अपने भक्त के लिये नहीं चाहता। मैं चाहता हूं कि वह धार्मिक हो। और नीचे लिखे दूसरे वचन की भी सत्यता का विश्वास लोगों के हृदय में जड़ पकड़ेगा—

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वंधर्मादवाप्यते ॥

अर्थात् विद्या, रूप, धन, वीरता, कुलीनता, निरोगपन, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष, यह सब धर्म से प्राप्त होता है। इसी लिये महाभारत और पुराण पुकार पुकार कर यह कहते हैं कि "यतो धर्मस्ततो जयः"—जहाँ धर्म है वहाँ जय है।

यह ग्रन्थ सनातनधर्म के ज्ञान का उत्तम प्रदीपक है। सब सभा, पाठशाला और विद्यालय के अधिकारियों को चाहिये कि इसकी एक एक प्रति अपने पाठशाला या विद्यालय और सभा में रक्खें और इसके द्वारा अपनी अपनी संस्थाओं में सनातनधर्म के उपदेशों का प्रचार करें। जिस परमात्मा के अनुग्रह से यह ग्रन्थ बनाया गया है, उसी से प्रार्थना है कि इसके द्वारा सनातनधर्म के लोकोपकारी सिद्धान्तों का सारे देश में प्रचार हो और समस्त जगत का हित हो।

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

प्रयाग
वैशाख कृ० २,
सं० १९९९

मदनमोहन मालवीय

सूचीपत्र

उत्तरार्द्ध तृतीय खण्ड

Part III.

CONTENTS.

सनातनधर्मोद्धारः

तृतीयखण्डः

अथ सामान्यधर्मनिरूपणमुत्तरार्द्धम्

तत्र सामान्यधर्मसङ्ग्रहः

धर्मश्च द्विविधः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च ।

तदुक्तं मनुना अ० १२—

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं धर्म वैदिकम् ॥८८॥
इह वाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तमिति कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमभिधीयते ॥८९॥

फलतोऽपि च भेदो दर्शितो वाराहपुराणे—

प्रवृत्तिसंज्ञके धर्मे फलमभ्युदयो मतः ।
निवृत्तिसंज्ञके धर्मे फलं निःश्रेयसं मतम् ॥

तत्र निवृत्तिलक्षणो धर्मो दर्शनकाण्डे निरूपयिष्यते । प्रवृत्तिलक्षणोऽपि द्विविधः—

भाषा

अब सामान्य धर्मों का निरूपण (उत्तरार्द्ध का आरम्भ) किया जाता है । उसमें सामान्य धर्मों का संग्रह प्रथम किया जाता है ।

यहाँ तक लक्षण और प्रमाण के द्वारा धर्म का निरूपण हो चुका और धर्म दो प्रकार का होता है जैसा कि कहा है "प्रवृत्तञ्च०" वैदिक धर्म दो प्रकार का होता है । एक प्रवृत्त दूसरा निवृत्त । लोक वा परलोक के किसी विषयानन्द की कामना के बिना, ब्रह्मज्ञान के लिये जो वैदिक कर्म किया जाता है वह निवृत्त धर्म है, ये दो भेद विषयानन्द की कामना होने और न होने के अनुसार से हैं । और फल के भेद से भी उक्त दोनों भेद होते हैं जैसा कि वाराहपुराण में "प्रवृत्तिसंज्ञके०" प्रवृत्ति नामक धर्म का लौकिक और पारलौकिक सुख और दुःखाभाव फल है तथा निवृत्तिनामक धर्म का मोक्ष फल है, इस वाक्य से कहा है । इनमें से निवृत्ति धर्म का निरूपण, दर्शन काण्ड में किया जायगा । और प्रवृत्ति धर्म भी दो प्रकार का होता है । एक सामान्य धर्म

सामान्यधर्मो विशेषधर्मश्चेति। तत्रापि विशेषधर्मो वर्णाश्रमधर्मः, स च विशेषकाण्डे विवेचयिष्यते। 'सामान्यधर्मत्वं च द्वेधा'—वर्णाश्रमधर्मेभ्यः फललाभे सहकारित्वसामान्यादेकम्। यथा—सत्यशौचादीनाम्। वर्णतदितरसर्वजनसाधारण्यमपरम्। यथा—देवपूजनतीर्थानुसरणादीनाम्। सर्वान् जनान् विशेषधर्मांश्च प्रतिसाधारण्यमिति यावत्।

अतः सामान्यधर्मो निरूप्यते। तत्र वीरमित्रोदये परिभाषाप्रकाशप्रकरणे मित्रमिश्राः—

धर्मो द्विविधः साधारणोऽसाधारणश्च।

आद्यमाह बृहस्पतिः—

दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम्।
अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च॥

विष्णुः—क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते॥

भाषा

दूसरा विशेष धर्म (वर्णाश्रम धर्म)। इनमें से विशेष धर्म का निरूपण विशेष काण्ड में किया जायगा। और सामान्य धर्म भी दो प्रकार का होता है। एक वह है कि जिसके बिना वर्णधर्म और आश्रमधर्मरूपी विशेष धर्मों से फल का लाभ नहीं होता और जिसमें सर्वसाधारण को अधिकार भी है। जैसे सत्य भाषण आदि, क्योंकि मिथ्याभाषणादि करनेवालों के किये हुए विशेष धर्म से ठीक फललाभ नहीं होता। यह सिद्ध है कि फल को उत्पन्न करने में केवल विशेष धर्म नहीं कारण है किन्तु सत्यभाषण आदि भी सामान्य से उन फलों के लिये सहकारी कारण हैं। इसलिये सत्यभाषणादि सामान्य धर्म हैं। दूसरा प्रकार यह है कि ब्राह्मणादिवर्ण और उनसे अन्य सब जनों का जिस धर्म के करने में अधिकार है वह सामान्य धर्म है—जैसे देवपूजन और तीर्थानुसरण आदि। इस उक्त रीति के अनुसार अब सामान्य धर्मों के निरूपण का अवसर है इसलिए प्रत्येक सामान्य धर्मों का निरूपण किया जाता है। और यह निरूपण इस क्रम से किया जायगा कि प्रथम सामान्य धर्मों के प्रमाणों का संग्रह, तदनन्तर सामान्य धर्मों की गणना और तदनन्तर प्रत्येक सामान्य धर्म का पृथक् २ निरूपण और विवरण होगा।

वीरमित्रोदय नामक धर्मग्रंथ के परिभाषा प्रकाश नामक प्रकरण में पंडित मित्रमिश्र ने यह कहा है—

धर्म दो प्रकार के होते हैं। साधारण (सामान्य) और असाधारण (विशेष)। इनमें से साधारण धर्मों को बृहस्पति महर्षि ने ऐसे कहा है "दया क्षमा०" (दया, क्षमा, अनसूया, किसी के गुण में दोष न देखना), शौच (पवित्रता), अनायास, मंगल, अकार्पण्य, और अस्पृहत्व, ये धर्म सर्वसाधारण हैं। और विष्णु महर्षि ने भी यह कहा है कि "क्षमा सत्यं०" (क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, गुरुशुश्रूषा, तीर्थों का अनुसरण, दया, आर्जव (सूधापन), लोभ

"सामान्यः" सर्वेषां साधारणः ।

महाभारते—सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषो ह्रीः क्षमाऽऽर्जवम् ।
ज्ञानं दमो दया ध्यानमेवं धर्मः सनातनः ॥

सनातनः कालमात्राधिकारकः न ब्राह्मणत्वाद्यधिकारान्तरापेक्ष इत्यर्थः । तथा—

आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता ।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥
स्वेषु दारेषु सन्तोषः शौचं नित्यानसूयता ।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप ॥

आनृशंस्यमक्रूरत्वम्, संविभागिता भोग्यस्यान्नादेर्यथार्हं विभज्य प्रतिपादनम् । आत्मज्ञानं शरीरादिभिन्नत्वेनात्मविवेकः । तितिक्षा क्षमा ।

देवलः—शौचं दानं तपः श्रद्धा गुरुसेवा क्षमा दया ।
विज्ञानं विनयः सत्यमिति धर्मसमुच्चयः ॥

दयादीनां स्वरूपमाह

बृहस्पतिः—परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा ।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता ॥
बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चौत्पातिके क्वचित् ।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥
न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता ॥

भाषा

न करना और देवता तथा ब्राह्मण का पूजन, अनसूया ये सामान्य धर्म हैं) महाभारत में "सत्यं दमः"० (सत्य, दम, तप, शौच, संतोष, ह्री (लज्जा) क्षमा, आर्जव, ज्ञान, दम, दया और ध्यान ये सनातन अर्थात् सामान्य धर्म हैं) । तथा "आनृशंस्य०" क्रूरता न करना, अहिंसा, अप्रमाद, संविभागिता (भोग के योग्य अन्नादि पदार्थों का बिभाग कर जिसको जितना देना उचित है उसको उतना देना), श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी पत्नीमात्र में संतोष, शौच, सदा अनसूया, आत्मज्ञान (आत्मा को शरीरादि से भिन्न निश्चय करना) और तितिक्षा (क्षमा), हे राजन् ! ये सब साधारण धर्म हैं ।

देवल महर्षि ने कहा है "शौचं दानं०" शौच, दान, तप, श्रद्धा (विश्वास), गुरुसेवा, क्षमा, दया, विज्ञान, विनय और सत्य ये साधारण धर्म हैं । पूर्व ही कहे हुए दया आदि के स्वरूप को बृहस्पति महर्षि ने कहा है कि "परे वा०" अपने बन्धु तथा अन्य जन मित्र अथवा शत्रु पर विपत्ति पड़ने की दशा में उनकी रक्षा करने को दया कहते हैं ।

बाह्य अथवा मानस, वा विद्युत् आदि उत्पात से कृत किसी दुःख की दशा में कोप वा हिंसा न करने को क्षमा कहते हैं, गुणों वा गुणियों की निन्दा न करना और अल्प गुण वालों की भी

अधर्मपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः ।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम् ॥
शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा ।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम् ।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
स्तोकादपि च दातव्यमदीनेनान्तरात्मना ।
अहन्यहनि यत्किञ्चिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम् ॥
यथोत्पन्नेन सन्तोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना ।
परस्याचिन्तयित्वार्थं साऽस्पृहा परिकीर्तिता ॥

सत्यादीनां स्वरूपमुक्तम्

भारते—सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः ।
तपः स्वधर्मवर्तित्वं शौचं सङ्करवर्जनम् ॥
सन्तोषो विषयत्यागो ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता ॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥

भूतहितं प्राण्यनुकूलम् । प्रोक्तं यथार्थवचनम् । अप्राणिपीडाकरं यथार्थवच सत्यम् इति मिताक्षराऽपि । दमनं वशीकरणम् । द्वन्द्वं कलहः तस्मिन् सत्यपि सहिष्णुता अपकारेऽपि चित्तस्याविकारः क्षमेति मिताक्षरा । प्रशान्तता विरक्तिः ।

भाषा

स्तुति करना और अन्य के दोष को न कहना, इसको अनसूया कहते हैं । अधर्म का त्याग, अच्छ का साथ और अपने धर्म पर आरूढ़ रहने को शौच कहते हैं। जिस अच्छे काम से भी शरीर प पीड़ा हो उसको अधिक न करने को अनायास कहते हैं । अच्छे काम को सदा करना और अशु कर्म के सदा त्यागने को मंगल कहते हैं । थोड़ी वस्तु में से भी प्रतिदिन हर्षपूर्वक कुछ २ दान दे को अकार्पण्य कहते हैं । दैववश से मिली हुई थोड़ी वस्तु से भी सन्तोष करना और परकीय वस्तु ओर चिन्ता न करने को अस्पृहा कहते हैं । पूर्वोक्त सत्य आदि के स्वरूप भारत में कहे हुए हैं "सत्यं भूतहितं०" सब प्राणियों के लिये हितकर और सत्य बोलना सत्य है । मन को अपने वश करना दम है । अपने धर्म पर आरूढ़ रहना तप है । अशुद्ध वस्तु वा काम से सम्बन्ध न रख शौच है। विषय का त्याग सन्तोष है। अनुचित काम से निवृत्त रहना ह्री है। कलह होने पर भी सह क्षमा है । सब में समदृष्टि होना आर्जव है । आत्मतत्व का बोध ज्ञान है । मन का चंचल न हो शम है । सब प्राणियों का हितैषी होना दया है । और समाधि लगाना ध्यान है । तथा दे

देवलः—व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनं तपः ।
तथा, प्रत्ययो धर्मकार्येषु सदा श्रद्धेत्युदाहृता ।
नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य धर्मकृत्यप्रयोजनम् ॥
देवीपुराणे—कायक्लेशैर्न बहुभिर्न चैवार्थस्य राशिभिः ।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धाहीनैः सुरैरपि ॥
देवलः—विगर्हाऽतिक्रमक्षेपहिंसाबन्धवधात्मनाम् ।
अन्यमन्युसमुत्थाने दोषाणां मर्षणं क्षमा ॥

क्षेपो गलहस्तादिना प्रेरणम् । वधोऽत्र ताडनमात्रं, हिंसायाः पृथगुपादानात् । साऽपि शोणितोत्पादनादिमात्रपरा, न प्राणवियोगपर्यन्ता । अन्यथा मर्षणासम्भवात् ।

तथा—स्वदुःखेष्विव कारुण्यं परदुःखेषु सौहृदात् ।
दयेति मुनयः प्राहुरनुक्रोशं च जन्तुषु ॥
यत्पुनर्वैदिकीनां च लौकिकीनां च सर्वशः ।
धारणा सर्वविद्यानां विज्ञानमिति कीर्त्यते ॥
विनयं द्विविधं प्राहुः शश्वद्दमशमाविति ।
शरीरोपरतिः शान्तिर्ज्ञानं प्रज्ञाप्रसादजम् ॥

शरीरोपरतिः शरीरस्य वृथा चेष्टाराहित्यम् ।

देवलः—श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

भाषा

ऋषि ने भी कहा है "व्रतोपवास०" व्रत उपवास और अन्य नियमों से शरीर को शुष्क करना तप है। धर्म कार्यों पर सदा विश्वास करना श्रद्धा है क्योंकि श्रद्धा रहित मनुष्य को धर्म कार्य से कुछ लाभ नहीं होता। देवी पुराण में भी कहा है कि "कायक्लेशैः०" धर्म बड़ा सूक्ष्म है इसी से श्रद्धा के बिना अनेक कायक्लेश अथवा अधिक धन से धर्म नहीं मिल सकता। देवल ऋषि ने पुनः भी कहा है कि "विगर्हा०" क्रोध के कारण दूसरे के किये हुये निन्दा, अनादर क्षेप (गले पर हाथ लगा कर ढकेलना), हिंसा (प्राण से मारना), बंध (बाँधना) बध, ऐसा ताड़न जिससे रुधिर निकल आवे, इन दोषों का सहन क्षमा है।

तथा "स्वदुःखे०" अपने दुःख के ऐसा पराये दुःख में भी करुणा करने को मुनि लोग दया कहते हैं। वैदिक और लौकिक सर्व विद्याओं का धारण विज्ञान कहलाता है। विनय दो प्रकार का होता है—एक सदा दम (मन को सदा वश में रखना) दूसरा सदा शम (सदा वैराग्य), शरीर से व्यर्थ चेष्टा न करना शान्ति है। बुद्धि में विवेक रहना ज्ञान है। तथा "श्रूयतां०"यह धर्म का सर्वस्व (तत्त्व) सुना जाय और सुन कर उस पर आरूढ़ रहा जाय। जो काम अपने लिये प्रतिकूल है उसको अन्य के लिये नहीं करना चाहिये। दक्ष प्रजापति ने भी कहा है "यथैवात्मा०" अपने

दक्षः—यथैवात्मा परस्तद्वद्द्रष्टव्यः सुखमिच्छता ।
सुखदुःखानि तुल्यानि यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥

अत्र सामान्यनिर्देशात् साधारणधर्मपरत्वं द्वयोर्वाक्ययोः प्रतीयते ।

याज्ञवल्क्यः—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥
वयोबुद्ध्यर्थवाग्वेषश्रुताभिजनकर्मणाम् ।
आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा ॥ इति ॥

एतदर्थः शूलपाणिधृतजाबालस्मृतौ स्पष्टः। शिशुः पांशुक्रीडाम्, युवा गन्धादिकम्, वृद्धो धर्मानुसरणम्, बुद्धिमान् महाभाष्यादिग्रहणम्, अर्थवान् दानम्, वाग्मी दूत्यम्, सुवेषो राजसन्निधिम्, श्रुतशास्त्रो वेदार्थनिर्वचनम्, विशुद्धाभिजनः कुलीनकन्यावरणम्, यागकर्मवृत्तः पशुहिंसनम्, एवं वयःप्रभृतीनामुचितां चेष्टामाचरेत्। अजिह्मामकुटिलाम्। अशठां दम्भादिरहिताम् ।

मनुः—वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह ॥

बृहस्पतिः—यथा विद्या यथा कर्म यथा वृत्तं यथा वयः ।
ज्ञानं तथैव वर्तेत वेषादिभिरनुद्धतः ॥

याज्ञवल्क्यः—इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

भाषा

कल्याण चाहने वाले को अपने और पराये आत्मा के लिये समदृष्टि होना चाहिये । क्योंकि सुख और दुःख सब के लिये तुल्य ही है अर्थात् सुख को सब चाहता है, दुःख से सब भागते हैं । अनन्तरोक्त इन दो वाक्यों में किसी विशेष अधिकारी का निर्देश नहीं है, इसी से यह सामान्य धर्म है । याज्ञवल्क्य महर्षि ने भी दो श्लोकों में कहा है कि "अहिंसा०" अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को जीतना) दान, दम (मन को वश में रखना), दया और क्षान्ति (क्षमा) ये सब के धर्म हैं । "वयो बुद्धि०" अपनी अवस्था, बुद्धि, धन, वचन, वेष, अध्ययन कुल और कर्म के अनुसार सीधी और धूर्तता रहित चेष्टा से मनुष्य को रहना चाहिये । जैसे बालक धूली से क्रीडा, युवा गंध माल्य आदि का सेवन, वृद्ध धर्मों का अनुसरण, बुद्धिमान् महाभाष्य आदि ग्रन्थों का अध्ययन, धनवान् दान, वक्ता दूतकर्म, वेषवान् राजा के समीप गमन, शास्त्रों का पढ़ा पुरुष वेदार्थ का व्याख्यान, अच्छे कुल में उत्पन्न पुरुष कुलीन कन्या से बिवाह और याग करता हुआ पुरुष पशुहिंसा करे इत्यादि । मनु ने भी कहा है—"वयसः" इस श्लोक का वही अर्थ है जो अनन्तरोक्त श्लोक का है । बृहस्पति ने भी कहा है "यथा विद्या०" इस श्लोक का भी वही अर्थ है जो पूर्व का । याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा है "इज्या चार०" यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा इत्यादि कर्मों का यही परम धर्म है कि योग (बाह्य विषयों से अपने चित्त की वृत्तियों का निवारण) से आत्मा को प्रत्यक्ष करना।

योगो बाह्यविषयकचित्तवृत्तिनिरोधः । परमः देशकालजात्याद्यनपेक्षः सन् परमपुरुषार्थसाधनम् । ननु "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" इति श्रुत्याऽवेदविद आत्मसाक्षात्कारस्य प्रतिषेधात् "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादिश्रुतिभिश्च वेदैकजन्यत्वविधानाद्वेदानधिकारिणां शूद्रादीनां कथमात्मसाक्षात्कार इति चेत्—पुराणश्रवणादिनेति ब्रूमः । अन्यथा पुराणादावात्मनिरूपणवैयर्थ्यापत्तेः ।

तथा च भागवते—स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥ इति ।

अत्र त्रयीं प्रतिषिध्य तत्स्थाने भारतं विधीयते । स्थानापत्या च "न गिरा गिरेति ब्रूयादैरं कृत्वोद्गेयम्" इत्यत्रैरापदस्य गिरापदकार्यकारित्ववत् वेदकार्यकारित्वावगमाद्भारतस्य वेदकार्यात्मज्ञानसिद्धिः । किंच—

"श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः" इत्यत्र णिजर्थस्य रागतः प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् "एतया निषादस्थपतिं याजयेत्" इतिवत् प्रयोज्यव्यापार एव पुराणश्रवणं विधीयते ।

भाषा

यह सब धर्मों से (उत्तम और परम धर्म अर्थात् देश, काल, जाति आदि की अपेक्षा न कर, परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का कारण है ।)

प्र०—अभी जो यह कहा गया कि "योगाभ्यास से आत्मा को प्रत्यक्ष करने में जाति की अपेक्षा नहीं है अर्थात् सब जाति का यह धर्म है" यह कैसे ठीक है ? क्योंकि "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (वेद जो नहीं जानता वह आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता) इस श्रुति से वेद के अनधिकारियों के लिये आत्मा के प्रत्यक्ष का निषेध है तथा "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (मैं तुमसे उस पुरुष को पूछता हूँ जो केवल उपनिषद् ही से प्रत्यक्ष होता है) इत्यादि श्रुतियों से यह विधान है कि आत्मा का प्रत्यक्ष वेद ही से होता है । ऐसी दशा में शूद्र आदि को आत्मा के प्रत्यक्ष करने में कैसे अधिकार है क्योंकि वे तो वेद के अधिकारी नहीं हैं ?

उ० १—पुराणादि के श्रवण आदि से शूद्रादिकों को भी आत्मा का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो पुराणादि में जो आत्मा का निरूपण किया है वह व्यर्थ ही हो जायगा । इसी से श्रीमद्भागवत के "स्त्री शूद्र०" इस श्लोक में यह कहा है कि स्त्री शूद्रादि को वेद में अधिकार नहीं है इस कारण कृष्णद्वैपायन व्यास जी ने स्त्री शूद्रादि पर कृपाकर महाभारत नामक व्याख्यान बनाया । जब स्त्री शूद्रादि के लिये वेद का निषेध कर महाभारत का विधान किया तब शूद्रादि के लिये महाभारत वेद का प्रतिनिधि (स्थानापन्न) हुआ और जिसका प्रतिनिधि जो होता है वह उसके कार्य को अवश्य करता है इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे वेद से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है वैसे महाभारत से भी ।

(उ०२) "श्रावयेच्चतुरो०" इस भारत वाक्य से भी यह सिद्ध होता है कि शूद्रादि को भी भारतादि के श्रवण द्वारा आत्मा के प्रत्यक्ष करने में अधिकार है क्योंकि इस श्लोक का अर्थ यह

तस्य च प्रयोजनाकाङ्क्षायां श्रुतेन पुराणेन यच्छक्यते तत्कुर्यादित्युपबन्धादात्मप्रतिपादक-पुराणश्रवणेनात्मज्ञानं भावयेदिति विधानात् सिध्यति शूद्रस्यात्मज्ञानाधिकारः। "नावेदविन्मनुते" इति श्रुतिस्तु वेदाधिकारिणो वेदातिरिक्तप्रमाणनिषेधपरा वेदविरुद्धतर्कादिनिषेधपरा वा व्याख्येया।

"तन्त्वौपनिषदम्" इत्येषापि उपनिषदतिरिक्ततार्किकादिसंमतानुमानादिमूलप्रमाण-निवृत्त्यर्था। न चाननुगतकारणजन्यत्वान्मोक्षे वैजात्यापत्तिरिति वाच्यम्। उभयविधस्यापि साक्षात्कारस्य साक्षात्कारत्वेनैकेनैव रूपेण मोक्षज कत्वाङ्गीकारात्। स्पष्टं च पुराणेन शूद्रस्य तत्त्वज्ञानं पुराणान्तरे—

अस्ति शूद्रस्य शुश्रूषोः पुराणेनैव वेदनम्।
वदन्ति केचिन्मुनयः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्॥ इति॥

स च साक्षात्कारो योगाभ्यासादिव काशीमरणादितोऽपि भवतीत्यन्यदेतत् इति।

एवं मनुः—अ० ६, धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ९२॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ ९३॥

विष्णुः—क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया॥

भाषा

है कि (चारों वर्ण अर्थात् शूद्रादि भी भारत को सुना करें) यह विधान है और विधान का स्वरूप यह है कि "इतिहास और पुराण के श्रवण से आत्मा का प्रत्यक्ष और स्वर्गादिरूपी फल को प्राप्त करें।"

(उ० ३)—"अस्ति शूद्रस्य०" इस पुराण वाक्य से स्पष्ट ही यह कहा गया है कि त्रैवर्णिकों के सेवक शूद्र को पुराण ही के श्रवण से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है और कोई मुनि स्त्रियों को शूद्र के समान कहते हैं। तथा यह भी स्मृति वाक्य है कि "शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः" (सब वर्णसंकर जातियों के वे ही धर्म हैं जो शूद्रों के हैं) इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध है कि शूद्रादिकों को भी पुराणादि को सुनकर उनमें कहे हुये योगाभ्यास के द्वारा आत्मा के प्रत्यक्ष करने में अधिकार हैं। यह तो दूसरी बात है कि जैसे योगाभ्यास से आत्मा प्रत्यक्ष होता है वैसे ही काशी मरणादि से भी। प्रश्न में उद्धृत 'नावेद' इस श्रुति का तो यह तात्पर्य है कि वेदविरुद्ध तर्कादि से आत्मा नहीं प्रत्यक्ष होता। ऐसे ही 'तन्वौ०' इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है कि उपनिषद् से बहिर्भूत अनुमानादि प्रमाण से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ तक मित्रमिश्र का व्याख्यान समाप्त हुआ। अब सामान्य धर्म में और भी प्रमाण दिये जाते हैं। मनु० अ० ६ "धृतिःक्षमा०" धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी (तत्वज्ञान), विद्या, सत्य, अक्रोध ये दश धर्म हैं अर्थात् सबके धर्म हैं। विष्णु० क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, गुरुसेवा, तीर्थानुसरण, दया, आत्मज्ञान,

आत्मव्रतमलोभित्वं देवतानां च पूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥

व० अ० ३१२—वशः सत्यं दमः शौचं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतत्तनवो मम ॥
अहिंसा समता क्षान्तिस्तपः शान्तिरमत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥

शां० रा० १२—शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम् ।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥ १६ ॥

शां० रा० २१—अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः ।
अद्रो : सत्यवचनं संविभागो दया दमः ॥
प्रजनः स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ ११ ॥
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन कौन्तेय ! परिपालय ॥ १२ ॥

शां० अ० ६०—अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा दया ।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥
आर्जवं भृत्यभरणं दशैते सार्ववर्णिकाः ॥ ७ ॥

शां० अ० ३६—अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥ १० ॥

उद्योग अ० ३४—इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥
अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥

भाषा

अलोभ, देवपूजन और अनसूया, ये सामान्य धर्म हैं । महाभारत के अनेक स्थानों में "वशः" वश, सत्य, दम, शौच, मृदुता, ह्री, अचापल्य, दान, तप, ब्रह्मचर्य, ये मेरे (परमेश्वर के) शरीर हैं । अहिंसा, समता, क्षमा, तप, शान्ति, अद्वेष, ये मेरे मिलने के द्वार हैं । शम, दम, धैर्य, सत्य, शौच आर्जव, यज्ञ, धृति, धर्म, ये सामान्य धर्म हैं । प्राणियों को पीड़ा न पहुँचा कर जो धर्म होता है वही सज्जनों के सम्मत है । जैसे अद्रोह, सत्यवचन, संविभाग, दया, दम, अपनी स्त्री में सन्तोष, मृदुता, ह्री, अचापल्य, ये स्वायंभुव मनु के कहे हुये सामान्य धर्म हैं । अक्रोध, सत्यवचन, संविभाग, क्षमा, दया, अपनी स्त्री में सन्तोष, शौच, अद्रोह, आर्जव और भृत्यभरण, ये दश सब वर्णों के धर्म हैं । चोरी न करना, दान, अध्ययन, तप, अहिंसा, सत्य, अक्रोध और देवपूजा, ये सामान्य धर्म हैं ।

देवपूजा, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दम, अलोभ, ये आठ धर्म के स्वरूप हैं। इनमें प्रथम से चार धर्मों का आचरण धूर्तता से हो सकता है परन्तु सत्यादिक चार धर्म महात्मा ही में रहते हैं ।

युधि०—अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
किं निश्चितं भवेदत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ! ॥

भीष्म०—अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा ।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥

मनु० अ० १०—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ३३ ॥

अश्व० ९७—एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम् ॥ ३२ ॥

उमोवाच, अनु० १४१—भगवन् ! सर्वभूतेश ! सर्वधर्मभृतां वर ! ।
पिनाकपाणे ! वरद ! संशयो मे महानयम् ॥ २० ॥
धर्मः किं लक्षणः प्रोक्तः कथं वा चरितुं नरैः ।
शक्यो धर्ममविन्दद्भिर्धर्मज्ञ ! वद मे प्रभो ! ॥ २२ ॥

महेश्वर उवाच—अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।
शमो दानं यथाशक्तिर्गाहस्थो धर्म उत्तमः ॥ २५ ॥
परदारेष्वसंसक्तिर्न्यासस्त्रीपरिरक्षणम् ।
अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम् ॥ २६ ॥

भाषा

युधिष्ठिर का प्रश्न—हे पितामह ! पंडित लोग धर्म के अनेक प्रकारों को अपने २ मतानुसार वर्णन किये हैं, जिससे संदेह होता है, इसलिये आप कहें कि मैं किस पर निश्चय करूँ ? भीष्म का उत्तर—हे राजेन्द्र ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, आनृशंस्य (क्रूरता न करना), दम और आर्जव, ये निश्चित धर्म हैं।

मनुः—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शौच और इन्द्रियनिग्रह, ये चारों वर्ण के संक्षेप धर्म हैं । भारत के अश्वमेध पर्व में ये धर्म सामान्य हैं । योगाभ्यास, दान, दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश (अपने ऐसा सबको समझना), धृति और क्षमा । अनुशासन पर्व में श्रीपार्वती जी का प्रश्न—हे भगवन् ! मुझको यह संदेह है कि धर्म के कितने प्रकार होते हैं और मनुष्यों को धर्म कैसे करना चाहिये ?

श्रीशिव जी का उत्तर—अहिंसा, सत्य, सब प्राणियों पर दया, शम और यथाशक्ति दान, ये सब गृहस्थों के उत्तम धर्म हैं । तथा चोरी न करना, अपनी स्त्री में संतुष्ट रहना, न्यास (धरोहर) और स्त्री की रक्षा तथा मद्य मांस का त्याग, ये धर्म करने के योग्य हैं । अनुशासनपर्व० "त्रीण्येव तु" पुरुष के लिये धर्म के संक्षेप से तीन ही स्वरूप हैं कि किसी से द्रोह न करना, दान करना और सत्य ही बोलना । शान्तिपर्व में "धर्मान्०" हे राजन् ! साधारण धर्मों को मुझसे सुनिये । आनृशंस्य, अहिंसा,

एष पञ्चविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः ।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो देहसम्भवः ॥ २७ ॥

अनु० अ० १२०—त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम् ।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत् ॥१०॥
इति वेदोक्तमृषिभिः पुरस्तात्परिकल्पितम् ।
इदानीं चैव नः कृत्यं पुरस्ताच्च परिश्रुतम् ॥११॥

शान्ति० अ० २८६—धर्मान्साधारणांस्तात ! विस्तरेण शृणुष्व मे ।
आनृशंस्यमहिंसाचाप्रमादः संविभागिता ॥
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ।
स्वेषु दारेषु सन्तोषः शौचं नित्यानसूयता ॥
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप ! ॥

शिवपुराणे धर्मसंहिता ४१ अ०—शक्यं त्विह समर्थैश्च यष्टुं क्रतुशतैरपि ॥३२॥
आत्मदेहपरित्यागः कर्तुं युधि सुदुष्करः ॥
युद्धे पुण्यतमः स्वर्ग्यः सुयज्ञः सर्वतोमुखः ॥३३॥
सर्वेषामेव वर्णानां क्षत्रियस्य विशेषतः ॥३४॥ इति ।

मनुः अ० ५—उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति स्थितिः ॥९८॥

"अत्र अपराङ्मुखत्वादिक्षत्रियधर्मयुक्तस्य संग्रामे हतस्य तत्क्षणादेव ज्योतिष्टोमादि-यज्ञः सन्तिष्ठते समाप्तिमेति तत्पुण्येन युज्यत इत्यर्थः। तथा आशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्तिमेति इयं शास्त्रे मर्यादा" इति कुल्लूकः ।

भाषा

अप्रमाद (आलस्य न करना), संविभाग, श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी स्त्री में सन्तोष, कदापि असूया न करना, आत्मज्ञान और क्षमा, ये साधारण धर्म हैं ।

"शक्यं" इस (भू) लोक में बहुतेरे ऐसे समर्थ हैं जो कि वैदिक अश्वमेधादि यज्ञों को शतशः कर सकते हैं परन्तु युद्ध में अपने देह का त्यागरूपी सर्वतोमुख (सबका कर्तव्य) उत्तम यज्ञ करना अत्यन्त कठिन है जो स्वर्गदाता, सब ही के लिये महान् धर्म और क्षत्रिय के लिये सब धर्मों से उत्तम है ।

मनु० "उद्यतैराहवे०" यह मर्यादा शास्त्र में है कि युद्ध में विमुख न होना आदि क्षत्रिय धर्मों से संयुक्त होकर मरने वाले का ज्योतिष्टोमादि सब वैदिक यज्ञ तत्क्षण ही पूर्ण हो जाते हैं और सब यज्ञों का पूर्ण फल उसको मिलता है तथा उस पुरुष के मरने का आशौच भी उसके भाई-बन्धुओं को नहीं लगता ।

युधिष्ठिर उवाच—भगवन्! श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्। (भाग० ७-११।)
वर्णाश्रमाचारयुतं यत्पुमान्विन्दते परम् ॥२॥
भवान् प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः।
सुतानां संमतो ब्रह्मँस्तपोयोगसमाधिभिः ॥३॥
नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः।
करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथा परे ॥४॥
नारद उ०—नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥५॥
योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे ॥६॥
धर्ममूलं हि भगवान् सर्वदेवमयो हरिः।
स्मृतं च तद्विदां राजन्! येन चात्मा प्रसीदति ॥७॥
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥८॥

भाषा

श्रीमद्भागवत०—राजा युधिष्ठिर का प्रश्न—हे भगवन् (नारद)! आप साक्षात् ब्रह्मदेव के पुत्र हैं, और उनके पुत्रों में भी तप, योग, समाधि के विषय में श्रेष्ठ हैं तथा नारायण के भक्त ब्राह्मण लोग धर्म के अति गुप्त स्वरूप को जानते हैं और जैसे कि आप ऐसे लोग दयालु, साधु (परोपकारी) और शान्त होते हैं वैसे दूसरे नहीं होते इसलिये मैं आप से वर्ण और आश्रम के आचार से संयुक्त सनातन धर्म को सुनना चाहता हूँ जिससे पुरुष को परमेश्वर में भक्ति और आत्मज्ञान का लाभ होता है।

उत्तर श्रीनारद जी का—लोगों के धर्म में कारणरूपी भगवान् को नमस्कार कर मैं सनातन धर्म को कहता हूँ जिस को मैंने उन नारायण के मुख से सुना है जो कि धर्मदेव से दक्षकन्या में अपने अंशमात्र से उत्पन्न होकर लोगों के कल्याणार्थ बदरिकाश्रम में तपस्या करते हैं। क्योंकि सर्वदेवरूपी नारायण ही धर्म के मूल हैं और ये धर्म (जो कहे जायँगे) स्मृतिकारों के भी स्मरण किये हुये हैं जिनसे कि आत्मा प्रसन्न होता है।

हे राजन्! मनुष्य के साधारण धर्म ये तीस हैं—१ सत्य, २ दया, ३ तप, (एकादशी का उपवासादि), ४ शौच, ५ तितिक्षा (क्षमा), ६ ईक्षा (उचित अनुचित का विवेक), ७ शम (मन को वश में रखना), ८ दम (नेत्रादि इन्द्रियों को वश में रखना), ९ अहिंसा, १० ब्रह्मचर्य, ११ त्याग (दान) १२ स्वाध्याय (यथोचित जप), १३ आर्जव (सूधापन), १४ सन्तोष, १५ समदृक् सेवा (महात्माओं की सेवा), १६ ग्राम्येहोपरम (प्रवृत्ति नामक धर्मों से निवृत्ति), १७ विपर्ययेहेच्छा (निष्फल क्रियाओं का समझना), १८ मौन (व्यर्थ वार्ता न करना), १९ आत्मविमर्शन (देहादि से अतिरिक्त आत्मा का अनुसन्धान), २० संविभाग (अन्नादि वस्तुओं का प्राणियों के लिये उचित विभाग), २१ सब प्राणियों

सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेच्छा मौनमात्मविमर्शनम् ॥९॥

अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ! ॥१०॥

श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥११॥

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् ! सर्वात्मा येन तुष्यति ॥१२॥

अथ यमनियमभेदेन सामान्यधर्माः

तथा च पतञ्जलिः—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

याज्ञवल्क्यः,—ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता ।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥३१३॥

स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः ।
नियमो गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥३१४॥

यम० नि०—अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता ।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमा वै परिकीर्तिताः ॥

भाषा

को अपना आत्मा और देवता मानना, २२ परमेश्वर के गुणों का श्रवण, २३ कीर्तन, २४ परमेश्वर का स्मरण, २५ उनकी सेवा, २६ उनका यज्ञ, २७ उनको प्रणाम, २८ उनके प्रति अपना दास भाव, २९ उनके प्रति अपनी मित्रता, ३० उनके लिये अपना समर्पण, ये सब मनुष्यों के श्रेष्ठ धर्म हैं जिनसे सर्वात्मा परमेश्वर सन्तुष्ट होता है ।

यम और नियम के नाम से भी सामान्य धर्म कहे जाते हैं जैसा कि योगदर्शन में पतञ्जलि महर्षि ने कहा है कि "अहिंसा०" अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ये यम हैं । "शौच" शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर का प्रणिधान (ध्यान), ये नियम हैं । याज्ञवल्क्य महर्षि ने भी कहा है कि "ब्रह्मचर्य०" ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, अकल्कता (सूधापन) अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य (प्रसन्नमुख रहना) और दम, ये यम हैं । "स्नानं०" स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) का निग्रह, गुरुसेवा, शौच, अक्रोध, अप्रमादता, ये नियम है । तथा "अहिंसा०"

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च सततं पञ्चैते नियमाः स्मृताः ॥इति॥

एवमुक्तेभ्यः प्रमाणेभ्यः आवापोद्वापविवेकसहकारेण निर्णीताः सामान्यधर्मास्सप्तत्रिंशत् ।

इति सामान्यधर्मसङ्ग्रहः ।

अहिंसा, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य, अकल्कता, अस्तेय, ये ५ यम हैं। "अक्रोधो०" अक्रोध, गुरुसेवा, शौच, थोड़ा भोजन, सदा अप्रमाद, ये ५ नियम हैं। इस प्रकरण में जो प्रमाण अब तक दिखलाये गये उनसे ३७ सैंतीस सामान्य धर्म सिद्ध होते हैं क्योंकि कई एक सामान्य धर्म अनेक वाक्यों से पुनः २ कहे गये हैं और कई ऐसे कहे हुये हैं–

जो दूसरों में अन्तर्गत हो जाते हैं, निदान विचार पूर्वक निश्चय करने से ये सैंतीस ३७ ही सामान्य धर्म हैं—

(१) सत्यम्	(१) सत्य	(१९) मार्दवम्	(१९) मार्दव
(२) धृतिः	(२) धृति	(२०) सन्तोषः	(२०) सन्तोष
(३) क्षमा	(३) क्षमा	(२१) मंगलम्	(२१) मंगल
(४) दमः	(४) दम	(२२) अक्रोधः	(२२) अक्रोध
(५) ब्रह्मचर्यम्	(५) ब्रह्मचर्य	(२३) प्रसादः	(२३) प्रसाद
(६) अस्तेयम्	(६) अस्तेय	(२४) परोपकारः	(२४) परोपकार
(७) अलोभः	(७) अलोभ	(२५) अनायासः	(२५) अनायास
(८) शौचम्	(८) शौच	(२६) स्त्रीरक्षा	(२६) स्त्रीरक्षा
(९) इन्द्रियनिग्रहः	(९) इन्द्रियनिग्रह	(२७) ह्रीः	(२७) ह्री
(१०) तपः	(१०) तप	(२८) भृत्यभरणम्	(२८) भृत्यभरण
(११) दया	(११) दया	(२९) संविभागः	(२९) संविभाग
(१२) अहिंसा	(१२) अहिंसा	(३०) अध्ययनम्	(३०) अध्ययन
(१३) श्रद्धा	(१३) श्रद्धा	(३१) योगेनात्मदर्शनम्	(३१) योग से आत्मदर्शन
(१४) आतिथ्यम्	(१४) आतिथ्य	(३२) देवपूजनम्	(३२) देवपूजन
(१५) दानम्	(१५) दान	(३३) ब्राह्मणपूजनम्	(३३) ब्राह्मणपूजन
(१६) शमः	(१६) शम	(३४) श्राद्धम्	(३४) श्राद्ध
(१७) मातापितृगुरुणां शुश्रूषा	(१७) माता, पिता, गुरु की सेवा	(३५) तीर्थानुसरणम्	(३५) तीर्थानुसरण
(१८) अचापलम्	(१८) अचापल	(३६) धर्मयुद्धम्	(३६) धर्मयुद्ध
		(३७) भगवद्भक्तिश्चेति	(३७) भगवद्भक्ति

यहाँ तक सामान्य धर्मों का संग्रह हो चुका ।

तत्र सत्यं निरूप्यते

यजु० तै० उ०—सत्यं वद । सत्यान्न प्रमदितव्यम् ।

मुण्डकोप०—सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

प्रश्नोपनि०—तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥

तैत्ति० १२–६२—सत्यं परं पर ँ सत्य ँ सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन
सता ँ हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते ॥

मनुः अ० ४—सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१३८॥

पद्मपुराण०—यथार्थकथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम् ।
तत्सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययः ॥

भाषा

(१) सत्य का निरूपण

'सत्यं०' सत्य बोलो ।

'सत्यान्न०' सत्य के प्रति प्रमाद न करना चाहिये ।

'सत्यमेव०' सत्य ही का सदा जय होता है, अनृत (मिथ्या) का नहीं । देवलोक का मार्ग सत्य ही से बना हुआ है और सत्य ही के द्वारा तत्त्वज्ञानी ऋषि लोग सत्यरूपी परमेश्वर को पाते हैं।

'सत्येन०' यह आत्मा, सत्य, तप, तत्त्वज्ञान, सदा ब्रह्मचर्य से लाभ के योग्य है, जो शरीर के भीतर प्रकाशमय और निर्दोष है और जिसे कि निर्दोष संन्यासी लोग प्रत्यक्ष देखते हैं ।

'तेषामेवैष०' यह ब्रह्मरूपी आत्मा उन्हीं लोगों को प्रत्यक्ष है, जिनमें तप, ब्रह्मचर्य और सत्य भली भाँति हैं और जिनमें कुटिलता, मिथ्या और माया कदापि नहीं रहती ।

'सत्यं परं०' सत्य, परब्रह्म है, परब्रह्म, सत्य है; सत्य ही के कारण लोग स्वर्गलोक से च्युत नहीं होते । सत्यभाषण सन्तों (अच्छों) का स्वभाव है इसी से अच्छे लोग सत्य में रत रहते हैं ।

'सत्यं ब्रूयात्०' जैसा देखा और सुना हो वैसा ही सत्य कहे तथा सत्य भी वह बोले कि जिससे अन्य को हर्ष हो, जैसे पुत्र तुम्हारे हुआ, इत्यादि और देखा सुना सत्य भी यदि अन्य को दुःख देनेवाला हो तो उसे न कहे जैसे तुम्हारा पुत्र मर गया इत्यादि और प्रिय भी मिथ्या न बोले, यह वेदमूलक सनातनधर्म है ।

'यथार्थ०' सब लोगों के हर्ष का जनक जो यथार्थ कथन है वह सत्य कहलाता है और उससे विपरीत असत्य है ।

शां० अ० १६२—नान्तः शक्यो गुणानाञ्च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव ! ।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः ॥२३॥
नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥२४॥
उपैति सत्याद्दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः ।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः ॥२५॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यञ्च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥२६॥

शां० मो० १९९—न यज्ञफलदानानि नियमास्तारयन्ति हि ।
यथा सत्यं परे लोके तथेह पुरुषर्षभ ! ॥६१॥
तपांसि यानि चीर्णानि चरिष्यन्ति च यत्तपः ।
शतैः शतसहस्रैश्च तैः सत्यान्न विशिष्यते ॥६२॥
सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः ।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥६३॥
सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम् ।
सत्याद्धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥६५॥
सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः ।
व्रतचर्या तथा सत्यमोङ्कारः सत्यमेव च ॥६६॥

भाषा

'नान्तः' भीष्म ने कहा कि हे पार्थिव (युधिष्ठिर) ! सत्य के गुणों का अन्त नहीं कहा जा सकता। इससे पितर, देवता और ब्राह्मण लोग सत्य की प्रशंसा करते हैं ॥ २३ ॥ सत्य से अधिक और कोई धर्म नहीं तथा मिथ्याभाषण से अधिक और कोई पाप नहीं है । सत्य का लोप कदापि न करे क्योंकि अन्य सब धर्मों का मूल 'सत्य' ही सुना गया है ॥२४ ॥दान दक्षिणा सहित यज्ञ अग्निहोत्र, वेद और जितने धर्म के निर्णय हैं, सबका मूल सत्य है ॥२५॥ तुला के एक पलरे पर सहस्र अश्वमेध और दूसरे पलरे पर सत्य रखा जाय तो सत्य ही का पलरा गुरु होता है ॥२६॥ 'न यज्ञ०' तपस्वी ब्राह्मण ने कहा कि हे पुरुषर्षभ (राजा इक्ष्वाकु) ! यज्ञ, दान और नियम इस लोक और परलोक में जीवों का उतना उपकार नहीं करते जितना कि सत्य करता है ॥६१॥ जितने तप किये हुये हैं वा जितने तप लोगों से किये जायँगे उन लक्षों तप से भी सत्य की अपेक्षा अधिक विशेष जीव को नहीं प्राप्त हो सकता ॥६२॥ सत्य ही अद्वितीय अविनाशी ब्रह्म है, और सत्य ही अद्वितीय अविनाशी तप है, सत्य अद्वितीय अविनाशी यज्ञ है और सत्य अद्वितीय अविनाशी वेद है ॥६३॥

वेदों में सत्य उजागर है । श्रेष्ठ फल सत्य में है। धर्म और दम (इन्द्रिय निग्रह) सत्य से होता है । सत्य सबका मूल कारण है ॥६५॥

सत्य वेद और अंग है, सत्य विद्या और विधिवाक्य है। सत्य व्रत भी है और ॐकार भी सत्य है ॥६६॥

प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं सन्ततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः॥ ६७॥
सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदः स्तोभा मन्त्राः सरस्वती॥ ६८॥
तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम्।
समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम्॥ ६९॥
यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्द्धते।

अनुशा० पर्व २२—अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
नाभिजानामि यद्यस्य सत्यस्यार्धमवाप्नुयात्॥ १४॥

वनपर्व ६३—चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः।
स्वधीता मनुजव्याघ्र! सत्यमेकं किलैकतः॥ १५॥

आदिपर्व० अ० ७४—सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः॥ ९६॥
वरं कूपशताद्वापी वरं वापीशतात्क्रतुः।
वरं क्रतुशतात्पुत्रः सत्यं पुत्रशताद्वरम्॥१०२॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥१०३॥

भाषा

सत्य प्राणियों को उत्पन्न करने वाला है, सत्य सन्तति (कन्या और पुत्र) है, सत्य से वायु चला करता है, सत्य से सूर्य तपते हैं॥ ६७॥ अग्नि में दाह शक्ति का मूल सत्य है, स्वर्ग का निर्भर भी सत्य पर है, यज्ञ, तप, वेद, स्तोभ (हु, हो, ई, इत्यादि अनर्थक शब्द जो कि साम मंत्रों में गाये जाते हैं) तथा मंत्र और सरस्वती (वचन की देवता) ये सब सत्य ही के रूप हैं॥ ६८॥

तुला के एक पलरे पर सत्य और दूसरे पर अन्य सब धर्म रक्खे जायँ तो सत्य का पलरा गुरु होता है। जिधर धर्म है उधर सत्य है, क्योंकि सबकी वृद्धि सत्य ही से होती है।॥ ६९॥ 'अश्वमेध०' मार्कण्डेय ऋषि ने कहा है कि मैं नहीं समझता कि यदि तुला के एक पलरे पर सहस्र अश्वमेध और दूसरे पर सत्य रख दिया जाय तो सहस्र अश्वमेध, सत्य के आधे के भी तुल्य होगा॥ १४॥ 'चत्वार०' रानी दमयन्ती ने कहा है कि हे मनुजव्याघ्र (नल)! भली भाँति पढ़े गये साङ्गोपाङ्ग और व्याख्यान सहित चारों वेद एक ओर रहें और सत्य एक, एक ओर रहे, ऐसा सुना गया है॥ १५॥

शकुन्तला रानी ने कहा है कि 'सत्य धर्म' नास्तिक को भी, क्रोधयुक्त सर्प की नाईं भयङ्कर सत्य धर्म से रहित पुरुष को देख कर उद्वेग होता है, और आस्तिक पुरुष के उद्वेग की तो वार्ता ही क्या है॥ ९६॥ 'वरं कूप०' सौ कूपों की अपेक्षा एक वापी, सौ वापियों की अपेक्षा एक यज्ञ तथा सौ यज्ञों की अपेक्षा एक पुत्र और सौ पुत्रों की अपेक्षा सत्य, अधिक उपकारी है॥ १०२॥ तुला के एक पलरे पर सहस्र अश्वमेध और दूसरे पर सत्य रक्खा जाय तो सत्य-ही का पलरा गुरु

सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च वचनं राजन् समं वा स्यान्न वा समम् ॥१०४॥
नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते ॥१०५॥
राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं सङ्गतमस्तु ते ॥१०६॥

यद्यपि दमस्य प्रशंसायामपि तस्य सत्यादाधिक्यमुक्तं तथाप्यवश्यानुष्ठेयत्वमात्र-तात्पर्यकत्वादविरोध इति ध्येयम् ।

अत्रोपाख्यायते हरिश्चन्द्रस्य सत्यपालनम्

अनु० अ० २६७—सत्यं वदत माऽसत्यं सत्यं धर्मः सनातनः ।
हरिश्चन्द्रश्चरति वै दिवि सत्येन चन्द्रवत् ॥ १ ॥

मार्क० पु० अ० ७—हरिश्चन्द्रेति राजर्षिरासीत् त्रेतायुगे पुरा ।
धर्मात्मा पृथिवीपालः प्रोल्लसत्कीर्त्तिरुत्तमः ॥ १ ॥
न दुर्भिक्षं न च व्याधिर्नाकाले मरणं नृणाम् ।
नाधर्मरुचयः पौरास्तस्मिन् शासति पार्थिवे ॥ २ ॥
बभूवुर्न तथोन्मत्ता धनवीर्यतपोमदैः ।
नाजायन्त स्त्रियश्चैव काश्चिदप्राप्तयौवनाः ॥ ३ ॥

भाषा

होता है ॥१०३॥ हे राजन् (दुष्यन्त)! सब वेद का पढ़ना और सब तीर्थों का सेवन, सत्य वचन के सम्मान अथवा उससे न्यून ही होगा ॥१०४॥ सत्य के समान कोई धर्म नहीं है, सत्य से अधिक कोई वस्तु नहीं है और मिथ्याभाषण की अपेक्षा अधिक दुखदायी कोई पातक नहीं है ॥१०५॥ हे राजन्! सत्य परब्रह्म है। सभी अच्छे नियम सत्य के रूप हैं। आप सत्य नियम को न त्यागिये। मेरे साथ आपका सत्य सम्बन्ध रहे ॥ १०६ ॥

यद्यपि दम की प्रशंसा में ऐसे वाक्य मिलेंगे कि जिनसे यह निश्चय होता है कि सत्य की अपेक्षा दम श्रेष्ठ है, तथापि सत्य, दम आदि एक २ की प्रशंसा का मुख्य तात्पर्य यही है कि "इन प्रत्येक धर्मों का अनुष्ठान बहुत आवश्यक है" इससे अन्योन्य प्रशंसाओं में कोई विरोध नहीं है।

राजा हरिश्चन्द्र के सत्यपालन का उपाख्यान यह है कि—"सत्यं वदत" सत्य कहते जाव असत्य न कहो, क्योंकि सत्य, सनातन धर्म है। देखो कि सत्य ही से राजा हरिश्चन्द्र स्वर्गलोक में चन्द्रमा के ऐसा विराजित होकर विहार करते हैं ॥ १ ॥ "हरिश्चन्द्रेति०" पूर्व त्रेतायुग में धर्मात्मा यशस्वी राजर्षि हरिश्चन्द्र नामक उत्तम राजा हुये। उनके शासन समय में दुर्भिक्ष, व्याधि, अकाल में मरण और पाप में रुचि, किसी मनुष्य की न थी ॥ १ ॥ २ ॥ ऐसे ही धन, वीर्य, तप आदि से भी किसी मनुष्य को अहङ्कार न हुआ और स्त्रियाँ भी कोई ऐसी न हुईं कि जो यौवनावस्था को प्राप्त न हुईं अर्थात् कोई स्त्री यौवनावस्था से प्रथम न मरी, न विधवा हुई, किन्तु यौवनावस्था में स

स कदाचित् महाबाहुररण्येऽनुसरन् मृगम् ।
शुश्राव शब्दमसकृत् त्रायस्वेति च योषिताम् ॥ ४ ॥
स विहाय मृगं राजा मा भैषीरित्यभाषत ।
मयि शासति दुर्मेधाः कोऽयमन्यायवृत्तिमान् ॥ ५ ॥
तत्क्रन्दितानुसारी च सर्वारम्भविघातकृत् ।
एतस्मिन्नन्तरे रौद्रो विघ्नराट् समचिन्तयत् ॥ ६ ॥
विश्वामित्रोऽयमतुलं तप आस्थाय वीर्यवान् ।
प्रागसिद्धा भवादीनां विद्याः साधयति व्रती ॥ ७ ॥
साध्यमानाः क्षमामौनचित्तसंयमिनाऽमुना ।
ता वै भयार्त्ताः क्रन्दन्ति कथं कार्यमिदं मया ॥ ८ ॥
तेजस्वी कौशिकश्रेष्ठो वयमस्य सुदुर्बलाः ।
क्रोशन्त्येतास्तथा भीता दुष्पारं प्रतिभाति मे ॥ ९ ॥
अथवाऽयं नृपः प्राप्तो माभैरिति वदन्मुहुः ।
इममेव प्रविश्याशु साधयिष्ये यथेप्सितम् ॥ १० ॥
इति संचित्य रौद्रेण विघ्नराजेन वै ततः ।
तेनाविष्टो नृपः कोपादिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥
कोऽयं बध्नाति वस्त्रान्ते पावकं पापकृन्नरः ।
बलोष्णतेजसा दीप्ते मयि पत्यावुपस्थिते ॥ १२ ॥

भाषा

स्त्रियों ने पूर्ण पति सुख पाया ॥ ३ ॥ एक समय राजा हरिश्चन्द्र वन में मृगया खेलते समय कई बार स्त्रियों की 'रक्षा करिये' यह करुण वाणी सुना ॥ ४ ॥ तत्क्षण मृगया को छोड़कर उच्च स्वर से यह कहा कि 'न डरो' और यह विचार करने लगे कि मेरे समय में यह कौन दुष्ट बुद्धि अन्याय करता है तथा तुरन्त ही उस चिल्लाहट की ओर दौड़े और इसी समय में विघ्नराज देवता ने यह विचार किया कि ॥ ५॥६ ॥ यह बड़े प्रतापी विश्वामित्र ऋषि अतुल तपस्या के द्वारा उन विद्याओं की सिद्धि कर रहे हैं जो कि शिव आदि को भी कठिनता से सिद्ध हुई हैं ॥ ७ ॥

क्षमा, मौन, चित्तसंयम आदि व्रतों से युक्त इस ऋषि से सिद्ध की जाती हुई वे विद्याएँ भयभीत होकर चिल्लाहट मचा रही हैं। मैं इस विषय में क्या करूँ? ॥ ८ ॥ यह कौशिक श्रेष्ठ बड़ा तेजस्वी है और हम लोग इसकी अपेक्षा दुर्बल हैं तथा ये सब उद्विग्न होकर यों चिल्ला रही हैं। मुझे तो इस समय यह प्रतिभा नहीं होती कि क्या करूँ? ॥ ९ ॥ अथवा बार २ 'न डरो' कहते हुए राजा हरिश्चन्द्र यह आ रहे हैं मैं इनमें आवेश कर अपना अर्थ सिद्ध करूँ ॥ १० ॥ ऐसा विचार कर उस भयानक विघ्नराज ने राजा में अपना आवेश कर दिया और राजा ने कोप से यह कहा कि ॥ ११ ॥ बल, तेज आदि से प्रज्वलित मेरे ऐसे स्वामी के उपस्थित होने पर यह कौन पापकारी मनुष्य है जो कि वस्त्र के अञ्चल में अग्नि को बाँध रहा है ॥ १२ ॥ यह पापी मेरे प्रज्वलित बाणों से छिन्न-भिन्न होकर अवश्य दीर्घ निद्रा (मरण) में

सोऽद्य मत्कार्मुकाक्षेपविदीपितदिगन्तरैः ।
शरैर्विभिन्नसर्वाङ्गो दीर्घनिद्रां प्रवेक्ष्यति ॥ १३ ॥

विश्वामित्रस्ततः क्रुद्धः श्रुत्वा तन्नृपतेर्वचः ।
क्रुद्धे चर्षिवरे तस्मिन् नेशुर्विद्याः क्षणेन ताः ॥ १४ ॥

स चापि राजा तं दृष्ट्वा विश्वामित्रं तपोनिधिम् ।
भीतः प्रावेपतात्यर्थं सहसाऽश्वत्थपर्णवत् ॥ १५ ॥

सुदुरात्मन्निति यदा मुनिस्तिष्ठेति चाब्रवीत् ।
ततः स राजा विनयात् प्रणिपत्याभ्यभाषत ॥ १६ ॥

भगवन्नेष धर्मो मे नापराधो मम प्रभो ।
न क्रोद्धुमर्हसि मुने निजधर्मरतस्य मे ॥ १७ ॥

दातव्यं रक्षितव्यञ्च धर्मज्ञेन महीक्षिता ।
चापञ्चोद्यम्य योद्धव्यं धर्मशास्त्रानुसारतः ॥ १८ ॥

विश्वा० उ०—दातव्यं कस्य के रक्ष्याः कैर्योद्धव्यञ्च ते नृप ।
क्षिप्रमेतत्समाचक्ष्व यद्यधर्मभयन्तव ॥ १९ ॥

हरि० उ०—दातव्यं विप्रमुख्येभ्यो ये चान्ये कृशवृत्तयः ।
रक्ष्या भीताः सदा युद्धं कर्त्तव्यं परिपन्थिभिः ॥ २० ॥

विश्वा० उ०—यदि राजा भवान् सम्यग् राजधर्ममवेक्षते ।
निवेष्टुकामो विप्रोऽहं दीयतामिष्टदक्षिणा ॥ २१ ॥

भाषा

प्रविष्ट होगा ॥ १३ ॥ तदनन्तर राजा के उस अत्युच्च डाँट को सुनकर विश्वामित्र को क्रोध आ गया और उतने ही मात्र से कृतकृत्य होकर वे विद्याएँ तत्क्षण ही अपने २ स्थानों को चली गईं ॥ १४ ॥ राजा ने भी आकर विश्वामित्र महर्षि को देख एकाएकी बड़े भय से पिप्पल पत्र की नाईं काँपने लगे ॥ १५ ॥

विश्वामित्र ने राजा से कहा कि हे दुरात्मन्! खड़ा रह और राजा ने बड़े विनय से भूमि स्पर्श-पूर्वक दण्डवत् प्रणाम कर यह कहा कि ॥ १६ ॥ हे भगवन्, अपने धर्म में तत्पर मेरे पर आपको क्रोध न करना चाहिये क्योंकि हे प्रभो, यह 'न डरो' कहना मेरा धर्म है न कि अपराध ॥१७॥ धर्मज्ञ राजा को धर्मशास्त्र के अनुसार दान और प्रजा की रक्षा तथा धनुष उठाकर युद्ध अवश्य करना चाहिये ॥ १८ ॥

विश्वा०—हे राजन्, यदि तुम अधर्म से डरते हो तो तुरन्त ही वर्णन करो कि किसको देना चाहिये? किनकी रक्षा करनी चाहिये? किनके साथ युद्ध करना चाहिये? ॥ १९ ॥ हरि०—प्रथम, मुख्य ब्राह्मणों को तदनन्तर अन्य दरिद्रों को देना चाहिये। भयभीतों की रक्षा करनी चाहिये और शत्रुओं से युद्ध करना चाहिये ॥२०॥ विश्वा०—यदि आप राजा होकर राजधर्म को देखते हैं तो मैं बैठने की इच्छा करने वाला ब्राह्मण हूँ, मुझे मेरी इष्ट दक्षिणा दीजिये ॥ २१ ॥ राजा इस बात को सुनकर अपना

एतद्राजा वचः श्रुत्वा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
पुनर्जातमिवात्मानं मेने प्राह च कौशिकम् ॥ २२ ॥
उच्यतां भगवन् यत्ते दातव्यमविशङ्कितम् ।
दत्तमित्येव तद्विद्धि यद्यपि स्यात्सुदुर्लभम् ॥ २३ ॥
हिरण्यं वा सुवर्णं वा पुत्रः पत्नी कलेवरम् ।
प्राणा राज्यं पुरं लक्ष्मीर्यदभिप्रेतमात्मनः ॥ २४ ॥

विश्वा० उ०—राजन् प्रतिगृहीतोऽयं यस्ते दत्तः प्रतिग्रहः ।
प्रयच्छ प्रथमं तावद्दक्षिणां राजसूयिकीम् ॥ २५ ॥

राजोवाच—ब्रह्मंस्तामपि दास्यामि दक्षिणां भवतो ह्यहम् ।
व्रियतां द्विजशार्दूल यस्तवेष्टः प्रतिग्रहः ॥ २६ ॥

विश्वा० उ०—ससागरां धरामेतां सभूभृद्ग्रामपत्तनाम् ।
राज्यञ्च सकलं वीर रथाश्वगजसङ्कुलम् ॥ २७ ॥
कोष्ठागारञ्च कोषश्च यच्चान्यद्विद्यते तव ।
विना भार्याञ्च पुत्रञ्च शरीरञ्च तवानघ ॥ २८ ॥
धर्मञ्च सर्वधर्मज्ञ यो यान्तमनुगच्छति ।
बहुना वा किमुक्तेन सर्वमेतत्प्रदीयताम् ॥ २९ ॥
प्रहृष्टेनैव मनसा सोऽविकारमुखो नृपः ।
तस्यर्षेर्वचनं श्रुत्वा तथेत्याह कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥
तथेति चोक्त्वा कृत्वा च राजा गन्तुं प्रचक्रमे ।
स्वपत्न्या शैब्यया सार्धं बालकेनात्मजेन च ॥ ३५ ॥

भाषा

द्वितीय जन्म माना और बड़े हर्ष से बोले ॥ २२ ॥ हरि०—हे भगवन्, निःशङ्क होकर यह कहा जाय कि मैं क्या दूँ और वह देय पदार्थ चाहे कितना ही दुर्लभ हो, उसे दिया ही हुआ समझिये ॥ २३ ॥

अर्थात् मेरा सोना, चाँदी, पुत्र, पत्नी, यह शरीर, प्राण, राज्य, राजधानी (अयोध्यापुरी) लक्ष्मी और जो कुछ इष्ट है, सब आपके लिए उपस्थित करता हूँ ॥ २४ ॥ विश्वा०—हे राजन् ! जो प्रतिग्रह आपने दिया वह मुझे स्वीकार है । परन्तु प्रथम, आपने राजसूय यज्ञ किया था उसकी दक्षिणा तो पूर्ण कीजिये ॥ २५ ॥ हरि०—हे ब्रह्मन् ! उस दक्षिणा को भी मैं पूरा करूँगा । परन्तु जो इस समय आपको इष्ट है उस प्रतिग्रह को कहिये ॥ २६ ॥ विश्वा०—हे सर्वधर्मज्ञ राजन् ! अधिक क्या कहना है, तुम्हारे पुत्र, पत्नी, शरीर और धर्म (जो शरीर छूटने पर संग रहता है) इन चार को छोड़-कर जो कुछ तुम्हारा है अर्थात् पर्वत, ग्राम, नगर, समुद्र आदि से सहित यह पृथ्वी और सम्पूर्ण राज्य, रथ, घोड़ा, हाथी, कोष्ठागार (कोठार) और इससे भी अन्य जो कुछ तुम्हारा अब तक है, सब मुझे दीजिये ॥ २७–२८–२९ ॥ राजा ने हर्षपूर्वक निर्विकार मुख छाया से इस ऋषिवाक्य को सुनकर

व्रजतः स ततो रुद्ध्वा पन्थानं प्राह तं नृपम् ।
क्व यास्यसीत्यदत्वा मे दक्षिणां राजसूयिकीम् ॥ ३६ ॥

हरिश्च०—मासेन तव विप्रर्षे प्रदास्ये दक्षिणा धनम् ।
साम्प्रतं नास्ति मे वित्तमनुज्ञां दातुमर्हसि ॥ ४३ ॥

विश्वा० उ०—गच्छ गच्छ नृपश्रेष्ठ स्वधर्ममनुपालय ।
शिवश्च तेऽध्वा भवतु मा सन्तु परिपन्थिनः ॥ ४४ ॥
अनुज्ञातः स गच्छेति जगाम वसुधाधिपः ।
पद्भ्यामनुचिता गन्तुमन्वगच्छत तं प्रिया ॥ ४५ ॥
तं सभार्यं नृपश्रेष्ठं निर्यान्तं ससुतं पुरात् ।
दृष्ट्वा प्रचुक्रुशुः पौरा राज्ञश्चैवानुयायिनः ॥ ४६ ॥
हा नाथ किं जहास्यस्मान् नित्यार्त्तिपरिपीड़ितान् ।
त्वं धर्मतत्परो राजन् पौरानुग्रहकृत्तथा ॥ ४७ ॥
नयास्मानपि राजर्षे यदि धर्ममवेक्षसे ।
यत्र त्वं तत्र हि वयं तत्सुखं यत्र वै भवान् ॥
नगरं तद्भवान् यत्र स स्वर्गो यत्र नो नृपः ॥ ५५ ॥

भाषा

बद्धाञ्जलि हो कहा कि 'तथा' (बहुत अच्छा) और ऐसा कहकर अपनी महारानी और बालक पुत्र के साथ वहाँ से चलने के लिये उद्यत हुये ॥ ३०—३५ ॥

विश्वामित्र ऋषि ने राजा के अग्रभाग में खड़ा होकर कहा कि मेरी राजसूय यज्ञ की दक्षिणा दिये बिना कहाँ जावगे ?॥ ३६ ॥ हरिश्चन्द्र०—हे ब्रह्मर्षे, इस समय तक जो कुछ रहा सब मैं दे चुका हूँ इस कारण मेरे समीप कोई धन नहीं है, परन्तु एक मास में राजसूय की दक्षिणा आपको दूँगा, इसलिये आप मुझे जाने की आज्ञा दीजिये ॥ ४३ ॥ विश्वा०—हे राजाओं में श्रेष्ठ ! जाइये २, आपका पन्था शिव हो और शत्रु आपके नष्ट हो जायँ ॥ ४४ ॥ ऋषि की आज्ञा पाकर राजा अपने पुर में आये और वहाँ से तुरत ही अपनी रानी और बालक के साथ पदाति ही अपने पुर से प्रस्थान कर चल पड़े । यद्यपि उनकी स्त्री को चरणों से चलने का अभ्यास नहीं था तथापि प्रारब्ध कर्मों के अनुसार पद ही से चलना पड़ा । अर्थात् बालक को अपनी गोद में लेकर रानी को राजा के पीछे चलना पड़ा ॥ ४५ ॥ राजा की इस दुर्दशा को देखकर सचिव सहित प्रजा यह कहने लगी कि हा नाथ ! आज से सदा के लिये दुखी इस प्रजा को आप क्यों छोड़ते हैं ? हम पर अनुग्रह करने वाले ऐसे धर्मतत्पर आप यदि धर्म विचार करते हैं तो हे राजर्षे ! हम सबको अपने साथ ले चलिये क्योंकि जहाँ आप वहाँ हम, और हमको सुख वहीं है जहाँ आप रहेंगे तथा नगर भी वही है जहाँ आपका निवास होगा और स्वर्ग भी हमारा वही है जहाँ आप हमारे राजा रहेंगे ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ५५ ॥

इति पौरवचः श्रुत्वा राजा शोकपरिप्लुतः।
अतिष्ठत् स तदा मार्गे तेषामेवानुकम्पया ॥ ५६ ॥
विश्वामित्रोऽपि तं दृष्ट्वा पौरवाक्याकुलीकृतम्।
रोषामर्षविवृत्ताक्षः समागम्य वचोऽब्रवीत् ॥ ५७ ॥
धिक् त्वां दुष्टसमाचारमनृतं जिह्मभाषिणम्।
मम राज्यञ्च दत्त्वा यः पुनः प्राकृष्टुमिच्छसि ॥ ५८ ॥
इत्युक्तः परुषं तेन गच्छामीति सवेपथुः।
ब्रुवन्नेवं ययौ शीघ्रमाकर्षन् दयितां करे ॥ ५९ ॥

मार्क० अ० ८—स गत्वा वसुधापालो दिव्यां वाराणसीं पुरीम्।
नैषा मनुष्यभोग्येति शूलपाणेः परिग्रहः ॥ ४ ॥
जगाम पद्भ्यां दुःखार्त्तः सह पत्न्याऽनुकूलया।
पुरीप्रवेशे ददृशे विश्वामित्रमुपस्थितम् ॥ ५ ॥
तं दृष्ट्वा समनुप्राप्तं विनयावनतोऽभवत्।
प्राह चैवाञ्जलिं कृत्वा हरिश्चन्द्रो महामुनिम् ॥ ६ ॥
इमे प्राणाः सुतश्चायमियं पत्नी मुने मम।
येन ते कृत्यमस्त्याशु तद्गृहाणार्घ्यमुत्तमम् ॥ ७ ॥
यद्वान्यत् कार्यमस्माभिस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ८ ॥

भाषा

इस प्रजावाक्य को सुन शोकयुक्त हो प्रजा पर दयादृष्टि कर मार्ग ही में राजा खड़े हो गये ॥ ५६ ॥ इसी समय में विश्वामित्र पहुँच कर बड़े क्रोध से बोले कि हे राजन्! ऐसे दुष्टाचारी और मूढ़ तुमको धिक्कार है कि जो राज्य मुझको देकर अब तुम प्रजा की ओर दृष्टि दे रहे हो ॥ ५७ ॥ ॥ ५८ ॥ इस वाक्य को सुनने से कंपित होकर 'हूँ' यह कहते हुये अपनी रानी के हाथ को खींचते हुये राजा तुरत ही चले गये ॥ ५९ ॥

राजा ने विचार किया कि वाराणसी पुरी पृथ्वी में नहीं है और शूलपाणि अर्थात् श्री शिव जी का परिग्रह अर्थात् राज्य है, इस कारण यह पुरी मनुष्य अर्थात् मेरे भोग के योग्य नहीं है, इसी से मैंने जो कुछ दान दिया उसमें यह पुरी अन्तर्गत नहीं है, इसलिये यह पुरी मेरे वास के योग्य है, ऐसा विचार कर अयोध्यापुरी अपनी राजधानी से वाराणसी को यात्रा किया ॥ ४ ॥ महारानी सहित राजा बड़े क्लेश के साथ चरणों से चलकर जब वाराणसी पुरी में प्रवेश करने लगे उस समय विश्वामित्र ऋषि को भी वहाँ उपस्थित देखा ॥ ५ ॥ उनको देखकर बड़े विनय से नम्र हो राजा हरिश्चन्द्र ने अञ्जलि बाँध कर उन महामुनि से यह कहा कि ॥ ६ ॥ इन मेरे प्राण और पुत्र तथा पत्नी में जिससे आपको प्रयोजन हो, उसको अपनी दक्षिणा में लीजिये ॥ ७ ॥ तथा और जो कुछ आपका कार्य हो उसको करने के लिये भी आप मुझे अनुज्ञा देने के योग्य हैं ॥ ८ ॥ विश्वा० हे राजर्षे! यदि तुमको

विश्वा० उ०—पूर्णः स मासो राजर्षे दीयतां मम दक्षिणा ।
राजसूयनिमित्तं हि स्मर्यते स्ववचो यदि ॥ ९ ॥

हरि०—ब्रह्मन्नद्यैव सम्पूर्णो मासोऽम्लानतपोधन ।
तिष्ठत्त्येतद्दिनार्धं यत्तत्प्रतीक्षस्व मा चिरम् ॥ १० ॥

विश्वा० उ०—एवमस्तु महाराज आगमिष्याम्यहं पुनः ।
शापं तव प्रदास्यामि न चेदद्य प्रदास्यसि ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रो राजा चाचिन्तयत्तदा ।
कथमस्मै प्रदास्यामि दक्षिणा या प्रतिश्रुता ॥ १२ ॥
कुतः पुष्टानि मित्राणि कुतोऽर्थः साम्प्रतं मम ।
प्रतिग्रहः प्रदुष्टो मे नाहं यायामधः कथम् ॥ १३ ॥
किमु प्राणान् विमुञ्चामि कां दिशं याम्यकिञ्चनः ।
यदि नाशं गमिष्यामि अप्रदाय प्रतिश्रुतम् ॥ १४ ॥
ब्रह्मस्वहृत् कृमिः पापो भविष्याम्यधमाधमः ।
अथवा प्रेष्यतां यास्ये वरमेवात्मविक्रयः ॥ १५ ॥
राजानं व्याकुलं दीनं चिन्तयानमधोमुखम् ।
प्रत्युवाच तदा पत्नी बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १६ ॥

पत्नी० उ०—त्यज चिन्तां महाराज स्वसत्यमनुपालय ।
श्मशानवद् वर्जनीयो नरः सत्यबहिष्कृतः ॥ १७ ॥

भाषा

अपने वचन का स्मरण है तो वह मास आज पूर्ण हो रहा है, इसलिये राजसूय की दक्षिणा आज मुझे दीजिये ॥ ९ ॥ हरि०—हे तपोधन ब्रह्मन् आज ही वह मास पूर्ण हो रहा है इस समय मध्याह्न है इससे अब दो प्रहर अवशिष्ट हैं तब तक प्रतीक्षा कीजिये ॥ १० ॥ विश्वा०—हे महाराज ! एवमस्तु । मैं पुनः आऊँगा परन्तु यदि आज मुझे दक्षिणा न मिली तो तुमको शाप दूँगा ॥ ११ ॥

यह कहकर ऋषि चले गये और राजा यह चिन्ता करने लगे कि अपनी प्रतिज्ञा की हुई दक्षिणा किस रीति से इन्हें दूँगा क्योंकि कोई ऐसे मित्र नहीं हैं कि जिनसे मैं धन लूँ । और कैसे मुझे इस समय धन मिले । दान लेना मेरा धर्म नहीं है और कौन उपाय करूँ कि जिससे मेरी अधोगति न हो, कि मैं प्राण ही छोड़ दूँ, मैं दरिद्र किस ओर को जाऊँ ? यदि प्रतिज्ञा की हुई दक्षिणा दिये बिना मरूँगा तो ब्रह्मस्व (ब्राह्मण धन) हृत (हरने वाला) पापी होकर अधम से अधम कोई कृमि हूँगा । अथवा किसी का दास हो जाऊँ क्योंकि उक्त उपायों की अपेक्षा आत्मविक्रय अच्छा है ॥ १२–१५ ॥ इस रीति से चिन्ता करते हुये व्याकुल और दीन तथा अधोमुख राजा से महारानी ने अश्रु से गद्गद वाणी में कहा कि ॥ १६ ॥ हे महाराज ! चिन्ता छोड़ अपने सत्य का पालन कीजिये क्योंकि सत्य से बहिष्कृत मनुष्य श्मशान के तुल्य वर्जनीय होता है ॥ १७ ॥

नातः परतरं धर्मं वदन्ति पुरुषस्य तु।
यादृशं पुरुषव्याघ्र स्वसत्यपरिपालनम् ॥ १८ ॥
अग्निहोत्रमधीतं वा दानाद्याश्चाखिलाः क्रियाः।
भजन्ते तस्य वैफल्यं यस्य वाक्यमकारणम् ॥ १९ ॥
सत्यमत्यन्तमुदितं धर्मशास्त्रेषु धीमताम्।
तारणायानृतं तद्वत्पातनायाकृतात्मनाम् ॥ २० ॥
सप्ताश्वमेधानाहृत्य राजसूयं च पार्थिवः।
कृतिर्नाम च्युतः स्वर्गादसत्यवचनात्सकृत् ॥ २१ ॥
राजन् जातमपत्यं मे इत्युक्त्वा प्ररुरोद ह।
बाष्पाम्बुप्लुतनेत्रान्तामुवाचेदं महीपतिः ॥ २२ ॥
हरिश्चन्द्र उ०—विमुञ्च भद्रे सन्तापमयं तिष्ठति बालकः।
उच्यतां वक्तुकामाऽसि यद्वा त्वं गजगामिनि ॥ २३ ॥
पत्न्युवाच—राजन् जातमपत्यं मे सतां पुत्रफलाः स्त्रियः।
स मां प्रदाय वित्तेन देहि विप्राय दक्षिणाम् ॥ २४ ॥
एतद्वाक्यमुपश्रुत्य ययौ मोहं महीपतिः।
प्रतिलभ्य च संज्ञां स विललापातिदुःखितः ॥ २५ ॥
हा हा कथं त्वया शक्यं वक्तुमेतत् शुचिस्मिते।
दुर्वाच्यमेतद्वचनं कर्तुं शक्नोम्यहं कथम् ॥ २७ ॥

भाषा

हे पुरुषव्याघ्र ! महात्मा लोग पुरुष के लिये सत्य के पालन की अपेक्षा किसी धर्म को अधिक नहीं कहते ॥ १८ ॥ जिस पुरुष का वाक्य मिथ्या होता है उसके अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और दानादि सभी धर्म निष्फल होते हैं ॥ १९ ॥

धर्मशास्त्रों में विवेकियों के कल्याण के लिये सत्य, अत्यन्त कहा है और ऐसे ही अविवेकियों की विपत्ति के लिये मिथ्याभाषण भी ॥ २० ॥ "कृति" नामक महाराज सात अश्वमेध और एक राजसूय करने से स्वर्गलाभ करने पर भी एक बार मिथ्याभाषण मात्र से स्वर्गच्युत हो गये ॥ ॥ २१ ॥ हे राजन् ! मेरे पुत्र उत्पन्न हो चुका है, ऐसा कह कर अश्रुपूर्ण नेत्रों से बहुत रोने लगी। तब राजा ने उससे यह कहा कि ॥ २२ ॥

हे गजगामिनि ! भद्रे ! सन्ताप छोड़ो, यह तुम्हारा बालक खड़ा है। जो कुछ तुम कहना चाहती हो, कहो ॥ २३ ॥

पत्नी—हे राजन् ! स्त्रियों का फल पुत्र है और पुत्र मेरे उत्पन्न हो चुका, इसलिये मुझे बेंचकर जो धन मिले उसे ब्राह्मण के लिये दक्षिणा दीजिये ॥ २४ ॥ इस बात को सुनकर राजा मूर्च्छित हो गये। तदनन्तर चैतन्य पाकर अति दुःख से विलाप करने लगे कि हाय ! हाय ! हे शुचिस्मिते, कैसे तू इस बात को कह सकी, और मैं तो ऐसा कह भी नहीं सकता, करने को कौन कहै ॥ २५ ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा स नरश्रेष्ठो धिग्धिगित्यसकृद्ब्रुवन् ।
निपपात महीपृष्ठे मूर्च्छयाऽभिपरिप्लुतः ॥ २८ ॥
शयानं भुवि तं दृष्ट्वा हरिश्चन्द्रं महीपतिम् ।
उवाचेदं सकरुणं राजपत्नी सुदुःखिता ॥ २९ ॥
हा महाराज कस्येदमपध्यानमुपस्थितम् ।
यस्त्वं निपतितो भूमौ राङ्कवास्तरणोचितः ॥३०॥
इत्युक्त्वा साऽपि सुश्रोणी मूर्च्छिता निपपात ह ।
भर्तृदुःखमहाभारेणासह्येन निपीड़िता ॥ ३३ ॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तो विश्वामित्रो महातपाः ।
दृष्ट्वा तु तं हरिश्चन्द्रं पतितं भुवि मूर्च्छितम् ॥
सवारिणा समभ्युक्ष्य राजानमिदमब्रवीत् ॥ ३६ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजेन्द्र तां ददस्वेष्टदक्षिणाम् ।
ऋणं धारयतो दुःखमहन्यहनि वर्द्धते ॥ ३७ ॥
आप्याय्यमानः स तदा हिमशीतेन वारिणा ।
अवाप्य चेतनां राजा विश्वामित्रमवेक्ष्य च ॥
पुनर्मोहं समापेदे स च क्रोधं ययौ मुनिः ॥ ३९ ॥
स समाश्वास्य राजानं वाक्यमाह द्विजोत्तमः ।
दीयतां दक्षिणा सा मे यदि धर्ममवेक्षसे ॥ ४० ॥

भाषा

ऐसा कहकर अनेक बार धिक् धिक् कहते हुये राजा मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ २८ ॥ उन राजा को भूमि पर पड़े हुये देखकर रानी ने अति दुःखिता होकर यह कहा कि– ॥ २९ ॥ हाय ! हे महाराज, यह किसका शाप आ पहुँचा कि जो रङ्कु (अति कोमल मृगचर्म विशेष) के आस्तरण पर सदा शयन करने वाले आप आज पृथिवी पर पड़े हुये हैं ॥ ३० ॥

ऐसा कहने के अनन्तर रानी भी मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ी क्योंकि वह पतिव्रता, पति दुःख के महाभार को कैसे सहन कर सकती है ॥ ३३ ॥

इसी समय महातपस्वी विश्वामित्र आ पहुँचे और राजा को वैसा देखकर शीतल जल से सेचन कर कहा कि ॥ ३६ ॥

हे राजेन्द्र ! उठो २, मेरी इष्ट दक्षिणा दो क्योंकि ऋण धराने वाले का दुःख प्रतिदिन बढ़ता है ॥ ३७ ॥ उस शीतल जल के उपचार से चैतन्य पाकर राजा ने विश्वामित्र को देखा और पुनः मूर्च्छित हो गये, इससे मुनि को क्रोध हुआ ॥ ३९ ॥

मुनि ने पुनः राजा को सचेतन कर उनसे यह कहा कि यदि धर्म को देखते हो तो मेरी वह दक्षिणा दो ॥ ४० ॥ क्योंकि सत्य ही से सूर्य तपता है और सत्य ही पर पृथिवी स्थित है तथा सत्य वचन

सत्येनार्कः प्रतपति सत्ये तिष्ठति मेदिनी।
सत्यश्चोक्तं परो धर्मः स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ॥ ४१ ॥

अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ ४२ ॥

अथवा किं ममैतेन साम्ना प्रोक्तेन कारणम्।
अनार्ये पापसङ्कल्पे क्रूरे चानृतवादिनि ॥ ४३ ॥

त्वयि राज्ञि प्रभवति सद्भावः श्रूयतामयम्।
अद्य मे दक्षिणां राजन्न दास्यति भवान् यदि ॥ ४४ ॥

अस्ताचलं प्रयातेऽर्के शप्स्यामि त्वां ततो ध्रुवम्।
इत्युक्त्वा स ययौ विप्रो राजा चासीद्भयातुरः ॥ ४५ ॥

कान्दिग्भूतोऽधमो निःस्वो नृशंसधनिनार्दितः।
भार्याऽस्य भूयः प्राहेदं क्रियतां वचनं मम ॥
मा शापानलनिर्दग्धः पञ्चत्वमुपयास्यसि ॥ ४६ ॥

स तथा चोद्यमानस्तु राजा पत्न्या पुनः पुनः।
प्राह भद्रे करोम्येष विक्रयं तव निर्घृणः ॥ ४७ ॥

नृशंसैरपि यत्कर्तुं न शक्यं तत्करोम्यहम्।
यदि मे शक्यते वाणी वक्तुमीदृक् सुदुर्वचः ॥ ४८ ॥

एवमुक्त्वा ततो भार्य्यां गत्वा नगरमातुरः।
बाष्पापिहितकण्ठाक्षस्ततो वचनमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

भाषा

ही पर धर्म है और सत्य ही पर स्वर्ग प्रतिष्ठित है, तथा यदि तुला के एक पलरे पर सहस्र अश्वमेध और दूसरे पर सत्य रख दिया जाय तो सहस्र अश्वमेधों की अपेक्षा सत्य ही गुरुतर होता है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

अथवा तुम क्रूर और मिथ्यावादी राजा हो, इससे तुम्हारे लिए उपदेश करने का कोई कारण नहीं है। अब मेरा सत्य वाक्य सुनो कि हे राजन्! आज सूर्यास्त से प्रथम यदि तुम मेरी दक्षिणा न दे दोगे तो मैं तुम्हें अवश्य शाप दूँगा। ऐसा कहकर ऋषि चले गये और राजा भी इस बात से अत्यन्त भयभीत होकर व्याकुल हो गये ॥ ४३–४५ ॥ और उनकी रानी ने पुनः यह कहा कि मेरा कहा कीजिये और शाप रूपी अग्नि से दग्ध होकर प्राणत्याग न कीजिये ॥ ४६ ॥ ऐसे पुनः रानी के कहने पर राजा ने कहा कि हे भद्रे! यह दयाशून्य मैं तुम्हारा विक्रय करता हूँ, जिसको कि चाण्डाल भी नहीं करता परन्तु यदि मेरी रसना ऐसा कह सकेगी ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ऐसा कहकर शोकातुर राजा, नगर में आकर अश्रुपूर्ण नेत्र और रुद्धकण्ठ होकर उच्चस्वर से यह कहा कि ॥४९॥ हे! हे! सब

राजोवाच—भो भो नागरिकाः सर्वे श्रृणुध्वं वचनं मम ।
किं मां पृच्छथ कस्त्वं भो नृशंसोऽहममानुषः ॥ ५० ॥
राक्षसो वातिकठिनस्ततः पापतरोऽपि वा ।
विक्रेतुं दयितां प्राप्तो यो न प्राणांस्त्यजाम्यहम् ॥ ५१ ॥
यदि वः कस्यचित्कार्यं दास्या प्राणेष्टया मम ।
स ब्रवीतु त्वरायुक्तो यावत्संधारयाम्यहम् ॥ ५२ ॥
अथ वृद्धो द्विजः कश्चिदागत्याह नराधिपम् ।
समर्पयस्व मे दासीमहं क्रेता धनप्रदः ॥ ५३ ॥
अस्ति मे वित्तमस्तोकं सुकुमारी च मे प्रिया ।
गृहकर्म न शक्नोति कर्तुमस्मात् प्रयच्छ मे ॥ ५४ ॥
कर्मण्यतावयोरूपशीलानां तव योषितः ।
अनुरूपमिदं वित्तं गृहाणार्पय मेऽबलाम् ॥ ५५ ॥
एवमुक्तस्य विप्रेण हरिश्चन्द्रस्य भूपतेः ।
व्यदीर्यत मनो दुःखान्न चैनं किञ्चिदब्रवीत् ॥ ५६ ॥
ततः स विप्रो नृपतेर्वल्कलान्ते दृढं धनम् ।
बद्ध्वा केशेष्वथादाय नृपपत्नीमकर्षयत् ॥ ५७ ॥
रुरोद रोहिताश्वोऽपि दृष्ट्वा कृष्टां तु मातरम् ।
हस्तेन वस्त्रमाकर्षन् काकपक्षधरः शिशुः ॥ ५८ ॥
पत्न्युवाच—मुञ्चार्य मुञ्च तावन्मां यावत्पश्याम्यहं शिशुम् ।
दुर्लभं दर्शनं तात पुनरस्य भविष्यति ॥ ५९ ॥

भाषा

नगर निवासियों ! मेरे इस वाक्य को सुनते जावो कि यह मुझसे क्यों पूछते हो कि तुम कौन हो ? मैं मनुष्य नहीं हूँ, बड़ा क्रूर राक्षस अथवा उससे भी महापापी हूँ ॥ ५० ॥ जो कि अपनी पत्नी को बेंचने के लिए यहाँ आया हूँ और इस पर भी प्राण नहीं त्यागता हूँ । यदि किसी को मेरी इस प्राणप्रिया रूपी दासी से प्रयोजन हो तो जब तक मैं जी रहा हूँ, तुरत ही वह कहे ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ तदनन्तर एक वृद्ध ब्राह्मण ने आकर राजा से कहा कि दासी को मुझे दो क्योंकि मेरे समीप धन अधिक है । पत्नी मेरी सुकुमारी है, गृहकर्म नहीं कर सकती और तुम्हारी स्त्री के रूप, शील, अवस्था, आदि गुणों के योग्य यह धन लो और स्त्री को मुझे दो ॥ ५३–५५ ॥ इस विप्र वाक्य को सुनकर राजा का अन्तःकरण, दुःख से विदीर्ण हो गया और कुछ न बोल सके ॥ ५६ ॥

तदनन्तर ब्राह्मण ने राजा के मलिन बल्कल में उस धन को दृढ़ बाँधकर रानी का केश पकड़ कर खींचा । माता की यह दशा देखकर 'रोहिताश्व' नामक काकुल वाले राजकुमार ने रानी का वस्त्र पकड़ कर खींचा । रानी ने ब्राह्मण से कहा कि हे आर्य ! मुझे छोड़ो २, जब तक मैं इस बालक को देखती हूँ, क्योंकि अब से इस बालक का दर्शन मुझे दुर्लभ हो जायगा ॥ ५७–५९ ॥

पश्यैहि वत्स मामेवं मातरं दास्यतां गताम् ।
मां मास्प्राक्षी राजपुत्र अस्पृश्याऽहं तवाधुना ॥ ६० ॥
ततः स बालः सहसा दृष्ट्वा कृष्टां तु मातरम् ।
समभ्यधावदम्बेति रुदन् सास्राविलेक्षणः ॥ ६१ ॥
तमागतं द्विजः क्रेता बालमभ्याहनत् पदा ।
वदंस्तथापिसोम्बेति नैवामुञ्चत मातरम् ॥ ६२ ॥
राजपत्नी उ०—प्रसादं कुरु मे नाथ क्रीणीष्वेमञ्च बालकम् ।
क्रीताऽपि नाहं भवतो विनैनं कार्यसाधिका ॥ ६३ ॥
इत्थं ममाल्पभाग्यायाः प्रसादसुमुखो भव ।
मां संयोजय बालेन वत्सेनेव पयस्विनीम् ॥ ६४ ॥
ब्राह्मण उ०—गृह्यतां वित्तमेतत्ते दीयतां बालको मम ।
स्त्रीपुंसोर्धर्मशास्त्रज्ञैः कृतमेव हि वेतनम् ॥
शतं सहस्रं लक्षञ्च कोटिमूल्यं तथा परैः ॥ ६५ ॥
तथैव तस्य तद्वित्तं बद्ध्वोत्तरपटे ततः ।
प्रगृह्य बालकं मात्रा सहैकस्थमबन्धयत् ॥ ६६ ॥
नीयमानौ तु तौ दृष्ट्वा भार्यापुत्रौ स पार्थिवः ।
विललाप सुदुःखार्त्तो निःश्वस्योष्णं पुनः पुनः ॥ ६७ ॥
यां न वायुर्न चादित्यो नेन्दुर्न च पृथग्जनः ।
दृष्टवन्तः पुरा पत्नी सेयं दासीत्वमागता ॥ ६८ ॥

भाषा

पुत्र से भी रानी ने कहा कि हे वत्स ! आ जाओ, दासी भाव को प्राप्त मुझ माँ को देखो । परन्तु हे राजपुत्र ! मेरा स्पर्श न करना क्योंकि मैं अब तुम्हारे स्पर्श के योग्य नहीं हूँ ॥ ६० ॥ तदनन्तर वह बालक अश्रुधारा से आर्द्र होता, माँ २ पुकारता हुआ पीछे दौड़ा ॥ ६१ ॥ उस ब्राह्मण ने उस बालक को लात से मारा, तब भी वह वैसा ही कहता हुआ अपनी माता को नहीं छोड़ सका ॥ ६२ ॥ रानी ने ब्राह्मण से यह कहा कि हे नाथ ! अनुग्रह करके इस बालक को भी कीन लीजिये क्योंकि बिना इस बालक के मैं आपका कार्य न कर सकूँगी । इससे मैं प्रार्थना करती हूँ कि जैसे गौ के साथ लोग बछड़े को रखते हैं वैसे आप प्रसन्नतापूर्वक मुझ मन्दभागिनी को इस बालक से मिला दीजिये ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ब्राह्मण ने कहा—अच्छा, इतना धन इस बालक का भी ले लो और उस धन को राजा के दूसरे बल्कल में बाँधकर ले चला ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

तदनन्तर अपनी महारानी और राजकुमार की इस दशा को देख अपार दुःखसागर में डूबते हुये राजा ने अति उष्ण श्वास ले लेकर यह विलाप किया कि ॥ ६७ ॥

जिसको न वायु, न सूर्य, न चन्द्रमा और न अन्य जनों ने पूर्व में कभी देखा वह मेरी पत्नी आज दासी भाव को प्राप्त हो गई ॥ ६८ ॥ और सूर्यवंश में उत्पन्न यह मेरा अति सुकुमार राज-

सूर्यवंशप्रसूतोऽयं सुकुमारकराङ्गुलिः ।
सम्प्राप्तो विक्रयं बालो धिग्मामस्तु सुदुर्मतिम् ॥ ६९ ॥
हा प्रिये हा शिशो वत्स ममानार्यस्य दुर्नयैः ।
दैवाधीनां दशां प्राप्तो न मृतोऽस्मि तथापि धिक् ॥ ७० ॥
एवं विलपतो राज्ञः स विप्रोऽन्तरधीयत ।
वृक्षगेहादिभिस्तुङ्गैस्तावादाय त्वरान्वितः ॥ ७१ ॥
विश्वामित्रस्ततः प्राप्तो नृपं वित्तमयाचत ।
तस्मै समर्पयामास हरिश्चन्द्रोऽपि तद्धनम् ॥ ७२ ॥
तद्वित्तं स्तोकमालोक्य दारविक्रयसम्भवम् ।
शोकाभिभूतं राजानं कुपितः कौशिकोऽब्रवीत् ॥ ७३ ॥
क्षत्रबन्धो ममेमां त्वं सदृशीं यज्ञदक्षिणाम् ।
मन्यसे यदि तत्क्षिप्रं पश्य त्वं मे बलं परम् ॥ ७४ ॥
तपसोऽत्र सुतप्तस्य ब्राह्मण्यस्यामलस्य च ।
मत्प्रभावस्य चोग्रस्य शुद्धस्याध्ययनस्य च ॥ ७५ ॥

हरि० उ०—अन्यां दास्यामि भगवन् कालः कश्चित् प्रतीक्ष्यताम् ।
साम्प्रतं नास्ति विक्रीता पत्नी पुत्रश्च बालकः ॥ ७६ ॥

विश्वा० उ०—चतुर्भागः स्थितो योऽयं दिवसस्य नराधिप ।
एष एव प्रतीक्ष्यो मे वक्तव्यं नोत्तरं त्वया ॥ ७७ ॥

भाषा

कुमार इस बाल्यावस्था ही में विक्रय को प्राप्त हो गया, मुझ दुर्मति को धिक्कार है । हाय प्रिये ! हाय बालवत्स ! मुझ अनार्य की दुर्नीति से तुम दोनों इस भाग्याधीन दुर्दशा को प्राप्त हो गये। मुझे धिक्कार है कि इस पर भी मैं नहीं मरता ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ऐसा विलाप करते हुये राजा का अनादर कर वह ब्राह्मण उन दोनों को लेकर तुरत गलियों से चलता हुआ, वृक्षों और गृहों के ओट में हो गया ॥ ७१ ॥ इतने में विश्वामित्र ऋषि ने पुनः आकर राजा से दक्षिणा माँगा और राजा ने दारपुत्र विक्रय के धन को उनके अधीन कर दिया ॥ ७२ ॥ उस धन को थोड़ा समझ कर उस कौशिक ऋषि ने अति कुपित हो शोकाकुल राजा से कहा कि ॥७३॥ हे क्षत्रबन्धो ! यदि तू इतने ही धन को मेरी राजसूय की दक्षिणा उचित समझता है तो अभी मेरे उत्तम तप, निर्मल ब्राह्मणत्व का उग्र प्रभाव और शुद्ध अध्ययन का बल देख ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ हरिश्चन्द्र—हे भगवन् ! कुछ काल और प्रतीक्षा कीजिये, आपको मैं और भी दक्षिणा दूँगा, क्योंकि मैंने अभी पत्नी और बालक को बेंचा है, इस समय मेरे समीप कुछ धन नहीं है ॥७६॥

विश्वामित्र—हे राजन् ! यह जो एक प्रहर दिन अवशिष्ट है, उसी की मैं प्रतीक्षा करता हूँ। इसके पश्चात् पुनः कुछ न कहना ॥ ७७ ॥ उन राजेन्द्र को ऐसा क्रूर और निर्दय वाक्य सुनाकर

तमेवमुक्त्वा राजेन्द्रं निष्ठुरं निर्घृणं वचः ।
तदादाय धनं तूर्णं कुपितः कौशिको ययौ ॥ ७८ ॥

विश्वामित्रे गते राजा भयशोकाब्धिमध्यगः ।
सर्वाकारं विनिश्चित्य प्रोवाचोच्चैरधोमुखः ॥ ७९ ॥

वित्तक्रीतेन यो ह्यर्थी मया प्रेष्येण मानवः ।
स ब्रवीतु त्वरायुक्तो यावत्तपति भास्करः ॥ ८० ॥

अथाजगाम त्वरितो धर्मश्चाण्डालरूपधृक् ।
दुर्गन्धो विकृतो रूक्षः श्मश्रुलो दन्तुरो घृणी ॥ ८१ ॥

कृष्णो लम्बोदरः पिङ्गरूक्षाक्षः परुषाक्षरः ।
गृहीतपक्षिपुञ्जश्च शवमाल्यैरलङ्कृतः ॥ ८२ ॥

कपालहस्तो दीर्घास्यो भैरवोऽतिवदन् मुहुः ।
श्वगणाभिवृतो घोरो यष्टिहस्तो निराकृतिः ॥ ८३ ॥

चाण्डाल उ०—अहमर्थी त्वया शीघ्रं कथयस्वात्मवेतनम् ।
स्तोकेन बहुना वापि येन वै लभ्यते भवान् ॥ ८४ ॥

तं तादृशमथालक्ष्य क्रूरदृष्टिं सुनिष्ठुरम् ।
वदन्तमतिदुःशीलं कस्त्वमित्याह पार्थिवः ॥ ८५ ॥

चाण्डाल उ०—चाण्डालोऽहमिहाख्यातः प्रवीरेति पुरोत्तमे ।
विख्यातो वध्यवधको मृतकम्बलहारकः ॥ ८६ ॥

भाषा

उस धन को बाँध विश्वामित्र ऋषि चले गये ॥ ७८ ॥ तदनन्तर भय और शोक रूपी समुद्र के मध्य में अनाथ होकर डूबते हुये अधोमुख राजा ने सब प्रकार से निश्चय कर उच्चस्वर से पुकार कर यह कहा कि ॥ ७९ ॥ हे मनुष्यो ! धन से कीने हुये दास से जिसको प्रयोजन हो वह तुरत ही अर्थात् सूर्यास्त से पहले ही बोले ॥ ८० ॥ इसी अवसर में चाण्डाल का रूप धारण कियें हुए धर्मदेव आ पहुँचे । उनका शरीर रूक्ष, दुर्गन्धी, दढ़ियल, दन्तुर, (दाँत निकला हुआ घृणायोग्य, काला, लम्बोदर (पेट निकला हुआ), रूक्षाक्ष (रूखी आँख वाला), रूखा बोलने वाला, बहुत से पक्षियों को लिये दीर्घास्य (लम्बा मुख वाला), बक् बक् करता हुआ, कुत्तों से आवृत, अति भयानक और हाथ में लट्ठ लिये था ॥ ८१–८३ ॥ चाण्डाल—तुमसे मुझे प्रयोजन है, थोड़े या बहुत जितने धन से तुम मिल सकते हो, उस अपने मूल्य को तुरत बोलो ॥ ८४ ॥ ऐसा कहते और पूर्वोक्त आकार को धारण करते हुये उस चाण्डाल को देखकर राजा ने पूछा कि तुम कौन हो ? ॥ ८५ ॥

चां०—इस उत्तम पुर में प्रवीर नाम से विख्यात चाण्डाल मैं हूँ । राज्यबध्यों का बध करना और मृतकों का कम्बल लेना आदि मेरा काम है ॥ ८६ ॥ हरि०—यह अच्छा है कि मैं शाप रूपी

हरि० उ०—नाहं चाण्डालदासत्वमिच्छेयं सुविगर्हितम् ।
वरं शापाग्निना दग्धो न चाण्डालवशंगतः ॥ ८७ ॥
तस्यैवं वदतः प्राप्तो विश्वामित्रस्तपोनिधिः ।
कोपामर्षविवृत्ताक्षः प्राह चेदं नराधिपम् ॥ ८८ ॥
विश्वा० उ०—चाण्डालोऽयमनल्पं ते दातुं वित्तमुपस्थितः ।
कस्मान्न दीयते मह्यमशेषा यज्ञदक्षिणा ॥ ८९ ॥
हरि० उ०—भगवन् सूर्यवंशोत्थमात्मानं वेद्मि कौशिक ।
कथं चाण्डालदासत्वं गमिष्ये वित्तकामुकः ॥ ९० ॥
विश्वा० उ०—यदि चाण्डालवित्तं त्वमात्मविक्रयजं मम ।
न प्रदास्यसि कालेन शप्स्यामि त्वामसंशयम् ॥ ९१ ॥
हरिश्चन्द्रस्ततो राजा चिन्तावस्थितजीवितः ।
प्रसीदेति वदन् पादावृषेर्जग्राह विह्वलः ॥ ९२ ॥
दासोऽस्म्यार्त्तोऽस्मि भीतोऽस्मि त्वद्भक्तश्च विशेषतः ।
कुरु प्रसादं विप्रर्षे कष्टश्चाण्डालसङ्करः ॥ ९३ ॥
भवेयं वित्तशेषेण सर्वकर्मकरो वशः ।
तवैव मुनिशार्दूल प्रेष्यश्चित्तानुवर्त्तकः ॥ ९४ ॥
विश्वा० उ०—यदि प्रेष्यो मम भवान् चाण्डालाय ततो मया ।
दासभावमनुप्राप्तो दत्तो वित्तार्बुदेन वै ॥ ९५ ॥

भाषा

अग्नि से दग्ध हो जाऊँ परन्तु अति निन्दित चाण्डाल (डोमड़ा) का दासत्व मैं नहीं चाहता ॥८७॥ राजा ऐसा कहते थे, इतने में विश्वामित्र ऋषि आ पहुँचे और कोप तथा अमर्ष से आँखें तान राजा से कहा कि ॥ ८८ ॥ यह चाण्डाल तुमको अधिक धन देने को उपस्थित है, तब तुम क्यों हमारी सब यज्ञदक्षिणा नहीं देते? ॥ ८९ ॥ हरिश्चन्द्र—हे भगवन् ! मैं अपने को सूर्यवंशी जानकर धन के लिये कैसे चाण्डाल का दास हो जाऊँ? ॥ ९० ॥ विश्वा०—यदि अपने विक्रय से चाण्डाल का धन लेकर सूर्यास्त से पूर्व तुम मुझे न दोगे तो मैं निश्चय ही तुमको शाप दूँगा ॥ ९१ ॥ तदनन्तर कथञ्चित् चिन्तामात्र से जीवित और अति विह्वल हो राजा ने 'मुझ पर प्रसन्न हूजिये' ऐसा कहते हुये ऋषि के चरणों को पकड़ लिया और यह भी कहा कि हे विप्रर्षे ! मैं आपका दास हूँ, विपत्ति से ग्रस्त हूँ, भयभीत हूँ और विशेष कर आपका भक्त भी हूँ। मुझ पर अनुग्रह कीजिये। चाण्डाल का संग बहुत ही कठिन है। जो आपकी दक्षिणा अवशिष्ट है, उसके बदले में मैं आप ही का दास रहूँगा और आपके चित्तानुसार सदा ही आपकी सेवा करता रहूँगा ॥ ९२–९४ ॥

विश्वा०—यदि आप मेरे दास हैं तो दस करोड़ रुपये में इस चाण्डाल के हाथ मैंने आपको बेंचा ॥ ९५ ॥ इस बात को सुनकर हर्षपूर्वक चाण्डाल ने उतना द्रव्य विश्वामित्र को दे दिया और

एवमुक्ते तदा तेन श्वपाको हृष्टमानसः ।
विश्वामित्राय तद्द्रव्यं दत्त्वा बद्ध्वा नरेश्वरम् ॥ ९६ ॥

दण्डप्रभावसंभ्रान्तमतीवव्याकुलेन्द्रियम् ।
इष्टबन्धुवियोगार्त्तमनयन्निजपत्तनम् ॥ ९७ ॥

हरिश्चन्द्रस्ततो राजा वसंश्चाण्डालपत्तने ।
प्रातर्मध्याह्नसमये सायञ्चैतदगायत ॥ ९८ ॥

बाला दीनमुखी दृष्ट्वा बालं दीनमुखं पुरः ।
मां स्मरत्यसुखाविष्टा मोचयिष्यति नौ नृपः ॥ ९९ ॥

उपात्तवित्तो विप्राय दत्त्वा वित्तमतोऽधिकम् ।
न सा मां मृगशावाक्षी वेत्ति पापतरं कृतम् ॥१००॥

राज्यनाशः सुहृत्त्यागो भार्यातनयविक्रयः ।
प्राप्ता चाण्डालता चेयमहो दुःखपरम्परा ॥१०१॥

एवं स निवसन्नित्यं सस्मार दयितं सुतम् ।
भार्याञ्चात्मसमाविष्टां हृतसर्वस्व आतुरः ॥१०२॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य मृतचेलापहारकः ।
हरिश्चन्द्रोऽभवद्राजा श्मशाने तद्वशानुगः ॥१०३॥

चाण्डालेनानुशिष्टश्च मृतचेलापहारिणा ।
शवागमनमन्विच्छन्निह तिष्ठ दिवानिशम् ॥१०४॥

भाषा

दण्ड के प्रभाव से उद्विग्न, अति व्याकुल और स्त्री-पुत्र के वियोग से मृतप्राय उन राजा को बाँध चाण्डाल अपने टोले को ले गया ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ तदनन्तर राजा हरिश्चन्द्र चाण्डाल टोले में बसते हुये प्रति प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल में यह गाया करते थे कि ॥ ९८ ॥ दुःखित और दीनमुखी बाला (रानी), दीनमुख बालक (पुत्र) को आगे देखकर मुझे यों कहती होगी कि राजा मेरा (अपनी रानी) और पुत्र का इस विपत्ति से उद्धार करेंगे ॥ ९९ ॥ क्योंकि वह यह नहीं जानती कि मैं अपने को भी विक्रय कर ऋषि को अधिक धन देने पर भी अति पापिष्ठ बना दिया गया हूँ ॥ १०० ॥ राज्य का नाश, मित्रों का त्याग, पत्नी और पुत्र का विक्रय, अहो ! यह कैसी दुःखों की परम्परा है ॥ १०१ ॥ राजा शोकातुर हो यों ही प्रतिदिन अपनी रानी और राजकुमार को स्मरण करते थे ॥ १०२ ॥

कुछ काल के अनन्तर मृतकों के वस्त्रादि को लेने के लिए अपने स्वामी की ओर से राजा हरिश्चन्द्र श्मशान पर नियुक्त हुये और चाण्डाल ने राजा को यह आज्ञा दी कि इस श्मशान पर रात दिन रहकर मृतकों की प्रतीक्षा किया करो और जो कुछ यहाँ लाभ हो, उसमें से छठाँ भाग राजा का

इदं राज्ञेऽपि देयञ्च षड्भागं तु शवं प्रति।
त्रयस्तु मम भागाः स्युर्द्वौ भागौ तव वेतनम् ॥१०५॥
इति प्रतिसमादिष्टो जगाम शवमन्दिरम्।
शवमौलिसमाकीर्णं दुर्गन्धं बहुधूमकम् ॥१०६॥
स राजा तत्र सम्प्राप्तो दुःखितः शोचनोद्यतः।
हा भृत्या मन्त्रिणो विप्राः क तद्राज्यं विधे गतम् ॥११६॥
हा शैव्ये पुत्र हा बाल मां त्यक्त्वा मन्दभाग्यकम्।
विश्वामित्रस्य दोषेण गताः कुत्रापि ते मम ॥१२०॥
इत्येवं चिन्तयंस्तत्र चाण्डालोक्तं पुनः पुनः।
मलिनो रूक्षसर्वाङ्गः केशवान् गन्धवान् ध्वजी ॥१२१॥
लकुटी कालकल्पश्च धावंश्चापि ततस्ततः।
अस्मिन् शव इदं मूल्यं प्राप्तं प्राप्स्यामि चाप्युत ॥१२२॥
इदं मम इदं राज्ञे मुख्यचाण्डालके त्विदम्।
इति धावन् दिशो राजा जीवन् योन्यतरं गतः ॥१२३॥
जीर्णकर्पटसुग्रन्थिकृतकन्थापरिग्रहः।
चिताभस्मरजोलिप्तमुखबाहूदराङ्घ्रिकः ॥१२४॥
तदीयमाल्यसंश्लेषकृतमस्तकमण्डनः।
न रात्रौ न दिवा शेते हा हेति प्रवदन् मुहुः ॥१२६॥

भाषा

और तीन भाग मेरा तथा दो भाग तुम्हारा वेतन है ॥ १०३—१०५ ॥ इस आज्ञा को पाकर राजा मनुष्य की खोपड़ियों से पूर्ण, दुर्गन्धि से भरे हुये और चिता धूमों से सदा धूम्र उस श्मशान पर प्राप्त होकर और भी अधिक शोक करने लगे कि हाय भृत्यगण ! हाय मंत्रिसमाज ! हाय विप्रगण ! हे भाग्य ! वह राज कहाँ गया। हा शैव्ये (रानी) ! हा बालपुत्र ! विश्वामित्र के दोष से ये सब मुझे त्यागकर कहाँ चले गये ॥ १०६ ॥ ११६ ॥ १२० ॥ इस रीति से चिन्ता करते और चाण्डाल की आज्ञा को पुनः २ स्मरण करते हुये राजा दीन और मलिन तथा सब बाल रखाये, दण्ड हाथ में लिये, काल के तुल्य कराल रूप धारण कर श्मशान पर इधर उधर दौड़ते थे और रात दिन यही विचार करते थे कि इस मृतक के परिच्छद (सामग्री) का यह मूल्य है। इसमें इतना मेरा, इतना राजा का और इतना मेरे स्वामी (मुख्य चाण्डाल) का अंश होगा। ऐसा ही विचार प्रत्येकमृतक के विषय में करते २ राजा हरिश्चन्द्र जीते ही मानो अन्य योनि को प्राप्त हो गये ॥ १२१ ॥ १२३ ॥ क्योंकि मृतकों के चिथड़ों की कन्था ओढ़ते थे, और चिताओं के भस्म तथा धूलिओं से सब समय मानो स्नान किये रहते थे तथा मृतकों की पुष्पमालाओं को अपने मस्तक पर धारण किये रहते थे और न रात्रि में सोते थे, न दिन में, बारंबार हाय २ किया करते थे ॥ १२४ ॥ १२६ ॥ इसी दशा में सौ वर्षों के समान बारह मासों को व्यतीत किया।

एवं द्वादश मासास्तु नीताः शतसमोपमाः ।
स कदाचिन्नृपश्रेष्ठः श्रान्तो बन्धुवियोगवान् ॥१२७॥
निद्राभिभूतो रूक्षाङ्गो निश्चेष्टः सुप्त एव च ।
तत्रापि शयनीये स दृष्टवानद्भुतं महत् ॥१२८॥
स्वप्ने दुःखं महद्दृष्टं यस्यान्तो नोपलभ्यते ।
स्वप्ने दृष्टं मया यत्तु किन्तु मे द्वादशाः समाः ॥१६४॥
गतेत्यपृच्छत्तत्रस्थान् पुक्कसांस्तु स संभ्रमात् ।
नेत्यूचुः केऽपि तत्रस्था एवमेवापरेऽब्रुवन् ॥१६५॥
श्रुत्वा दुःखी तदा राजा देवान् शरणमीयिवान् ।
स्वस्ति कुर्वन्तु मे देवाः शैव्याया बालकस्य च ॥१६६॥
नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
परावराय शुद्धाय पुराणायाव्ययाय च ॥१६७॥
नमो बृहस्पते तुभ्यं नमस्ते वासवाय च ।
एवमुक्त्वा स राजा तु युक्तः पुक्कसकर्मणि ॥१६८॥
शवानां मूल्यकरणे पुनर्नष्टस्मृतिर्यथा ।
मलिनो जटिलः कृष्णो लकुटी विह्वलोनृपः ॥१६९॥
नैव पुत्रो न भार्या तु तस्य वै स्मृतिगोचरे ।
नष्टोत्साहो राज्यनाशात् श्मशाने निवसंस्तदा ॥१७०॥
अथाजगाम स्वसुतं मृतमादाय लापिनी ।
भार्या तस्य नरेन्द्रस्य सर्पदष्टं हि बालकम् ॥१७१॥
हा वत्स हा पुत्र शिशो इत्येवं वदती मुहुः ।
कृशा विवर्णा विमनाः पांशुध्वस्तशिरोरुहा ॥१७२॥

भाषा

एक समय शान्त होकर राजा सो गये और स्वप्न में एक ऐसे दुःख का समाचार देखा जिसका कि अन्त ही नहीं हो सकता और यह भी देखा कि बारह वर्ष व्यतीत हो गये और जगकर अन्यान्य चाण्डालों से पूछा कि क्या मेरे शयन में बारह वर्ष बीत गये ? और कोई विशेषरूप का शव आया था क्या ? चाण्डालों ने कहा कि नहीं। यह सुनकर अति दुःखी राजा देवताओं की शरण में गये। कहने लगे कि देव लोग मेरा और रानी तथा मेरे बालक का कल्याण करें। धर्मदेव को नमस्कार, पुराण पुरुष श्री नारायण को नमस्कार, हे बृहस्पते ! तुमको नमस्कार, इन्द्र को नमस्कार, ऐसा कहकर पुनः अपने चाण्डाल कार्य को करने लगे, यह ज्ञात होता था कि उनकी स्मरणशक्ति ही नष्ट हो गई क्योंकि कार्य करने के समय वह अपनी रानी और पुत्र को भी भूल गये॥ १२७ ॥ १२८ ॥ १६४ – १७० ॥ तदनन्तर सर्प के काटे हुये मृतक राजकुमार को गोद में लेकर दुबली, विरूप, उदासीन, धूलि से धूसर (मैला), लट को छिटकाये, हाय वत्स ! हाय पुत्र ! हाय बालक ! कहती हुई राजा हरिश्चन्द्र की शैव्या महारानी उसी श्मशान पर आकर विलाप करने लगी कि ॥ १७१ ॥ १७२ ॥

राजपत्नी उ०—हा राजन्नाद्य बालं त्वं पश्यसीमं महीतले ।
रममाणं पुरा दृष्टं दष्टं दुष्टाहिना मृतम् ॥१७३॥
तस्या विलापशब्दन्तमाकर्ण्य स नराधिपः ।
जगाम त्वरितोऽत्रेति भविता मृतकम्बलः ॥१७४॥
स तां रोरुदतीं भार्यां नाभ्यजानात्तु पार्थिवः ।
चिरप्रवाससन्तप्तां पुनर्जातामिवाबलाम् ॥१७५॥
सापि तं चारुकेशान्तं पुरो दृष्ट्वा जटालकम् ।
नाभ्यजानान्नृपसुता शुष्कवृक्षोपमं नृपम् ॥१७६॥
सोऽपि कृष्णपटे बालं दृष्ट्वाशीविषपीडितम् ।
नरेन्द्रलक्षणोपेतं चिन्तामाप नरेश्वरः ॥१७७॥
अहो कष्टं नरेन्द्रस्य कस्याप्येष कुले शिशुः ।
जातो नीतः कृतान्तेन कामप्याशां दुरात्मना ॥१७८॥
एवं दृष्ट्वा हि मे बालं मातुरुत्संगशायिनम् ।
स्मृतिमभ्यागतो बालो रोहिताश्वोऽब्जलोचनः ॥१७९॥
सोऽप्येतामेव मे वत्सो वयोऽवस्थामुपागतः ।
नीतो यदि न घोरेण कृतान्तेनात्मनोवशम् ॥१८०॥
राजपत्नी उ०—हा वत्स कस्य पापस्य अपध्यानादिदं महत् ।
दुःखमापतितं घोरं यस्यान्तो नोपलभ्यते ॥१८१॥

भाषा

हाय राजन्! पूर्व ही जिस बालक को पृथ्वी पर खेलते हुये आपने देखा था, आज दुष्ट सर्प से काटे हुये मृतक इस बालक को आप नहीं देखते॥ १७३ ॥ उसके उस विलाप शब्द को सुनकर राजा मृतक के वस्त्र आदि की आशा से तुरत ही वहाँ पहुँचे ॥ १७४ ॥ बार २ रोती हुई उस अपनी रानी को राजा अभिज्ञान (परिचित) नहीं कर सके क्योंकि बहुत दिनों के प्रवास से आकार के बदल जाने के कारण रानी का पुनर्जन्म सा हो गया था और रानी भी पूर्व ही देखे हुये सोहावन काकुल वाले और उस समय जटाधारी शुष्क वृक्ष के तुल्य राजा का अभिज्ञान न कर सकी ॥ १७५ ॥ १७६ ॥ काले वस्त्र में बँधे हुये, सर्प के काटे उस बालक को राजलक्षणों से भूषित देखकर राजा ने यह चिन्ता किया कि अहो! कष्ट है, यह किसी राजकुल का बालक है, और दुरात्मा काल ने इसे इस दशा को प्राप्त कर दिया है॥ १७७ ॥ १७८ ॥ माता की गोद में लेटे हुये इस बालक को देखकर कमल के तुल्य लोचन वाला रोहिताश्व नामक मेरा बालक मेरे स्मरण पर आ रहा है। क्योंकि वह मेरा वत्स भी इतनी ही अवस्था को प्राप्त होगा, यदि क्रूर कृतान्त (काल) ने उसको अपने वश में न कर लिया होगा ॥ १७९ ॥ १८० ॥

महारानी पुनः विलाप करने लगी कि हा वत्स! किस पापी के शाप से यह महाभयानक दुःख

हा नाथ राजन् भवता मामनाश्वास्य दुःखिताम् ।
क्वापि सन्तिष्ठता स्थाने विस्रब्धं स्थीयते कथम् ॥१८२॥

राज्यनाशः सुहृत्त्यागो भार्यातनयविक्रयः ।
हरिश्चन्द्रस्य राजर्षेः किं विधे न कृतं त्वया ॥१८३॥

इति तस्या वचः श्रुत्वा राजा स्वस्थानतश्च्युतः ।
प्रत्यभिज्ञाय दयितां पुत्रञ्च निधनं गतम् ॥१८४॥

कष्टं शैव्येयमेषा हि स बालोऽयमितीरयन् ।
रुरोद दुःखसन्तप्तो मूर्च्छामभिजगाम च ॥१८५॥

सा च तं प्रत्यभिज्ञाय तामवस्थामुपागतम् ।
मूर्च्छिता निपपातार्त्ता निश्चेष्टा धरणीतले ॥१८६॥

चेतः सम्प्राप्य राजेन्द्रो राजपत्नी च तौ समम् ।
विलेपतुः सुसन्तप्तौ शोकभारावपीडितौ ॥१८७॥

राजोवाच—हा वत्स सुकुमारं ते स्वक्षिभ्रूनासिकालकम् ।
पश्यतो मे मुखं दीनं हृदयं किं न दीर्य्यते ॥१८८॥

तात तातेति मधुरं ब्रुवाणं स्वयमागतम् ।
उपगुह्य वदिष्ये कं वत्स वत्सेति सौहृदात् ॥१८९॥

कस्य जानुप्रणीतेन पिङ्गेन क्षितिरेणुना ।
ममोत्तरीयमुत्सङ्गं तथाङ्गं मलमेष्यति ॥१९०॥

भाषा

आ पड़ा, जिसका अन्त नहीं दीख पड़ता ॥१८१॥ हाय नाथ ! मुझ मन्दभागिनी और दुःखिनी को इस समय आश्वासन दिये बिना किसी स्थान में आपसे कैसे रहा जाता है॥१८२॥ हे विधे (भाग्य वा ब्रह्मदेव) ! हरिश्चन्द्र राजर्षि के राज्य का नाश, मित्रों का त्याग तथा पत्नी और पुत्र का विक्रय जब तू ने किया, तब कौन सी दुर्दशा अवशिष्ट रही ? ॥१८३॥ इस वाक्य को सुनकर राजा को अपनी उस महारानी और मृतक राजकुमार का ठीक प्रत्यभिज्ञान हो गया और कष्ट है क्योंकि यही मेरी शैव्या महारानी है और यही मेरा रोहिताश्व राजकुमार हैं, ऐसा कहते कहते बड़े दुःख से राजा रोने लगे और मूर्च्छित भी हो गये॥१८४॥ ॥१८५॥ महारानी उस अवस्था को प्राप्त राजा हरिश्चन्द्र के प्रत्यभिज्ञान को पाकर मूर्च्छित हो बेलाग पृथ्वी पर गिर पड़ी॥१८६॥ थोड़े काल के अनन्तर राजा और रानी चेतना को पाकर बड़े शोकभार से पीड़ित हो एक साथ विलाप करने लगे॥१८७॥ राजा—हाय वत्स ! अच्छे आँख, भौंह, नासिका, बाल वाले, तुम्हारे सुकुमार मुख को दीन देखने पर मेरा यह हृदय क्यों नहीं विदीर्ण हो जाता है॥१८८॥ हे वत्स ! आपसे आप आकर 'तात २' ऐसा मधुर बोलते हुये किसको अंगमालिका में करके प्रेम से मैं वत्स कहूँगा, किसके जानू में लगी हुई पीली धूली मेरी चदर और अंगों को मलिन करेगी ॥ १८९ ॥ १९० ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसम्भूतो मनोहृदयनन्दनः ।
मया कुपित्रा हा वत्स विक्रीतो येन वस्तुवत् ॥१६१॥
हृत्वा राज्यमशेषं मे सामात्यं सधनं महत् ।
दैवाहिना नृशंसेन दष्टो मे तनयस्ततः ॥१६२॥
अहं दैवाहिदष्टस्य पुत्रस्याननपङ्कजम् ।
निरीक्षन्नपि घोरेण विषेणान्धीकृतोऽधुना ॥१६३॥
एवमुक्त्वा तमादाय बालकं बाष्पगद्गदः ।
परिष्वज्य च निश्चेष्टो मूर्च्छितो निपपात ह ॥१६४॥
राजपत्नी उ०—अयं स पुरुषव्याघ्रः स्वरेणैवोपलक्ष्यते ।
विद्वज्जनमनश्चन्द्रो हरिश्चन्द्रो न संशयः ॥१६५॥
तथाऽस्य नासिका तुङ्गा अग्रतोऽधोमुखं गता ।
दन्ताश्च मुकुलप्रख्याः ख्यातकीर्तेर्महात्मनः ॥१६६॥
श्मशानमागतः कस्माद्द्यैष स नरेश्वरः ।
अपहाय पुत्रशोकं सापश्यत् पतितं पतिम् ॥१६७॥
प्रकृष्टा विस्मिता दीना भर्तृपुत्राधिपीडिता ।
वीक्षन्ती सा ततोऽपश्यद् भर्तृदण्डं जुगुप्सितम् ॥१६८॥
श्वपाकार्हमतो मोहं जगामायतलोचना ।
प्राप्यचेतश्च शनकैः सगद्गदमभाषत ॥१६९॥

भाषा

हाय वत्स ! मेरे अंग प्रत्यंग से उत्पन्न, मन और हृदय को आनन्द देने वाले तुम, मुझ इस कुत्सित पिता से वस्तु की नाईं विक्रय कर दिये गये ॥ १६१ ॥ अमात्य और धन के सहित मेरे सब राज्य को हरण करने वाले दुर्भाग्यरूपी हत्यारे सर्प से उसके अनन्तर मेरा यह पुत्र काटा गया ॥ १६२ ॥ दुर्भाग्यरूपी सर्प के काटे हुये पुत्र के इस कमल तुल्य मुख को देखता हुआ मैं भी इस समय घोर विष से अंधा कर दिया गया हूँ ॥ १६३ ॥

ऐसा अश्रुपूर्ण गद्गद वाणी से कहते हुये राजा, बालक को गोद में लेकर मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ १६४ ॥ राजपत्नी०—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि यह वही पुरुषव्याघ्र और विद्वज्जन के मन का चन्द्र, हरिश्चन्द्र हैं, जिनको कि मैं कण्ठस्वर मात्र से लख रही हूँ ॥ १६५ ॥ तथा इनकी नासिका, ऊँची और अग्रभाग में अधोमुखी है और इस ख्यातकीर्त्ति महात्मा के दन्त भी पुष्पकलिका के तुल्य चमक रहे हैं ॥ १६६ ॥ यह नरेश्वर किस कारण आज श्मशान पर आये हैं, ऐसा कहती हुई, पुत्रशोक को छोड़ रानी ने पृथ्वी पर पतित पति को देखा। तदनन्तर पति और पुत्र की चिन्ता से पीड़ित और आश्चर्ययुक्त वह राजपत्नी अपने पति के निन्दित और डोमड़े के योग्य दंड को देखकर मूर्च्छित हो गई। पुनः चेतना को पाकर गद्गद वाणी से उसने यह विलाप किया कि ॥ १६७-१६९ ॥ हे अभाग्य ! करुणा और मर्यादा से हीन तथा निन्दित तुझको धिक्कार है कि जिस

धिक् त्वां दैवातिकरुणं निर्मर्यादं जुगुप्सितम् ।
येनायममरप्रख्यो नीतो राजा श्वपाकताम् ॥२००॥
राज्यनाशं सुहृत्त्यागं भार्यातनयविक्रयम् ।
प्रापयित्वापि नो मुक्तश्चाण्डालोऽयं कृतो नृपः ॥२०१॥
हा राजन् जातसन्तापामित्थं मां धरणीतलात् ।
उत्थाप्य नाद्यपर्यङ्कमारोहेति किमुच्यते ॥२०२॥
नाद्य पश्यामि ते छत्रं भृङ्गारमथवा पुनः ।
चामरं व्यजनञ्चापि कोऽयं विधिविपर्ययः ॥२०३॥
यस्याग्रे व्रजतः पूर्वं राजानो भृत्यतां गताः ।
स्वोत्तरीयैरकुर्वन्त नीरजस्कं महीतलम् ॥२०४॥
सोऽयं कपालसंलग्नघटीघटनिरन्तरे ।
चरत्यमेध्ये राजेन्द्रः श्मशाने दुःखपीडितः ॥२०८॥
एवमुक्त्वा समाश्लिष्य कण्ठं राज्ञो नृपात्मजा ।
कष्टशोकशताधारा विललापार्त्तया गिरा ॥२०६॥

राजपत्न्युवाच—राजन् स्वप्नोऽथ तथ्यं वा यदेतन्मन्यते भवान् ।
तत्कथ्यतां महाभाग मनो वै मुह्यते मम ॥२१०॥
यद्येतदेवं धर्मज्ञ नास्ति धर्मे सहायता ।
तथैव विप्रदेवादिपूजने पालने भुवः ॥२११॥
नास्ति धर्मः कुतः सत्यमार्जवं चानृशंसता ।
यत्र त्वं धर्मपरमः स्वराज्यादवरोपितः ॥२१२॥

भाषा

तू ने इस देवतुल्य राजा को डोमड़ा बना दिया। राज्य के नाश, मित्रों के त्याग, तथा पुत्र और पत्नी के विक्रय को प्राप्त कराने पर भी तू ने इन राजा को नहीं छोड़ा किंतु चांडाल ही बना दिया॥२००॥ ॥२०१॥ हाय राजन्! आज ऐसी सन्तप्त मुझको पृथ्वीसे उठाकर आप से यह क्यों नहीं कहा जाता कि पलंग पर बैठो ॥ २०२ ॥ आज आपका वह श्वेत छत्र, भृङ्गार (गंगा-जमुनी झारी) और शुक्ल चामर मैं नहीं देखती हूँ, यह क्या भाग्य का विपर्यय है? ॥ २०३ ॥ चलते हुये जिस आपके अग्रिम भूमिभाग को राजा लोग भृत्यों की नाईं अपने अमूल्य चद्दरों से बहारते थे, वह आप, खोपड़ियों से पूर्ण, अपवित्र इस श्मशान में दुःखपीड़ित होकर इस चाण्डाल वेष से आज घूम रहे हैं? ऐसा कहकर राजा के गले को पकड़ राजपत्नी आर्त्त हो यों विलाप करने लगी कि ॥२०४॥२०८॥२०६॥ हे महाभाग राजन्! मेरा चित्त मूढ़ हो रहा है, इस समय की इस दशा को मैं स्वप्न में देख रही हूँ अथवा यह दशा सत्य ही है? इस बात को यदि आप समझते हों तो ठीक बतलाइये ॥२१०॥ और यदि यही दशा सत्य है, तब तो हे धर्मज्ञ! धर्म में सहायता करने की शक्ति नहीं है और ब्राह्मण देवता आदि का पूजन तथा प्रजा का पालन व्यर्थ ही है और जब धर्म ही कुछ नहीं है तब सत्य, आर्जव आदि की चर्चा ही क्या है क्योंकि जब ऐसे धर्मतत्पर आप, राज्यभ्रष्ट हो गये ॥२११॥२१२॥ रानी के इस

इति तस्या वचः श्रुत्वा निःश्वस्योष्णं सगद्गदम् ।
कथयामास तन्वङ्ग्या यथाप्राप्ता श्वपाकता ॥२१३॥
रुदित्वा सापि सुचिरं निःश्वस्योष्णञ्च दुःखिता ।
स्वपुत्रमरणं भीरुर्यथावृत्तं न्यवेदयत् ॥२१४॥

राजोवाच—प्रिये न रोचये दीर्घं कालं क्लेशमुपासितुम् ।
नात्मायत्तश्च तन्वङ्गि पश्य मे मन्दभाग्यताम् ॥२१५॥
चाण्डालेनाननुज्ञातः प्रवेक्ष्ये ज्वलनं यदि ।
चाण्डालदासतां यास्ये पुनरप्यन्यजन्मनि ॥२१६॥
मग्नस्य दुःखजलधौ तरिः प्राणवियोजनम् ।
एकोऽपि बालको योऽयमासीद्वंशकरः सुतः ॥२१९॥
मम दैवाम्बुवेगेन मग्नः सोऽपि बलीयसा ।
कथं प्राणान् विमुञ्चामि परायत्तोऽस्मि दुर्गतः ॥२२०॥
अथवानार्तिना क्लिष्टो नरः पापमवेक्षते ।
तिर्यक्त्वे नास्ति तद्दुःखं नासिपत्रवने तथा ॥
वैतरण्यां कुतस्तादृग् यादृशं पुत्रविप्लवे ॥२२१॥
सोऽहं सुतशरीरेण दीप्यमाने हुताशने ।
निपतिष्यामि तन्वङ्गि क्षन्तव्यं कुकृतं मम ॥२२२॥

भाषा

वाक्य को सुन राजा ने उष्ण और लम्बी श्वास भर गद्गद वाणी से अपने चाण्डाल होने का वृत्तान्त रानी को सुनाया। रानी नें भी वैसा ही श्वास भर अपने पुत्रमरण का समाचार राजा से कहा ॥२१३॥२१४॥

तदनन्तर राजा ने कहा कि हे प्रिये ! बहुत दीर्घ काल तक क्लेश का सहन यद्यपि उचित नहीं है, तथापि इसमें अपना वश ही क्या है। देखो मेरी इस मन्दभाग्यता को कि ॥ २१५ ॥ चाण्डाल से बिना अनुज्ञा लिये यदि मैं अग्नि में प्रवेश करूँ तो अग्रिम जन्म में पुनः चाण्डाल का दास हूँगा। इस कारण मेरा मरण इस समय नहीं हो सकता जो कि दुःख समुद्र में डूबते हुये जीव के लिए एक ही नौका है और यह एक ही बालक जो कि मेरे वंश का चलाने वाला था वह भी मेरे दुर्भाग्यरूपी जल के प्रबल वेग से भग्न हो गया। मैं कैसे अपने प्राणों को त्यागूँ ? क्योंकि इस समय बहुत ही दरिद्र हूँ, चाण्डाल के द्रव्य को नहीं दे सकता और जब पराधीन हूँ तब अपने प्राणत्याग करने में मेरा अधिकार ही क्या है ? ॥ २१६ ॥ २१९ ॥ २२० ॥

अथवा जब मनुष्य महाविपत्ति से ग्रस्त होता है तब वह पाप नहीं देखता और यहाँ ऐसा ही है क्योंकि मनुष्य को पशु-पक्षी आदि के जन्म में भी वह दुःख नहीं होता और न यमपुरी के नरकों में, जैसा कि पुत्रशोक में दुःख होता है। इसलिये जब मेरे इस पुत्रशरीर की चिता जलने लगेगी तब उसी अग्नि में मैं प्रवेश करूँगा। हे प्रिये ! इस मेरे कुकर्म को क्षमा करना ॥ २२१ ॥ २२२ ॥

अनुज्ञाता च गच्छ त्वं विप्रवेश्म शुचिस्मिते ।
मम वाक्यञ्च तन्वङ्गि निबोधादृतमानसा ॥२२३॥
यदि दत्तं यदि हुतं गुरवो यदि तोषिताः ।
परत्र सङ्गमो भूयात् पुत्रेण सह च त्वया ॥२२४॥
इह लोके कुतस्त्वेतद्भविष्यति ममेङ्गितम् ।
त्वया सह मम श्रेयो गमनं पुत्रमार्गणे ॥२२५॥
यन्मया हसता किञ्चिद्रहस्ये वा शुचिस्मिते ।
अश्लीलमुक्तं तत्सर्वं क्षन्तव्यं मम याचतः ॥२२६॥
राजपत्नीति गर्वेण नावज्ञेयः स ते द्विजः ।
सर्वयत्नेन ते तोष्यः स्वामी दैवतवच्छुभे ॥२२७॥
राजप० उ०—अहमप्यत्र राजर्षे दीप्यमाने हुताशने ।
दुःखभारासहाऽद्यैव सह यास्यामि वै त्वया ॥२२८॥
ततः कृत्वा चितां राजा आरोप्य तनयं स्वकम् ।
भार्यया सहितश्चासौ बद्धाञ्जलिपुटस्तदा ॥२२९॥
चिन्तयन् परमात्मानमीशं नारायणं हरिम् ॥
हृत्कोटरगुहासीनं वासुदेवं सुरेश्वरम् ॥
अनादिनिधनं ब्रह्म कृष्णं पीताम्बरं शुभम् ॥२३०॥
तस्य चिन्तयमानस्य सर्वे देवाः सवासवाः ।
धर्मं प्रमुखतः कृत्वा समाजग्मुस्त्वरान्विताः ॥२३१॥

भाषा

हे शुचिस्मिते! मैं तुमको अनुज्ञा देता हूँ कि उसी विप्र के गृह को तुम चली जाव तथा अब जो मैं कहूँगा उसको बड़े आदर से धारण करो कि ॥ २२३ ॥ मैंने दान, हवन और गुरुओं का सन्तोष किया है तो परलोक में मेरा इस पुत्र और तुम पत्नी के साथ संगम हो क्योंकि इस लोक में अब यह मेरा मनोरथ सिद्ध न होगा। अब कल्याण यही है कि इस पुत्र का अन्वेषण करने के लिये मैं परलोक को चलता हूँ, तुम भी अपने अन्तकाल के अनन्तर वहीं आना ॥ २२४ ॥ २२५ ॥

हे शुचिस्मिते ! तुमसे मैं यह माँगता हूँ कि हास्य वा एकान्त में जो कुछ अश्लील, समय २ पर मैंने तुमसे कहा है उन सबको क्षमा करना ॥ २२६ ॥ मैं महारानी हूँ, इस गर्व से कदापि उस ब्राह्मण का अनादर न करना किंतु स्वामी और देवता समझ कर सब यत्न से उस ब्राह्मण की सेवा किया करना ॥ २२७ ॥ राजपत्नी—हे राजर्षे ! मैं भी अब दुःखभार को नहीं सहन कर सकती, इसलिये यहाँ इसी प्रज्वलित चिताहुताशन में मैं भी आपके साथ ही प्रवेश करूँगी ॥ २२८ ॥

तदनन्तर राजा ने चिता को सजाकर अपने मृतक पुत्र को उस पर रख और रानी के सहित अञ्जलि बाँध खड़ा होकर सबके अन्तःकरण में प्रकाशमान, अनादि, अनन्त, पीताम्बर धारण किये, कृष्णवर्ण, परमात्मा, परब्रह्म श्री नारायण का ध्यान करने लगे ॥ २२९ ॥ २३० ॥ और तत्क्षण ही इन्द्र के सहित सब देव लोग धर्मदेव को आगे कर उस श्मशान पर आ पहुँचे ॥ २३१ ॥

धर्म उवाच—मा राजन् साहसं कार्षीर्धर्मोऽहं त्वामुपागतः ।
तितिक्षादमसत्याद्यैः स्वगुणैः परितोषितः ॥२३६॥
इन्द्र उवाच—हरिश्चन्द्र महाभाग प्राप्तः शक्रोऽस्मि तेऽन्तिकम् ।
त्वया सभार्यपुत्रेण जिता लोकाः सनातनाः ॥२३७॥
आरोह त्रिदिवं राजन् भार्यापुत्रसमन्वितः ।
सुदुष्प्रापं नरैरन्यैर्जितमात्मीयकर्मभिः ॥२३८॥
ततोऽमृतमयं वर्षमपमृत्युविनाशनम् ।
इन्द्रः प्रासृजदाकाशाच्चितास्थानगतः प्रभुः ॥२३९॥
पुष्पवर्षञ्च सुमहद्देवदुन्दुभिनिःस्वनम् ।
ततस्ततो वर्तमाने समाजे देवसङ्कुले ॥२४०॥
समुत्तस्थौ ततः पुत्रो राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
सुकुमारतनुः सुस्थः प्रसन्नेन्द्रियमानसः ॥२४१॥
ततो राजा हरिश्चन्द्रः परिष्वज्य सुतं क्षणात् ।
सभार्यः स्वश्रिया युक्तो दिव्यमाल्याम्बरान्वितः ॥२४२॥
सुस्थः सम्पूर्णहृदयो मुदा परमया युतः ।
बभूव तत्क्षणादिन्द्रो भूयश्चैनमभाषत ॥२४३॥
सभार्यस्त्वं सपुत्रश्च प्राप्स्यसे सद्गतिं पराम् ।
समारोह महाभाग निजानां कर्म्मणां फलैः ॥२४४॥

भाषा

धर्म०—हे राजन् ! साहस न करो, मैं धर्म हूँ जो कि तुम्हारे सत्य और दम आदि गुणों से बहुत ही सन्तुष्ट होकर तुम्हारे समीप आया हूँ ॥ २३६ ॥ इन्द्र०—हे महाभाग हरिश्चन्द्र ! मैं इन्द्र हूँ, तुम्हारे समीप आया हूँ, अपने भार्या और पुत्रसहित तुमने सब सनातन लोकों का जय कर लिया। हे राजन् ! तुम्हारे कर्मों से अर्जित और अन्य मनुष्यों से दुर्लभ स्वर्गलोक को पत्नी और पुत्र के सहित तुम आरोहण करो ॥ २३७ ॥ २३८॥ तदनन्तर उस श्मशान पर खड़े २ इन्द्र भगवान् ने आकाश से अपमृत्यु को विनाश करने वाली अमृत वृष्टि की सृष्टि किया और देव दुन्दुभियों के महानाद सहित देवपुष्पों की वृष्टि किया और उस श्मशान पर उस संकुल देव समाज के मध्य में उस महात्मा राजा का वह सुकुमार कुमार स्वस्थ और प्रसन्न होकर उठ खड़ा हुआ ॥ २३९—२४१ ॥

तदनन्तर तत्क्षण ही राजा हरिश्चन्द्र उस अपने पुत्र को आलिंगन कर स्वर्गलोक के पुष्पमाला और वस्त्रों से अपनी पत्नी के साथ अलंकृत और बड़े हर्षयुक्त तथा सुस्थ और सम्पूर्ण मनोरथ हो गये और इन्द्र भगवान् ने भी पुनः उनसे यह कहा कि ॥ २४२॥२४३ ॥ हे महाभाग ! पत्नी और पुत्र के सहित तुम अपने शुभ कर्मों के अनुसार अच्छे २ लोकों पर समारोहण करो ॥ २४४ ॥

हरि० उ०—देवराजाननुज्ञातः स्वामिना श्वपचेन वै।
अदत्वा निष्कृतिं तस्य नारोक्ष्येऽहं सुरालयम् ॥२४५॥
धर्म० उ०—तवैनं भाविनं क्लेशमवगम्यात्ममायया।
आत्मा श्वपाकतां नीतो दर्शितं तच्च चापलम् ॥२४६॥
इन्द्र उ०—प्रार्थ्यते यत्परं स्थानं समस्तैर्मनुजैर्भुवि।
तदारोह हरिश्चन्द्र स्थानं पुण्यकृतां नृणाम् ॥२४७॥
हरि० उ०—देवराज! नमस्तुभ्यं वाक्यञ्चैतन्निबोध मे।
प्रसादसुमुखं यत्त्वां ब्रवीमि प्रश्रयान्वितः ॥२४८॥
मच्छोकमग्नमनसः कोसलानगरे जनाः।
तिष्ठन्ति तानपोह्याद्य कथं यास्याम्यहं दिवम् ॥२४९॥
ब्रह्महत्या गुरोर्घातो गोवधः स्त्रीवधस्तथा।
तुल्यमेभिर्महापापं भक्तत्यागेऽप्युदाहृतम् ॥२५०॥
भजन्तं भक्तमत्याज्यमदुष्टं त्यजतः सुखम्।
नेह नामुत्र पश्यामि तस्माच्छक्र दिवं व्रज ॥२५१॥
यदि ते सहिताः स्वर्गं मया यान्ति सुरेश्वर।
ततोऽहमपि यास्यामि नरकं वापि तैः सह ॥२५२॥
इन्द्र उवाच—बहूनि पुण्यपापानि तेषां भिन्नानि वै पृथक्।
कथं सङ्घातभोग्यं त्वं भूयः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥२५३॥

भाषा

हरि०—हे देवराज! अपने स्वामी चाण्डाल की अनुज्ञा के बिना, उनके द्रव्य का निष्क्रय (बदला) दिये बिना मैं स्वर्ग को जाना नहीं चाहता ॥ २४५ ॥ धर्म०—तुम्हारे इस भारी क्लेश को समझ कर अपनी माया से मैंने अपने को श्वपाक (डोमड़ा अर्थात् तुम्हारा स्वामी) बनाकर इतने दिन तक तुमको यह चापल दिखलाया था अर्थात् मैं ही तुम्हारा वह चाण्डाल स्वामी हूँ ॥ २४६ ॥

इन्द्र०— हे हरिश्चन्द्र! पृथ्वी के समस्त मनुष्यों से प्रार्थित और पुण्यात्माओं के स्थानभूत लोक को अब तुम आरोहण करो ॥ २४७ ॥

हरि०—हे देवराज! आपको नमस्कार। मेरे इस वाक्य को प्रसन्न मुख होकर आप सुनिये जो कि बड़ी नम्रता से मैं निवेदन करता हूँ कि ॥ २४८ ॥ कोसला नगर (अयोध्या) के जन, मेरे शोक में मग्न होकर खड़े हैं, उनको त्याग कर मैं कैसे स्वर्ग जाऊँ? क्योंकि भक्त के त्याग में भी ब्रह्म-हत्या, गुरुहत्या, गोहत्या, और स्त्रीहत्या के तुल्य महापाप कहा हुआ है ॥ २४९ ॥ २५० ॥ भक्त के त्यागने वाले को इस लोक वा परलोक में सुख नहीं देखता, आप स्वर्ग को पलट जाइये ॥२५१॥ हे सुरेश्वर! यदि मेरे साथ वे सब स्वर्ग को जायँगे तो मैं भी स्वर्ग को जाऊँगा और यदि वे नरक को जायँगे तो मैं भी उनके साथ नरक ही को जाऊँगा ॥२५२॥

इन्द्र०—उनमें प्रत्येक के बहुत से पुण्यपाप अन्योन्य में भिन्न २ प्रकार के पृथक् पृथक् हैं, इसलिये उनके समूह के साथ तुम कैसे पुनः स्वर्ग जाओगे? ॥२५३॥

हरि० उ०—शक्र भुङ्क्ते नृपो राज्यं प्रभावेण कुटुम्बिनाम् ।
यजते च महायज्ञैः कर्म पौर्त्तं करोति च ॥२५४॥
तच्च तेषां प्रभावेण मया सर्वमनुष्ठितम् ।
उपकर्त्तॄन्न सन्त्यक्ष्ये तानहं स्वर्गलिप्सया ॥२५५॥
तस्माद्यन्मम देवेश किञ्चिदस्ति सुचेष्टितम् ।
दत्तमिष्टमथो जप्तं सामान्यं तैस्तदस्तु नः ॥२५६॥
बहुकालोपभोग्यं हि फलं यन्मम कर्म्मणः ।
तदस्तु दिनमप्येकं तैः समं त्वत्प्रसादतः ॥२५७॥
एवं भविष्यतीत्युक्त्वा शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः ।
प्रसन्नचेता धर्मश्च विश्वामित्रश्च गाधिजः ॥२५८॥
विमानकोटिसम्बद्धं स्वर्गलोकान्महीतलम् ।
गत्वाऽयोध्याजनं प्राह दिवमारुह्यतामिति ॥२५९॥
तदिन्द्रस्य वचः श्रुत्वा प्रीत्या तस्य च भूपतेः ।
आनीय रोहिताश्वं च विश्वामित्रो महातपाः ॥२६०॥
अयोध्याख्ये पुरे रम्ये सोऽभ्यषिञ्चन्नृपात्मजम् ।
देवैश्च मुनिभिः सिद्धैरभिषिच्य नराधिपम् ॥२६१॥
राज्ञा सह तदा सर्वे हृष्टपुष्टसुहृज्जनाः ।
सपुत्रभृत्यदारास्ते दिवमारुरुहुर्जनाः ॥२६२॥
पदे पदे विमानाच्च विमानमगमन्नराः ।
तदा सम्भूतहर्षोऽसौ हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः ॥२६३॥

भाषा

हरि०—हे शक्र ! कुटुम्बी प्रजाओं के प्रभाव से राजा राज्य भोगता है तथा महायज्ञ और वापी, कूप, तड़ाग आदि पूर्तकर्म भी करता है ॥ २५४ ॥ सो मैंने प्रजाओं के प्रभाव से सब किया। अब अपने स्वर्ग जाने के लिये मैं उन उपकारियों को न त्यागूँगा, इस कारण हे देवेश ! जो कुछ दान, हवन, जप आदि पुण्य आज तक का मेरा है उसमें उन सबों का भाग लगाकर मुझे उनके तुल्य कर दीजिये अर्थात् आपके प्रसाद से बहुत काल तक भोग देने के योग्य जो मेरे कर्म हैं उमसे चाहे एक ही दिन मुझे स्वर्गभोग हो, परन्तु वह उन प्रजाओं के साथ ही हो ॥ २५५—२५७॥ त्रिभुवन के नाथ इन्द्र भगवान् ने यह कहा कि जैसा कहते हो, वैसा होगा। और धर्मदेव तथा विश्वामित्र महर्षि प्रसन्न हो गये और पृथ्वीतल भी कोटियों विमानों के द्वारा स्वर्गलोक से लग गया। इन्द्र भगवान् ने राजा हरिश्चन्द्र के साथ जाकर अयोध्या के प्रजाओं से कहा कि स्वर्ग को चलो ॥२५८॥२५९॥ इन्द्र के वाक्य को सुन हरिश्चन्द्र पर प्रसन्न हो विश्वामित्र महर्षि ने रोहिताश्व नामक उस राजकुमार को लाकर अयोध्यापुरी में उस देवसमाज के समक्ष उसका राज्याभिषेक कर दिया ॥ २६० ॥ ॥ २६१ ॥ और अयोध्यापुरी की प्रजा, स्त्री, बाल, वृद्ध सब विमानों से विमानों पर चढ़ती हुई स्वर्ग को चली गई। उस समय राजा हरिश्चन्द्र को, यह ऐश्वर्य पाकर बड़ा ही हर्ष हुआ और आप

सम्प्राप्य भूतिमतुलां विमानैः स महीपतिः ।
आसाञ्चक्रे पुराकारे वप्रप्राकारसंवृते ॥२६४॥
ततस्तस्यर्द्धिमालोक्य श्लोकं तत्रोशना जगौ ।
दैत्याचार्यो महाभागः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥२६५॥

शुक्र उवाच—हरिश्चन्द्रसमो राजा न भूतो न भविष्यति ।
यः शृणोति सुदुःखार्त्तः स सुखं महदाप्नुयात् ॥२६६॥
अहो तितिक्षामाहात्म्यमहो दानफलं महत् ।
यदागतो हरिश्चन्द्रः पुरीञ्चेन्द्रत्वमाप्तवान् ॥२६८॥

एवं श्रीरामस्य दशरथसत्यपालनमपि—

अयो० १०७—पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः ।
प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्ये सुसत्कृतः ॥ १ ॥
उपपन्नमिदं वाक्यं यस्त्वमेवमभाषथाः ।
जातः पुत्रो दशरथात् कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥ २ ॥
पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

भाषा

भी स्वर्ग जाने को रानी के सहित विमान पर आरूढ़ हो गये ॥२६२—२६४॥ तदनन्तर सर्वशास्त्र के अर्थतत्त्ववेदी, सुप्रसिद्ध, दैत्यों के आचार्य उशना (शुक्र) महर्षि ने इस श्लोक को पढ़ा कि॥ २६५॥ *'हरिश्चन्द्रसमो राजा न भूतो न भविष्यति'* और जो दुःखी इस हरिश्चन्द्र के चरित्र को सुने वह बड़ा सुख पावे ॥२६६॥ तितिक्षा (दुःख-सुख सहना) का माहात्म्य आश्चर्य है और दान का फल बहुत बड़ा है, जिससे कि राजा हरिश्चन्द्र अपनी पुरी में पुनः आये और स्वर्गलोक में इन्द्र के तुल्य भी हो गये॥ २६८ ॥

ऐसे ही पिता के सत्यपालन में रामोपाख्यान भी है—

जैसे कि चित्रकूट से अयोध्या राज्य पर श्री रामचन्द्र जी के पलट जाने के लिये बार बार प्रार्थना करते हुये भरत जी से श्री राम जी ने यह कहा कि जो बातें तुम कह रहे हो ये सब युक्तियों से पूर्ण हैं, क्योंकि राजा दशरथ से कैकेयी महारानी में उत्पन्न होने के कारण तुम बड़े बुद्धिमान हो परन्तु हे भ्रातः ! अब मेरी बातें सुनो कि इस समय यदि तुम अयोध्या का राज नहीं करोगे और मैं बनवास न करूँगा तो पिता की दोनों प्रतिज्ञाओं के झूठी होने से उनको और हम दोनों को भी बड़ा ही अधर्म होगा क्योंकि ॥ १ ॥ २ ॥ पूर्वकाल में तुम्हारी माता के उद्वाह समय, मातामह केकयराज के समक्ष, पिता जी ने तुम्हारी माता के लिए उत्तम राज्यशुल्क (चढ़ौआ) देने की प्रतिज्ञा की थी। यदि कोई यह कहे कि कौसल्या महारानी धर्मपत्नी के रहते कैकेयी का विवाह, केवल धर्मविवाह नहीं था, किन्तु नर्म (केवल कामसुख के अर्थ) विवाह था और नर्म विवाह में मिथ्याभाषण का दोष नहीं है क्योंकि—*"स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे ।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥"*

देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः।
संप्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥ ४ ॥

ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी।
अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी ॥ ५ ॥

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा।
तौ च राजा तथा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरौ ॥ ६ ॥

तेन पित्राऽहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥

सोऽहं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः।
सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम्।
कर्तुमर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात् ॥ ९ ॥

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय ॥ १० ॥

भाषा

स्त्रियों के विषय में, नर्मविवाह में, कुटुम्ब जीविका के विषय में, अपने प्राणसंकट में, गौ और ब्राह्मण के प्राणसंकट छुड़ाने में, मिथ्याभाषण निन्दित नहीं है। यदि यह स्मृति है, तो इसका यह उत्तर है कि पुनः भी कैकेयी के लिए पिता जी ने उपकार के प्रत्युपकार में प्रतिज्ञा की है कि ॥ ३ ॥ देवासुर संग्राम में जब अपना हाथ रथचक्र के नाभि में डालकर तुम्हारी माता ने पिता जी का प्राण बचाया तब पिता जी ने माता को दो बर दिया, जिनके मिथ्या होने में निश्चय ही महापाप है। और इस रीति से उस समय दो बर देने के लिए पिता जी से प्रतिज्ञा कराकर अब तुम्हारी माता ने पिता जी से उन बरों को प्रसिद्ध किया अर्थात् एक तुम्हारा राज्य, दूसरा चौदह वर्ष का मेरा बनवास और इन बरों को पिता जी ने तुम्हारी माता को दे दिया ॥ ४–६ ॥ उसके अनुसार बरदानिक बनवास में मैं पिता जी से नियुक्त होकर लक्ष्मण और सीता के सहित इस निर्जन बन में आकर पिता के सत्यवाद पर स्थित हूँ। और यह भी ध्यान न करना कि यहाँ एकाकी समझ कर मुझ पर कोई शत्रु आक्रमण करेगा क्योंकि मेरा कोई शत्रु मुझसे अधिक बलशाली नहीं है ॥ ७ ॥ ८ ॥ हे राजेन्द्र! (पिता के वाक्यानुसार मैं तुमको राजा ही समझता हूँ) जैसे मैं बनवास में नियुक्त हूँ वैसे ही आप भी राज्य में नियुक्त हैं इसलिए बहुत ही शीघ्र अपने राज्याभिषेक से पिता को सत्यवादी कर कैकेयी के ऋण से उनको छुड़ाइये और मेरी प्रीति के लिए पिता जी की रक्षा कीजिये तथा माता कैकेयी की निन्दा न करियेगा किन्तु उनका अभिनन्दन ही करियेगा क्योंकि उन्होंने जो काम किया है उससे अनेकों का उपकार होगा ॥ ९ ॥ १० ॥

श्रूयते धीमता तात श्रुतिर्गीता यशस्विना ।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन् प्रति ॥ ११ ॥
पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥ १२ ॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत् ॥ १३ ॥
एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता रघुनन्दन ।
तस्मात्त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात्प्रभो ॥ १४ ॥
अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरुपरञ्जय ।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥ १५ ॥
प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन् ।
आभ्यां तु सहितो वीर वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ १६ ॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥
छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् ।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां छायां तामतिशयनीं शनैः श्रयिष्ये ॥ १८ ॥
शत्रुघ्नस्त्वतुलमतिस्तु ते सहायः सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम् ।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद ॥ १९ ॥

भाषा

हे तात ! यह मेरा उक्त वाक्य, वेदानुसार ही है क्योंकि गय नामक राजा यजमान ने गया में पितरों के प्रति इस वेदवाक्य को कहा है कि "पुंनाम्नो०" (पुत्र पिता की 'पुम्' नामक नरक से रक्षा करता है इसी से उसका पुत्र नाम है जो कि सर्वभाव से पितरों की रक्षा करता है) ॥ ११ ॥ १२ ॥

हे रघुनन्दन ! सब राजर्षियों का यह निश्चय है कि गुणवान् और बहुश्रुत अनेक पुत्रों को उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि जब अनेक पुत्र रहेंगे तब उनमें से कोई तो गया श्राद्ध करेगा, जिससे सब पितरों को ब्रह्मलोक होगा । इसलिये हे नरश्रेष्ठ ! पिता का नरक से त्राण कीजिये । हे वीर ! शत्रुघ्न और सब द्विजातियों के साथ आप अयोध्या जाइये, प्रजापालन कीजिये, और मैं भी अब तुरन्त ही सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डकारण्य को जाऊँगा ॥१३—१६ ॥ हे भरत ! तुम आप से आप मनुष्यों के राजा हो जाओ । मैं भी मृगराज आदि वन्य जन्तुओं का राजा होऊँ । तुम आज प्रसन्न होकर अयोध्या को जाओ । मैं भी हर्ष से दण्डकारण्य में प्रवेश करूँगा ॥ १७ ॥ इस प्रचण्ड आतप से तुम्हारी रक्षा छत्र की शीतल छाया करे, मैं भी धीरे से इन बनवृक्षों की छाया का आश्रयण करूँगा ॥ १८ ॥

यह महाबुद्धिमान् शत्रुघ्न तुम्हारे सहाय हैं और यह प्रसिद्ध लक्ष्मण मेरे भी प्रधान मित्र हैं । ये चारों भ्राता हम, पिता जी को सत्यनिष्ठ करेंगे । तुम किसी बात की चिन्ता न करो ॥ १९ ॥

अयो० १०८—आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः ।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः ॥ १ ॥
साधु राघव मा भूत्ते बुद्धिरेवं निरर्थिका ।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेस्तपस्विनः ॥ २ ॥
कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् ।
एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥
तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः ।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित् ॥ ४ ॥
यथा ग्रामान्तरं गच्छन्नरः कश्चिद्बहिर्वसेत् ।
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥
एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु ।
आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते मात्रसज्जनाः ॥ ६ ॥
पित्र्यं राज्यं समुत्सृज्य स नार्हसि नरोत्तम ।
आस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥
समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय ।
एकवेणीधरा हि त्वां नगरी संप्रतीक्षते ॥ ८ ॥

भाषा

उक्त रीति से भरत को आश्वासन देते हुये श्री राम जी से जाबालि महर्षि ने चार्वाक (एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण के मानने वाले नास्तिक जिनको कि लौकायतिक भी कहते हैं) दर्शन के अनुसार यह धर्मविरुद्ध और युक्तियुक्त बात कहा कि ॥ १ ॥ हे राघव ! वाह, पिता के वचन का पालन करने की यह बुद्धि, सामान्य मनुष्यों की नाईं तुम आर्य तपस्वी को न हुआ करै क्योंकि पिता और पुत्र का अन्योन्य में कोई सम्बन्ध नहीं है कि किसका कौन बंधु है और किसी के सम्बन्ध से किसी को क्या लेना है । देखो प्रत्येक प्राणी अकेला उत्पन्न होकर अकेला ही नष्ट होता है और जब किसी का कोई नहीं है तब माता, पिता को मानने वाला पुरुष उन्मत्त के समान है ॥२—४॥

जैसे अपने गृह से ग्रामान्तर को जाने वाला पुरुष, मार्ग में किसी गृह में रात्रि व्यतीत कर अग्रिम दिन में उस गृह को छोड़ चल देता है, वैसे ही पिता, माता, गृह, धन आदि मनुष्यों के आवास (शिविर) मात्र हैं । इसी से सज्जन लोग इन वस्तुओं में मन से संग नहीं करते । हे नरोत्तम ! इसलिये जिसको अपने पिता का राज्य समझते हो, उसको छोड़कर इस ऊँचे नीचे कंटकपूर्ण और कुत्सित वन के अथवा आस्तिक दर्शन के मार्ग पर तुमको नहीं चढ़ना चाहिये ॥ ५—७ ॥

जैसे वियोगिनी पतिव्रता स्त्री एक वेणी होकर पति की प्रतीक्षा करती है, वैसे ही अयोध्यापुरी भी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है । वहाँ चलकर अपना राज्याभिषेक करो और राजसुखों का अनुभव करते हुये तुम अयोध्या में, स्वर्ग में इन्द्र की नाईं विहार करो । न दशरथ तुम्हारे कोई हैं, न तुम दशरथ के कोई हो । क्योंकि बौद्धों के क्षणभंग सिद्धान्त के अनुसार सब वस्तु प्रतिक्षण नष्ट हुआ करती

राजभोगाननुभवन् महार्हान् पार्थिवात्मज ।
विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥
न ते कश्चिद्दशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन ।
अन्यो राजा त्वमन्यस्तु तस्मात्कुरु यदुच्यते ॥ १० ॥
बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च ।
संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥ ११ ॥
गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे ॥ १२ ॥
अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्छोचामि नेतरान् ।
ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य लेभिरे ॥ १३ ॥

भाषा

है। जिस दशरथ से जो रामचन्द्र उत्पन्न हुये, अब न वह दशरथ ही हैं, न वह रामचन्द्र ही हैं क्योंकि तब से प्रतिक्षण अनेक दशरथ और अनेक रामचन्द्र उत्पन्न तथा नष्ट हो चुके। और पिता पुत्र का व्यवहार तो अज्ञानियों का इतने मात्र से है कि क्षणिक विज्ञानों के दशरथ नामक एक सन्तान अर्थात् परम्परारूपी आत्मा में एक क्षणिक विज्ञान ऐसा था जो कि क्षणिक विज्ञानों के रामनामक अन्य सन्तानरूपी आत्मा में से एक क्षणिक विज्ञान का निमित्त कारण घट के प्रति दण्ड की नाईं दूरी कारण था, न कि घट के प्रति मृत्तिका की नाईं उपादान अभिन्न कारण, क्योंकि दशरथ का शरीर टूट कर राम शरीर नहीं बना है, जैसे कि मृत्तिका टूटकर घट बनता है। वास्तव में तो जैसे शरीर के स्वेद (पसीना) से जूवा आदि अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं, वैसे ही पिता और माता के मल मूत्र आदि के समान शुक्र और शोणित के मेल से पृथ्वी आदि पंचभूतों का समूह रूपी पुरुष चेतन उत्पन्न होता है और पुनः नाश के समय पंचभूतों में पृथक् २ लीन हो जाता है, कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता, तो ऐसी दशा में पुरुष का उपादान कारण पंचभूत ही हुआ जो कि पिता का शरीर नहीं किन्तु मल है। इस रीति से पिता और पुत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह राजा दशरथ उन पंचभूतों में लीन हो गये जिनमें कि उनको लीन होना था क्योंकि भूत समूहों की यह दशा स्वाभाविक ही है। अब दशरथ का कोई अंश अवशिष्ट नहीं है। तुम व्यर्थ ही राज्यरूपी पुरुषार्थ से अपना हाथ धो रहे हो। इसलिये विचार कर मेरा कहा मानो। और यदि यह कहो कि राज्य के त्यागने से अर्थ की हानि होगी परन्तु धर्म तो होगा, तो इसका उत्तर यह है कि ॥ ८—१२ ॥

जो आस्तिक, प्रत्यक्ष सिद्ध पुरुषार्थ को छोड़ कर धर्म के पीछे मर मिटते हैं, उनके लिये मैं शोक करता हूँ क्योंकि धर्म का फल कुछ नहीं है और न कोई उसका भोग करने वाला है। देखो दानादि धर्म क्रिया रूपी हैं जो इसी लोक में नष्ट हो जाते हैं, भला वे परलोक में क्या फल देंगे, क्योंकि मरा हुआ घोड़ा कहीं सवारी देता है? और फल भी कौन भोगेगा क्योंकि उक्त रीति से यह सिद्ध हो चुका है कि मरने के अनन्तर कुछ नहीं रहता और धर्मकर्ता तो क्षणभंगी है, इससे वह दानादि धर्म के अनन्तर ही नष्ट हो जाता है तो धर्म का फल कौन भोगेगा? यदि यह कहो कि ऐसा स्वीकार करने पर श्राद्धादि सदाचार कैसे बनेंगे,

अष्टकापितृदेवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः ।
अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥ १४ ॥
यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।
दद्यात्प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥ १५ ॥
दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः कृताः ।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व सन्त्यज ॥ १६ ॥
स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते ।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥
सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम् ।
राज्यं स त्वं निगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

अयो० १०६—जाबालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
उवाच परया सूक्त्या बुद्ध्या विप्रत्तिपन्नया ॥ १ ॥

भाषा

तो इसका उत्तर यह है कि ॥ १३ ॥ अष्टका आदि श्राद्ध के करने वाले पुरुष अपने भोगोपकारी द्रव्यों का केवल नाश ही करते हैं क्योंकि मृतक क्या भोग कर सकता है ? और यदि यह कहो कि यद्यपि यहां मृतक पुरुष भोजन नहीं करता तथापि उसके उद्देश से दिया हुआ पदार्थ लोकान्तर में उसको मिलता है तो इसका खण्डन पूर्व ही हो चुका अर्थात् जब मृतक का कोई अंश अवशिष्ट ही नहीं रहता तब परलोक में वे पदार्थ किसको मिलेंगे ? और दूसरी युक्ति यह भी है कि ॥ १४ ॥ जो पदार्थ, श्राद्ध में दिये जाते हैं उनको तो इसी लोक में अन्य लोग भोग कर जाते हैं तो अन्य का भोजन किया हुआ उस मृतक में कैसे जा सकता है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो कौन पुरुष ऐसा निर्बुद्धि है जो पाथेय (प्रवास की सामग्री) के बहन से खेद उठाता । किंतु सब लोग अपने २ पुत्रादि से अपने २ श्राद्ध में सब वस्तु दिला दिलाकर परदेश को जाया करते और वे पदार्थ उनको वहाँ मिला करते । ऐसे ही देवकार्य भी व्यर्थ ही है ॥१५॥ देवपूजा करो, अन्नादि का दान करो, यज्ञों के लिये दीक्षा लो, चान्द्रायणादि तप करो, सन्यास लो, इत्यादि कहने वाले वेदादि ग्रंथ तो अपने स्वार्थ के लिये पंडितों ने मूर्खों की वंचना के द्वारा कृष्यादि कर्मों के क्लेश से अपने बचने के लिये रचना कर दिया है । इसलिये वे कदापि प्रमाण नहीं हो सकते ॥ १६ ॥

हे महामते ! इसलिये दृढ़ प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार आप यह निश्चय कीजिये कि परलोक के लिये धर्म, कोई वस्तु नहीं है और अनुमान, शब्द, आदि परोक्ष और दुर्बल मिथ्या प्रमाणों को पीठ पीछे कर दीजिये ॥ १७ ॥ तथा सब लोक के प्रत्यक्ष सिद्ध मेरी कही हुई बुद्धि को आगे कर भरत के प्रार्थनानुसार अयोध्या में जाकर राज्य कीजिये ॥ १८ ॥

जाबालि महर्षि के इन वचनों को सुनकर सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्र ने वैदिक सिद्धान्त के अनुसार उन वचनों के विरुद्ध यह कहा कि ॥ १ ॥ आपने मेरे प्रिय के लिये यहाँ यह जो कुछ

भवान्मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।
अकार्यं कार्यसङ्काशमपथ्यं पथ्यसंनिभम् ॥ २ ॥
निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥ ३ ॥
कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ॥ ४ ॥
अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथाशुचिः ।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥ ५ ॥
अधर्मं धर्मवेषेण यद्यहं लोकसङ्करम् ।
अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम् ॥ ६ ॥
कश्चेतयानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।
बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥
कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।
अनया वर्तमानोऽहं वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥
कामवृत्तोऽन्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ॥ ९ ॥

भाषा

कहा है, वह थोड़े विचार से यद्यपि करने योग्य और आगामी में हित ज्ञात होता है, तथापि वास्तव में यह करने के अयोग्य और आगामी में दुःखदायक है क्योंकि ॥ २ ॥ मर्यादा से हीन अर्थात् साधु-सम्मत वैदिक व्यवहार के विरुद्ध नास्तिक शास्त्र का अनुसारी दुराचारी पुरुष, सज्जनों के मध्य में आदर नहीं पाता ॥ ३ ॥ कुलीन वा अकुलीन, पवित्र वा अपवित्र पुरुष का विवेक वेदसम्मत आचार ही कराता है अर्थात् जो पुरुष कुलीन और पवित्र होता है, वही उस आचार को करता है और जो विपरीत होता है, वह उसको नहीं करता है अर्थात् वेदसम्मत आचार ही इस लोक और परलोक में पुरुष के आदर में कारण है ॥ ४ ॥ आपके सम्मत आचार के स्वीकार में तो सब प्रकार से अनर्थ ही होगा क्योंकि ऐसे आचार का कर्ता देखने में आर्य सा और वस्तुतः अनार्य तथा देखने में पवित्र सा और वस्तुतः अपवित्र होता हैं ॥ ५ ॥ और मैं भी यदि आपके उपदेश किये हुये आचार को स्वीकार करूँ तो वेदसम्मत आचार के छोड़ने से अर्थ छोड़ अनर्थ को प्राप्त हूँगा क्योंकि ॥ ६ ॥ कार्य अकार्य का विवेकी कौन पुरुष मुझ दुर्वृत्त और परलोकदूषक का आदर करेगा ? और तुम्हारे उपदेश की हुई इस सत्यहीन वृत्ति से रहकर मैं किस उपाय से स्वर्ग जाऊँगा, तथा यह वृत्ति मेरे पिता आदि की नहीं थी तो धर्मशास्त्र के अनुसार मैं कैसे इसको स्वीकार कर सकता हूँ ? ॥ ७ ॥ ८ ॥

तुम्हारी कही हुई वृत्ति के स्वीकार में प्रथम ही मुझे नियमहीन अर्थात् यथेष्टकारी होना पड़ेगा, तब उसके पीछे सब लोग मेरे ही ऐसे हो जायँगे क्योंकि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी होती है ॥ ९ ॥ इसलिये प्राणियों के विषय में दया को प्रधान कर अनादि शास्त्र से सिद्ध, सत्यवचन रूपी

सत्यमेवानृशंस्यं च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥ १० ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ॥ ११ ॥
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥ १२ ॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥ १३ ॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥ १४ ॥
एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।
मज्जत्येको हि निरये एकः स्वर्गे महीयते ॥ १५ ॥
सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये ।
सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम् ॥ १६ ॥
नैव लोभान्न मोहाद्वा न चाज्ञानात्तमोऽन्वितः ।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥ १७ ॥

भाषा

सनातन धर्म ही राजाओं का मुख्य आचार है क्योंकि राजाचार के सत्यरूपी होने से राज्य भी सत्य ही पर प्रतिष्ठित है और न केवल राज्य ही, किन्तु सब लोग सत्य ही पर प्रतिष्ठित हैं तथा ऋषि और देवता लोग, सत्य ही को सत्यलोक पर्यन्त सब लोकों और ब्रह्मलोक का भी कारण मानते हैं तथा मिथ्यावादी पुरुष से ऐसा उद्विग्न होते हैं जैसे क्रुद्ध सर्प से लोग उद्विग्न होते हैं और सब धर्मों का मूल तथा प्रधान भी सत्य ही है और ईश्वर भी सत्य ही कहलाता है तथा धर्म भी ईश्वर रूपी सत्य पर प्रतिष्ठित है क्योंकि वही प्रथम, सत्य का उपदेश करता है और ईश्वर से अतिरिक्त जितने सत्य हैं वे सब ईश्वरमूलक ही हैं ॥ १०–१३ ॥

दान, यज्ञ, होम, व्रत, वेद, ये सब सत्य ही पर प्रतिष्ठित हैं । इसलिये सबको सत्यपालन में तत्पर होना चाहिये ॥ १४ ॥ वेद में कहे हुये धर्म और अधर्म का फल प्रत्यक्ष सिद्ध है क्योंकि राज्य का एक ही पालन करता है और कुल को एक ही पवित्र करता है अर्थात् पालन और साधनरूप धर्म-फल का भेद तथा दुःख और सुख का अनुभवरूपी पाप और पुण्य के फल का नियम भी लोकानुभव से सिद्ध है, इसलिये वेद आदि शास्त्र अवश्य ही प्रमाण हैं ॥ १५ ॥

उक्त विवेक से युक्त मैं, पिता की आज्ञा को क्यों न पालन करूँ क्योंकि मेरे पिता सत्यतत्पर थे और कैकेयी के कृत उपकार के बदले में उन्होंने सत्य प्रतिज्ञा की थी, इसलिये लोभ वा मोह वा अन्य किसी कारण से भी कदापि मैं अपने पिता के इस सत्य सेतु को न तोड़ूँगा ॥ १६–१७ ॥

असत्यसन्धस्य सतश्चलस्याऽस्थिरचेतसः ।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥
प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम् ।
भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्द्यते ॥ १९ ॥
क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ह्यधर्मं धर्मसंहितम् ।
क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥ २० ॥
कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत् ।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्मपातकम् ॥ २१ ॥
भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि ।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत्ततः ॥ २२ ॥
श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद्यद्भवानवधार्य माम् ।
आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं भद्रं कुरुष्व ह ॥ २३ ॥
कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः ।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥ २४ ॥

भाषा

और मैंने यह भी सुना है कि मिथ्या प्रतिज्ञा करने वाले चंचल पुरुष के दिये हुये हव्य और कव्य को देवता और पितर नहीं ग्रहण करते ॥ १८ ॥ जीवों के लिये परमेश्वर के आज्ञानुसार सदा से चले आते हुये सत्यपालन रूपी धर्म को मैं सब धर्मों में मुख्य समझता हूँ और धर्म के लिये वनवास के दुःख रूपी भार को सनातन से प्राचीन महापुरुष लोग उठाते आये हैं, इसी से मैं भी उसी भार का अभिनन्दन करता हूँ। यद्यपि राज्यपालन भी मेरा धर्म है, तथापि जब वह चौदह वर्षों के लिये पिता जी की आज्ञा से विरुद्ध है तब मैं उसका त्याग ही करूँगा और जो क्षत्रिय धर्म उस प्रतिज्ञा के विरुद्ध नहीं है, उसको धारण किये रहूँगा। और यदि यह कहिये कि कायिक (शरीर मात्र से साध्य) पाप न करने पर भी मानसिक और वाचिक पाप से कैसे बचोगे, तो इसका उत्तर यह है कि ॥ १९-२० ॥ प्रथम "इस कार्य को मैं करूँगा" यह मानस संकल्प होता है। तदनन्तर वचन से वह संकल्प प्रकाश किया जाता है। तदनन्तर शरीर से वह कर्म किया जाता है, इसी से क्रियारूपी पाप ही अधिक दुःखजनक होता है, जिसे कायिक कहते हैं क्योंकि मानसिक और वाचिक पापों का मुख्य फल कायिक ही पाप है और कलियुग में तो मानसिक और वाचिक पुण्य का फल होता है परन्तु वैसे पापों का फल ही नहीं होता, इसलिये कायिक पाप से अवश्य ही बचना चाहिये ॥ २१ ॥ भूमि, कीर्ति, लक्ष्मी, ये सत्यवान् ही पुरुष की प्रार्थना करती हैं और सब महापुरुष सत्य ही की सेवा करते हैं, इसलिये सत्य ही की सेवा करनी चाहिये ॥ २२ ॥

आपने जो केवल प्रत्यक्ष मूलक युक्तियों से गुम्फित वाक्यों के द्वारा मेरे लिये राज्य करने को निश्चित किया वह श्रेष्ठ सा ज्ञात होता है परन्तु वह अन्याय ही है, क्योंकि पिता जी के समक्ष अपनी की हुई

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसन्निधौ ।
प्रहृष्टा मनसा देवी कैकेयी चाभवत्तदा ॥ २५ ॥

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः ।
मूलपुष्पफलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन् ॥ २६ ॥

सन्तुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवाहये ।
अकुहः श्रद्दधानः सन् कार्याकार्यविचक्षणः ॥ २७ ॥

कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्त्तव्यं कर्म यच्छुभम् ।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥ २८ ॥

शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः ।
तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः ॥ २९ ॥

अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा निशम्य तन्नास्तिकवाक्यहेतुम् ।
अथाब्रवीत्तं नृपतेस्तनूजो विगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ३१ ॥

तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थमेकोदयं सम्प्रतिपद्य विप्राः ।
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत् काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः ॥ ३२ ॥

भाषा

वनवास की प्रतिज्ञा और वनवास के लिये पिता जी की आज्ञा को छोड़कर मैं भरत का कहा कैसे करूँगा और उक्त मेरी प्रतिज्ञा से जो कैकेयी को हर्ष हुआ उसको मिटा देना क्या उचित है ? ॥२३–२५॥

पवित्रता और भोजन के नियम से रहकर अच्छे २ पुष्प, मूल और फल से देवता और पितर को सन्तुष्ट कर पश्चात् अपने इन्द्रियों को भी उन्हीं वस्तुओं से तृप्त करते लोकयात्रा का निर्वाह करूँगा, इसमें कपट का लेश भी नहीं है क्योंकि मैं आस्तिक हूँ ॥ २६ ॥ २७ ॥ कर्मभूमि अर्थात् इस भारत-भूमि को पाकर शुभ कर्म करना चाहिये जिससे अग्निलोक, वायुलोक, चन्द्रलोक की प्राप्ति हो और इसी भूमि में सौ अश्वमेधों को कर कितने पुरुष स्वर्ग में देवराज हो गये तथा इसी भूमि में उग्र तपस्याओं को कर लक्षों महर्षि स्वर्गलोक को प्राप्त हुये, ऐसा ही वेद का प्रामाण्य है ॥ २८ ॥ २९ ॥

इतना कह जाबालि महर्षि के कहे हुये परलोक खण्डन के सूखे २ तर्कों को स्मरण कर अमर्ष-युक्त हो श्री राम जी ने जाबालि मुनि से पुनः कहा कि सत्य और अन्य धर्म, चान्द्रायण आदि तप, प्राणियों पर दया, सबसे प्रिय बोलना, ब्राह्मण, देवता, अतिथि के पूजन को महापुरुष लोग स्वर्ग का मार्ग कहते हैं और उन महापुरुषों के मुख से इस बात को सुन, वेदों के अनुकूल उत्तम युक्तियों से निर्णय कर बड़ी सावधानी से यथावत् उत्तम धर्म को करते हुये अन्यान्य लोग भी पुण्य लोकों का लाभ सनातन से चाहते और करते आ रहे हैं ॥ ३०–३२ ॥

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्यस्त्वामगृह्णाद्विषमस्थबुद्धिम् ।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥ ३३ ॥
यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि ।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां स नास्तिकेनाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥
त्वत्तो जनाः पूर्वतरे द्विजाश्च शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।
छित्वा सदेमं च परं च लोकं तस्माद्द्विजाः स्वस्तिकृतं हुतं च ॥ ३५ ॥
धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥
इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं रामं महात्मानमदीनसत्वम् ।
उवाच पथ्यं पुनरास्तिकं च सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥ ३७ ॥
न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किंचन ।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥ ३८ ॥
स चापि कालोऽयमुपागतः शनैर्यथा मया नास्तिकवागुदीरिता ।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम् ॥ ३९ ॥

अयो० ११०—क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम् ॥ १ ॥

भाषा

इसी से मैं पिता के इस काम की निन्दा करता हूँ कि जो उन्होंने चार्वाक मत के प्रचार से लोगों के नाश के लिये घूमते हुये आप ऐसे दुर्मार्गगामी नास्तिक को अपना याजक बनाया था, क्योंकि जैसे राजा के लिये सुवर्णादि वस्तुओं का चोर अवश्य दण्डय होता है वैसे ही बुद्ध और चार्वाक मतानुसारी पुरुष भी अवश्य ही दण्डय है क्योंकि वह भी वेद के प्रामाण्य का चोर है और ब्राह्मणादि वर्ण इन नास्तिकों के दण्ड करने में यद्यपि अन्य वर्ण अधिकारी नहीं है तथापि उसका यह अवश्य कर्त्तव्य है कि ऐसे नास्तिकों के साथ भाषण न करे ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ आप से बहुत बड़े २ पूर्व महर्षि लोग सनातन से वेदोक्त ही कर्म को करते २ पुण्य लोक तथा मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं और इस लोक में भी वे लोग देवता के समान पूजित थे आपकी तो कथा ही क्या है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ इस बात को सुनकर बड़े अनुनय के साथ जाबालि मुनि ने कहा कि न तो परलोक नहीं है और न मैं इससे पूर्व कभी नास्तिक वचन बोला हूँ और न मैं नास्तिक हूँ किन्तु इस अवसर को देखकर नास्तिक बना हूँ और जिस काल में नास्तिक बनना पड़ता है, वह काल भी यही है क्योंकि मैंने तुम्हारे बनवास दुःख के वारण के लिये तथा तुम्हारी आस्तिकता की प्रसिद्धि को अत्यन्त दृढ़ करने के लिये इन नास्तिक युक्तियों को कहा है। अब यह प्रार्थना है कि आप मुझ पर प्रसन्न हो जायँ ॥ ३७–३९ ॥

श्री राम जी को कोपयुक्त समझ कर वसिष्ठ महर्षि ने यह प्रत्युत्तर दिया कि परलोक जाने आने का वृत्तान्त, जाबालि भी जानते हैं, परन्तु आपके पलटाने के लिये इन्होंने ऐसा कहा है। अब मेरी

निवर्तयितुकामस्तु त्वामतेद्वाक्यमब्रवीत् ।
इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥
सर्वं सलिलमेवासीत्पृथिवी तत्र निर्मिता ।
ततः समभवद्ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह ॥ ३ ॥
स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम् ।
असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥
आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ।
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः काश्यपः सुतः ॥ ५ ॥
विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ।
स तु प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ॥ ६ ॥
यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही ।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥
इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः ।
कुक्षेरथात्मजो वीर विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥
विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।
बाणस्य च महाबाहुरनरण्यो महातपाः ॥ ९ ॥
नाना वृष्टिर्बभूवास्मिन्न दुर्भिक्षः सतां वरे ।
अनरण्ये महाराजे तस्करो वापि कश्चन ॥ १० ॥

भाषा

मी सुनिये कि ब्रह्मदेव से लेकर राजा दशरथ तक यही सम्प्रदाय चला आता है कि राजा का ज्येष्ठही पुत्र राजा होता है और इसी लिये मैं तुम्हारी वंशपरम्परा को संक्षेप से कहता हूँ, उसे सुनो ॥१॥२॥

कल्प ब्रह्मा के एक दिन अर्थात् चार प्रहर को कहते हैं तथा उनकी रात्रि को प्रलय कहते हैं। इसी दिन की गणना से सौ वर्ष तक ब्रह्मदेव का जीवनकाल है। ब्रह्मदेव के शरीरनाश को महाप्रलय कहते हैं। एक कल्प में चौदह भाग होता है, जिसको अन्तर कहते हैं और प्रत्येक अन्तर में एक २ मनु होते हैं इसी से अन्तर ही को मन्वन्तर कहते हैं। इस समय जो वर्तमान कल्प है, उसका नाम श्वेतवाराह है क्योंकि इस कल्प से पूर्व, जल ही था, जिस पर ब्रह्मदेव ने पृथ्वी को रचा वह और जल में डूब गई, तब बिराटरूप ब्रह्मा के विश्वरूपी अंश ने बाराहरूप को धारण कर पृथ्वी का उद्धार किया। तदनन्तर ब्रह्मदेव ने सब जगत की सृष्टि किया। ब्रह्मा से मरीचि, मरीचि से कश्यप, कश्यप से विवस्वान् (सूर्य), विवस्वान से वैवस्वत (श्राद्ध देव) उत्पन्न हुये जो कि इस वर्तमान आठवें अन्तर के मनु हैं। इस मनु के पुत्र इक्ष्वाकु हुये, जिनको कि मनु ने अपनी रचित इस अयोध्यापुरी में विधि सहित प्रथम २ राज्याभिषेक किया और सम्पूर्ण पृथ्वी को उनके अधीन कर दिया ॥ ३—७ ॥

इक्ष्वाकु से कुक्षि, कुक्षि से विकुक्षि, विकुक्षि से बाण और बाण से राजा अनरण्य हुये जिनके समय कोई चोर था ही नहीं और अनावृष्टि तथा दुर्भिक्ष कभी नहीं हुआ ॥ ८—१० ॥ अनरण्य से पृथु

अनरण्यान्महाराज पृथू राजा बभूव ह।
तस्मात्पृथोर्महातेजाः त्रिशङ्कुरुदपद्यत ॥ ११ ॥

स सत्यवचनाद्वीरः सशरीरो दिवं गतः।
त्रिशङ्कोरभवत्सूनुर्धुन्धुमारो महायशाः ॥ १२ ॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत।
युवनाश्वसुतः श्रीमान् मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

मान्धातुस्तु महातेजाः सुसन्धिरुदपद्यत।
सुसन्धेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवसन्धेस्तु भरतो रिपुसूदनः।
भरतात्तु महाबाहोरसितो नाम जायत ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥ १६ ॥

तांस्तु सर्वान् प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः।
स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ १८ ॥

ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षिणी पुत्रमुत्तमम् ॥।
एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै गरलं ददौ ॥ १९ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः।
तमृषिं साभ्युपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ २० ॥

स तामभ्यवदत्प्रीतो वरेप्सुं पुत्रजन्मनि।
पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २१ ॥

धार्मिकश्च सुशीलश्च वंशकर्त्तारिसूदनः।
श्रुत्वा प्रदक्षिणं कृत्वा मुनिं तमनुमान्य च ॥ २२ ॥

भाषा

और पृथु से त्रिशंकु हुये जो अपनी और विश्वामित्र महर्षि की सत्य प्रतिज्ञा के अनुसार शरीर सहित स्वर्ग को गये। त्रिशंकु से धुन्धुमार, धुन्धुमार से युवनाश्व, युवनाश्व से मान्धाता, मान्धाता से सुसन्धि और सुसन्धि से दो पुत्र ध्रुवसन्धि तथा प्रसेनजित हुये ॥ ११–१४॥ ध्रुवसंधि से भरत, भरत से असित, असित से सगर, सगर से असमंज, असमंज से अंशुमान्, अंशुमान् से दिलीप, दिलीप से भगीरथ, भगीरथ से ककुत्स्थ, ककुत्स्थ से रघु, रघु से कल्माषपाद, कल्माषपाद से शंखण, शंखण से सुदर्शन, सुदर्शन से अग्निवर्ण, अग्निवर्ण से शीघ्रग, शीघ्रग से मरु, मरु से प्रशुश्रुव, प्रशुश्रुव से अम्बरीष, अम्बरीष से नहुष,

पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम् ।
ततः सा गृहमागम्य पत्नी पुत्रमजायत ॥ २३ ॥
सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।
गरेण सह तेनैव तस्मात्स सगरोऽभवत् ॥ २४ ॥
स राजा सगरो नाम यः समुद्रमखानयत् ।
इष्ट्वा पर्वणि वेगेन त्रासयान इमाः प्रजाः ॥ २५ ॥
असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत् सगरस्येति नः श्रुतम् ।
जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २६ ॥
अंशुमानपि पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान् ।
दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २७ ॥
भगीरथात्ककुत्स्थश्च काकुत्स्था येन विश्रुताः ।
काकुत्स्थस्य तु पुत्रोऽभूद्रघुर्येन तु राघवाः ॥ २८ ॥
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ।
कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २९ ॥
कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छङ्खणस्त्विवति नः श्रुतम् ।
यस्तु तद्वीर्यमासाद्य सहसैन्यो व्यनीनशत् ॥ ३० ॥
शङ्खणस्य तु पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान्सुदर्शनः ।
सुदर्शनस्याग्निवर्ण अग्निवर्णस्य शीघ्रगः ॥ ३१ ॥
शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुवः ।
प्रशुश्रुवस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महाद्युतिः ॥ ३२ ॥
अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः ।
नहुषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ३३ ॥
अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुतावुभौ ।
अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ ३४ ॥

भाषा

नहुष से नाभाग, नाभाग से अज और सुव्रत तथा अज से राजा दशरथ हुये । इस कल्प के रामावतार की यही पुरुषपरम्परा ठीक है जिसको कि यहाँ तक वसिष्ठ महर्षि ने कहा है और पुराणान्तर में कहीं जो अन्य प्रकार की पुरुषपरम्परा कही है, वह कल्पान्तर के रामावतार की है । इसी से अन्योन्य में विरोध नहीं है और यह भी ध्यान देना चाहिये कि एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युग होते हैं और इस मन्वन्तर के २४ वें त्रेता युग में यह रामावतार हुआ है जिसको हुये १९ युग व्यतीत हो चुके क्योंकि इस समय २८ वाँ कलियुग है ॥ १५–३४ ॥

तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादो राम इत्यभिविश्रुतः ।
तद्गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जगन्नृप ॥ ३५ ॥
इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।
पूर्वजेनावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ॥ ३६ ॥
स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि ।
प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं प्रभूतराष्ट्रां पितृवन्महायशाः ॥ ३७ ॥
अयो० १११—वसिष्ठः स तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः ।
अब्रवीद्धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥
पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा ।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥
पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥
स तेऽहं पितुराचार्यस्तव चैव परन्तप ।
मम त्वं वचनं कुर्वन्नातिवर्त्तेः सतां गति ॥ ४ ॥
इमा हि ते परिषदो ज्ञातयश्च नृपास्तथा ।
एषु तात चरन् धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥
वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम् ।
अस्या हि वचनं कुर्वन्नातिवर्त्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

भाषा

हे लोकनाथ ! आप उन राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं, आपका राम ऐसा नाम जगत् में विख्यात है, इसलिये जगत् को देखकर आप अपने राज्य को ग्रहण कीजिये क्योंकि इस कुल में ज्येष्ठ ही पुत्र राजा होता है और आपको अपने सनातन कुलधर्म का त्याग करना उचित नहीं है, इसलिये जैसे आपके पिता प्रजापालन करते थे वैसे आप भी कीजिये ॥ ३५–३७ ॥

राजपुरोहित वसिष्ठ महर्षि ने श्रीराम जी से ऐसा कह पुनः यह कहा कि ॥ १ ॥ हे काकुत्स्थ ! इस लोक में उत्पन्न हुये मनुष्य के सदा तीन गुरु हुआ करते हैं—१ आचार्य, २ पिता, ३ माता ॥ २ ॥ उनमें से पिता और माता, शरीर मात्र के कारण होने से और यज्ञोपवीत संस्कारपूर्वक वेदार्थ के ज्ञान देने से आचार्य, गुरु होता है। इसी से इन तीनों गुरुओं में आचार्य ही श्रेष्ठ गुरु होता है और मैं तुम्हारे पिता और तुम्हारा दोनों का आचार्य हूँ इसलिये यदि तुम हमारे वचनानुसार राज्य करोगे तो तुमको वा तुम्हारे पिता को असत्यकृत दोष न होगा। यह तुम्हारी परिषदें (मुख्य प्रजा) और बंधुजन तथा तुम्हारे अधीन राजा लोग हैं, इनकी रक्षा करने में तुम दोषी न होगे ॥ ३–५ ॥ तथा धर्मशीला और वृद्धा तुम्हारी यह माता भी गुरु है। इसके वाक्यानुसार तुम राज्य करने में दोषी न होगे क्योंकि *"पितुः शतगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते"* (पिता की अपेक्षा माता का गौरव शतगुणा अधिक होता है) ॥ ६ ॥ और यह भी है कि जब पिता की आज्ञानुसार आपने राज्य

भरतस्य वचः कुर्वन् याचमानस्य राघव ।
आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥
एवं मधुरमुक्तः स गुरुणा राघवः स्वयम् ।
प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥
यन्माता पितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा ।
न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥
यथाशक्ति प्रदानेन स्वापनोच्छादनेन च ।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥
स हि राजा दशरथः पिता जनयिता मम ।
आज्ञापयन्मां यत्तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति ॥ ११ ॥
एवमुक्तेन रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम् ।
उवाच विपुलोरस्कः सूतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

भाषा

छोड़ बनवास आरम्भ किया और भरत को अपने वाक्य से राज दे दिया तो अब पिता की प्रतीज्ञा सत्य हो चुकी। ऐसी दशा में यदि भरत आपसे आप अपने राज्य को प्रार्थनापूर्वक आपके लिये प्रत्यर्पण करते हैं तो ऐसे राज्य के ग्रहण करने में आप को कैसे दोष लग सकता है! ॥ ७ ॥ ऐसी मधुर रीति से गुरु वाक्य के समाप्त होने पर श्री राघव ने यह उत्तर दिया कि ॥ ८ ॥

पुत्र के लिये माता और पिता जो उपकार करते हैं उसका प्रत्युपकार करना बहुत ही असम्भव है अर्थात् यथाशक्ति, बालक के जीवनार्थ अनेक प्रकार के भोजन का देना और अनेक प्रकार के उपटन का सेवन कराना तथा प्रतिक्षण उसको क्रीड़ा कराना और मलमूत्रादि की शुद्धि करना इत्यादि अनन्त उपकारों का प्रत्युपकार पुत्र से नहीं हो सकता और पिता यदि शरीर न दे तो आचार्य भी ज्ञान नहीं दे सकता, इसलिये पिता अमुख्य गुरु नहीं किन्तु प्रधान गुरु है। इसी से पिता को धर्मशास्त्र में महागुरु कहा है। और यद्यपि माता का गौरव, पिता की अपेक्षा धर्मशास्त्र में अधिक कहा है तथापि पुत्र की सेवा माता अधिक करती है, इतने से वह माता की प्रशंसा है क्योंकि यह धर्मशास्त्र ही में कहा है कि पुत्र की उत्पत्ति में वीर्य अधिक होता है और कन्या की उत्पत्ति में रज, तथा *"माता भस्त्रा पितुः पुत्रो यतो जातः स एव सः"* (माता चर्मपात्र मात्र है और पुत्र में पिता का अंश वीर्य ही अधिक होता है। इसी से जिस पिता का जो पुत्र है, वह वही है) यह भी धर्मशास्त्र में कहा है। इस कारण माता की अपेक्षा पिता श्रेष्ठ गुरु है और जब आपकी आज्ञा से प्रथम ही पिता ने राजत्याग और बनवास की आज्ञा दिया और मैंने भी उसी समय दोनों कामों के करने की प्रतिज्ञा दृढ़ रूप से कर दिया तो अब आज आप की अथवा माता की आज्ञा से भी पिता की और अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं के विपरीत काम करना बहुत ही अनुचित होगा ॥ ९-११ ॥

तदनन्तर भरत ने अति दुःखित होकर सुमन्त्र से कहा कि हे सारथे! इस वेदी पर तुरत ही कुश बिछाओ, जब तक आर्य (श्रीराम जी) प्रसन्न होकर अयोध्या न चलेंगे तब तक मैं इनके

इह तु स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे।
आर्यं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन्मे न प्रसीदति ॥ १३ ॥
निराहारो निरालोको धनहीनो यथा द्विजः।
शये पुरस्ताच्छालायां यावन्मां प्रतियास्यति ॥ १४ ॥
स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः।
कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्थितः स्वयम् ॥ १५ ॥
तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः।
किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसि ॥ १६ ॥
ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान् रोद्धुमिहार्हति।
न तु मूर्द्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥
उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद्दारुणं व्रतम्।
पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥
आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम्।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥
ते तदोचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः।
काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग्वदति राघवः ॥ २० ॥
एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति।
अत एव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसा ॥ २१ ॥
तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत्।
एवं निबोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम् ॥ २२ ॥

भाषा

ऊपर उपवेशन (धरना) करूँगा अर्थात् जैसे ऋण लेकर ऋणी पुरुष से निर्धन कर दिया हुआ धनिक ब्राह्मण अपने धन के लिये उस ऋणी के द्वार पर निराहार होकर लेटता है वैसे ही मैं भी आर्य पर उपवेशन करूँगा ॥ १२–१५ ॥

ऐसा कहने पर जब देखा कि सुमन्त्र श्री राम का मुख देखकर वैसा नहीं करते तब स्वयं कुश बिछाकर उसी पर भरत जी लेट गये। तदनन्तर श्रीराम जी ने कहा कि हे भरत! मैं क्या अन्याय कर रहा हूँ कि जो तुम मुझ पर उपवेशन करते हो? क्योंकि उपवेशन करना ब्राह्मण ही का धर्म है न कि क्षत्रिय आदि का ॥ १६ ॥ १७ ॥ हे राघव! इस दारुण व्रत को छोड़ खड़े हो और यहाँ से तुरत अयोध्या जाओ ॥ १८ ॥ तदनन्तर भरत जी ने अपने साथी पुरजनों से कहा कि आप लोग अयोध्या जाने के लिये क्यों नहीं श्रीराम जी से कहते? ॥ १९ ॥ पुरजनों ने कहा कि हम जान रहे हैं कि आप जो श्रीराम जी से कहते हैं वह ठीक है ॥ २० ॥ परन्तु श्रीराम जी अपने पिता के वाक्य पर आरूढ़ हैं, इसी से हम लोग इनके विपरीत नहीं कह सकते ॥ २१ ॥ तदनन्तर श्रीराम जी ने भरत से कहा कि इन धर्मदर्शी मित्रों के इस वाक्य को सुनो जो कि तुम्हारे और मेरे

एतच्चैवोभयं श्रुत्वा सम्यक् सम्पश्य राघव ।
उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां च स्पृश तथोदकम् ॥ २३ ॥
अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।
शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः शृणुयुस्तथा ॥ २४ ॥
न याचे पितरं राज्यं नानुशासामि मातरम् ।
एवं परमधर्मज्ञं नानुजानामि राघवम् ॥ २५ ॥
यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्त्तव्यं च पितुर्वचः ।
अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश वने समाः ॥ २६ ॥
धर्मात्मा तस्य सत्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः ।
उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥
विक्रीतमाहितं क्रीतं यत्पित्रा जीवता मम ।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥
उपाधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः ।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

भाषा

विषय में कह रहे हैं और विचार भी करो, यदि इस दशा में विचार कर सकते हो और यदि दुःखी होने से विचार नहीं कर सकते तो जो मैं कहता हूँ, सो करो, कि उठो और इस अनुचित उपवेशन के प्रायश्चित्तार्थ मेरा स्पर्श करो और जल से आचमन करो ॥ २२ ॥ २३ ॥

तदनन्तर भरत जी ने वैसा कर उच्च स्वर से यह कहा कि हे सभ्यगण ! और हे मन्त्रिगण ! सुनते जाइये । मैंने पिता जी से कदापि राज्य की याचना नहीं किया था और माता को भी राज्य-याचना के लिये मैंने कदापि अनुमति नहीं दिया था तथा श्रीराघव जी को भी बनवास के लिये मैं अनुमति नहीं देता हूँ, परन्तु इस पर भी यदि पिता के वाक्यानुसार श्रीराम जी को बनवास ही करना है तो उनका प्रतिनिधि होकर मैं ही चौदह वर्ष तक बनवास करूँगा ॥ २४–२६ ॥ तदनन्तर भरत जी के इस सत्य वाक्य से आश्चर्य में आकर श्रीराम जी ने पुरजनों की ओर दृष्टि देकर कहा कि ॥ २७ ॥ जैसे अपने जीवन समय में पिता जी ने जो विक्रय कर डाला वा आधि (धरोहर) रख दिया वा मूल्य देकर खरीद लिया वह मेरे या भरत के लोप करने से लुप्त नहीं हो सकता वैसे ही पिता जी ने इस राज्य को चौदह वर्ष के लिये कैकेयी को आधिरूप से दे डाला अथवा विक्रय ही कर दिया तो ऐसी दशा में उसके विपरीत करने की शक्ति मुझमें या भरत में नहीं हो सकती तथा प्रतिनिधि उस कार्य के लिये बनाया जाता है कि जिस कार्य में मुख्यकर्त्ता समर्थ न हो और मैं तो बनवास में समर्थ हूँ, तो ऐसी दशा में भरत को बनवास में प्रतिनिधि बनाना बहुत ही अनुचित है तथा माता कैकेयी का और पिता जी का कहना और करना दोनों उपकार और प्रत्युपकार रूपी होने से उचित ही था न कि अनुचित, इस कारण भी मेरे लिये उसका पालन ही उचित है ॥ २८–२९ ॥ भरत को सत्यसन्ध, गुरुसेवी और राज्यधारण में समर्थ मैं जानता हूँ, इनमें कोई

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम् ।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि ॥ ३० ॥
अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः ।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥ ३१ ॥
वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम् ।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

अयो० ११२—तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम् ।
विस्मिताः सङ्गमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः ॥ १ ॥
अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः ।
तौ भ्रातरौ महाभागौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे ॥ २ ॥
सदार्यौ राजपुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ ।
श्रुत्वा वयं हि सम्भाषामुभयोः स्पृहयामहे ॥ ३ ॥
ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः ।
भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः सङ्गता वचः ॥ ४ ॥
कुलेजात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः ।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥
सदाऽनृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः ।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

भाषा

दोष नहीं है और सब गुण हैं ॥ ३० ॥ चौदह वर्ष तक बनवास के अनन्तर अयोध्या में आकर मैं पृथ्वी का राजा हूँगा ॥ ३१ ॥ हे भरत ! कैकेयी ने पिताजी से बर पाया और मैं कैकेयी के वचन को पालन करता हूँ तथा तुम भी मेरे वचन का पालन करो जिससे कि हम और तुम दोनों, पिता जी को असत्य से बचा लें ॥ ३२ ॥

इन दोनों भाइयों के संगम को देखने के लिये आये हुये, आकाश में गुप्त रूप से एकत्रित और रावणवध के लिये अर्थी, नारदादि महर्षिगण, राजर्षिगण और गन्धर्वगण ने इन दोनों भाइयों के संगम को देखने से विस्मय को प्राप्त होकर श्रीराम जी से यह कहा कि आप दोनों, धर्मज्ञ और धर्मनिष्ठ राजपुत्रों को सुनकर हम यहाँ आये और दोनों के संवाद से बहुत ही संतुष्ट हुये और भरत से कहा कि हे महाकुलोत्पन्न ! महाविज्ञ ! महाशील ! और महायश भरत ! यदि तुम अपने पिता जी की ओर देखते हो तो रामचन्द्र जी के वाक्य को मानो । हम लोग यही चाहते हैं कि रामचन्द्र अपने धर्माचरण से पिता के ऋणी कदापि न रहें अर्थात् यदि रामचन्द्र पिता की प्रतिज्ञा से विपरीत करेंगे अथवा बनवास को प्रतिनिधि के द्वारा करेंगे तो तुम्हारे पिता दशरथ, जो कि स्वर्ग में गये हैं, स्वर्ग से च्युत हो जायँगे, क्योंकि दशरथ भी कैकेयी के बर रूपी ऋण से छूटने ही के कारण स्वर्ग को गये हैं ॥ १–६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः ।
राजर्षयश्चैव तथा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

ह्लादितस्तेन वाक्येन शुशुभे शुभदर्शनः ।
रामः संहृष्टवदनस्तानृषीनभ्यपूजयत् ॥ ८ ॥

त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया ।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥

राम धर्ममिमं प्रेक्ष्य कुलधर्मानुसन्ततम् ।
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम मातुश्च याचनाम् ॥ १० ॥

रक्षितुं सुमहद्राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे ।
पौरजानपदांश्चापि रक्तान् रञ्जयितुं तदा ॥ ११ ॥

ज्ञातयश्चापि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः ।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १२ ॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि ।
शक्तिमान् स हि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वाऽपतद्भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा ।
भृशं सम्प्रार्थयामास राघवेति प्रियं वदन् ॥ १४ ॥

तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरः स्वयम् ॥ १५ ॥

भाषा

इन वचनों को कहकर महर्षि, राजर्षि और गन्धर्व लोग अपने २ स्थानों को चले गये ॥ ७ ॥ और राम जी उनके वाक्य से प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ८ ॥ भरत जी तो भयभीत होकर अंजलि बाँध दबी हुई जिह्वा से पुनः यह कहने लगे कि ॥ ९ ॥ हे श्रीराम जी ! ज्येष्ठ पुत्र के राज्यरूपी कुलधर्म को देखकर आपको उचित है कि मेरी और माता कौसल्या की इस प्रार्थना को पूरी कीजिये और मेरी इतनी शक्ति भी नहीं है कि मैं अकेला इस इतने बड़े राज्य की रक्षा कर सकूँ तथा जैसे किसान लोग जलपूर्ण जलद की प्रतीक्षा करते हैं वैसे ये पुर और देश के लोग तथा भाई-बन्धु और मित्र लोग आप ही की प्रतीक्षा कर रहे हैं, इसलिये हे महाप्राज्ञ ! आप सब लोकों के पालन में समर्थ हैं, इस कारण इस राज्य को ग्रहण कर पालन कीजिये । ऐसा कहकर 'राघव' ऐसी मधुर वाणी बोलते और प्रार्थना करते २ भरत जी अपने भाई श्रीरामचन्द्र जी के चरणों पर गिर पड़े ॥ १०–१४ ॥

रामचन्द्र जी ने अपने भाई भरत जी को तुरन्त ही उठाकर अपनी गोद में बैठा लिया और हंस की नाईं मधुर स्वर से यह कहा कि ॥ १५ ॥ हे तात ! यह अपने को अशक्त दिखलाने

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या ।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥ १६ ॥
अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः ।
सर्वकार्याणि संमन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय ॥ १७ ॥
लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमन्त्यजेत् ।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥ १८ ॥
कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् ।
न तन्मनसि कर्त्तव्यं वर्त्तितव्यं च मातृवत् ॥ १९ ॥
एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् ।
तेजसाऽदित्यसङ्काशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥ २० ॥
अधिरोहार्यपादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥ २१ ॥
सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च ।
प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥ २२ ॥

भाषा

वाले विनय की बुद्धि तुम्हारी जन्म ही से है जो इस समय भी आ गयी है । वास्तविक बात तो यह है कि तुम सम्पूर्ण पृथ्वी की रक्षा कर सकते हो । तुम्हारे सचिव (प्रधान मंत्री) मित्र और उपमंत्री गण बड़े २ बुद्धिमान् हैं, उन लोगों के साथ मंत्रणा कर बड़े २ कार्यों को भी कराया करो ॥ १६ ॥ १७ ॥

अब इस समय माता की याचना से भी अपने निश्चय को मैं नहीं पलटा सकता क्योंकि यदि कदाचित् चन्द्रमा से शोभा निकल जाय अथवा हिमवान् पर्वत शीतलता छोड़ दे और समुद्र भी अपनी वेला (करारा) को इसी समय उल्लंघन कर जायँ अर्थात् सब जगत् ही का प्रलय हो जाय तब भी मैं अपने पिता की प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं करूँगा ॥ १८ ॥ और तुम्हारी माता कैकेयी ने तुम्हारे प्रेम अथवा राज्यलोभ से जो कुछ किया वह यद्यपि तुमको इष्ट नहीं है तथापि मैं तुमको यह आज्ञा देता हूँ कि तुम उसको अनिष्ट न समझो और अपनी माता की सेवा जैसा पूर्व में करते थे वैसा ही करो (गूढ़ तात्पर्य इस श्लोक का यह है कि देव लोगों की इच्छा और स्वर्ग राज्य भोग के लोभ से देवता लोगों ही ने मंथरा दासी के द्वारा तुम्हारी माता से यह सब काम कराया, इस कारण तुम्हारी माता पूर्ण रीति से निर्दोष हैं, इसलिये उन पर तुम कुछ भी कोप न करना) ॥ १९ ॥ इस वाक्य को सुनकर वसिष्ठ जी के नियोगानुसार भरत जी ने कहा कि हे आर्य ! इन सुवर्ण की पादुकाओं पर आप चरणों से आरोहण कीजिये क्योंकि ये ही पादुकायें लोक की उन्नति और रक्षा करेंगी । श्री रामचन्द्र जी ने भी वैसा कर उन पादुकाओं को छोड़ भरत जी को दे दिया ॥ २०–२२ ॥ तदनन्तर उन पादुकाओं को अपने शिर पर धारण कर भरत जी ने श्रीराम जी से

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् ।
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद्बहिः ॥ २४ ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप ।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥ २६ ॥
शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत् ।
मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन ।
इत्युक्त्वाऽश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥ २८ ॥

स पादुके ते भरतः स्वलङ्कृते महोज्वले सम्परिगृह्य धर्मवित् ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं चकार चैवोत्तमनागमूर्द्धनि ॥ २९ ॥
अथानुपूर्व्या प्रतिपूज्य तं जनं गुरूंश्च मन्त्रीन् प्रकृतीस्तथानुजौ ।
व्यसर्जयद्राघववंशवर्द्धनः स्थितः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥
तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः ।
स चैव मातॄरभिवाद्य सर्वा रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥ ३१ ॥

भाषा

कहा कि हे वीर रघुनन्दन ! आज से चौदह वर्ष तक आपके आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ मैं जटा और चीर को धारण करूँगा तथा फल ही और मूल का भोजन करूँगा और अयोध्या नगर से बाह्य स्थान में रहूँगा और आपकी इन पादुकाओं पर अपनी समझ से राज्य के कामों को रख दूँगा परन्तु चौदह वर्ष के अनन्तर अर्थात् १५ वर्ष के प्रथम दिन में यदि आपका दर्शन न पाऊँगा तो उसके दूसरे ही दिन अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। श्री राम जी ने १५ वें वर्ष के प्रथम दिन में अपने दर्शन देने की प्रतिज्ञा कर भरत जी को आदर से आलिङ्गन कर शत्रुघ्न जी को भी वैसा ही आलिङ्गन किया और शत्रुघ्न जी से यह कहा भी कि हे रघुनन्दन ! तुमको हमारा और सीता का शपथ है, तुम कैकेयी माता पर कुछ कोप न करो और उनकी रक्षा करो। ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्र जी ने उन लोगों का विसर्जन किया ॥२३–२८॥

भरत जी ने श्रीराम जी की प्रदक्षिणा कर उन पादुकाओं को उत्तम हस्ती के मस्तक पर रख दिया ॥ २९ ॥ और अपने सत्य धर्म पर हिमवान् पर्वत की नाईं अचल होकर स्थित श्रीराम जी ने उचित क्रम के अनुसार गुरुओं, मंत्रियों, प्रजाओं और दोनों भाइयों को बिदा किया तथा माताओं को प्रणाम कर उदासीन सा हो अपनी कुटी में चले गये ॥ ३० ॥ ३१ ॥

मनुः ४—योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥२५५॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२५६॥

प्रश्नोपनिषद्—समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्॥

भाग० अ० ६—न ह्यसत्यात् परो धर्म इति होवाच भूरियम्।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥ १ ॥

रामः—अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन।
एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव शपामि ते ॥ १ ॥
अनृतं नोक्तपूर्वं मे अतिकृच्छ्रेऽपि तिष्ठता।
धर्मलोभपरीतेन न च वक्ष्ये कदाचन ॥ २ ॥
दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्यं ब्रूयान्न चानृतम्।
अपि जीवितहेतोर्हि रामः सत्यपराक्रमः ॥ ३ ॥

भाषा

"योऽन्यथा०" जो कोई अपने वास्तविक कुल आदि को प्रच्छन्न कर उसके स्थान में दूसरे कुल आदि को अच्छे पुरुषों के समक्ष कहता है वह लोक में सब पापियों से अधिक पापी है क्योंकि और चोर वस्तु चुराते हैं परन्तु वह आत्मा (अपने) ही को चुराता है ॥ २५५ ॥ सब वस्तु शब्दों ही में वाचकत्व सम्बन्ध से नियत हैं और शब्द ही उनका मूल है क्योंकि शब्द से उन वस्तुओं का बोध होता है तथा शब्दों के द्वारा समझ कर सब काम किये जाते हैं, इससे मानों सब वस्तु शब्द हीं से निकले हैं, इसलिये जो शब्द अर्थात् मिथ्याभाषण करता है वह सब वस्तुओं का चोर है ॥ २५६ ॥ "समूलो वा" वह जड़ से सूख ही जाता है जो कि झूठ बोलता है, इसलिये मैं (भरद्वाज) झूठ नहीं बोल सकता।

"न ह्यसत्यात्" इस पृथ्वी ने कहा कि असत्य से परे कोई पाप नहीं है, इसलिये मैं पर्वत, नगर, वन आदि सबके भार को सहज में सहन कर सकती हूँ परन्तु मिथ्याभाषी पुरुष के भार को सहने में मुझे बड़ी कठिनता पड़ती है ॥ १ ॥

"अनृतं०" श्रीरामचन्द्र जी ने कहा कि मैंने पूर्व ही में असत्य कदापि नहीं कहा और न असत्य कदापि कहूँगा। सत्य का शपथ खाकर मैं तुमसे यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि बड़े विपत्तिकाल में भी मैंने धर्म के लोभ से कदापि असत्य नहीं कहा और न कदापि असत्य कहूँगा ॥ १ ॥ २ ॥ सत्यपराक्रम श्रीराम, दान करते हैं और सत्य ही भाषण करते हैं तथा कदापि अपने प्राणों के लिये भी दान नहीं ले सकते और न मिथ्याभाषण कर सकते हैं ॥ ३ ॥

"मम" युधिष्ठिर ने कहा कि मेरी इस प्रतिज्ञा को सत्य समझो कि धर्म से विरोध पड़ने की

युधिष्ठिरः—मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्ममममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्रांश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥ १ ॥

सत्येनाभिमन्योः सुतस्य पुनरुज्जीवनम्—

कृष्णः—न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद्भविष्यति ।
एष सञ्जीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ १ ॥
नोक्तं पूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा सञ्जीवतादयम् ॥ २ ॥
यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणाश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ॥ ३ ॥
यथाऽहं नाभिजानामि विजयेन कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ॥ ४ ॥
यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥ ५ ॥
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽद्य पुनः सञ्जीवतादयम् ॥ ६ ॥
त्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः ॥ ७ ॥

गौतमधर्मशास्त्रम् १३—विप्रतिपत्तौ साक्षिनिमित्ता सत्यव्यवस्था । स्वर्गः सत्यवचने । विपर्यये नरकः । सर्वधर्मेभ्यो गरीयः प्राड्विवाके सत्यवचनम् ।

भाषा

शङ्का में मोक्ष और जीवन को भी छोड़कर मैं सत्यरूपी धर्म ही को स्वीकार करता हूँ क्योंकि राज्य, पुत्र, यश और धन आदि सब वस्तु सत्य की कला को भी नहीं पहुँचते ॥ १ ॥

अभिमन्यु के मृतक पुत्र (राजा परीक्षित) का सत्य ही से पुनः उज्जीवन कृष्ण भगवान् ने मन्त्रों से किया कि "न ब्रवी०" हे उत्तरे ! (अर्जुन की पुत्र-वधू) मैं मिथ्या नहीं बोलता, यह सत्य ही होगा कि सब प्राणियों के समक्ष, यह मैं, इस लड़के को जिलाता हूँ ॥ १ ॥ मैंने पूर्व ही कदापि हँसी खेल में भी जैसे मिथ्या नहीं कहा और न युद्ध से कदापि मैं हटा वैसे ही यह लड़का जी जाय ॥ २ ॥ जैसे धर्म मेरा प्रिय है और ब्राह्मण लोग विशेष से मेरे प्रिय हैं वैसे अभिमन्यु का यह उत्पन्न मृतक पुत्र जी जाय ॥ ३ ॥ जैसे मैं अर्जुन के विरोध को कदापि नहीं जानता उस सत्य से मृतक बालक जी जाय ॥ ४ ॥ जैसे सत्य और धर्म ये दोनों मुझमें सदा प्रतिष्ठित रहते हैं, वैसे ही अभिमन्यु का यह मृतक बालक जी जाय ॥ ५ ॥ जैसे कंस और केशी धर्म के अनुसार मुझसे मारे गये उस सत्य से यह बालक पुनः जी जाय ॥ ६ ॥ हे महाराज ! वासुदेव के इस वाक्य से वह बालक चेतनायुक्त हो धीरे २ चेष्टा करने लगा ॥ ७ ॥ "विप्रति०" अर्थी-प्रत्यर्थी के विवाद में सत्य की व्यवस्था साक्षियों से होती है । सत्य वचन से साक्षियों को स्वर्ग और मिथ्या वचन से नरक होता है । प्राड्-विवाक (जज) के समक्ष सत्य बोलना बड़ा धर्म है ॥

२ अथ धृतिः

धृतिः धैर्यम् । आपत्कालेऽपि धर्मस्यात्यागः इयं च सर्वधर्ममूलम् । अस्या अभावे लोभादीनां दुर्वारत्वात् तथा च ॥

भा० उ०अ०३३, विदुरः—नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २३ ॥ इति
विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।
विषादयन्ति नात्मानं सत्वापाश्रयिणो नराः ॥ इति च
विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।
नियन्तुमहितादर्थात् धृतिर्हि नियमात्मिका ॥

वन १६२, धनद उ०—युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालपराक्रमाः ।
लोकतन्त्रविधानानामेष पञ्चविधो विधिः ॥ १ ॥
धृतिमन्तश्च दक्षाश्च स्वे स्वे कर्मणि भारत ।
पराक्रमविधानज्ञा नराः कृतयुगेऽभवन् ॥ २ ॥
धृतिमान् देशकालज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
क्षत्रियः क्षत्रियश्रेष्ठ प्रशास्ति पृथिवीं चिरम् ॥ ३ ॥
य एवं वर्तते पार्थ पुरुषः सर्वकर्मसु ।
स लोके लभते वीर यशः प्रेत्य च सद्गतिम् ॥ ४ ॥

भाषा

२ धृति निरूपण

आपत्काल में भी धर्म को न छोड़ना धृति है और यही पंडित का लक्षण है । विदुर ने भी कहा है कि "नाप्राप्य" पंडित वे ही हैं जो ऐसी वस्तुओं की इच्छा ही नहीं करते जो कि मिलने के शक्य नहीं हैं और नष्ट वस्तु का शोक चाहे उनको हो जाय परन्तु उसके शोक को करते नहीं, तथा उनकी बुद्धि आपत्काल में भी कुंठित नहीं होती । धृति वाले मनुष्य, प्रतिकूल प्रारब्ध के कारण उद्योग व्यर्थ हो जाने पर भी अपने को विषाद में नहीं पड़ने देते । धृति सब धर्मों का कारण है क्योंकि यदि यह न हो तो लोभादि दोषों के आक्रमण से सब धर्मों का लोप ही हो जाय । "विषय०" धृति (धीरज) के बिना, विषयों में लगे हुये अन्तःकरण का उचित रीति से नियमन नहीं हो सकता क्योंकि अन्तःकरण की उचित नियम करने वाली वृत्ति ही को धृति कहते हैं ॥

"धनद०" (कुबेर) हे युधिष्ठिर ! लौकिक कार्यों के विधान में ये पांच उपाय हैं । (१) धृति, (२) दाक्ष्य (क्षिप्रकारिता), (३) देश, (४) काल, (५) पराक्रम ॥ १ ॥ हे भारत ! कृतयुग में, अपने २ काम में धृतिमान् और दक्ष तथा पराक्रम के विधान में पंडित मनुष्य होते थे ॥ २ ॥ हे क्षत्रियश्रेष्ठ ! जो क्षत्रिय धृतिमान् तथा देश और काल का जानने वाला और सब कामों के विधान में पंडित होता है वह बहुत समय तक पृथ्वी का शासन करता है ॥ ३ ॥ हे पार्थ ! जो सब कामों में उक्त प्रकार से वर्तता है वह इस लोक में कीर्त्ति और परलोक में सुख पाता है ॥ ४ ॥

गीता० १८—धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी ॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥
शां० २२७,युधि० उ०—मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे किं श्रेयः पुरुषस्य हि ।
बन्धुनाशे महीपाल राज्यनाशेऽथवा पुनः ॥ १ ॥
त्वं हि नः परमो वक्ता लोकेऽस्मिन् भरतर्षभ ।
एतद् भवन्तं पृच्छामि तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥
भीष्म उ०—पुत्रदारैः सुखैश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा ।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप ॥
धैर्येण युक्तं सततं शरीरं न विशीर्य्यते ॥ ३ ॥
विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम् ।
आरोग्याच्च शरीरस्य स पुनर्विन्दते श्रियम् ॥ ४ ॥
यश्च प्राज्ञो नरस्तात सात्विकीं वृत्तिमास्थितः ।
तस्यैश्वर्य्यश्च धैर्यश्च व्यवसायश्च कर्मसु ॥ ५ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बलिवासवसंवादं पुनरेव युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

भाषा

"धृत्या०" हे पार्थ ! समाधि से गंठी हुई जिस धृति से मन, प्राण, इन्द्रिय आदि को शास्त्र विरुद्ध मार्ग की ओर जानेसे योगी वारण करता है वह धृति सात्विकी (सत्व गुण की) है ॥ ३३ ॥ हे पार्थ ! धर्म, अर्थ और काम के लिये जिस धृति से कर्म करने का निश्चय करता है, वह धृति राजसी (रजो गुण की) है ॥ ३४ ॥ हे पार्थ ! निद्रा, भय, शोक को जिस धृति के वश होकर नहीं छोड़ता वह धृति तामसी (तमोगुण की) है ॥ ३५ ॥

"मग्नस्य०" युधिष्ठिर ने कहा कि हे महीपाल (भीष्म) ! बंधुनाश अथवा राज्यनाश रूपी कठिन दुःख में डूबते हुये पुरुष के लिये कौन पदार्थ कल्याणकारी है ? यह प्रश्न आप ही से पूछने योग्य है ॥ १ ॥ २ ॥ "भीष्म०" हे नृप ! पुत्र, दार या धन के नाश रूपी अति कठिन दुःख में पड़े हुये पुरुष के लिये धृति (धीरज) कल्याणकारी है क्योंकि धृति, सुख और आरोग्य को उत्पन्न करती है और शरीर के आरोग्य होने से पुनः भी अनेक प्रकार के सुखों का लाभ होता है और जो पण्डित पुरुष सत्व गुण की वृत्ति पर आरूढ़ रहता है उसी को धृति, ऐश्वर्य्य और कर्मों में अध्यवसाय (करने का निश्चय) होते हैं ॥ ३–५ ॥ हे युधिष्ठिर ! इसी विषय में राजा बलि और इन्द्र का संवाद रूपी पुराने इतिहास का उदाहरण लोग देते हैं कि ॥ ६ ॥

वृत्ते देवासुरे युद्धे दैत्यदानवसंक्षये ।
विष्णुाक्रन्तेषु लोकेषु देवराजे शतक्रतौ ॥ ७ ॥
इज्यमानेषु देवेषु चातुर्वर्ण्ये व्यवस्थिते ।
समृद्धयमाने त्रैलोक्ये प्रीतियुक्ते स्वयम्भुवि ॥ ८ ॥
गन्धर्वैर्भुजगेन्द्रैश्च सिद्धैश्चान्यैर्वृतः प्रभुः ।
आरुह्यैरावतं शक्रस्त्रैलोक्यमनुसंययौ ॥ ९ ॥
स कदाचित् समुद्रान्ते कस्मिंश्चिद् गिरिगह्वरे ।
बलिं वैरोचनिं वज्री ददर्शोपससर्प च ॥ १० ॥
तमैरावतमूर्द्धस्थं प्रेक्ष्य देवगणैर्वृतम् ।
सुरेन्द्रमिन्द्रं दैत्येन्द्रो न शुशोच न विव्यथे ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा तमविकारस्थं तिष्ठन्तं निर्भयं बलिम् ।
अधिरूढो द्विपश्रेष्ठमित्युवाच शतक्रतुः ॥ १२ ॥
दैत्य न व्यथसे शौर्य्यादथवा वृद्धसेवया ।
तपसा भावितत्वाद्वा सर्वथैतत् सुदुष्करम् ॥ १३ ॥
शत्रुभिर्वशमानीतो हीनः स्थानादनुत्तमात् ।
वैरोचने किमाश्रित्य शोचितव्ये न शोचसि ॥ १४ ॥
श्रैष्ठ्यं प्राप्य स्वजातीनां महाभोगाननुत्तमान् ।
हृतस्वबलराज्यस्त्वं ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १५ ॥

भाषा

एक समय देवासुर संग्राम में राजा बलि के पराजित होने पर इन्द्र ने जब राजा होकर त्रैलोक्य की सब व्यवस्था और समृद्धि को पुनः पूर्ववत् स्थापित कर दिया, तब ऐरावत हस्ती पर आरूढ़ हो सिद्ध, नाग, गन्धर्व आदि देवयोनियों को लेकर त्रैलोक्य में विचरने के लिये इन्द्र स्वर्ग से निकले ॥ ७–९ ॥ विचरते २ एक प्रदेश में समुद्र के तीर पर किसी पर्वत की कन्दरा में विरोचन के पुत्र राजा बलि को अकेले देखा और उनके समीप भी गये ॥ १० ॥ ऐरावत पर आरूढ़, देवगणों से वृत, उन देवेन्द्र को देखकर दैत्येन्द्र (बलि) ने न कुछ शोक किया न भय ॥ ११ ॥

बलि को निर्विकार और निर्भय देखकर ऐरावत पर बैठे इन्द्र ने उनसे यह कहा कि ॥ १२ ॥ हे दैत्य ! जो तुम इस समय शोक और भय कुछ भी नहीं करते हो यह सब प्रकार से आश्चर्य ही है और बतलाओ कि शूरता वा ज्ञान, वृद्धों की सेवा अथवा कोई बहुत बड़ी तुम्हारी तपस्या में से कौन इस तुम्हारी उत्तम अवस्था का मूल कारण है ? ॥ १३ ॥ हे वैरोचने ! सर्वोत्तम स्थान (स्वर्ग का राजासन) से हीन और शत्रुओं के वशीभूत होकर भी तुम इस महाशोक के अवसर पर किस भरोसे से शोक नहीं करते ? ॥ १४ ॥ अपनी दैत्य जाति में श्रेष्ठता और सर्वोपरि महाभाग्यों को पाने के अनन्तर सर्वस्वहीन होने पर भी तुम क्यों नहीं शोक करते ? ॥ १५ ॥

ईश्वरो हि पुरा भूत्वा पितृपैतामहे पदे ।
तत् त्वमद्य हृतं दृष्ट्वा सपत्नैः किं न शोचसि ॥ १६ ॥

बद्धश्च वारुणैः पाशैर्वज्रेण च समाहतः ।
हृतदारो हृतधनो ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १७ ॥

नष्टश्रीर्विभवभ्रष्टो यन्न शोचसि दुष्करम् ।
त्रैलोक्यराज्यनाशे हि कोऽन्यो जीवितुमुत्सहेत् ॥ १८ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं ब्रुवन्तं परिभूय तम् ।
श्रुत्वा सुखमसम्भ्रान्तो बलिर्वैरोचनोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥

बलिरुवाच—निगृहीते मयि भृशं शक्र किं कत्थितेन ते ।
वज्रमुद्यम्य तिष्ठन्तं पश्यामि त्वां पुरन्दर ॥ २० ॥

अशक्तः पूर्वमासीस्त्वं कथञ्चिच्छक्ततां गतः ।
कस्त्वदन्य इमां वाचं सक्रूरां वक्तुमर्हति ॥ २१ ॥

यस्तु शत्रोर्वशस्थस्य शक्तोऽपि कुरुते दयाम् ।
हस्तप्राप्तस्य वीरस्य तञ्चैव पुरुषं विदुः ॥ २२ ॥

अनिश्चयो हि युद्धेषु द्वयोर्विवदमानयोः ।
एकः प्राप्नोति विजयमेकश्चैव पराजयम् ॥ २३ ॥

भाषा

पूर्व में अपने पितृ-पैतामह स्थान का ईश्वर होकर आज शत्रुओं के हाथ से अपने सर्वस्व का अपहार देखने पर भी तुम क्यों नहीं शोक करते ? ॥ १६ ॥ बतलाओ कि वारुण पाशों से तुम बाँधे गये और वज्र से मारे गये, तुम्हारी स्त्री और राज्य भी छीन लिया गया तब भी तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥ १७ ॥ तुम्हारी शरीर-शोभा नष्ट हो गई और ऐश्वर्य भ्रष्ट हो गया, अब भी तुम जो शोक नहीं करते यह बड़ा आश्चर्य है क्योंकि तुमसे अन्य कोई पुरुष ऐसा नहीं हो सकता जो कि अपने त्रैलौक्य राज्य के नाश होने पर भी जीने का उत्साह करै ॥ १८ ॥ ऐसी २ और भी कड़वी बातों को सुनाते हुये इन्द्र को डाँट कर निर्भय राजा बलि ने यह कहा कि ॥ १६ ॥

हे पुरन्दर ! वज्र उठाये हुये तुमको मैं देखता हूँ और जब मेरा पराजय ही हो गया तब ऐसे दून हाँकने का क्या प्रयोजन है ॥२०॥ पूर्व में बहुत दिनों तक तुम असमर्थ रहे, अब किसी प्रकार से समर्थ हो गये हो। ऐसी दशा में तुमसे अन्य कौन ऐसा क्षुद्र है जो ऐसी कड़वी बात बोल सकता है क्योंकि ॥ २१ ॥ जो वीर अपने वशीभूत हस्तगत शत्रु के लिये सब प्रकार से समर्थ होकर भी उस पर दया करता है उसी को लोग पुरुष समझते हैं और इस समझने में कारण भी यह है कि जब दो तुल्यवत् लड़ते हैं तो यह निश्चय नहीं हो सकता कि अमुक ही का जय होगा परन्तु उनमें से एक का जय और दूसरे का पराजय अवश्य ही होता है ॥ २२ ॥ २३ ॥

मा च तेऽभूत् स्वभावोऽयमिति दैवतपुङ्गव ।
ईश्वरः सर्वभूतानां विक्रमेण जितो बलात् ॥ २४ ॥
नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र कृतं त्वया ।
यत्त्वमेवं गतो वज्रिन् यद्वाप्येवं गता वयम् ॥ २५ ॥
अहमासं यथाऽद्य त्वं भविता त्वं यथा वयम् ।
माऽवमंस्था मया कर्म दुष्कृतं कृतमित्युत ॥ २६ ॥
सुखदुःखे हि पुरुषः पर्य्यायेणाधिगच्छति ।
पर्य्यायेणासि शक्रत्वं प्राप्तः शक्र न कर्मणा ॥ २७ ॥
कालः काले नयति मां त्वाञ्च कालो नयत्ययम् ।
तेनाहं त्वं यथा नाद्य त्वञ्चापि न यथा वयम् ॥ २८ ॥
नागामिनमनर्थं हि प्रतिघातशतैरपि ।
शक्नुवन्ति प्रतिव्योढुमृते बुद्धिबलान्नराः ॥ ३१ ॥
कालेन त्वाहमजयं कालेनाहं जितस्त्वया ।
गन्ता गतिमतां कालः कालः कलयति प्रजाः ॥ ३४ ॥
इन्द्र प्राकृतया बुद्ध्या प्रलयं नावबुध्यसे ।
केचित्त्वां बहुमन्यन्ते श्रैष्ठ्यं प्राप्तं स्वकर्मणा ॥ ३५ ॥

भाषा

हे दैवतपुङ्गव (देवताओं में श्रेष्ठ अथवा देवता होकर भी (पुङ्गव) वृषभ अर्थात् मूर्ख)! तुम यह कदापि न समझना कि "मैं (इन्द्र) ने अपने स्वाभाविक बल से इस त्रैलोक्यनाथ बलि का पराजय किया" क्योंकि तुम्हारा जय अथवा मेरा पराजय न तुम्हारा किया है न मेरा । जैसे इस समय तुम हो ऐसा ही हम थे और जैसे इस समय मैं हूँ किसी समय तुम भी ऐसा ही होगे क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि पुरुष पारी २ से सुख और दुःख पाता है। तुम भी अपनी पारी से इन्द्र हुये हो न कि अपने पराक्रम से ॥ २४–२७ ॥ मेरा और तुम्हारा दोनों का नेता काल ही है, उसी के प्रताप से आज हम तुम्हारे तुल्य नहीं हैं और न तुम हमारे ऐसे हो ॥ २८ ॥

आगामी अनर्थ को सैकड़ों उपायों से कोई हटा नहीं सकता किन्तु केवल बुद्धिबल से वह हटता है अर्थात् उस अनर्थ के प्राप्त होने के अनन्तर उसका हटना यही है जो कि मेरे कहे हुये वास्तविक और अटल सिद्धान्त के अनुसार उस अनर्थ से शोक नहीं होता । काल ही के कारण मैंने तुम्हे जीत लिया था और उसी के कारण आज तुमने मुझको जीता । क्योंकि हम, तुम और अन्य लोग सभी काल की प्रजा हैं ॥ ३१ ॥ ३४ ॥

हे इन्द्र ! तुम्हारी बुद्धि बहुत सामान्य है, इसी से तुम इस कालगति को नहीं जानते और तुम्हीं नहीं किन्तु और भी कुछ लोग इस कारण तुम्हारा आदर करते हैं कि तुमने अपने पराक्रम से इन्द्रत्व प्राप्त किया परन्तु काल की गति को जानता और काल का मारा हुआ हमारे ऐसा पुरुष क्योंकर शोक कर सकता है और क्यों मूढ़ हो सकता है तथा क्यों उलटा समझ सकता है ? काल

कथमस्मद्विधो नाम जानन् लोकप्रवृत्तयः ।
कालेनाभ्याहतः शोचेन्मुह्येद्वाऽप्यथ विभ्रमेत् ॥ ३६ ॥
नित्यं कालपरीतस्य मम वा मद्विधस्य वा ।
बुद्धिर्व्यसनमासाद्य भिन्ना नौरिव सीदति ॥ ३७ ॥
अहञ्च त्वञ्च ये चान्ये भविष्यन्ति सुराधिपाः ।
ते सर्वे शक्र यास्यन्ति मार्गमिन्द्रशतैर्गतम् ॥ ३८ ॥
त्वामप्येवं सुदुर्धर्षं ज्वलन्तं परया श्रिया ।
काले परिणते कालः कालयिष्यति मामिव ॥ ३६ ॥
बहूनीन्द्रसहस्राणि दैवतानां युगे युगे ।
अभ्यतीतानि कालेन कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ४० ॥
इदन्तु लब्ध्वा संस्थानमात्मानं बहु मन्यसे ।
सर्वभूतभवं देवं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ॥ ४१ ॥
न चेदमचलं स्थानमनन्तं भावि कस्यचित् ।
त्वं तु बालिशया बुद्ध्या ममेदमिति मन्यसे ॥ ४२ ॥
अविश्वस्ते विश्वसिषि मन्यसे चाध्रुवे ध्रुवम् ।
नित्यं कालपरीतात्मा भवत्येवं सुरेश्वर ॥ ४३ ॥
ममेयमिति मोहात् त्वं राजश्रियमभीप्ससि ।
नेयं तव न चास्माकं न चान्येषां स्थिरा सदा ॥ ४४ ॥

भाषा

के सदा वशीभूत मुझ वा मेरे ऐसे पुरुष की बुद्धि दुःखसमुद्र में फटी हुई नौका की तरह डूब जाती है। हम और तुम तथा इन्द्र होने वाले और भी उसी गति को प्राप्त होते हैं और होंगे जिसको कि हमसे तुमसे भी पूर्वकाल के व्यतीत सैकड़ों इन्द्र प्राप्त हो चुके हैं ॥ ३५—३८ ॥ सर्वोत्तम लक्ष्मी से प्रज्वलित और सर्वोपरि विराजमान तुमको भी परिणाम में बलवान काल ऐसा ही कर देगा जैसा कि उसने मुझको किया। देखो समय २ पर सहस्रों देवेन्द्र बात की बात में काल के कलेवा हो चुके क्योंकि काल की शक्ति का उल्लङ्घन ही नहीं हो सकता है ॥ ३९ ॥ ४० ॥

इस स्थान को पाकर तुम अपने को ब्रह्मदेव के समान अटल और सनातन समझते हो परन्तु यह स्थान किसी के लिये आज तक अचल तथा अनन्त नहीं हुआ न होगा और तुम तो अपनी मूर्खता से इस स्थान को सदा के लिये अपना मान बैठे हो तथा विश्वास के अयोग्य इस स्थान पर विश्वास कर बैठे हो अर्थात् अध्रुव को ध्रुव मान बैठे हो और तुम ही नहीं जब ही जो देवेन्द्र होता है वही काल के वशीभूत होकर ऐसा ही उलटा पलटा मान बैठता है ॥ ४१—४३ ॥

इस राजलक्ष्मी को जो तुम सदा के लिये अपनी समझते हो यह तुम्हारी मूर्खता है क्योंकि यह तुम्हारे वा हमारे वा अन्य किसी के लिये भी सदा स्थिर नहीं है। देखो कितने इन्द्रों को छोड़ती हुई आज यह तुम्हारे हाथ आई है। ऐसे ही तुम्हारे समीप कुछ काल तक रहकर यह चञ्चला राज-

अतिक्रम्य बहूनन्यांस्त्वयि तावदियं गता ।
किञ्चित् कालमियं स्थित्वा त्वयि वासव चञ्चला ।
गौर्निपानमिवोत्सृज्य पुनरन्यं गमिष्यति ॥ ४५ ॥
राजलोका ह्यतिक्रान्ता यान्न सङ्ख्यातुमुत्सहे ।
त्वत्तो बहुतराश्चान्ये भविष्यन्ति सुरेश्वर ॥ ४६ ॥
सवृक्षौषधिरत्नेयं सहसत्ववनाकरा ।
तानिदानीं न पश्यामि यैर्भुक्तेयं पुरा मही ॥ ४७ ॥
बहवः पूर्वदैत्येन्द्राः सन्त्यज्य पृथिवीं गताः ।
कालेनाभ्याहताः सर्वे कालो हि बलवत्तरः ॥ ५४ ॥
सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं न त्वमेकः शतक्रतुः ।
सर्वे धर्मपराश्चासन् सर्वे सततसत्रिणः ॥ ५५ ॥
अन्तरिक्षचराः सर्वे सर्वेऽभिमुखयोधिनः ।
सर्वे संहननोपेताः सर्वे परिघबाहवः ॥ ५६ ॥
सर्वे मायाशतधराः सर्वे ते कामरूपिणः ।
सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्ते पराजिताः ॥ ५७ ॥
सर्वे सत्यव्रतपराः सर्वे कामविहारिणः ।
सर्वे वेदव्रतपराः सर्वे चैव बहुश्रुताः ॥ ५८ ॥
सर्वे सम्मतमैश्वर्य्यमीश्वराः प्रतिपेदिरे ।
न चैश्वर्य्यमदस्तेषां भूतपूर्वो महात्मनाम् ॥ ५९ ॥
सर्वे यथार्हदातारः सर्वे विगतमत्सराः ।
सर्वे सर्वेषु भूतेषु यथावत् प्रतिपेदिरे ॥ ६० ॥

भाषा

लक्ष्मी जैसे प्यासी गौ एक निपान (कूपों से लगा हुआ छोटा कृत्रिम जलाशय) के जल को निश्शेष कर पुनः दूसरे निपान को जाया करती है वैसे ही तुम्हारे उत्तम प्रारब्धों के भोग को निश्शेष कर पुनः अन्य के समीप चली जायगी ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

तुमसे पहले इतने राजा लोग व्यतीत हो चुके कि जिनकी संख्या मैं नहीं कर सकता और हे सुरेश्वर ! तुमसे अन्य बहुतेरे राजा होने वाले भी हैं ॥ ४६ ॥ वृक्ष, औषधि, रत्न, प्राणी, बन और खानि सहित इस पृथ्वी का जिन २ राजाओं ने भोग किया, इस समय उनमें से एक को भी मैं नहीं देखता ॥ ४७ ॥ मुझसे प्राचीन बहुत से दैत्येन्द्र पृथ्वी को भोग भोगकर काल के वशीभूत होकर चले गये क्योंकि काल बड़ा बली है ॥ ५४ ॥

मैं जिन प्राचीनों को बतला गया हूँ उन सबने सौ २ अश्वमेध यज्ञ किया था न कि तुम्हीं एक ने; सब धर्म पर थे, सब दाता थे, सब आकाशगामी थे, सब युद्ध में अभिमुख लड़ने वाले थे, सबके शरीर वज्र से थे, सब परिघ (लौह स्तम्भ) बाहु थे, सब सैकड़ों मायाओं के ज्ञाता थे, सब कामरूपी

सर्वे दाक्षायणीपुत्राः प्राजापत्या महाबलाः ।
ज्वलन्तः प्रतपन्तश्च कालेन प्रतिसंहृताः ॥ ६१ ॥
त्वञ्चैवेमां यदा भुक्त्वा पृथिवीं त्यक्ष्यसे पुनः ।
न शक्ष्यसि तदा शक्र ! नियन्तुं शोकमात्मनः ॥ ६२ ॥
मुञ्चेच्छां कामभोगेषु मुञ्चेमं श्रीभवं मदम् ।
एवं स्वराज्यकाले त्वं शोकं सम्प्रसहिष्यसि ॥ ६३ ॥
शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले च मा हृषः ।
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्नेन वर्तय ॥ ६४ ॥
मां चेदभ्यागतः कालः सदायुक्तमतन्द्रितः ।
क्षमस्व न चिरादिन्द्र त्वामप्युपगमिष्यति ॥ ६५ ॥
त्रासयन्निव देवेन्द्र वाग्भिस्तक्षसि मामिह ।
संयते मयि नूनं त्वमात्मानं बहु मन्यसे ॥ ६६ ॥
कालः प्रथममायान् मां पश्चात्त्वामनुधावति ।
तेन गर्जसि देवेन्द्र पूर्वकालहते मयि ॥ ६७ ॥
को हि स्थातुमलं लोके मम क्रुद्धस्य संयुगे ।
कालस्तु बलवान् प्राप्तस्तेन तिष्ठसि वासव ॥ ६८ ॥

भाषा

(जैसा चाहे वैसा रूप धारण करने वाले) थे, सब वेद और व्रत में तत्पर थे, सब बहुश्रुत (महापंडित) थे, सब बड़े ऐश्वर्य को पाये थे और उनमें से किसी में अपने ऐश्वर्य का अभिमान न था तथा द्वेष न था; सब, सब प्राणियों के साथ उचित वृत्ति रखते थे, सब दक्ष की पुत्री के पुत्र, प्रजापतियों के पुत्र, महाबलशाली, प्रज्वलित और प्रतापी होकर काल महाबली से कवलित हो गये ॥ ५५—६१॥

हे शक्र ! ऐसे ही तुम भी इस पृथ्वी को भोग कर जब छोड़ोगे तब अपने शोक का वारण न कर सकोगे ॥ ६२ ॥ काम के भोगों की इच्छा को छोड़ो, इस ऐश्वर्य के अभिमान को त्यागो, तब तुम अपने राज्य के नाशकाल में अपने शोक को वारण कर सकोगे ॥ ६३ ॥ शोक के अवसर पर शोक और हर्ष के अवसर पर हर्ष न किया करो, भूत और भविष्यत वस्तुओं को छोड़, केवल वर्त्तमान वस्तुओं से अपनी वृत्ति को चलाओ ॥ ६४ ॥

हे इन्द्र ! यदि मुझ ऐसे सदा जाग्रत पुरुष पर भी यह अति जाग्रत काल आ गिरा तो मेरी इस बात को तुम समझा करो कि तुम पर भी इस काल के गिरने में अधिक विलम्ब नहीं है ॥ ६५ ॥

हे देवेन्द्र ! तुम ऐसी बातों से जो मुझे यहाँ डरपाते और दुख दे रहे हो, इससे ज्ञात होता है कि मुझे बाँधकर तुम अपने को बहुत समझ रहे हो ॥ ६६ ॥ काल प्रथम मुझ पर आया पश्चात् तुम पर दौड़ रहा है परन्तु अब तक तुम पर गिर नहीं चुका है । इतने ही से दूरदर्शी न होने के कारण तुम इतने गर्जते हो ॥ ६७ ॥ सब लोकों में कौन ऐसा है कि जो क्रुद्ध हुये मेरे आगे खड़ा हो सकता है किन्तु हे वासव ! काल बलवान् मुझ पर आ पड़ा है, इसी से तुम मेरे आगे खड़े हो ॥ ६८ ॥

यत्तद्वर्षसहस्रान्तं पूर्णं भवितुमर्हति ।
यथा मे सर्वगात्राणि न सुस्थानि महौजसः ॥ ६९ ॥
अहमैन्द्राच्च्युतः स्थानात्त्वमिन्द्रः प्रकृतो दिवि ।
सुचित्रे जीवलोकेऽस्मिन्नुपास्यः कालपर्ययात् ॥ ७० ॥
किं हि कृत्वा त्वमिन्द्रोऽद्य किं वा कृत्वा वयं च्युताः ।
कालः कर्त्ता विकर्त्ता च सर्वमन्यदकारणम् ॥ ७१ ॥
नाशं विनाशमैश्वर्यं सुखं दुःखं भवाभवौ ।
विद्वान् प्राप्यैवमत्यर्थं न प्रहृष्येन्न च व्यथेत् ॥ ७२ ॥
त्वमेव हीन्द्र वेत्थास्मान् वेदाहं त्वाञ्च वासव ।
किं कत्थसे मां किञ्च त्वं कालेन निरपत्रप ॥ ७३ ॥
त्वमेव हि पुरा वेत्थ यत्तदा पौरुषं मम ।
समरेषु च विक्रान्तं पर्य्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ७४ ॥
आदित्याश्चैव रुद्राश्च साध्याश्च वसुभिः सह ।
मया विनिर्जिताः पूर्वं मरुतश्च शचीपते ॥ ७५ ॥
त्वमेव शक्र जानासि देवासुरसमागमे ।
समेता विबुधा भग्नास्तरसा समरे मया ॥ ७६ ॥
पर्वताश्चासकृत् क्षिप्ताः सवनाः सवनौकसः ।
सटङ्कशिखरा भग्नाः समरे मूर्द्धि ते मया ॥ ७७ ॥

भाषा

यह वह सहस्र वर्ष पूर्ण हुआ चाहता है कि जिसमें मुझ ऐसे महाप्रतापी के कोई अंग सुस्थ नहीं हैं। काल के उलट फेर से मैं इन्द्रासन से च्युत हो गया हूँ और तुम उसी इन्द्रासन पर बैठ कर इन चित्र जीव लोगों के लिये उपासना योग्य हो रहे हो ॥ ६९ ॥ ७० ॥

क्या करने से इन्द्रासन पर तुम स्थित हुये और क्या करने से हम उससे च्युत हुये ? बनाने व बिगाड़ने वाला काल ही है, उससे अन्य कोई वस्तु कारण नहीं है। बनाना, बिगाड़ना, सुख, दुःख होना न होना, इनको पाकर विद्वान पुरुष को चाहिये कि न अधिक हर्ष करे और न अधिक शोक ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

हे काल के कारण निर्लज्ज हुये इन्द्र ! तुम स्वयं मुझको जानते हो और मैं भी तुमको जानता हूँ तब क्यों इतनी दून की लेते हो ॥ ७३ ॥ अपने स्वर्ग राज्य से प्रथम जिस समय मैंने स्वर्ग पर चढ़ाई किया उस समय तुम्हीं ने मेरे पराक्रम को स्वयं देखा है, वही उदाहरणपूर्ण है कि हे शचीपते ! आदित्यों, रुद्रों, साध्यों और वस्तुओं के सहित वायु और अन्य देवता भी मुझसे पराजित हो गये। और हे शक्र ! तुम्हीं जानते हो कि इस पिछले देवासुर संग्राम में एकत्रित हुये सब देवता लोग मेरे वेग से हताहत हो गये और मैंने वन, वनचर और शृङ्गों के सहित पर्वतों को जड़ से उखाड़ २ तुम्हारे मस्तक पर अनेक बार क्षेप किया ॥ ७४–७७ ॥

किन्तु शक्यं मया कर्तुं कालो हि दुरतिक्रमः ।
न हि त्वां नोत्सहे हन्तुं सवज्रमपि मुष्टिना ॥ ७८ ॥
न तु विक्रमकालोऽयं क्षमाकालोऽयमागतः ।
तेन त्वां मर्षये शक्र दुर्मर्षणतरस्त्वया ॥ ७९ ॥
त्वं मां परिणते काले परीतं कालवह्निना ।
नियतं कालपाशेन बद्धं शक्र विकत्थसे ॥ ८० ॥
अयं स पुरुषः श्यामो लोकस्य दुरतिक्रमः ।
बद्ध्वा तिष्ठति मां रौद्रः पशुं रशनया यथा ॥ ८१ ॥
लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ ।
वधो बन्धः प्रमोक्षश्च सर्वं कालेन लभ्यते ॥ ८२ ॥
नाहं कर्त्ता न कर्त्ता त्वं कर्त्ता यस्तु सदा प्रभुः ।
सोऽयं पचति कालो मां वृक्षे फलमिवागतम् ॥ ८३ ॥
यान्येव पुरुषः कुर्वन् सुखैः कालेन योज्यते ।
पुनस्तान्येव कुर्वाणो दुःखैः कालेन योज्यते ॥ ८४ ॥
न च कालेन कालज्ञः स्पृष्टः शोचितुमर्हति ।
तेन शक्र न शोचामि नास्ति शोके सहायता ॥ ८५ ॥
यदाऽपि शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ।
सामर्थ्यं शोचतो नास्तीत्यहं नाद्यापि शोचिमि ॥ ८६ ॥

भाषा

परन्तु मैं क्या कर सकता, जब कि काल ही मेरे प्रतिकूल है। अब भी यह नहीं है कि तुम वज्र सहित को भी एक मुष्टि प्रहार से चूर्ण कर देने का उत्साह मैं नहीं रखता किन्तु यह काल मेरे प्रराक्रम का नहीं है किन्तु क्षमा ही का है, इसी से मैं ऐसा पराक्रमी होकर भी तुम्हारे वचनों को क्षमा ही करता हूँ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ हे शक्र ! अपने प्रतिकूल कालरूपी अग्नि से प्रज्वलित होकर कालपाशों से मैं बद्ध हो चुका हूँ, इसी से मेरे समक्ष तुम इतना गर्जते हो ॥ ८० ॥ यह वही श्याम और दुर्लंध्य भयानक काल पुरुष पशु की नाईं मुझे बाँधकर खड़ा है ॥ ८१ ॥ लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, काम, क्रोध, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, वध, बन्ध और बन्ध का मोक्ष ये सब काल ही के प्रभाव से मिलते हैं ॥ ८२ ॥ न मैं करता हूँ न तुम और जो सदा करता तथा प्रभु है, वही काल जैसे वृक्ष पर फल को पकाता है वैसे ही मुझको भी इस समय पका रहा है ॥ ८३ ॥

जिन्हीं कामों को करता हुआ पुरुष काल के कारण सुख पाता है उन्हीं कामों को करता हुआ पुरुष काल के कारण दुःख पाता है। हे शक्र ! काल के पकड़े हुये कालज्ञ पुरुष को शोक नहीं करना चाहिये। इसी से मैं शोक नहीं करता क्योंकि दुःखी पुरुष को शोक से कुछ भी सहायता नहीं मिलती अर्थात् शोक दुःख को कुछ भी न्यून नहीं करता किन्तु उलटे उसके बँचे बँचाये सामर्थ्य का नाश कर देता है, इसी से मैं शोक नहीं करता हूँ ॥ ८४-८६ ॥

एवमुक्तः सहस्राक्षो भगवान् पाकशासनः ।
प्रतिसंहृत्य संरम्भमित्युवाच शतक्रतुः ॥ ८७ ॥
सवज्रमुद्यतं बाहुं दृष्ट्वा पाशांश्च वारुणान् ।
कस्येह न व्यथेद् बुद्धिर्मृत्योरपि जिघांसतः ॥ ८८ ॥
सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ।
ध्रुवं न व्यथसेऽद्य त्वं धैर्य्यात् सत्यपराक्रम ॥ ८९ ॥
को हि विश्वासमर्थेषु शरीरे वा शरीरभृत् ।
कर्त्तुमुत्सहते लोके दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं जगत् ॥ ९० ॥
अहमप्येवमेवैनं लोकं जानाम्यशाश्वतम् ।
कालाग्नावाहितं घोरे गुह्ये सततगेऽक्षरे ॥ ९१ ॥
न चात्र परिहारोऽस्ति कालस्पृष्टस्य कस्यचित् ।
सूक्ष्माणां महतां चैव भूतानां परिपच्यताम् ॥ ९२ ॥
अनीशस्याप्रमत्तस्य भूतानि पचतः सदा ।
अनिवृत्तस्य कालस्य क्षयं प्राप्तो न मुच्यते ॥ ९३ ॥
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो जागर्ति जन्तुषु ।
प्रयत्नेनाप्यपक्रान्तो दृष्टपूर्वो न केनचित् ॥ ९४ ॥
पुराणः शाश्वतो धर्मः सर्वप्राणभृतां समः ।
कालो न परिहार्य्यश्च न चास्यास्ति व्यतिक्रमः ॥ ९५ ॥

भाषा

इन बातों को सुनकर भगवान् पाकशासन (इन्द्र) ने अपने क्रोध को शान्त कर राजा बलि से यह कहा कि ॥ ८७ ॥ वज्र के सहित उठे हुये मेरे बाहु को और वारुणपाशों को देखकर ऐसे अवसर पर कौन ऐसा है, चाहे वह क्रोधयुक्त मृत्यु ही क्यों न हो कि जिसका अन्तःकरण भयभीत न हो जाय । परन्तु हे सत्यपराक्रम ! तुम्हारा तत्त्वदर्शी अचल अन्तःकरण आज धृति के कारण कुछ भी भय नहीं करता । यह सत्य ही है कि ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ जगत् के जगत् ही को धीरे २ नष्ट होते देखकर कौन ऐसा है कि जो राज्य आदि वस्तुओं अथवा शरीर पर अपना होने का विश्वास कर सके ॥ ९० ॥ मैं भी काल रूपी भयानक और नित्यगामी अग्नि में जलते हुये इस लोक को अनित्य ही जानता हूँ ॥ ॥ ९१ ॥ काल से जलते हुये इन छोटे और बड़े पदार्थों में से किसी पदार्थ को बचाने के लिये कोई उपाय नहीं है ॥ ९२ ॥ इसी से परम स्वतन्त्र और सदा ही बड़ी सावधानी से पदार्थों को पकाते हुये काल के मुख में प्राप्त होकर कोई वस्तु बचती नहीं ॥ ९३ ॥ प्रमाद की निद्रा में सोये हुये प्राणियों पर यह काल बड़े सावधानी से जाग्रत् रहता है, इसी से अनेक प्रयत्न करने पर भी काल से बचने वाले पदार्थ को आज तक किसी ने देखा नहीं ॥ ९४ ॥

जैसे यह निश्चय है कि सनातन सामान्य धर्म सब प्राणियों के लिये समान है वैसे ही इस निश्चय में भी कोई उलट फेर नहीं है कि काल भी सब प्राणियों के लिये दुर्वार ही है ॥ ९५ ॥

अहोरात्रांश्च मासांश्च क्षणान् काष्ठा लवान् कलाः ।
सम्पीडयति नः कालो वृद्धिं वार्धुषिको यथा ॥ ९६ ॥
इदमद्य करिष्यामि श्वः कर्त्तास्मीति वादिनम् ।
कालो हरति सम्प्राप्तो नदीवेग इव द्रुमम् ॥ ९७ ॥
इदानीं तावदेवासौ मया दृष्टः कथं मृतः ।
इति कालेन ह्रियतां प्रलापः श्रूयते नृणाम् ॥ ९८ ॥
नश्यन्त्यर्थास्तथा भोगाः स्थानमैश्वर्यमेव वा ।
जीवितं जीवलोकस्य कालेनागम्य नीयते ॥ ९९ ॥
उच्छ्रया विनिपातान्ता भावोऽभावः स एव च ।
अनित्यमध्रुवं सर्वं व्यवसायो हि दुष्करः ॥१००॥
सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ।
अहमासं पुरा चेति मनसापि न बुध्यसे ॥१०१॥
कालेनाक्रम्य लोकेऽस्मिन् पच्यमाने बलीयसा ।
अज्येष्ठमकनिष्ठं च क्षिप्यमाणो न बुध्यते ॥१०२॥
ईर्ष्याभिमानलोभेषु कामक्रोधभयेषु च ।
स्पृहामोहाभिमानेषु लोकः सक्तो विमुह्यति ॥१०३॥
भवांस्तु भावतत्त्वज्ञो विद्वान् ज्ञानतपोऽन्वितः ।
कालं पश्यति सुव्यक्तं पाणावामलकं यथा ॥१०४॥

भाषा

जैसे ऋणी पुरुष को वृद्धि (ब्याज) सब समय में दुःख देता रहता है वैसे ही काल भी हम सबको सब समय अर्थात् मास, दिवस, रात्रि, कला, काष्ठा, लव और क्षण में पीड़ा ही देता रहता है ॥ ९६ ॥ जैसे नदीतीर के वृक्ष को आया हुआ नदीवेग नाश करता है वैसे ही "आज यह करूँगा, कल वह करूँगा" ऐसा कहते हुये को आया हुआ काल नष्ट कर देता है ॥ ९७ ॥ इसी से काल के अनुसार नष्ट होते मनुष्यों का यह प्रलाप (व्यर्थ वाद) सुना जाता है कि "अब हीं तो मैंने इसको देखा था, यह कैसे मर गया" ॥ ९८ ॥ जीव लोगों का धन, भोग, स्थान, ऐश्वर्य और जीवन को काल ही आकर ले जाता है और इसी ले जाने का नाम नाश है ॥ ९९ ॥ उन्नति की अन्तिम अवधि निपात है, बनने की अवधि नाश है, सभी पदार्थ अनित्य हैं, इसी से काम करने का निश्चय दुष्कर है, तुम्हारी बुद्धि तत्त्वदर्शिनी और अचला है, इसी से तुमको शोक नहीं होता क्योंकि पूर्व में तुम इन्द्र थे, इस बात पर तुम्हारा मन भी नहीं जाता ॥ १०० ॥ १०१ ॥ ज्येष्ठ और कनिष्ठ के विवेक को छोड़ अति प्रबल काल से कवलीकृत ये जीव लोग नहीं जागते क्योंकि ईर्ष्या, अभिमान, लोभ, काम, क्रोध, भय और मोह की गाढ़ निद्रा से मूढ़ हो रहे हैं ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

ज्ञान, तप से युक्त और पदार्थों के तत्त्वज्ञ तथा पण्डित आप तो करामलक की नाईं काल को प्रत्यक्ष ही देखते हैं ॥ १०४ ॥ हे वैरोचने ! काल के चरित्र के तत्त्व को आप जानते हैं और सब शास्त्रों

कालचारित्रतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
वैरोचने कृतात्माऽसि स्पृहणीयो विजानताम् ॥१०५॥
सर्वलोको ह्ययं मन्ये बुद्ध्या परिगतस्त्वया ।
विहरन् सर्वतो मुक्तो न क्वचित् परिसज्जसे ॥१०६॥
रजश्च हि तमश्च त्वां स्पृशतो न जितेन्द्रियम् ।
निष्प्रीतिं नष्टसन्तापमात्मानं त्वमुपाससे ॥१०७॥
सुहृदं सर्वभूतानां निर्वैरं शान्तमानसम् ।
दृष्ट्वा त्वां मम सञ्जाता त्वय्यनुक्रोशिनी मतिः ॥१०८॥
नाहमेतादृशं बुद्धं हन्तुमिच्छामि बन्धने ।
आनृशंस्यं परो धर्मो ह्यनुक्रोशश्च मे त्वयि ॥१०९॥
मोक्ष्यन्ते वारुणाः पाशास्तवेमे कालपर्ययात् ।
प्रजानामपचारेण स्वस्ति तेऽस्तु महासुर ॥११०॥
यदा श्वश्रूं स्नुषा वृद्धां परिचारेण योक्ष्यते ।
पुत्रश्च पितरं मोहात् प्रेषयिष्यति कर्मसु ॥१११॥
ब्राह्मणैः कारयिष्यन्ति वृषलाः पादधावनम् ।
शूद्राश्च ब्राह्मणीं भार्यामुपयास्यन्ति निर्भयाः ॥११२॥
चातुर्वर्ण्यं यदा कृत्स्नममर्यादं भविष्यति ।
एकैकस्ते तदा पाशः क्रमशः परिमोक्ष्यते ॥११३॥
अस्मत्तस्ते भयं नास्ति समयं प्रतिपालय ।
सुखीभव निराबाधः स्वस्थचेता निरामयः ॥११४॥

भाषा

के महा पण्डित हैं तथा आपका अन्तःकरण आपके वश में है, इसी से आप ज्ञानियों के भी प्रशंसनीय हैं ॥ १०५ ॥ मैं समझता हूँ कि ये सब लोक आप की बुद्धि से वेष्टित हैं, क्योंकि आप सब लोकों में विहार करते भी किसी पदार्थ के वशीभूत नहीं हैं ॥ १०६ ॥ आप जितेन्द्रिय हैं और प्रीति तथा सन्ताप से रहित अपने आत्मा की उपासना करते हो, इससे यह निश्चय है कि रजोगुण और तमोगुण आपको स्पर्श भी नहीं करते ॥ १०७ ॥

सब प्राणियों के मित्र, निर्वैर और शान्तचित्त आपको देखकर अब मेरे हृदय में दया आ गयी । अब मैं ऐसे प्रबुद्ध पुरुष को मारा नहीं चाहता ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ जिनसे आप बँधे ही हो, वारुणपाश भी काल के उलट फेर के कारण प्रजाओं के दुराचार से समय पाकर छूट जायँगे । हे महासुर ! तुम्हारा कल्याण हो ॥ ११० ॥ जब ऐसा समय आवेगा कि पतोहू अपनी वृद्ध सास से सेवा करावेंगी और पुत्र भी अपनी मूर्खता से पिता को काम करने में नियुक्त करेंगे तथा शूद्र सब ब्राह्मणों से अपना चरण धुलावैंगे और निर्भय होकर ब्राह्मणियों के पास जायँगे, इस रीति से सब चारों वर्ण वैदिक मर्य्यादा से हीन हो जायँगे, तब तुम्हारे शरीर से ये वारुणपाश क्रम से एक २ करके

तमेवमुक्त्वा भगवाञ्छतक्रतुः प्रतिप्रयातो गजराजवाहनः।
विजित्य सर्वानसुरान् सुराधिपो ननन्द हर्षेण बभूव चैकराट् ॥११५॥
महर्षयस्तुष्टुवुरञ्जसा च तं वृषाकपिं सर्वचराचरेश्वरम्।
हिमापहो हव्यमुवाह चाध्वरे तथामृतं चार्पितमीश्वरोऽपि हि ॥११६॥
द्विजोत्तमैः सत्रगतैरभिष्टुतो विदीप्ततेजा गतमन्युरीश्वरः।
प्रशान्तचेता मुदितः स्वमालयं त्रिविष्टपं प्राप्य मुमोद वासवः ॥११७॥

३ अथ क्षमा

बृहस्पतिः—बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चौत्पत्तिके क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥ इति ॥

देवलः—विगर्हातिक्रमक्षेपहिंसाबन्धवधात्मनाम्।
अन्यमन्युसमुत्थाने दोषाणां मर्षणं क्षमा ॥ इति ॥

क्षेपो गलहस्तादिना प्रेरणम्। वधोऽत्र ताड़नमात्रम्, हिंसायाः पृथगुपादानात्। साऽपि शोणितोत्पादनादिमात्रपरा, न प्राणवियोगपर्यन्ता, अन्यथा मर्षणासम्भवात्। 'अपकारेऽपि चित्तस्याविक्रिया क्षमा' इति मिताक्षरा।

भाग० १५—क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा।
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥

वनपर्व २९—क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥
आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसः।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥ ३३ ॥

भाषा

निकल जायँगे। मैं तुमको अभय देता हूँ परन्तु इन पाशों के लिये मेरे कहे हुये काल तक आप प्रतीक्षा करें। आप सुखी हों, पीड़ा रहित हों, स्वस्थ चित्त हों और नीरोग हों ॥ १११–११५ ॥ ऐसा कह इन्द्र भगवान् पलट कर चले गये ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

३ क्षमा का निरूपण

"बाह्ये चा०" बाह्य अथवा मानस वा विद्युत् आदि उत्पातकृत किसी दुःख की दशा में कोप वा हिंसा न करने को क्षमा कहते हैं। "विगर्हा०" क्रोध के कारण दूसरे के किये हुये निन्दा, अनादर, क्षेप (गले पर हाथ लगाकर ढकेलना), वध (ऐसा ताड़न जिससे रुधिर निकल आवे) इन दोषों का सहन क्षमा है। "क्षमया" ब्राह्मण का तेज सूर्य के तेज की नाईं क्षमा से बढ़ता है और क्षमा से परमेश्वर तुरन्त ही प्रसन्न होता है।

"क्षन्तव्यं" राजा युधिष्ठिर ने कहा कि हे सुशोभने (द्रौपदी)! सब विपत्तियों में पुरुष को क्षमा ही करनी चाहिये क्योंकि क्षमा के साथ ही पुरुष का जन्म होता है ॥ ३२ ॥ जो समर्थ होकर अन्यों से ताड़ित और क्रुद्ध होकर भी क्रोध को जीतता है उसको सदा के लिये उत्तम लोक मिलते हैं, क्योंकि

प्रभाववानपि नरस्तस्य लोकाः सनातनाः।
क्रोधनस्त्वल्पविज्ञानः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ३४ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम्।
गीताः क्षमावतां कृष्णे काश्यपेन महात्मना ॥ ३५ ॥
क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥ ३६ ॥
क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥ ३७ ॥
अतियज्ञविदां लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च।
क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ॥ ३८ ॥
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः।
तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ॥ ४० ॥
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ४१ ॥
क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ४२ ॥
क्षमावतामयं लोकाः परश्चैव क्षमावताम्।
इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभाङ्गतिम् ॥ ४३ ॥
येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाऽभिहतः सदा।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात्क्षान्तिः परा मता ॥ ४४ ॥

भाषा

वह विद्वान पुरुष उत्तम है और क्षमा न करने वाला क्रोधी तथा अल्पज्ञ पुरुष परलोक और इस लोक में भी दुःख ही पाता है॥ ३३ ॥ ३४ ॥ हे कृष्णे ! इस विषय में भी कारयप महात्मा की गायी हुई इन गाथाओं को लोग उदाहरण में देते हैं कि॥ ३५॥ जो यह जानता है कि "क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है, क्षमा शास्त्र है" वह सबको क्षमा कर सकता है॥ ३६ ॥ क्षमा परब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भावी है, क्षमा तप है, क्षमा शौच है और क्षमा ही से यह जगत् स्थित है, क्षमा वाले यज्ञकर्त्ताओं के लोकों से ऊपर के लोकों को पाते हैं। क्षमा तपस्वियों का तेज है, क्षमा तपस्वियों का ब्रह्म है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ क्षमा सत्यवादियों का सत्य है, क्षमा शान्ति है। हे कृष्णे! इन गाथाओं में कही हुई क्षमा को मेरे ऐसा पुरुष कैसे त्याग करै, जिस क्षमा में कि ब्रह्म, सत्य, यज्ञ और लोक, ये सब ही प्रतिष्ठित हैं ॥४०–४१॥ ज्ञानी पुरुष को सदा क्षमा ही करनी चाहिये क्योंकि जब वह सबकी क्षमा करता है तब वह परब्रह्म रूपी होता है। यह लोक क्षमा वालों का है, क्योंकि इस लोक में वे पूज्य होते हैं और परलोक भी क्षमा वालों का है क्योंकि वहाँ वे उत्तम सुख पाते हैं ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

जिन मनुष्यों के क्रोध उनके क्षमा से नष्ट कर दिये जाते हैं उन मनुष्यों के भोगार्थ ही स्वर्ग आदि बड़े २ लोक हैं, इसी से क्षमा सबसे बड़ी है ॥ ४४ ॥

वन ३२—एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ४८ ॥
सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ४९ ॥
क्षमा वशी कृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
क्षान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५० ॥
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५१ ॥
एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५२ ॥
द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ५८ ॥
उद्यो० ३८—नातः श्रीमत्तरं किञ्चिदन्यत् पथ्यतमं तथा ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥ ५९ ॥
क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥ ६० ॥
तपोबलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसाबलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७० ॥

भाषा

"एकः" क्षमावालो में एक दोष से अन्य दूसरा कोई दोष नहीं हो सकता कि उनको सामान्य जन असमर्थ समझते हैं परन्तु वास्तविक में उनका यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि क्षमा ही परम सामर्थ्य है और असमर्थों का क्षमा ही गुण है तथा समर्थों का भूषण भी क्षमा ही है ॥ ४८॥४९॥ इस लोक में क्षमा ही वशीकरण है और क्षमा से क्या नहीं सिद्ध होता है तथा क्षमाखड्ग जिसके हाथ में है उसको दुर्जनों से भी क्या भय है ? क्योंकि जहाँ अपराध रूपी तृण नहीं है वहाँ दुर्जनों का क्रोध रूपी अग्नि प्रज्वलित ही नहीं हो सकता और जिस पुरुष में क्षमा नहीं है वह अपने तथा अन्य को भी दोषयुक्त कर देता है ॥ ५० ॥ ५१ ॥ क्षमा एक बड़ा धर्म और बड़ा कल्याण है, क्षमा ही शान्ति है, क्षमा ही विद्या है, क्षमा ही तृप्ति है, और क्षमा ही अहिंसा है ॥ ५२ ॥ हे राजन् ! ये दो पुरुष स्वर्ग के ऊपर प्रतिष्ठित होते हैं—एक वह जो कि समर्थ होकर भी क्षमायुक्त है और दूसरा वह कि जो दरिद्र होकर भी दान देता है ॥ ५८ ॥

हे तात ! इससे परे कोई धर्म अथवा हित नहीं है जैसा कि समर्थ पुरुष का सर्वदा सबको क्षमा करना है ॥ ५९ ॥ असमर्थ पुरुष अपने कल्याणार्थ क्षमा करै और समर्थ पुरुष धर्म के लिये सबको क्षमा करै तथा अर्थ और अनर्थ, दोनों जिसके दृष्टि में तुल्य हैं उसके लिये क्षमा सदा ही हितकारी है ॥ ६० ॥ तपस्वियों का बल तप है और ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्म तथा असाधुओं का हिंसा और गुणवालों का क्षमा बल है ॥ ७० ॥

४ अथ दमः

स च मनसो दुष्टविषयेभ्यो वारणम्। तथा च भारते—
'मनसो दमनं दमः' इति। इन्द्रियनिग्रहश्चास्यैव फलम्।

बृहदा० उ० ५२, अ० ५ ब्रा० २—

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच 'द' इति। व्यज्ञासिष्टा ३ इति, व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ १ ॥

अत्र भगवत्पादीयं भाष्यम्—

अधुना दमादिसाधनत्रयविधानार्थोऽयमारम्भः। त्रयाः त्रिसंख्याकाः, प्राजापत्याः प्रजापतेरपत्यानि प्राजापत्यास्ते किं प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य्यं शिष्यत्ववृत्तेर्ब्रह्मचर्य्यस्य प्राधान्याच्छिष्याः सन्तो ब्रह्मचर्य्यमूषुरुषितवन्त इत्यर्थः। के ते? विशेषतो देवा मनुष्या असुराश्च। ते चोषित्वा ब्रह्मचर्य्यं किमकुर्वन्नित्युच्यते। तेषां देवा ऊचुः पितरं प्रजापतिम्। किमिति? ब्रवीतु कथयतु नोऽस्मभ्यम्—यदनुशासनं भवानिति। तेभ्य एवमर्थिभ्यो हैतदक्षरं वर्णमात्रमुवाच 'द' इति। उक्त्वा च तान् पप्रच्छ पिता किं व्यज्ञासिष्टा ३ इति। मयोपदेशार्थमभिहितस्याक्षरस्यार्थं विज्ञातवन्त आहोस्विन्नेति। देवा ऊचुः—व्यज्ञासिष्मेति विज्ञातवन्तो-वयम्। यद्येवमुच्यतां—किं मयोक्तमिति। देवा ऊचुः—दाम्यतादान्ता यूयं स्वभावतोऽतो दान्ता भवतेति नोऽस्मानात्थ कथयसि। इतर आहोमिति सम्यग्व्यज्ञासिष्टेति ॥ १ ॥

अथहैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच 'द'। इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥

सामान्यमन्यत्। स्वभावतो लुब्धा यूयमतो यथाशक्ति संविभजत दत्तेति नोऽस्मनात्थ किमन्य-द्ब्रूयान्नो हितमिति मनुष्याः ॥ २ ॥

भाषा

४ दम निरूपण

मन को दुष्ट विषयों से वारण करना दम है। वेद में भी इसका विधान है जो कि अर्थवाद के सहित अब लिखा जाता है कि "त्रयाः प्राजापत्याः" जगत् की प्रत्येक सृष्टि के अनन्तर समय में प्रजापति के तीन अपत्य—देवता, मनुष्य, असुर, अपने पिता प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्य्य कर, अपने गुरु और पिता प्रजापति से क्रम से कहते हैं अर्थात् प्रथम देव—यह कहते है कि मेरे लिये जो अनुशासन हो आप कहिये और प्रजापति उनसे यही एक अक्षर कहते हैं कि "द" और ऐसा कह प्रजापति उनसे पूछते हैं कि तुमने मेरे इस उपदेश का अर्थ समझा वा नहीं? देव—समझा। प्रजापति—क्या समझा? हम लोग अधिक ऐश्वर्य के कारण जितमनस्क नहीं हैं, इसी से आप ने हमारे लिये उपदेश किया है कि "द" अर्थात् मनको दमन करो। प्रजा०—ठीक समझा। तदनन्तर मनुष्य भी प्रजापति से वैसा ही कहते हैं और प्रजापति भी वही "द" उपदेश कर पूछते हैं कि इसका क्या अर्थ समझा? मनुष्य—हम लोग लोभी हैं, इस कारण आप "द" अक्षर से हमारे लिये यह उपदेश करते हैं कि दान करो॥१-२॥

अथ हैनमसुरा उचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच 'द' इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तस्मादेतत्त्रयं शिक्षेत् दमं, दानं, दयामिति च ॥ ३ ॥

तथाऽसुरा दयध्वमिति। क्रूरा यूयं हिंसादिपरा अतो दयध्वं प्राणिषु दयां कुरुतेति। तदेतत्प्रजापतेरनुशासनमद्याप्यनुवर्तत एव। यः पूर्वं प्रजापतिर्देवादीननुशशास सोऽद्याप्यनुशास्त्येव दैव्यास्तनयित्नुलक्षणया वाचा। कथमेषा श्रूयते दैवीवाक्काऽसौ स्तनयित्नुर्द द, द, इति दाम्यत दत्त दयध्वमित्येषां वाक्यानामुपलक्षणाय त्रिर्दकार उच्चार्य्यतेऽनुक्तिर्न तु स्तनयित्नुशब्दस्त्रिरेव संख्यानियमस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात्। यस्मादद्यापि प्रजापतिर्दाम्यत दत्त दयध्वमित्यनुशास्त्येव तस्मात्कारणादेतत्त्रयम्। किं तत्त्रयमित्युच्यते दमं, दानं, दयामिति शिक्षेदुपादद्यात्प्रजापतेरनुशासनमस्माभिः कर्त्तव्यमित्येवं मतिं कुर्य्यात्। तथा च स्मृतिः—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ इति।

अस्य हि विधेः शेषः पूर्वः। तथापि देवादीनुद्दिश्य किमर्थं दकारत्रयमुच्चारितवान् प्रजापतिः पृथगनुशासनार्थिभ्यः। ते वा कथं विवेकेन प्रतिपन्नाः प्रजापतेर्मनोगतं समानेनैव दकारवर्णमात्रेणेति पराभिप्रायज्ञा विकल्पयन्ति।

भाषा

तदनन्तर असुर भी प्रजापति से वैसा ही प्रार्थना करते हैं और प्रजापति भी उनके लिये वही "द" उपदेश कर पूछते हैं कि इसका अर्थ क्या समझा ? असुर—हम लोग क्रूर अर्थात् हिंसापरायण हैं, इसी से आप "द" शब्द के द्वारा हमारे लिये यह उपदेश करते हैं कि सब प्राणियों पर दया करो। जो प्रजापति देवादिकों के लिये जैसा उपदेश "द" शब्द से तीन बार दे चुके हैं वह सदा ही "द, द, द" इस प्रकार के अनुकरण रूपी मेघगर्जन से उसी उपदेश का समय २ पर अनुवाद किया करते हैं अर्थात् मेघगर्जन से प्रजापति का यह उपदेश है कि दमन करो, दान करो, दया करो। इसलिये मनुष्य दम, दान, दया इन तीनों को सीखै। भगवद्गीता में भी इसी श्रुति का तात्पर्य कहा है—

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्" ॥

(आत्मा को दूषित करने के लिये तीन प्रकार का यह नरक का द्वार है। काम अर्थात् दुष्ट विषयों पर इन्द्रियों का प्रसंग तथा क्रोध और लोभ, इसी से इन तीनों को छोड़ दे अर्थात् काम के विरुद्ध दमन, लोभ के विरुद्ध दान और क्रोध के विरुद्ध दया करै)।

पूर्वोक्त श्रुति के उपनिषद् भाष्य में श्री स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने पूर्वोक्त तात्पर्य्य को कहकर यह विवेक किया है कि दम, दान, दया इन तीनों के विधानार्थ यह प्रकरण है और इस प्रकरण में विधिवाक्य केवल यही अन्तिम भाग है कि *"तस्मादेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति"* (इसलिये सब दम, दान, दया इन तीनों को सीखैं) और पूर्व का अवशिष्ट भाग इसी विधिवाक्य का वाक्यशेष रूपी अर्थवाद है।

अत्रैक आहुः-दान्तत्वादानत्वादयालुत्वैरपराधित्वमात्मनो मन्यमानाः शङ्किता एव प्रजापतावूषुः किं नो वक्ष्यतीति। तेषां च दकारश्रवणमात्रादेवाऽऽत्मशङ्कावशेन तदर्थप्रतिपत्तिरभूत्। लोकेऽपि हि प्रसिद्धं पुत्राः शिष्याश्चानुशास्याः सन्तो दोषान्निवर्तयितव्या इति। अतो युक्तं प्रजापतेर्दकारमात्रोच्चारणम्। दमादित्रये च दकारान्वयादात्मनो दोषानुरूप्येण देवादीनां विवेकेन प्रतिपत्तुं चेति। फलन्त्वेतदात्मदोषज्ञाने सति दोषान्निवर्तयितुं शक्यतेऽल्पेनाप्युपदेशेन यथा देवादयो दकारमात्रेणेति। नन्वेतत्त्रयाणां देवादीनामनुशासनं देवादिभिरप्येकैकमेवोपादेयमधत्वेऽपि न तु त्रयं मनुष्यैः शिक्षितव्यमिति। अत्रोच्यते–पूर्वैर्देवादिभिर्विशिष्टैरनुष्ठितमेतत्त्रयं तस्मान्मनुष्यैरेव शिक्षितव्यमिति। तत्र दयालुत्वस्याननुष्ठेयत्वं स्यात्, कथमसुरैरप्रशस्तैरनुष्ठितत्वादिति चेत्–न; तुल्यत्वात्त्रयाणामतोऽन्योऽत्राभिप्रायः। प्रजापतेः पुत्रा देवादयस्त्रयः पुत्रेभ्यश्च हितमेव पित्रोपदेष्टव्यम्। प्रजापतिश्च हितज्ञो नान्यथोपदिशति। तस्मात्पुत्रानुशासनं प्रजापतेः परममेतद्धितम्। अतो मनुष्यैरेवैतत्त्रयं शिक्षितव्यमिति ॥ ३ ॥

भाषा

यहाँ यह शंका होती है कि यदि दम आदि तीनों का विधान सबके लिये है तो पृथक् २ उपदेश के प्रार्थना करने वाले देवादि के लिये क्यों प्रजापति ने तीन दकारों का उच्चारण किया? और एक ही प्रकार के "द" शब्द से देवादि ने कैसे पृथक् २ अपने लिये प्रजापति के भिन्न २ आशयों को समझा? यहाँ पूर्वपक्षी की ओर से यह समाधान है कि देव, दम रहित होने से, मनुष्य दान शून्य होने से, और असुर दया हीन होने से अपने २ को पूर्व ही से अपराधी समझ कर डरते २ ही प्रजापति से उपदेश की प्रार्थना किया और प्रजापति के कहे हुये एक रूप ही "द" शब्दों का अपने २ लिये अन्यान्य तात्पर्य्यों का निश्चय भी देवादि ने अपने २ पूर्वोक्त अपराध के अनुसार ही किया, क्योंकि यह लोक में प्रसिद्ध है कि गुरु अपने पुत्रों और शिष्यों में जो दोष होते हैं उनकी निवृत्ति के लिये उपदेश किया करते हैं और दम, दान, दया तीनों में दकार का सम्बन्ध है, इसी से प्रजापति ने दकार ही का तीन बार उच्चारण किया इति।

सिद्धान्ती तो इस समाधान को स्वीकार करता हुआ इस अर्थवाद की आख्यायिका का यह तात्पर्य्य बतलाता है कि जब अपना दोष अपने को ज्ञात है तब गुरु के बहुत थोड़े उपदेश से भी उसकी निवृत्ति हो सकती है जैसे कि एक दकार रूपी अक्षर से देवादि के दोषों की निवृत्ति हुई। पुरुषों को ऐसे बोध उत्पन्न करने के लिये यह आख्यायिका है।

प्र०—उक्त अर्थवाद वाक्य के अक्षरानुसार यही अर्थ निकलता है कि देवों को दम, मनुष्यों को दान और असुरों को दया करनी चाहिये अर्थात् एक ही एक धर्म में एक २ का अधिकार है न कि तीनों धर्म में किसी का, और उक्त विधिवाक्य से यह निकलता है कि दम आदि तीनों धर्मों में प्रत्येक अर्थात् मनुष्य का भी अधिकार है। इस रीति से अर्थवाद और विधि के अन्योन्य में जो विरोध पड़ता है उसके वारण का क्या उपाय है?

उ०—यहाँ अर्थवाद सहित विधि का यही तात्पर्य्य है कि देवता, मनुष्य और असुरों अर्थात् प्राचीन महाशयों ने प्रत्येक दम, दान, दया का अनुष्ठान किया, इसी से मनुष्य इन तीनों को सीखै और इस तात्पर्य्य में कोई विरोध नहीं पड़ सकता।

तैत्ति०उ० १०६२—दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे रमन्ते ।
दमेन दान्ताः किल्बिषमवधुन्वन्ति दमेन ॥
ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् दमो भूतानां दुराधर्षम् ।
दमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दमं परमं वदन्ति ॥

शां० १६०, यु० उ०—महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ ३ ॥
धर्मस्य महतो राजन् बहुशाखस्य तत्त्वतः ।
यन्मूलं परमं तात तत्सर्वं ब्रूहि तत्त्वतः ॥ ४ ॥

भीष्म उ०—हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि ।
पीत्वाऽमृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि ॥ ५ ॥
धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः ।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥ ६ ॥
दमं निश्रेयसे प्राहुर्वृद्धा निश्चयदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

भाषा

प्र०—असुर तो निन्दित हैं तब उनके दया रूपी आचार के सीखने का विधान क्यों किया जाता है?

उ०—दया न करने से ही असुर निन्दित हैं तथा असुर यद्यपि निन्दित हैं तथापि दया तो नहीं निन्दित है और प्रजापति ने दया करने का उपदेश भी दया को अच्छा ही समझ कर असुरों को किया जैसा कि अब भी लोग अपने पुत्रों और शिष्यों के लिये करते हैं। चाहे वे पुत्रादि उस उपदेश के अनुसार वर्तें वा न वर्तें। इन न्यायों से यही सिद्ध होता है कि मनुष्यों को दया सीखना भी उचित ही है और मनुष्यों ही के लिये दम, दान, दया सीखने का विधान है ॥ २ ॥

"दम इति" ब्रह्मचर्य्य आश्रम के सब धर्मों का मूल दम है, इसी से ब्रह्मचारी दम में सदा निरत रहते हैं और दम ही से संयुक्त रह कर अपने पापों का नाश करते हैं तथा दम ही से स्वर्ग लोक को प्राप्त करते हैं और दमयुक्त पुरुष को कोई प्राणी नहीं दबा सकता तथा दम ही में सब प्रतिष्ठित हैं, इसलिये दम को श्रेष्ठ कहते हैं।

"महानयं०" राजा युधिष्ठिर ने भीष्म से कहा कि हे तात! धर्म का मार्ग बहुत बड़ा है, इसकी शाखायें भी बहुत हैं, यह नहीं निश्चित होता कि इन धर्मों में कौन से धर्म का करना अति आवश्यक है, इसलिये हे राजन्! धर्मों का जो परम मूल हो उसका तत्त्व मुझसे कहिये ॥ ३ ॥ ४ ॥

भीष्म—जिससे तुम सुख पाओगे और जैसे कोई अमृतपान से तृप्त होता है वैसे तुम ज्ञानतृप्त हो जाओगे, उस धर्म को हर्षपूर्वक मैं तुमसे कहता हूँ ॥ ५ ॥ महर्षियों ने अपने २ विज्ञान के अनुसार अनेक प्रकार के धर्मों को कहा है, उनमें दम श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥ निश्चयदर्शी वृद्ध दम को मोक्ष का भी कारण कहते हैं और ब्राह्मण के लिये दम विशेष रूप से सनातन धर्म है, क्योंकि ब्राह्मण की कृपाओं का फल दम ही से यथोचित प्राप्त होता है। दान, यज्ञ और अध्ययन से भी दम

दमात्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते ।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्त्तते ॥ ८ ॥
दमस्तेजो वर्द्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ ९ ॥
दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वकर्मणाम् ॥ १० ॥
प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम् ।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥ ११ ॥
सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं पर्य्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति ॥ १२ ॥
अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते ।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥ १३ ॥
आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १४ ॥
क्षमाधृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसानसूया चाऽप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥
गुरुपूजा च कौरव्य दयाभूतेष्वपैशुनम् ।
जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ॥ १७ ॥

भाषा

अधिक है ॥ ७ ॥ ८ ॥ दम तेज को बढ़ाता है तथा पाप को नाश करता है। इसलिये पुरुष जब पाप से रहित और तेज सहित होता है तब बड़े २ लाभों को उठाता है ॥ ९ ॥ दम के तुल्य दूसरा धर्म मैंने लोक में नहीं सुना क्योंकि दम ही सब कर्मों से श्रेष्ठ है ॥ १० ॥ और इस लोक तथा परलोक में दम ही से बड़े सुख का लाभ होता है, क्योंकि दम से संयुक्त पुरुष अन्य बड़े २ धर्मों का सहज में लाभ करता है। दमयुक्त पुरुष सुख से सोता और जागता है तथा सुख से लोकों में विचरता है और मन भी उसका सदा ही प्रसन्न रहता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

दम से रहित अर्थात् विषयों में निर्विवेक होकर आसक्त पुरुष अनन्त बार अनेक क्लेश पाता है और अपने दोष से पापों को भी उत्पन्न करता है ॥ १३ ॥ ब्रह्मचर्य्य आदि चारों आश्रम में सबसे उत्तम व्रत दम ही है। दम से जो २ अन्य धर्म उत्पन्न होते हैं और जिनके देखने से दम का अनुमान होता है वे ये हैं कि ॥ १४ ॥ क्षमा, धृति, अहिंसा, समदृष्टि, सत्य, सूधापन, इन्द्रियनिग्रह, क्षिप्रकारिता, मृदुता, ह्री, अचापल, अकार्पण्य, अक्रोध, सन्तोष और अनसूया ॥ १५ ॥ १६ ॥ और गुरुपूजा भी दम ही से होती है तथा दमयुक्त पुरुष पिशुनता (चुगली), मिथ्याभाषण, स्तुति, निन्दा, काम,

कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम् ।
रोषमीर्षावमानं च नैव दान्तो विषेवते ॥ १८ ॥
अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः ।
समुद्रकल्पः स नरो न कथञ्चन पूर्य्यते ॥ १९ ॥
अहं त्वयि मम त्वं च मयि ते तेषु चाप्यहम् ।
पूर्वसम्बन्धिसंयोगान्नैव दान्तो निषेवते ॥ २० ॥
सर्वा ग्राम्यास्तथारण्या याश्च लोके प्रवृत्तयः ।
निन्दां चैव प्रशंसां च यो नाश्रयति मुच्यते ॥ २१ ॥

अत्रार्जुनस्य दम उपाख्यायते

वन ४२, वैशं० उ०—गतेषु लोकपालेषु पार्थः शत्रुनिबर्हणः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र देवराजरथं प्रति ॥ १ ॥
ततश्चिन्तयमानस्य गुडाकेशस्य धीमतः ।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ॥ २ ॥
नभो वितिमिरं कुर्वन् जलदान् पाटयन्निव ।
दिशः सम्पूरयन्नादैः महामेघरवोपमैः ॥ ३ ॥
मातलिः उ०—भोभोः शक्रात्मज श्रीमान् शक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
आरोहतु भवान् शीघ्रं रथमिन्द्रस्य संमतम् ॥ ११ ॥
एष शक्रः परिवृतो देवैर्ऋषिगणैस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च त्वां दिदृक्षुः प्रतीक्षते ॥ १३ ॥

भाषा

क्रोध, लोभ, अभिमान, स्तम्भ (मूढ़ता), विकत्थन (आत्मप्रशंसा) और अन्य का अनादर कदापि नहीं करता ॥१७॥१८॥ सबसे पूजित, इच्छा के वश से बहिर्भूत, छोटी वस्तुओं पर इच्छा न करने वाला और किसी पर दोष का न लगाने वाला, इसी से समुद्र के तुल्य गम्भीर वह दमयुक्त पुरुष किसी विषय से पूरित नहीं हो सकता ॥ १९ ॥ "मैं और मेरा" यह बुद्धि दमयुक्त पुरुष में नहीं रहती ॥ २० ॥ नगर के वा वन के वा और लोक के काम तथा निन्दा और प्रशंसा को जो नहीं करता वह संसार से मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

अर्जुन के दम का उपाख्यान

"गतेषु" मार्कण्डेय ऋषि ने राजा जनमेजय से कहा कि हे राजेन्द्र ! लोकपालों के जाने पर अर्जुन ने देवराज (इन्द्र) के रथ को स्मरण किया ॥ १ ॥ तदनन्तर आकाश के तिमिर को नाश करता, मेघमण्डली को विदारण सा करता, महामेघ के तुल्य शब्दों से दिशाओं को पूर्ण करता हुआ मातलि (इन्द्रसारथी) से संयुक्त और अपने तेज से जाज्वल्यमान रथ आ पहुँचा ॥ २ ॥ ३ ॥ रथ से उतरकर मातलि—भो भो इन्द्रपुत्र (अर्जुन) ! श्रीमान् इन्द्र आपको देखा चाहते हैं, इसलिये इस इन्द्ररथ पर आप तुरत ही आरूढ़ हूजिये ॥ ११ ॥ देवगण, ऋषिगण तथा गन्धर्वों और अप्सराओं से परिवृत यह (स्वर्गलोक को क्षणमात्र में पहुँचने वाले उस रथ के वेग के अनुसार मातलि ने अंगुल्यानिर्देश किया)

अस्माल्लोकाद्देवलोकं पाकशासनशासनात्।
आरोह त्वं मया सार्धं लब्धास्त्रः पुनरेष्यसि॥ १४॥

अर्जुन उ०—मातले गच्छ शीघ्रं त्वमारोहस्व रथोत्तमम्।
राजसूयाश्वमेधानां शतैरपि सुदुर्लभम्॥ १५॥
नातप्ततपसा शक्य एष दिव्यो महारथः।
द्रष्टुं वाप्यथवा स्प्रष्टुमारोढुं कुत एव च॥ १७॥
त्वयि प्रतिष्ठितं साधो रथस्थे स्थिरवाजिनि।
पश्चादहमथारोक्ष्ये सुकृती सत्पथं यथा॥ १८॥

वैशं० उ०—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मातलिः शक्रसारथिः।
आरुरोह रथं शीघ्रं हयान्येमे च रश्मिभिः॥ १९॥
ततोऽर्जुनस्तुष्टमना गङ्गायामाप्लुतः शुचिः।
जजाप जप्यं कौन्तेयो विधिवत् कुरुनन्दनः॥ २०॥
ततः पितॄन्यथान्यायं तर्पयित्वा यथाविधि।
मन्दरं शैलराजं तमाप्रष्टुमुपचक्रमे॥ २१॥
साधूनां पुण्यशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम्।
त्वं सदा सश्रयः शैल स्वर्गमार्गाभिकाङ्क्षिणाम्॥ २२॥
अद्रिराज महाशैल मुनिसंश्रय तीर्थवन्।
गच्छाम्यामन्त्रयित्वा त्वां सुखमस्म्युषितस्त्वयि॥ २३॥

भाषा

देवेन्द्र आपको देखने के लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं॥ १३॥ पाकशासन (इन्द्र) के शासन (आज्ञा) के अनुसार आप मेरे साथ इस समय देवलोक पर आरोहण कीजिये। कुछ काल तक दिव्य अस्त्रों को लाभकर पुनः यहाँ आइयेगा॥ १४॥

अर्जुन—हे मातले! तुम तुरत ही जाकर इस रथ पर आरुढ़ हो जाव, क्योंकि यह रथ सैकड़ों राजसूय और अश्वमेध करने पर भी दुर्लभ है और बहुत बड़े तप किये बिना यह दिव्य, महान रथ चढ़ने को कौन कहे देखने अथवा छूने को भी शक्य नहीं है। जब इस रथ पर बैठकर आप घोड़ों को सम्हाल लीजियेगा उसके पश्चात् मैं इस पर चढ़ूँगा॥ १५॥ १७॥ १८॥

वैशम्पायन—इस वचन को सुनकर मातलि ने तुरत ही रथ पर चढ़ कर घोड़ों को सम्हाला॥ १९॥ तदनन्तर अर्जुन ने हर्षपूर्वक श्री गंगा जी में स्नान कर अपने जप आदि नित्य कर्मों को विधिवत् समाप्त किया॥ २०॥ तदनन्तर यथाविधि पितरों का तर्पण कर मन्दर नामक शैलराज (जिस पर अर्जुन स्थित थे) से अपने जाने के लिये अनुज्ञा माँगने का यों आरम्भ किया कि॥ २१॥

हे अनेक तीर्थयुक्त तथा मुनियों के आश्रय पर्वतराज! स्वर्गमार्ग के अभिलाषी, पुण्यशील, साधुओं और मुनियों के आप सदा आश्रय हैं और मैं भी आप पर बड़े सुख से वास कर चुका हूँ, इसलिये मैं आपसे जाने के लिये अनुज्ञा चाहता हूँ॥ २२॥ २३॥

एवमुक्त्वार्जुनः शैलमामन्त्र्य परवीरहा ।
आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ॥ २८ ॥
सोऽदर्शनपथं यातो मर्त्यानां धर्मचारिणाम् ।
ददर्शाद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः ॥ ३० ॥
न तत्र सूर्यः सोमो वा द्योतते न च पावकः ।
स्वयैव प्रभया तत्र द्योतते पुण्यलब्धया ॥ ३१ ॥
ददर्श स्वेषु धिष्ण्येषु दीप्तिमन्ति स्वयाऽर्चिषा ।
तत्र राजर्षयः सिद्धा वीराश्च निहता युधि ॥ ३४ ॥
एवं स संक्रमंस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः ॥ ४१ ॥

वन ४३, वैशं० उ०—स ददर्श पुरीं रम्यां सिद्धचारणसेविताम् ।
सर्वर्तुकुसुमैः पुण्यैः पादपैरुपशोभिताम् ॥ १ ॥
तत्र सौगन्धिकानां च पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।
उद्वीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥
नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ॥ ३ ॥
नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नानाहिताग्निना ।
स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धे पराङ्मुखैः ॥ ४ ॥

भाषा

ऐसा कह उस दिव्य रथ पर सूर्य के ऐसा प्रकाश करते हुये अर्जुन आरूढ़ होकर क्षणमात्र में वहाँ के पुण्यचारी मनुष्यों की दृष्टि से बहिर्भूत हो गये और मार्ग में सहस्रों अद्भुत २ विमानों को देखा ॥ २८ ॥ ३० ॥ वहाँ सूर्य, चन्द्रमा वा अग्नि का प्रकाश नहीं होता किन्तु वहाँ के लोग अपने २ धर्मानुसार आपसे आप प्रकाशित होते हैं ॥ ३१ ॥ उन स्थानों पर सिद्ध, राजर्षि और जो वीर मृत्युलोक से युद्धहत होकर वहाँ जाते हैं, उनके तेज से सब स्थानों को प्रकाशित देखा ॥ ३४ ॥

ऐसे ही स्वर्गलोक में चलते २ अर्जुन ने इन्द्रपुरी (अमरावती) को देखा जहाँ की सब ऋतुओं के पुष्पों से पूर्ण सब वृक्ष हैं । उस लोक के पुष्पों के मनोहारी गन्ध, श्रोत्र और मन को अद्भुत सुखदायी गन्धों के भार से मंद २ चलते हुये शीतल पवन ने अर्जुन को इस लोक की चिन्ताओं से अलग कर दिया ॥ ४१ ॥ १ ॥ २ ॥ अमरावती के समीप में अर्जुन ने अप्सराओं से सेवित, नन्दन नामक दिव्य राजवन को देखा जहाँ के मनोहर वृक्ष अपने दिव्य सुगन्धों से मानो सब जीवों को आह्वान कर रहे थे और पुण्यात्मा पुरुषों का स्थान जो नन्दन वन, तपस्थान करने वालों, अग्नि के आधान से वञ्चितों, युद्ध में पराङ्मुखों, यज्ञ और व्रत से रहितों, वेद के श्रवण से वर्जितों, तीर्थस्थान से शून्यों, दान से बहिष्कृतों, यज्ञ के बिगाड़ने वालों, मद्यपों, गुरुपत्नी-गामियों और मांसभक्षियों आदि क्षुद्र दुरात्माओं के लिये स्वप्न में भी दर्शन के शक्य नहीं है । उस दिव्य गीतों से नादित दिव्य वन को देखते अर्जुन ने अमरावती में प्रवेश किया ॥ ३–७ ॥

नायज्वभिर्नाव्रतिकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः ।
नानाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः ॥ ५ ॥
नापि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथञ्चन ।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः ॥ ६ ॥
स तद्दिव्यं वनं पश्यन् दिव्यगीतनिनादितम् ।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ॥ ७ ॥
वन० ४४, वैशं० उ०—ततो देवाः सगन्धर्वाः समादायार्घ्यमुत्तमम् ।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चुरञ्जसा ॥ १ ॥
पाद्यमाचमनीयञ्च प्रतिग्राह्य नृपात्मजम् ।
प्रवेशयामासुरथो पुरन्दरनिवेशनम् ॥ २ ॥
एवं सम्पूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः ।
उपशिक्षन्महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ॥ ३ ॥
शक्रस्य हस्ताद्दयितं वज्रमस्त्रं च दुःसहम् ।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥ ४ ॥
वन ४५—कदाचिदथ तं शक्रश्चित्रसेनं रहोऽब्रवीत् ।
उर्वशी पुरुषव्याघ्रं सोपतिष्ठतु फाल्गुनम् ॥ २ ॥
एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुज्ञां प्राप्य वासवात् ।
गन्धर्वराजोऽप्सरसमभ्यगादुर्वशीं वराम् ॥ ४ ॥
तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः स्वागतेनार्चितस्तथा ।
सुखासीनः सुखासीनां स्मितपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥
यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातः सहजैर्गुणैः ।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च ॥ ७ ॥

भाषा

तदनन्तर देवेन्द्र के मतानुसार गन्धर्वों सहित देवगण ने पाद्य, आचमनीय आदि से अर्जुन का सत्कार कर देवराज के भवन में प्रवेश कराया। और पाण्डव (अर्जुन) अपने पिता (इन्द्र) के भवन में रहकर संहार सहित सब अस्त्रों को सीखते २ इन्द्र के हाथ से उनके इकलौते वज्रनामक दुर्वार महास्त्र तथा महानिर्घोष वाली, मेघ तथा मयूर के लक्षण से युक्त अशनियों (विजली) को सीखा ॥ १–४ ॥

एक समय इन्द्र ने चित्रसेन गंधर्वराज को बुलाकर कहा कि उर्वशी अप्सरा अर्जुन के समीप जाया करे। गन्धर्वराज चित्रसेन ने अनुज्ञा पाकर उर्वशी के समीप जा मुस्कुरा कर यह कहा कि॥ २ ॥ ४ ॥ ५ ॥

जो कि देवता और मनुष्यों में अपने स्वाभाविक गुणों अर्थात् शोभा, शील, रूप (गढ़न्त), व्रत, दम, बल, वीर्य और प्रतिभा से प्रसिद्ध है, तेज और क्षमा से युक्त तथा द्वेष से शून्य है तथा शिक्षा आदि अंगों के सहित उपनिषद् पर्यन्त वेदों तथा पंचम वेद (इतिहास और पुराण) को पढ़ कर

प्रख्यातो बलवीर्येण सम्मतः प्रतिभानवान् ।
वर्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान् वीतमत्सरः ॥ ८ ॥
साङ्गोपनिषदान् वेदांश्चतुराख्यानपञ्चमान् ।
योऽधीते गुरुशुश्रूषां मेधां चाष्टगुणाश्रयाम् ॥ ९ ॥
ब्रह्मचर्य्येण दाक्ष्येण प्रसवैर्वयसाऽपि च ।
एको वै रक्षिता चैव त्रिदिवं मघवानिव ॥ १० ॥
अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियम्वदः ।
सुहृदश्चान्नपानेन विविधेनाभिवर्षति ॥ ११ ॥
सत्यवाक् पूजितो वक्ता रूपवाननहङ्कृतः ।
भक्तानुकम्पी कान्तश्च प्रियश्च स्थिरसङ्गरः ॥ १२ ॥
प्रार्थनीयैर्गुणगणैः महेन्द्रवरुणोपमः ।
एवमुक्ता स्मितं कृत्वा सम्मानं बहुमन्य च ॥
प्रत्युवाचोर्वशी प्रीत्या चित्रसेनमनिन्दिता ॥ १५ ॥
यस्त्वस्य कथितः सत्यो गुणोद्देशस्त्वया मम ।
तं श्रुत्वा व्यथयं पुंसो वृणुयां किमतोऽर्जुनम् ॥ १६ ॥
गच्छ त्वं हि यथा काममागमिष्याम्यहं सुखम् ॥ १७ ॥
वैशं० उ०—ततो विसृज्य गन्धर्वं कृतकृत्यं शुचिस्मिता ।
उर्वशी चाकरोत् स्नानं पार्थप्रार्थनलालसा ॥ १ ॥
स्नानालङ्करणैर्हृद्यैर्गन्धमाल्यैश्च सुप्रभैः ।
निर्गम्य चन्द्रोदयने विगाढे रजनीमुखे ।
प्रस्थिता सा पृथुश्रोणी पार्थस्य भवनं प्रति ॥ ५ ॥

भाषा

गुरु की शुश्रूषा और मेधा से युक्त है तथा ब्रह्मचर्य्य, दक्षता (क्षिप्रकारिता), कुलीनता और यौवनावस्था से भी संयुक्त है तथा जैसे स्वर्गलोक की देवेन्द्र रक्षा करते हैं वैसे ही भूलोक का जो अकेला रक्षा करेगा तथा जो आत्मप्रशंसा नहीं करता, पूज्यों का सत्कार करता, दाता, प्रियभाषी, मित्रों का सब प्रकार से पालन करने वाला, सत्यवादी, पूजित वक्ता, रूपवान्, अहंकार रहित, लोकप्रिय, सत्यप्रतिज्ञ और अपने गुणगणों से महेन्द्र और वरुण के तुल्य है, वह ऐसा पुरुष यही है जिसका अर्जुन नाम है । इस बात को सुनकर मुस्कराती हुइ उर्वशी ने गन्धर्वराज से कहा कि ॥ ७-१२ ॥ १५ ॥ आप के किये इस गुणवर्णन से क्या मैं अर्जुन के समीप जाऊँ? अच्छा, आप जाइये, मैं उनके समीप जाऊँगी ॥ १६ ॥ १७ ॥

गन्धर्वराज के जाने के अनन्तर पार्थ (अर्जुन) से प्रार्थना करने के लिये उर्वशी ने स्नान कर, हृदयहारी गन्धमाल्य और अलंकार से सुसज्जित हो गाढ़े, चन्द्रोदय से जगमगाते हुये सायंकाल में अर्जुन के भवन को प्रस्थान किया ॥ १ ॥ ५ ॥ विचित्र पुष्पों से चित्रित, अति कोमल और काली

मृदुकुञ्चितदीर्घेण कुसुमोत्करधारिणा ।
केशहस्तेन ललना जगामाथ विराजती ॥ ६ ॥
भ्रूक्षेपालापमाधुर्यैः कान्त्या सौम्यतयाऽपि च ।
शशिनं वक्त्रचन्द्रेण साऽह्वयन्तीव गच्छती ॥ ७ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वैः सा प्रयाता विलासिनी ।
बह्वाश्चर्येऽपि वै स्वर्गे दर्शनीयतमाकृतिः ॥ १४ ॥
सुसूक्ष्मेणोत्तरीयेण मेघवर्णेन राजता ।
तनुरभ्रावृता व्योम्नि चन्द्रलेखेव गच्छती ॥ १५ ॥
ततः प्राप्ता त्तणेनैव मनः पवनगामिनी ।
भवनं पाण्डुपुत्रस्य फाल्गुनस्य शुचिस्मिता ॥ १६ ॥
तत्र द्वारमनुप्राप्ता द्वारस्थैश्च निवेदिता ।
अर्जुनस्य नरश्रेष्ठ उर्वशी शुभलोचना ॥ १७ ॥
उपातिष्ठत तद्वेश्म निर्मलं सुमनोहरम् ।
स शङ्कितमना राजन् प्रत्युद्गच्छत तां निशि ॥ १८ ॥
दृष्ट्वैव चोर्वशीं पार्थो लज्जासंवृतलोचनः ।
तदाऽभिवादनं कृत्वा गुरुपूजां प्रयुक्तवान् ॥ १९ ॥
अर्जुन उ०—अभिवादये त्वां शिरसा प्रवराप्सरसां वरे ।
किमाज्ञापयसे देवि प्रेष्यस्तेऽहमुपस्थितः ॥ २० ॥
फाल्गुनस्य वचः श्रुत्वा गतसंज्ञा तदोर्वशी ।
गन्धर्ववचनं सर्वं श्रावयामास तं तदा ॥ २१ ॥

भाषा

लम्बी उसकी वेणी उस समय बड़ी शोभा दे रही थी । भौंह की चाल और कोमल आलापों की मधुरता तथा अपनी स्वाभाविक शोभा से उसका मुखचन्द्र आकाशचन्द्र को ललकारता था और श्याम वर्ण की अति सूक्ष्म ओढ़नी से ढकी हुई उसकी देहलता श्याम मेघ से अर्द्ध रुद्ध चन्द्रकला सी चमक रही थी । तथा सिद्ध, चारण और गन्धर्वों की अग्रगामिनी और अनेक आश्चर्यों से युक्त स्वर्गलोक के लोगों को भी अति आश्चर्य देने वाली वह उर्वशी, मन और पवन के समान वेग से क्षणमात्र में अर्जुन के भवन पर पहुँच गई ॥ ६ ॥ ७ ॥ १४—१६ ॥

द्वारपालों ने अर्जुन से उर्वशी का आगमन निवेदन किया। अर्जुन भी शंकित होकर आगे बढ़ लजाते हुये प्रणाम कर बड़ों के योग्य उर्वशी का सत्कार किया ॥ १७—१९ ॥

हे अप्सराओं में श्रेष्ठ ! मैं आप को सिर से प्रणाम करता हूँ और मैं आप का किंकर उपस्थित हूँ। हे देवि ! आप की क्या आज्ञा है ? ॥ २० ॥ उर्वशी ने इस वचन को सुन मूर्छित सी होकर गंधर्वराज की बातों को अर्जुन से कह सुनाया कि हे मनुजोत्तम ! चित्रसेन ने जैसा मुझसे कहा

उर्वशी उ०—यथा मे चित्रसेनेन कथितं मनुजोत्तम ।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथा चाहमिहागता ॥ २२ ॥
शक्रतुल्यं रणे शूरं सदौदार्यगुणान्वितम् ।
पार्थं प्रार्थय सुश्रोणि त्वमित्येवं तदाऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥
ततोऽहं समनुज्ञाता चित्रसेनेन तेऽनघ ।
तवान्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिन्दम ॥ ३४ ॥
त्वद्गुणाकृष्टचित्ताहमनङ्गवशमागता ।
चिराभिलषितो वीर ममाप्येष मनोरथः ॥ ३५ ॥

वैशं० उ०—तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा भृशं लज्जावृतोऽर्जुनः ।
उवाच कर्णौ हस्ताभ्यां पिधाय त्रिदशालये ॥ ३६ ॥

अर्जुन उ०—दुःश्रुतं मेऽस्तु सुभगे यन्मां वदसि भाविनि ।
गुरुदारैः समाना मे निश्चयेन वरानने ॥ ३७ ॥
यथा कुन्ती महाभागा यथेन्द्राणी शची मम ।
तथा त्वमसि कल्याणि नात्र कार्या विचारणा ॥ ३८ ॥

उर्वश्युवाच—अनावृताश्च सर्वाः स्म देवराजाभिनन्दन ।
गुरुस्थाने न मां वीर नियोक्तुं त्वमिहार्हसि ॥ ४२ ॥
तत् प्रसीद न मामार्तां विसर्जयितुमर्हसि ।
हृच्छयेन च सन्तप्तां भक्तां च भज मानद ॥ ४४ ॥

भाषा

और जैसे मैं यहाँ आई वह मैं आप से कहती हूँ कि ॥ २१ ॥ २२ ॥ उन्होंने मुझसे यह कहा है कि औदार्यगुण से सदा अन्वित और युद्ध में इन्द्र के तुल्य, शूर पार्थ की तुम प्रार्थना करो। इस रीति से चित्रसेन की आज्ञा पाकर आप के गुणों से आकृष्ट चित्त तथा कामवश होकर आप की सेवा करने के लिये मैं आप के समीप आई हूँ। और हे वीर! यह मनोरथ पूर्व से भी मेरा था ॥ ३३–३५ ॥

स्वर्गलोक में उर्वशी का ऐसा वचन सुन, बड़ी लज्जा से दबे हुये अर्जुन ने हाथों से कानों को मूँद कर यह कहा कि ॥ ३६ ॥

अर्जुन—हे भाविनि, सुभगे! आप की कही हुई बात यह मेरी अनसुनी हो जाय क्योंकि आप निश्चय से मेरे गुरुस्त्रियों के तुल्य हैं। जैसे मेरे लिये महाभागा कुन्ती और इन्द्राणी शची हैं, हे कल्याणि! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि आप भी मेरे लिये वैसी ही हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

उर्वशी—हे देवराजपुत्र! हमारी जाति सब अनावृत (पर्दा में नहीं) है। हे वीर! तुम्हारे लिये यह उचित नहीं है कि मुझको गुरुस्थान पर नियुक्त करो। हे मानद! आप मुझ पर प्रसन्न हूजिये, मेरा विसर्जन न कीजिये और कामदुःख से सन्तप्त मुझ भक्त पर कृपा कीजिये ॥ ४२ ॥ ४४ ॥

अर्जुन उ०—शृणु सत्यं वरारोहे यत्त्वां वक्ष्याम्यनिन्दिते ।
शृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ॥ ४५ ॥
यथा कुन्ती च माद्री च शची चेह ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥ ४६ ॥
गच्छ मूर्द्धा प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया ॥ ४७ ॥
वैश० उ०—एवमुक्ता तु पार्थेन उर्वशी क्रोधमूर्च्छिता ।
वेपन्ती भ्रुकुटीवक्त्रा शशापाथ धनञ्जयम् ॥ ४८ ॥
उर्वश्यु०—तव पित्राभ्यनुज्ञातां स्वयं च गृहमागताम् ।
यस्मान्मां नाभिनन्देथाः कामबाणवशंगताम् ॥ ४९ ॥
तस्मात्त्वं नर्त्तनः पार्थ स्त्रीमध्ये मानवर्जितः ।
अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद्विचरिष्यसि ॥ ५० ॥
वैश० उ०—एवं दत्त्वाऽर्जुने शापं स्फुरदोष्ठी श्वसन्त्यथ ।
पुनः प्रत्यागता क्षिप्रमुर्वशी गृहमात्मनः ॥ ५१ ॥
ततोऽर्जुनस्त्वरमाणश्चित्रसेनमरिन्दमः ।
सम्प्राप्य रजनीवृत्तं तदुर्वश्या यथा तथा ॥ ५२ ॥

भाषा

अर्जुन—हे अनिन्दिते, वरारोहे ! आप से मैं सत्य कहता हूँ उसे सुनिये कि दिशा, विदिशा और देवगण मेरी इस बात को सुनें कि मेरे लिये कुन्ती, माद्री और शची जैसे महागुरु है वैसे ही आज मेरे वंश की जननी आप भी । तात्पर्य यह है कि चन्द्रवंशी राजा पुरुरवा से उर्वशी में जो पुत्र उत्पन्न हुये उनके वंश में मैं (अर्जुन) हूँ तथा मैं अभी मनुष्य और क्षत्रिय हूँ न कि मेरा शरीर दिव्य है । और केवल देवलोक में आने के कारण मेरी जाति और वर्ण बदल नहीं गया किन्तु जैसे राजा मांधाता आदि स्वर्गलोक में आते जाते थे वैसे ही मैं भी आया हूँ, तो ऐसी दशा में आप मेरे इस शरीर की वंशजननी हैं । हे वरवर्णिनि ! मैं आपके चरणों पर सिर से प्रणाम करता हूँ । आप जाइये, क्योंकि आप माता के समान मेरी पूज्या हैं और मैं पुत्र के समान आपका पालनीय हूँ ॥ ४५—४७ ॥

इस वाक्य को सुनकर क्रोध से मूर्छित और काँपती हुई उर्वशी ने भृकुटी-भीषण मुख से अर्जुन को यह शाप दिया कि ॥ ४८ ॥ जो कि तुम्हारे पिता की आज्ञानुसार तुम्हारे गृह पर आप से आई हुई मुझ कामदुःखित स्त्री का तुमने अभिनन्दन नहीं किया इससे हे पार्थ ! तुम स्त्रियों के मध्य में आदरहीन, नर्तक और नपुंसक प्रसिद्ध होकर नपुंसक के ऐसा विचरोगे ॥ ४९ ॥ ५० ॥

वैशम्—उष्ण श्वास भरती, ओष्ठस्फुरणयुक्त उर्वशी अर्जुन को ऐसा शाप देकर अपने गृह को चली गई ॥ ५१ ॥

अर्जुन ने भी तुरन्त ही जाकर चित्रसेन गन्धर्वराज से, और चित्रसेन ने भी तुरन्त ही देवराज से उक्त समाचार को कहा । तदनन्तर देवेन्द्र ने अर्जुन को एकान्त में बुलाकर मुस्कराते हुये

निवेदयामास तदा चित्रसेनाय पाण्डवः ।
तत्र चैव यथा वृत्तं शापं चैव पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

न्यवेदयच्च शक्रस्य चित्रसेनोऽपि सर्वशः ।
तत आनाप्य तनयं विविक्ते हरिवाहनः ॥ ५४ ॥

सुपुत्राऽद्य पृथा तात त्वया पुत्रेण सत्तम ।
ऋषयोऽपि हि धैर्य्येण जिता वै ते महाभुज ॥ ५५ ॥

यत्तु दत्तवती शापमुर्वशी तव मानद ।
स चापि तेऽर्थकृत्तात साधकश्च भविष्यति ॥ ५६ ॥

अज्ञातवासो वस्तव्यो भवद्भिर्भूतलेऽनघ ।
वर्षे त्रयोदशे वीर तं तत्र क्षपयिष्यसि ॥ ५७ ॥

तेन नर्त्तनवेशेन अपुंस्त्वेन तथैव च ।
वर्षमेकं विहृत्यैवं ततः पुंस्त्वमवाप्स्यसि ॥ ५८ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण फाल्गुनः परवीरहा ।
मुदं परमिकां लेभे न च शापं व्यचिन्तयत् ॥ ५९ ॥

चित्रसेनेन सहितो गन्धर्वेण यशस्विना ।
रेमे स स्वर्गभवने पाण्डुपुत्रो धनञ्जयः ॥ ६० ॥

य इदं शृणुयान्नित्यं वृत्तं पाण्डुसुतस्य वै ।
न तस्य कामः कामेषु पापकेषु प्रवर्तते ॥ ६१ ॥

इदममरवरात्मजस्य घोरं शुचिचरितं विनिशम्य फाल्गुनस्य ।
व्यपगतमददम्भरागदोषास्त्रिदिवगताऽभिरमन्ति मानवेन्द्राः ॥ ६२ ॥

भाषा

यह उनसे कहा कि हे तात ! आज तुम ऐसे पुत्र से पृथा (कुन्ती) सुपुत्रा हुई क्योंकि तुम्हारी धीरता से ऋषिगण भी पराजित हो गये और उर्वशी ने जो तुमको शाप दिया वह भी तुम्हारा अर्थकारी और साधक होगा क्योंकि पृथ्वीतल पर तुमको तेरहवें वर्ष में छिप कर रहना होगा। उसी समय इस शाप का भी भोग हो जायगा अर्थात् उस एक वर्ष तक नर्तक और नपुंसक होकर पुनः अग्रिम वर्ष में पुरुष हो जाओगे ॥ ५२—५८ ॥

इस देवेन्द्र वाक्य को सुन कर अर्जुन को बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने उर्वशी के शाप की चिन्ता छोड़ दी और चित्रसेन के साथ पुनः पूर्ववत् विहार करने लगे ॥ ५९ ॥ ६० ॥ जो इस अर्जुन चरित्र को सुनेगा उसकी चित्तवृत्ति पापकर्मों पर कदापि न जायगी ॥ ६१ ॥ जो राजा लोग अर्जुन के इस पवित्र चरित्र को सुनैंगे वे रागादि दोषों के नाश से स्वर्ग को पावेंगे ॥ ६२ ॥

५ अथ ब्रह्मचर्यम्

तच्चेह श्रुतिस्मृतिप्रतिषिद्धमैथुनाभावमात्रम् न तु प्रथमाश्रमः। अत्रैवर्णिकानां तत्रानधिकारात् इदं दमस्य फलम् तदुपाख्यानेनोपाख्यातप्रायम् ॥

६ अथास्तेयम्

तच्च अन्यायेन परधनग्रहणरूपस्य चौर्यस्याभावरूपम्। चौर्यस्य च सर्वान् प्रति प्रतिषिद्धत्वात् तदभावपरिपालनरूपमिदं सामान्यधर्म एव पापं कृत्वा प्रायश्चित्तमनुष्ठितवतामपेक्षया पापमकृतवतां फलाधिक्यस्यावश्यकत्वात्।

शान्ति० २३—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
व्यास उ०—शंखश्च लिखितश्चास्तां भ्रातरौ संशितव्रतौ ॥ १७ ॥
तयोरावसथावास्तां रमणीयौ पृथक् पृथक्।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतौ बाहुदामनु ॥ १८ ॥
ततः कदाचिल्लिखितः शंखस्याश्रममागतः।
यदृच्छयाऽथ शंखोऽपि निष्क्रान्तोऽभवदाश्रमात् ॥ १९ ॥

भाषा

५ ब्रह्मचर्य निरूपण

यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द का श्रुतिस्मृति से विरुद्ध मैथुन न करना मात्र अर्थ है न कि ब्रह्मचर्य्याश्रम, क्योंकि उसमें त्रैवर्णिक से अन्य पुरुष का अधिकार ही नहीं है। यह यद्यपि पृथक् धर्म है तथापि दम का फल है, इसलिये दम के उपाख्यान से इसका उपाख्यान गतार्थ है।

६ अस्तेय निरूपण

'अस्तेय' अर्थात् चोरी न करने को अस्तेय कहते हैं और चोरी का निषेध शास्त्र में सबके लिये है, इसी से चोरी के निषेध करने वाले शास्त्र की आज्ञा का पालन करना सबका धर्म है। पाप कर प्रायश्चित्त से उसके नाश की अपेक्षा प्रथम ही से पाप न करने में फल अधिक होता है, इसलिये अस्तेय धर्म है। यहाँ 'लिखित' नामक महर्षि का उपाख्यान यह है कि:—

"अत्राप्यु०" व्यास—शंख और लिखित दो महर्षि (जो कि धर्मशास्त्रकारों में परिगणित हैं) भाई थे और उनका आश्रम भी बाहुदा नदी के तीर में पृथक्-पृथक् था। एक समय शंख अपने आश्रम से कहीं चले गये थे और अकस्मात् उनके आश्रम पर लिखित आये और आश्रम को अपना समझ वृक्षों से फलों को गिरा कर भोजन किया। उसी समय शंख अपने आश्रम में आये और लिखित को फल खाते देख कर पूछा कि फलों को कहाँ पाया और क्यों खाते हो ? लिखित ने अपने ज्येष्ठ भ्राता शंख के समीप जा, प्रणाम कर, हँसते हुये यह कहा कि यहीं से फलों को लिया है। शंख ने बड़े क्रोध से यह कहा कि तुमने चोरी किया जो कि मुझसे बिना पूछे फलों को लिया ॥ १७–२३ ॥

सोऽभिगम्याश्रमं भ्रातुः शंखस्य लिखितस्तदा ।
फलानि पातयामास सम्यक् परिणतान्युत ॥ २० ॥
अभ्युपादाय विस्रब्धो भक्षयामास स द्विजः ।
अस्मिंश्च भक्षयत्येव शंखोऽप्याश्रममागतः ॥ २१ ॥
भक्षयन्तं तु तं दृष्ट्वा शंखो भ्रातरमब्रवीत् ।
कुतः फलान्यवाप्तानि हेतुना केन खादसि ॥ २२ ॥
सोऽब्रवीत् भ्रातरं ज्येष्ठमुपसृत्याभिवाद्य च ।
इत एव गृहीतानि मयेति प्रहसन्निव ॥ २३ ॥
तमब्रवीत् तथा शंखस्तीव्ररोषसमन्वितः ।
स्तेयं त्वया कृतमिदं फलान्याददता स्वयम् ॥ २४ ॥
गच्छ राजानमासाद्य स्वकर्म कथयस्व वै ।
अदत्तादानमेवं हि कृतं पार्थिवसत्तम ॥ २५ ॥
स्तेनं मां त्वं विदित्वा च स्वधर्ममनुपालयन् ।
शीघ्रं धारय चौरस्य मम दण्डं नराधिप ॥ २६ ॥
इत्युक्तस्तस्य वचनात् सुद्युम्नं स नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महाभागो लिखितः संशितव्रतः ॥ २७ ॥
सुद्युम्नस्त्वन्तपालेभ्यः श्रुत्वा लिखितमागतम् ।
अभ्यगच्छत् सहामात्यः पद्भ्यामेव जनेश्वरः ॥ २८ ॥
तमब्रवीत्समागम्य स राजा धर्मवित्तमम् ।
किमागमनमाचक्ष्व भगवन् कृतमेव तत् ॥ २६ ॥
एवमुक्तः स विप्रर्षिः सुद्युम्नमिदमब्रवीत् ।
प्रतिश्रुत्य करिष्येति श्रुत्वा तत्कर्तुमर्हसि ॥ ३० ॥
अनिसृष्टानि गुरुणा फलानि मनुजर्षभ ।
भक्षितानि महाराज तत्र मां शाधि मा चिरम् ॥ ३१ ॥

भाषा

आज तुम राजा के यहाँ जाकर अपने चौर्य का समाचार उनसे कहो और यह भी कहो कि हे राजन्! मुझको चोर समझ आप अपने धर्म के अनुसार तुरन्त ही चौर्य दण्ड दीजिये ॥ २४–२६॥ शंख के वचनानुसार लिखित, राजा सुद्युम्न के समीप गये ॥ २७ ॥ राजा सुद्युम्न ने अपने अनुचरों से लिखित को प्राप्त सुन आमात्य के सहित चरणों से चलते गृह से निकल कर लिखित से कहा कि भगवन्! इस आगमन का क्या प्रयोजन है ? जो प्रयोजन हो उसको सिद्ध ही समझिये ॥ २८ ॥ ॥ २९ ॥ लिखित ने कहा कि प्रथम आप प्रतिज्ञा कीजिये कि मैं करूँगा तब सुनिये और सुनकर वैसा कीजिये ॥ ३० ॥ हे महाराज! बात यह है कि गुरु (शंख) के दिये बिना उनके फलों को मैंने भोजन किया, इसलिये आप मेरा शासन कीजिये, इसमें विलम्ब न हो ॥ ३१ ॥

सुद्युम्न उ०—प्रमाणं चेन्मतो राजा भवतो दण्डधारणे ।
अनुज्ञायामपि तथा हेतुः स्याद् ब्राह्मणर्षभ ॥ ३२ ॥
स भवानभ्यनुज्ञातः शुचिकर्मा महाव्रतः ।
ब्रूहि कामानतोऽन्यांस्त्वं करिष्यामि हि ते वचः ॥ ३३ ॥
व्यास उ०—स छन्द्यमानो विप्रर्षिः पार्थिवेन महात्मना ।
नान्यं स वरयामास तस्माद्दण्डादृते परम् ॥ ३४ ॥
ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः ।
करौ प्रच्छेदयामास धृतदण्डो जगाम सः ॥ ३५ ॥
स गत्वा भ्रातरं शंखमार्तरूपोऽब्रवीदिदम् ।
धृतदण्डस्य दुर्बुद्धेर्भवांस्तत्क्षन्तुमर्हति ॥ ३६ ॥
शंख उवाच—न कुप्ये तव धर्मज्ञ न त्वं दूषयसे मम ।
धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता ॥ ३७ ॥
स गत्वा बाहुदां शीघ्रं तर्पयस्व यथाविधि ।
देवानृषीन् पितॄंश्चैव मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ ३८ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शंखस्य लिखितस्तदा ।
अवगाह्यापगां पुण्यामुदकार्थं प्रचक्रमे ॥ ३९ ॥
प्रादुरास्तां ततस्तस्य करौ जलजसन्निभौ ।
ततः स विस्मितो भ्रातुर्दर्शयामास तौ करौ ॥ ४० ॥
ततस्तमब्रवीत् शंखस्तपसेदं कृतं मया ।
मा च तत्र विशङ्काभूर्दैवमत्र विधीयते ॥ ४१ ॥

भाषा

सुद्युम्न—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! आप को दण्ड देने में जैसे आप राजा को प्रमाण मानते हैं वैसे ही आप को छोड़ने में भी राजा प्रमाण है । इसलिये आप को मैं अनुज्ञा देता हूँ कि दण्ड से अन्य जिन कामों को आप कहिये मैं करूँ ॥ ३२–३३ ॥ व्यास—ऐसी बहुत प्रार्थना करने पर भी जब लिखित ने नहीं स्वीकार किया तब राजा ने उनके दोनों हाथों को कटवा दिया । और लिखित वैसे ही तुरन्त शंख के समीप गये और कहा कि मैं दुर्बुद्धि, दण्ड पा चुका, अब आप मेरे अपराध को क्षमा कीजिये ॥ ३४–३६ ॥ शंख—हे धर्मज्ञ ! मैं तुम पर क्रुद्ध नहीं हूँ और न तुमने मेरी कोई हानि किया । किन्तु तुमने धर्म का व्यतिक्रम किया, इसलिये यह दण्ड दिलाया गया ॥ ३७ ॥ तुम तुरन्त ही बाहुदा में जाकर विधिवत् देव, ऋषि, पितरों का तर्पण करो और पुनः अधर्म पर मन न करना ।

व्यास—शंख के इस वचन से लिखित बाहुदा नदी में जाकर स्नान किया और तर्पण करने की इच्छा की । उसी समय उनके दोनों हाथ पूर्ववत् पूर्ण हो गये । तर्पण कर बड़े विस्मय के साथ आकर अपने हाथों को शंख को दिखलाया । शंख ने कहा कि मैंने अपने तपोबल से तुम्हारे हाथों को पूर्ण कर दिया, इस विषय में तुम शंका न करना क्योंकि तुम्हारे प्रारब्धों का भोग ऐसा ही था ॥३८–४१॥

लिखित उ०—किन्तु नाहं त्वया पूतः पूर्वमेव महाद्युते ।
यस्य ते तपसो वीर्यमीदृशं द्विजसत्तम ॥ ४२ ॥
शंख उ० —एवमेतन्मया कार्यं नाहं दण्डधरस्तव ।
स च पूतो नरपतिस्त्वञ्चापि पितृभिः सह ॥ ४३ ॥

७ अथालोभः

मागृधः कस्य स्विद्धनम्

भाग० ११-२४—यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥
शां० १५८, यु० उ०-पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्तते ।
एतादिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्वेन भरतर्षभ ॥ १ ॥
भीष्म उ०—पापस्य यदधिष्ठानं तत् शृणुष्व नराधिप ।
एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्तते ॥ २ ॥
अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम् ।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः ॥ ३ ॥
लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रवर्तते ।
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥ ४ ॥
अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः ।
अभिध्याप्रख्यता चैव सर्वं लोभात् प्रवर्तते ॥ ५ ॥

भाषा

लिखित—हे महाद्युते, द्विजसत्तम ! यदि आप में यह तपोबल है तो आपने प्रथम ही मुझको क्यों नहीं शुद्ध कर दिया ? ॥ ४२ ॥ शंख—जैसा उचित था वैसा ही मैंने किया क्योंकि तुमको दण्ड देने का अधिकारी मैं न था और अब राजा भी शुद्ध हो गया और अपने पितरों के साथ तुम भी ॥४३॥

७ अलोभ निरूपण

"मागृधः" किसी के धन पर लोभ न करो ।

"यशो०" जैसे थोड़ा सा भी श्वित्र (श्वेत कुष्ट) परम सुन्दर शरीर की शोभा को नष्ट कर देता है वैसे ही थोड़ा लोभ भी मनुष्य के शुद्ध यश और उत्तम गुणों को नष्ट करता है ।

"पापस्य०" राजा युधिष्ठिर ने कहा कि हे भरतर्षभ (भीष्म) ! पाप का जो स्थान और मूल कारण है उसके तत्त्व को मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म—हे नराधिप ! पाप के स्थान को सुनिये कि एक लोभ ही महा ग्राह (पुरुष को ग्रास करने वाला जलचर) है और लोभ ही से अन्य पापों की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

लोभ महापाप है । इससे महा दुख होता है और छल का मूल भी लोभ ही है । मनुष्य लोभ ही के कारण पापी होते हैं ॥ ३ ॥ क्रोध, काम, मोह, माया, मान (गर्व), स्तम्भ (क्रिया में अशक्ति), पराधीनता, अक्षमा, लज्जात्याग, ऐश्वर्यनाश, चिन्ता, अकीर्ति ये सब लोभ के फल हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

अत्यागश्चातितर्षश्च विकर्मसु च या क्रिया।
कुलविद्यामदश्चैव रूपैश्वर्यमदस्तथा ॥ ६ ॥
सर्वभूतेष्वभिद्रोहः सर्वभूतेष्वसत्कृतिः।
सर्वभूतेष्वविश्वासः सर्वभूतेष्वनार्जवम् ॥ ७ ॥
हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्षणम्।
वाग्वेगो मनसो वेगो निन्दावेगस्तथैव च ॥ ८ ॥
उपस्थोदरयोर्वेगो मृत्युवेगश्च दारुणः।
ईर्ष्यावेगश्च बलवान् मिथ्यावेगश्च दुर्जयः ॥
रसवेगश्च दुर्वाप्यः श्रोत्रवेगश्च दुःसहः ॥ ९ ॥
कुत्सा विकत्था मात्सर्यं पापं दुष्करकारिता।
साहसानां च सर्वेषामकार्य्याणां क्रियास्तथा ॥ १० ॥
जातौ बाल्ये च कौमारे यौवने चापि मानवाः।
न सन्त्यजन्त्यात्मकर्म यो न जीर्यति जीर्यतः ॥ ११ ॥
यो न पूरयितुं शक्यो लोभः प्राप्त्या कुरूद्वह।
नित्यं गम्भीरतोयाभिरापगाभिरिवोदधिः।
न प्रहृष्यति यो लाभैः कामैर्यश्च न तृप्यति ॥ १२ ॥
यो न देवैर्न गन्धर्वैर्नासुरैर्न महोरगैः।
ज्ञायते नृप तत्वेन सर्वैर्भूतगणैस्तथा ॥
स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना ॥ १३ ॥
दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा।
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम् ॥ १४ ॥

भाषा

तथा अत्याग (दान न करना), अति तर्ष (पाप करने की बड़ी प्यास), कुलमद (गर्व), विद्यामद, रूपमद, ऐश्वर्यमद, सब प्राणियों में द्रोह, सब प्राणियों का अनादर, सब प्राणियों में अविश्वास, सब प्राणियों पर क्रूरता, परधनों का हरण, परपत्नी गमन, वचन का वेग, मनोवेग, निन्दावेग, उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय), वेग, उदरवेग, मृत्युवेग, इर्ष्यावेग, मिथ्यावेग, रसवेग, श्रोत्रवेग, अन्य निन्दा, आत्मप्रशंसा, अन्यद्वेष, अकार्य करना, साहस, डाका मारना आदि लोभ से उत्पन्न होते हैं ॥ ६—१० ॥ जो लोभ, जन्म, बाल्य, कैमार में मनुष्य से अपना काम कराये बिना नहीं रहता और वृद्धता में शरीर के जीर्ण होने पर भी जो जीर्ण नहीं होता और जैसे नित्य गिरती हुई नदियों से समुद्र नहीं पूर्ण होता वैसे जो लोभ, अनेक प्रकार के लाभों से भी पूर्ण नहीं होता तथा सब वस्तुओं और कामों से तृप्त नहीं होता और जिस लोभ के तत्त्व को देव, गन्धर्व, असुर, नाग और अन्य सब प्राणी नहीं जान सकते वशी पुरुष को चाहिये कि उस लोभ को जीते ॥ ११—१४ ॥

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः ।
छेत्तारः संशयानां च लोभग्रस्ता व्रजन्त्यधः ॥ १५ ॥
द्वेषक्रोधप्रसक्ताश्च शिष्टाचारबहिष्कृताः ।
अन्तःक्रूरा वाङ्मधुराः कूपाश्छन्नास्तृणैरिव ।
धर्मवैतंसिकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत् ॥ १६ ॥
कुर्वते च बहून् मार्गांस्तान् हेतुबलमाश्रिताः ।
सतां मार्गान् विलुम्पन्ति लोभज्ञानेष्ववस्थिताः ॥ १७ ॥
धर्मस्य क्रियमाणस्य लोभग्रस्तैर्दुरात्मभिः ।
या या विक्रियते संस्था ततः साऽपि प्रपद्यते ॥ १८ ॥
दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽभिमानिता ।
एत एव हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु ॥ १९ ॥
एतानशिष्टान् बुध्यस्व नित्यं लोभसमन्वितान् ।
शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान् वक्ष्यामि शुचिव्रतान् ॥ २० ॥
येष्वावृत्तिभयं नास्ति परलोकभयं न च ।
नामिषेषु प्रसंगोऽस्ति न प्रियेष्वप्रियेषु च ॥ २१ ॥

भाषा

दम्भ (पाखण्ड), द्रोह, निन्दा, पैशुन्य (गुप्त निन्दा), मत्सर (द्वेष) ये पाँच लोभी मनुष्यों में नियम से रहते हैं ॥ १५ ॥ अनेक शास्त्रों के पढ़ने और सुनने वाले तथा अनेक सन्देहों के निर्णय करने वाले भी लोभाक्रान्त होकर अल्प बुद्धि हो जाते हैं तथा द्वेष और क्रोध के वश होकर शिष्टाचार से बहिष्कृत हो जाते हैं घास से ढके हुये कूप की नाईं लोभयुक्त पुरुष भीतर क्रूर और बाहर से मधुर तथा धर्म के ब्याज से जगत को नाश करते हैं ॥१६॥ और कुयुक्तियों के बल से वेदविरुद्ध अनेक मार्गों को चलाते हैं अर्थात् ।

"येन केनाप्युपायेन यस्य कस्यापि देहिनः ।
सन्तोषं जनयेत्प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम् ॥"

(चाहे जिस किसी उपाय से जिस किसी प्राणी के सन्तोष को प्राज्ञ पुरुष करे वही ईश्वर की पूजा है) ऐसी बातों को कह कर गुरु पत्नी गमन आदि को भी धर्मसिद्ध कर देते हैं और वैदिक मार्गों का लोप कर देते हैं ॥ १७ ॥ लोभग्रस्त दुरात्माओं से लोप किये जाते हुये धर्म की बिगड़ी २ अवस्थायें लोक में धर्म कहलाने लगती हैं ॥ १८ ॥ हे कौरव्य ! लोभयुक्त पुरुषों में दर्प, क्रोध, अति शयन, अति हर्ष, अति शोक यही देखने में आते हैं ॥ १९ ॥

सदा लोभी पुरुषों ही को तुम अशिष्ट समझो और उन शिष्टों से धर्म पूछा करो जिनको कि मैं बतलाता हूँ जिनको जन्म-मरण का भय नहीं हैं तथा पाप न करने के कारण परलोक का भी भय नहीं है और भोगयोग्य वस्तुओं में अधिक चाट नहीं है तथा प्रिय और अप्रिय में राग और द्वेष अधिक नहीं है तथा शिष्टाचार जिनको सदा प्रिय है और जिन पर दम प्रतिष्ठित है तथा जिनके लिये सुख

शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः ।
सुखं दुःखं समं येषां सत्यं येषां परायणम् ॥ २२ ॥

दातारो न ग्रहीतारो दयावन्तस्तथैव च ।
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च ॥ २३ ॥

सर्वोपकारिणो वीराः सर्वधर्मानुपालकाः ।
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत ॥ २४ ॥

न ते चालयितुं शक्या धर्मव्याहारकारिणः ।
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत् पुरा साधुभिः कृतम् ॥ २५ ॥

न त्रासिनो न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः ।
ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता ॥ २६ ॥

कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहङ्कृताः ।
सुव्रताः स्थिरमर्यादास्तानुपास्स्व पृच्छ च ॥ २७ ॥

न धनार्थं यशोऽर्थं वा धर्मस्तेषां युधिष्ठिर ।
अवश्यं कार्य इत्येव शरीरस्य क्रियास्तथा ॥ २८ ॥

न भयं क्रोधचापल्ये न शोकस्तेषु विद्यते ।
न धर्मध्वजिनश्चैव न गुह्यं किञ्चिदास्थिताः ॥ २९ ॥

येष्वलोभस्तथा मोहो ये च सत्यार्जवे स्थिताः ।
तेषु कौन्तेय रज्येथा येषां न भ्रश्यते पुनः ॥ ३० ॥

ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च ।
निर्ममा निरहङ्काराः सत्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ३१ ॥

भाषा

और दुःख दोनों तुल्य हैं तथा सत्यभाषण जिनका परम धर्म है तथा जो लोग दान देते हैं और प्रतिग्रह नहीं लेते, और देवता, पितर, अतिथि के सत्कार में सदा उद्यत, सबके उपकारी, सब धर्मों के पालक, सब प्राणियों के हित और दुःखी के उपकार के लिये प्राण तक देने वाले पुरुष शिष्ट हैं। जो कि ॥२२-२६॥ किसी दशा में धर्म से पलट नहीं सकते और काम वही करते हैं जो कि पूर्व महापुरुषों का किया हुआ है ॥ २७ ॥ तथा जिनमें भय, चंचलता तथा क्रोध नहीं है और जो केवल सन्मार्ग ही पर स्थित हैं और जिनमें अहिंसा प्रतिष्ठित है और काम, क्रोध जिनसे पृथक् हैं तथा अहंकार जिनसे दूर रहता है ऐसे स्थिर मर्य्यादा वाले पुरुषों की उपासना करो और उनसे धर्म पूछो ॥ २८ ॥ २९ ॥

हे युधिष्ठिर ! वे लोग धन वा यश के लिये धर्म नहीं करते किन्तु धर्म करना चाहिये इतना ही समझ कर अपने स्वभाव से धर्म करते हैं। क्रोध, भय, चंचलता और शोक ये उनमें नहीं रहते और वे धर्मध्वजी नहीं होते क्योंकि उनका कोई धर्म गुप्त पाखण्ड नहीं होता ॥ ३० ॥ ३१ ॥ और

लाभाऽलाभौ सुखदुःखे च तात प्रियाप्रियं मरणं जीवितञ्च ।
समानि येषां स्थिरविक्रमाणां बुभुत्सतां सत्वपथस्थितानाम् ॥ ३२ ॥
धर्मप्रियास्तान् सुमहानुभावान् दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्चयेथाः ।
दैवात् सर्वे गुणवन्तो भवन्ति शुभाशुभे वाक्प्रलापास्तथान्ये ॥ ३३ ॥

८ अथ शौचम्

तच्च मनोदेहयोः शोधनं द्विविधम् तथा च माधवपाराशरे आचारकाण्डे शौचप्रकरणान्ते-व्याघ्रपात्-शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥
गङ्गातोयेन कृत्स्नेन मृद्भारैश्च नगोत्तमैः ।
आमृत्योश्चाचरञ्छौचं भावदुष्टो न शुध्यति ॥ इति

शुद्धेनैव च भावेनानुष्ठितानामग्निहोत्रादीनां विशेषधर्माणां धृत्यादीनां सामान्यधर्माणां च धर्मत्वमिति सर्वधर्मनिदानत्वं शुद्धस्य भावस्यैव । तथा च—

भाषा

जिनमें अलोभ और अमोह है तथा जो सत्त्वगुणी और समदर्शी अर्थात् लाभ, हानि, सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय और मरण, जीवन जिनकी दृष्टि में तुल्य है, उन धर्मात्मा महानुभावों का, दम से युक्त और प्रमाद से रहित होकर तुम पूजन किया करो और लोभ के नाशार्थ ऐसे ही महापुरुषों का संग करना चाहिये ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

८ शौच निरूपण

मन और देह के शुद्ध करने को शौच कहते हैं ॥

"शौचन्तु०" शौच दो प्रकार का होता है। १ बाह्य, २ आभ्यन्तर । बाह्य शौच मृत्तिका और जल आदि से होता है । "मैं इस काम को करूँगा" इस निश्चय को संकल्प और भाव भी कहते हैं। और इसकी शुद्धि यह है कि लोभादि दोषों से न होना, अर्थात् जो भाव, लोभादि के कारण होता है वह अशुद्ध होता है और इसी भावशुद्धि को आभ्यन्तर शौच कहते हैं ॥

"गंगा०" भावदुष्ट पुरुष, यदि गंगा के सब जल से तथा मृत्तिका के पर्वत से और अपने जन्म से मृत्यु पर्यन्त भी शौच करता रहै तब भी वह शुद्ध नहीं होता। अग्निहोत्रादि विशेष धर्म और सत्यादि सामान्य धर्म यदि शुद्ध भाव से किये जायँ तब ही वे धर्म हैं, इस कारण शुद्ध भाव ही सब धर्मों का मूल कारण है । इसी से महाभारत के वन पर्व में मार्कण्डेय महर्षि ने राजा युधिष्ठिर से कहा है कि-

"प्राकारैश्च०" हे राजन् ! बड़ा समृद्ध नगर भी यदि उत्तम ब्राह्मणों से हीन हो तो उसकी शोभा नहीं होती । नगर उसका नाम है कि जहाँ वेद और शिष्टाचार से युक्त ज्ञानवान् तपस्वी ब्राह्मण वसते हैं अर्थात् बन में भी यदि वैसे ब्राह्मण रहैं तो वही नगर और तीर्थ भी है । प्रजा का भली भाँति पालन करने वाले राजा और तपस्वी ब्राह्मण के समीप जाने और पूजन करने से तुरत ही पाप नष्ट हो जाता है । पुण्यतीर्थों में स्नान, पवित्रों का कीर्तन और महापुरुषों के साथ सम्भाषण की पण्डित प्रशंसा करते हैं । साधु पुरुषों के संगम और उनके पवित्र वाक्यों के श्रवण से सत्पुरुष लोग

वनपर्व अ० २०६—प्राकारैश्च पुरद्वारैः प्रासादैश्च पृथग्विधैः।
नगराणि न शोभन्ते हीनानि ब्राह्मणोत्तमैः॥
वेदाढ्या वृत्तसम्पन्ना ज्ञानवन्तस्तपस्विनः।
यत्र तिष्ठन्ति वै विप्रास्तन्नाम नगरं नृप॥
व्रजे वाप्यथवारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः।
तत्तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद्भवेत्॥
रक्षितारं च राजानं ब्राह्मणं च तपस्विनम्।
अभिगम्याभिपूज्याथ सद्यः पापात्प्रमुच्यते॥
पुण्यतीर्थाभिषेकं च पवित्राणां च कीर्तनम्।
सद्भिः सम्भाषणं चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः॥
साधुसङ्गमपूतेन वाक्सुभाषितवारिणा।
पवित्रीकृतमात्मानं सन्तो मन्यन्ति नित्यशः॥
त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुण्डनम्।
वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्याऽभिषेचनम्॥
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम्।
सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मलः॥

अतश्च मनसा सङ्कल्पितस्यैव क्षमादेः सुखसाधनत्वमिति सर्वधर्माणां धर्मत्वस्य सम्पादिका भावशुद्धिरेवेति पर्यवस्यति। अत्राधिको विशेषस्तु धर्मराजसज्जने मानवधर्मलक्षणव्याख्यानावसरे पूर्वमुपपादितोऽवश्यवेदितव्यः।

६ अथेन्द्रियनिग्रहः

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

भाषा

अपने को पवित्र मानते हैं। जिस पुरुष का भाव निर्मल नहीं है उसके किये हुये सब धर्म, कर्म अर्थात् त्रिदण्ड धारण, मौन, जटाभार, मुण्डन, बल्कल और मृगचर्म का धारण, व्रत, स्नान, अग्निहोत्र, वन में वास और उपवासों से शरीर को शुष्क करना इत्यादि मिथ्या अर्थात् निष्फल ही होते हैं। नेत्रादि इन्द्रियों की उपवास करने से शान्ति होती है परन्तु मन को शान्त करना बहुत कठिन है। उपवास मात्र तप नहीं है किन्तु मन, वचन और शरीर से पाप का न करना तप है॥ इति॥

इससे यह सिद्ध हो गया कि चाहे कोई वैदिक धर्म हो परन्तु जब तक उसके विषय में शुद्ध भावरूपी संकल्प न किया जाय तब तक उसके करने से कुछ भी फल नहीं होता। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि शुद्ध भाव ही सब धर्मों का मूल है। और इस विषय में यदि अधिक विशेष देखना हो तो पूर्व ही धर्मराज सज्जन नामक प्रकरण में मनु के कहे हुये धर्मलक्षण के व्याख्यान को देखना चाहिये।

६ इन्द्रियनिग्रह निरूपण

"आपदां०" दुष्ट विषयों से अपने इन्द्रियों का वारण न करना, विपत्तियों के आने का, और वारण करना सम्पत्तियों के आने का, मार्ग है। इन मार्गों में से एक पर चलना पुरुष की इच्छा के अधीन है।

मनुः २—इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥
एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ ९४ ॥
यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥
न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

भाषा

"इन्द्रियाणां०"—जैसे घोड़ों के संभालने में सारथी यत्न करता है, वैसे विद्वान् को यह आवश्यक है कि आकर्षण शक्ति वाले दुष्ट विषयों की ओर दौड़ते हुये इन्द्रियों के संयम (संभालने) में यत्न करै ॥ ८८ ॥ जिन एकादश इन्द्रियों को प्राचीन पंडित लोग कहते हैं, उनको अब मैं क्रम से कहता हूँ ॥ ८९ ॥ १ श्रोत्र, २ त्वक् (चर्मेन्द्रिय), ३ नेत्र, ४ जिह्वा, ५ नासिका, ६ पायु (मलेन्द्रिय), ७ उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय), ८ हस्त, ९ पाद, १० मुख, इनमें से नासिका तक ५ ज्ञानेन्द्रिय और अवशिष्ट ५ कर्मेन्द्रिय हैं और ग्यारहवाँ इन्द्रिय मन है । वह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है और उसी के जीतने से दशों इन्द्रिय जित हो जाते हैं ॥ ९०—९२ ॥ इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि पुरुष, इन्द्रियों के स्वतन्त्र होने ही से अनेक दुःखों को पाता है और उनको अपने वश करने ही से अनन्त सुख पाता है, क्योंकि इष्ट विषयों के बार २ भोग करने से काम (इच्छा) कदापि शांत नहीं होता किन्तु जैसे बार २ घी डालने से अग्नि अधिकाधिक प्रज्वलित होता है वैसे ही काम भी विषय भोग से अधिकाधिक प्रज्वलित होता है। इसी से विषयों के लाभ में उनके नाश और अनुचित भोग से इस लोक और परलोक में अनेक प्रकार के कठिन दुःख होते हैं और विषयों की उपेक्षा तथा अनादर से दोनों लोकों में सुख ही होता है न कि दुःख ॥ ९३—९६ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ९९ ॥
वशीकृत्येन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥१००॥

१० अथ तपः

देवलः—

व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनं तपः । इति

तैत्तिरीयारण्यके १०, ६२—तपसा देवा देवतामग्र आयन् तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन् तपसा सपत्नान् प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठित तस्मात् तपः परमं वदन्ति—

भाषा

विषयों से इन्द्रियों को दूर रखने मात्र से संयम नहीं होता किन्तु विषयों और शरीर में अस्थिरत्व और मलमूत्र मयत्व आदि शास्त्रोक्त और वास्तविक दोषों का बार २ भावना करना ही सब इन्द्रियों के संयम का मूल कारण है । यदि मन का संयम न किया जाय तो रागद्वेषादि दोष अवश्य उत्पन्न होते हैं और उन दोषों से पुरुष का भाव (संकल्प अर्थात् मैं इस काम को करूँगा, यह निश्चय) दूषित हो जाता है । तदनुसार दुष्ट भाव पुरुष के किये हुये वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तप आदि सब ही धर्म व्यर्थ हो जाते हैं ॥ ९७ ॥

जितेन्द्रिय का लक्षण यह है कि जो पुरुष अपनी स्तुति वा निन्दा सुन, मृदु वस्त्र वा कम्बल धारण कर, सुरूप वा कुरूप को देख, सरस वा नीरस को भक्षण कर, सुगन्ध वा दुर्गन्ध को धारण कर हर्ष वा विषाद को नहीं प्राप्त होता, वह जितेन्द्रिय है ॥ ९८ ॥

यह ध्यान नहीं करना चाहिये कि यदि बहुत से इन्द्रिय अपने वश में हो जायँ तो एक इन्द्रिय के स्वतन्त्र होने से अधिक हानि नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे चर्म के जलपात्र में एक ही छिद्र रहता है परन्तु उस पात्र के सब स्थानों का जल उस एक ही छिद्र से निकल जाता है । यदि वह छिद्र मूँदा न जाय, वैसे ही एक इन्द्रिय भी यदि अपने वश में न हो तो सब इन्द्रियों का ज्ञान नष्ट हो जाता है । इसलिये पुरुष को चाहिये कि बाह्य इन्द्रियों को और विशेष से मन को शास्त्रोक्त उपाय के द्वारा धीरे २ अपने वश में करे जिससे सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं ॥ ९९ ॥ १०० ॥

१० तप का निरूपण

"व्रतो०"—व्रत, उपवास और नियमों से शरीर को शुष्क करना तप है ।

"तपसा०"—सबसे प्रथम इन्द्रादि तप ही से देवता होते हैं । ऋषिगण तप ही से स्वर्ग पाते हैं । तप के बल से पुरुष शत्रुओं को निकालता है और तप ही में सब अर्थ प्रतिष्ठित है, इसलिये तप को श्रेष्ठ कहते हैं ।

तैत्तिरीयारण्यके ६, ३–तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये सुवर्गताः ।
तपो ये चक्रिरे महत् तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥

तैत्तिरीयारण्यके १०, ६२–"तपो हि स्वाध्यायः" इति ब्रह्मचारिधर्मः ।
"एतत् खलुवाव तप इत्याहुर्यः स्वं ददाति" इति गृहस्थधर्मः ॥
"तपो नानशनात्परम्" इति वानप्रस्थधर्मः ॥
"मनसश्चेन्द्रियाणां च" ह्येकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः परमुच्यते" ॥ इति यतिधर्मः ॥

भागवत तृ०—तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ॥ ११ ॥

मनु० अ० ११—तपो मूलमिदं सर्वं दैवं मानुषकं सुखम् ।
तपो मध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥२३५॥
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥२३६॥
ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥२३७॥
औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥२३८॥

भाषा

"तपसा ये०"—तप से जो लोग सर्वोपरि हो गये तथा जो लोग तप से स्वर्ग गये और जिन लोगों ने महातप किया उनके कर्म का अनुकरण करना चाहिये ।

"तपो हि०"—ब्रह्मचर्य आश्रम में वेदाध्ययन तप है । गृहस्थाश्रम में दान तप है, वानप्रस्थ आश्रम में उपवास तप है और सन्यासाश्रम में मन और अन्य इन्द्रियों की समाधि रूपी एकाग्रता तप है और यह धर्म (तप) सब धर्मों से श्रेष्ठ है । पुरुष तप ही से सब जगत के स्थान और प्रकाश रूपी भगवान् को पाता है ।

"ब्राह्मणस्य०"—वेदान्तवाक्यों से ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान ब्राह्मण का, प्रजापालन क्षत्रिय का, कृषि-वाणिज्यादि वैश्य का और ब्राह्मण की सेवा शूद्र का तप है । वचन, मन, शरीर के नियमों से संयुक्त और फल, मूल, वायु को भक्षण करने वाले ऋषिगण, एक स्थान पर बैठे २ तप ही से पृथ्वी से स्वर्ग पर्यन्त स्थावर जंगम रूपी तीन लोकों को भली भाँति देखते हैं ॥ २३५ ॥ २३६ ॥

औषध, नीरोगता, ब्रह्मविद्या, आदि विद्या और स्वर्गादि लोकों का लाभ ये सब तप ही से होते हैं ॥ २३७ ॥ बड़े २ दुःखों का छूटना, बड़े दुर्लभ गुणों का मिलना, स्वर्गादि रूपी बड़े २ दुर्गस्थान पर जाना और बड़े दुष्कर दानों का देना आदि सब बड़े २ काम तप ही से होते हैं । ब्रह्महत्या आदि महापातक और गोहत्या आदि उपपातक तथा अन्यान्य पातक भी तप ही से छूटते हैं ॥ २३८ ॥

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥२३९॥
महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥२४०॥
कीटाश्च हि पतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च ।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥२४१॥
यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ।
तत्सर्वं निर्दहत्याशु तपसैव तपोधनाः ॥२४२॥
तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान् संवर्द्धयन्ति च ॥२४३॥
प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥२४४॥
इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते ।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥२४५॥
यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥२४६॥

११ अथ दया

बृहस्पतिः—परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा ।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्त्तिता ॥ इति

भाषा

कीड़े, सर्प, फतिंगे, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि स्थावर भी अपने २ जन्म के अनुसार दुःख रूपी तप ही से अपने पापों को नाश कर पूर्वजन्म के किये हुये धर्मकर्म से स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥२३९—२४०॥ मन, वचन, देह से जो कुछ पापकर्म मनुष्य करते हैं, उन सब पापों का नाश भी तप ही से कर वे शुद्ध हो जाते हैं । प्रायश्चित्त रूपी तप से अपने पापों को नाश किये हुये शुद्ध ब्राह्मणों के हाथ से यज्ञों में दिये हुये वस्तुओं को देवता लोग ग्रहण कर उनके मनोरथों को पूर्ण करते हैं ॥ २४१ ॥ २४२ ॥

ब्रह्मदेव ने अपने तप ही के बल से इस लक्षाध्यायी पितामहस्मृति को बनाया और बसिष्ठादि ऋषि भी तप ही से मंत्रदर्शी हुये ॥ २४३ ॥ देवगण, तप ही के बल से सब जन्तुओं के दुर्लभ २ जन्म को होते देख तप के पूर्वोक्त माहात्म्य को कहते हैं ॥ २४४ ॥ यथाशक्ति प्रतिदिन वेदाभ्यास और पंचयज्ञ का करना तथा अपराधसहन रूपी क्षमा, ये तप, महापातकों का भी शीघ्र ही नाश कर देते हैं, अन्य पातकों की तो गणना ही क्या है ॥ २४५ ॥ जैसे प्रज्वलित अग्नि अपने तेज से बड़े २ काष्ठराशि को भी क्षण में भस्म कर देता है, वैसे ही वेदार्थतत्त्व का जानने वाला ब्राह्मण अपने ज्ञान रूपी तप से सब पापराशि को क्षण में भस्म कर देता है ॥ २४६ ॥

११ दया निरूपण

"परे वा०"—अपने बंधु तथा अन्य जन, मित्र अथवा शत्रु पर विपत्ति पड़ने की दशा में उनकी रक्षा करने को दया कहते हैं । दया का विधायक वेदवाक्य दम के प्रकरण में पूर्व ही कहा जा चुका है।

'दयाभूतहितैषित्वम्' इति भारते।

एतद्विधायकं वेदवाक्यं दमावसरे पूर्वमुदाहृतम्।

भागवते—दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥

दक्षसंहिता—यथैवात्मा परस्तद्वत् द्रष्टव्यः सुखमिच्छता।
सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे॥
सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किञ्चित् क्रियते परे।
ततस्तत्तु पुनः पश्चात् सर्वमात्मनि जायते॥

अत्रोपाख्यायते—

अनु०५१, युधि० उ०—साधुभिः सह संवासे ये गुणाः परिकीर्त्तिताः।
महाभाग्यवतां चैव तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

भीष्म उ०—अत्र ते कथयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
नहुषस्य च संवादं महर्षेश्च्यवनस्य च॥ २॥
भार्गवश्च्यवनो नाम महर्षिः सुमहातपाः।
उपवासकृतारम्भो बभूव किल भारत॥ ३॥
निहत्य कामं क्रोधं च द्रोहं मोहं मदं तथा।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये विवेश सलिलाशयम्॥ ४॥
तं गङ्गा यमुना चैव सरितश्चानुगास्तदा।
प्रदक्षिणमृषिं चक्रुर्न चैनं प्रत्यपीडयन्॥ ५॥
तत्रास्य वसतः कालः समतीतो महान् तदा।
परेण ध्यानभूतेन स्थाणुभूतस्य तिष्ठतः॥ ६॥

भाषा

"दयया०"—सब भूतों पर दया और जिस किसी थोड़े वस्तु से सन्तोष तथा सब इन्द्रियों का दमन, इन तीन से परमात्मा तुरत ही प्रसन्न होता है।

"यथैवात्मा०"—जो अपना सुख चाहे वह अन्य को भी अपने तुल्य देखे क्योंकि जैसे सुख अपने अनुकूल और दुःख प्रतिकूल होता है, वैसे ही अन्य को भी। और जो पुरुष जैसा सुख वा दुःख अन्य को देता है, परिणाम में वैसा ही सुख वा दुःख उसको भी मिलता है।

उपाख्यान

"साधुभिः सह०"—राजा युधिष्ठिर ने कहा कि हे पितामह! आपने जो यह कहा कि साधुओं और महाभाग्यशालियों के साथ रहने से अनेक गुणों का लाभ होता है उसका उदाहरण मुझसे कहिये॥ १॥ भीष्म—हे भारत! इस विषय में राजा नहुष और च्यवन महर्षि का संवाद रूपी प्राचीन इतिहास मैं तुमसे कहता हूँ॥ २॥ प्रयाग के गंगा-यमुना संगम में जल के भीतर भृगुवंशी च्यवन महर्षि तप करने लगे। गंगा और यमुना तथा उनकी अनुगामिनी अन्य नदी भी ऋषि को प्रतिदिन प्रदक्षिणा करती थी और ऐसे ही काष्ठ के समान समाधिस्थित होकर बहुत काल तक तप किया॥ ३-६॥

ततः कदाचित्तं देशमगमन्मत्स्यजीविनः।
प्रसार्य सुमहज्जालं सर्वैश्चाकर्षितं जलात्॥ ७॥
अथ ते सह मत्स्यैस्तु निषादा बलदर्पिताः।
तस्मादुत्तारयामासुः सलिलाद् भृगुनन्दनम्॥ ८॥
तं दृष्ट्वा दीप्ततपसं कैवर्ता भयपीड़िताः।
शिरोभिः प्रणिपत्योर्व्यामिदं वचनमब्रुवन्॥ ९॥

कैवर्ता ऊ०—अज्ञानात्कृतपापानामस्माकं क्षन्तुमर्हसि।
किं वा कुर्मः प्रियं तेऽद्य तदाज्ञापय सुव्रत॥ १०॥

भीष्म उ०—स मुनिस्तन्महद्दृष्ट्वा मत्स्यानां कदनं कृतम्।
कृपया परयाविष्टस्तानुवाच सुदुःखितः॥ ११॥

च्यवन उ०—मरणं विक्रयं वापि मत्स्यैर्यास्याम्यहं सह।
संवासान्नोत्सहे त्यक्तुं दीनानेतान्सुदुःखितान्॥ १२॥
दुःखितानीह भूतानि दृष्ट्वा स्याद्यो न दुःखितः।
केवलात्महितेच्छो यः को नृशंसतरस्ततः॥ १३॥
अहो सर्वेषु कारुण्यमात्मार्थं सुखमिच्छताम्।
ज्ञानिनामपि यच्चेतः केवलात्महितोद्यतम्॥ १४॥
ज्ञानिनोऽपि यदा स्वार्थं निश्चित्य ध्यानमास्थिताः।
सत्वाः संसारदुःखार्ताः कं यान्ति शरणं तदा॥ १५॥
कोऽनु स स्यादुपायोऽत्र येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा॥ १६॥

भाषा

एक समय निषादों ने वहाँ आकर जाल डाला और बहुत सी मछलियों के साथ च्यवन महर्षि को जल के बाहर निकाला और उन महातपस्वी ऋषि को देख भयभीत हो पृथ्वी पर शिर से प्रणाम कर उनसे यह कहा कि हे सुव्रत! बिना जाने हमने यह पाप किया, इसको आप क्षमा कीजिये और जो कार्य आपको प्रिय हो, आज्ञा दीजिये, हम उसे करें॥ ७–१०॥

भीष्म—च्यवन महर्षि ने मछलियों के उस महानाश को देखकर बड़ी दया से आविष्ट और दुःखित हो निषादों से यह कहा कि॥ ११॥ ये सब मत्स्य मेरे सहवासी हैं, इसलिये मैं यही चाहता हूँ कि इन मत्स्यों के साथ ही मेरा मरण वा विक्रय हो क्योंकि मैं इन सहवासी दुःखियों को छोड़ नहीं सकता और प्राणियों को दुःखित देख जो पुरुष दुःखित न हो जाय अर्थात् केवल अपना ही हित चाहे उससे अधिक पापी कौन है? आश्चर्य की बात है कि ज्ञानियों का भी अन्तःकरण केवल अपने ही सुख के लिये उद्यत है और यदि ऐसा है तो अब संसार के दुःखित प्राणी किसके शरण जायँगे॥१२–१५॥

वह कौन उपाय है कि जिससे मैं ही दुःखी प्राणियों के अन्तःकरण में प्रवेश कर उनके बदले उनके दुःखों का भोग करूँ। ओ! हो! बली और बड़े २ भी ये मत्स्य सूर्य के आतप से

अहो मीनाः स्फुरन्त्येते लुठन्ति च तथाऽपरे ।
बलिनोऽपि महाकायाः सूर्यांशुपरिपीडिताः ॥ १७ ॥
दृष्ट्वान्धबधिरव्यङ्गाननाथान् रोगिणस्तथा ।
दया न जायते येषां ते शोच्या मूढचेतनाः ॥ १८ ॥
प्राणसंशयमापन्नं यो न रक्षति शक्तिमान् ।
सर्वधर्मबहिर्भूतः स पापां गतिमाप्नुयात् ॥ १९ ॥
अपहृत्यार्त्तिमार्तानां सुखं यदुपजायते ।
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नार्हति षोड़शीम् ॥ २० ॥
तस्मान्नैतानहं दीनांस्त्यक्त्वा मीनान् सुदुःखितान् ।
ब्रह्मणोऽपि पदं यास्ये किं पुनस्त्रिदशालयम् ॥ २१ ॥
न करिष्ये च युष्माकमाशाच्छेदं कदाचन ।
निवेदयत मां राज्ञे स मे मूल्यं प्रदास्यति ॥ २२ ॥
भीष्म उ०—एवं निशम्य वचनं निषादा जातसम्भ्रमाः ।
गत्वा राज्ञे च तत्सर्वं नहुषाय न्यवेदयन् ॥ २३ ॥
नहुषोऽपि च तच्छ्रुत्वा विस्मयाविष्टचेतनः ।
नहुष उ०—कोऽसावत्यद्भुताकारो जले वासमकल्पयत् ॥ २४ ॥
इति संचिन्त्य धर्मात्मा धर्मशक्तिसमन्वितः ।
भयेन च समाविष्टो मुनिप्रवरशङ्कया ॥ २५ ॥
विसृज्य सेनां तत्रैव राजा लघुपरिच्छदः ।
त्वरितः प्रययौ तत्र सहामात्यपुरोहितः ॥ २६ ॥
तं दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशं च्यवनं संशितव्रतम् ।
ज्ञात्वा भार्गवमेकाग्रं ध्यानयोगं परायणम् ॥ २७ ॥

भाषा

सन्तप्त होकर लोटते और तड़फड़ाते हैं और मुझको यह शोक है कि अन्धे, बहिरे, अंगहीन, अनाथ और रोगियों को देख जिनको दया नहीं उत्पन्न होती उन मूढ़ों की क्या गति होगी, निश्चय यही होता है कि समर्थ होकर भी जो पुरुष, प्राणसंशय में प्राप्त किसी प्राणी की रक्षा नहीं करता वह सब धर्मों से बहिर्भूत होकर पापियों की गति को पाता है। और दुःखियों का दुःख छुड़ाने से पुरुष को जो सुख होता है, स्वर्ग और मोक्ष भी उसकी सोलहवीं कला को नहीं पहुँच सकता। इसलिये मैं दुःखी और दीन इन मीनों को छोड़कर ब्रह्मलोक को भी नहीं जा सकता, देवलोक की तो गणना ही क्या है। तथा तुम्हारी इस जीविका को भी नाश नहीं कर सकता। तुम राजा से इस समाचार को निवेदन करो, वह मेरा मूल्य तुमको देगा ॥ १६–२२ ॥

भीष्म—इस वाक्य को सुन निषादों ने जाकर राजा नहुष से इस समाचार को निवेदन किया। नहुष ने भी इस समाचार से बड़े आश्चर्य को प्राप्त हो, सेना को छोड़, अमात्य और पुरोहित

तं पूजयित्वा विधिवद्देवकल्पं नरेश्वरः ।
प्रोवाच भगवन् ब्रूहि किं करोमि तवाज्ञया ॥ २८ ॥

च्यवन उ०—श्रमेण महताविष्टाः कैवर्ता दुःखजीविनः ।
मम मूल्यं प्रयच्छैभ्यो यथावद्राजसत्तम ॥ २९ ॥
यथामूल्यप्रदानेन मत्स्यसाधर्म्यमास्थितः ।
एभ्यो मुच्ये यथा कामं मरिष्ये वा ततोऽन्यथा ॥ ३० ॥
यथामूल्यप्रदानेन करोम्यात्मप्रमोचनम् ।
तथा मीनांश्च रक्षामि तन्मे मनसि निश्चितम् ॥ ३१ ॥

नहुष उ०—सहस्राणां शतं मूल्यं निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
निष्क्रयार्थं भगवतो यथाह भृगुनन्दनः ॥ ३२ ॥

च्यवन उ०—नाहं शतसहस्रेण विक्रेयः पार्थिव त्वया ।
सदृशं दीयतां मूल्यममात्यैः सह चिन्तय ॥ ३३ ॥

नहुष उ०—कोटिः प्रदीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहिताः ।
यद्येतदपि नो मूल्यं ततो भूयः प्रदीयताम् ॥ ३४ ॥

च्यवन उ०—आत्ममूल्यं न वक्तव्यं न तं लोकः प्रशंसति ।
तस्मान्नाहं प्रवक्ष्यामि न चात्मस्तुतिमुद्वहेत् ॥ ३५ ॥
नाहमर्हामि वा कोटिं न त्वर्होऽभ्यधिकं ततः ।
सदृशं मामकं मूल्यं ब्राह्मणैः सह चिन्तय ॥ ३६ ॥

भाषा

के साथ तुरत ही उस स्थान पर आये । और सूर्य के समान प्रकाशमान च्यवन महर्षि को देख और उनकी विधिवत् पूजा कर यह कहा कि भगवन् ! आपकी क्या आज्ञा है ? मैं क्या करूँ ? ॥२३–२८॥

च्यवन—हे राजन् ! इन सब निषादों ने बड़ा परिश्रम किया है, मेरा उचित मूल्य आप इनको दे दीजिये, जिससे कि मैं मत्स्यों की तुल्यता से छूट जाऊँ, नहीं तो मैं इन मत्स्यों के साथ मर जाऊँगा और जैसे मैं अपना मूल्य दिलाने से अपने को छोड़ाता हूँ, मेरा यह निश्चय है कि वैसे ही इन मीनों को भी छुड़ाऊँ ॥ २९–३१ ॥

नहुष—जैसे कि भृगुनन्दन (च्यवन) ने कहा है, उसके अनुसार एक लक्ष मुद्रा भगवान् का मूल्य निषादों को दिया जाय ॥ ३२ ॥

च्यवन—हे पार्थिव ! मेरा यह उचित मूल्य नहीं है, इसलिये मेरा उचित मूल्य दिया जाय । आप अपने अमात्यों के साथ विचार कीजिये ॥ ३३ ॥

नहुष—हे पुरोहितो ! निषादों को एक कोटि मुद्रा मूल्य दिया जाय और यदि वह मूल्य भी उचित न हो तो और अधिक दिया जाय ॥ ३४ ॥

च्यवन—हे राजन् ! अपना मूल्य अपने को न कहना चाहिये, क्योंकि ऐसा कहना लोक-निन्दित होता है, इसलिये मैं अपना मूल्य न कहूँगा अर्थात् मैं यह नहीं कहूँगा कि मैं कोटि के योग्य हूँ अथवा अधिक के । आप ब्राह्मणों के साथ मेरे उचित मूल्य की चिन्ता कीजिये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

नहुष उ०—अर्द्धराज्यं समस्तं वा निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये किं वा त्वं मन्यसे द्विज ॥ ३७ ॥

च्यवन उ०—अर्द्धराज्यं समस्तं वा नाहमर्हामि पार्थिव ।
सदृशं दीयतां मूल्यमृषिभिः सह चिन्तय ॥ ३८ ॥

भीष्म उ०—महर्षेस्तद्वचः श्रुत्वा नहुषो भृशदुःखितः ।
चिन्तयामास शोकार्तः सहामात्यपुरोहितः ॥ ३९ ॥
गत्वा कश्चिदृषिस्तत्र गविजात इति श्रुतः ।
प्रोवाच नहुषं माभैस्तोषयिष्याम्यहं मुनिम् ॥ ४० ॥

नहुष उ०—ब्रवीतु भगवन् मूल्यं मुनेस्तस्य महात्मनः ।
परित्रायस्व मामस्माद्विषयं च कुलं च मे ॥ ४१ ॥
हन्यादृषिः सुसंक्रुद्धस्त्रैलोक्यमपि सेश्वरम् ।
किं पुनर्मां तपोहीनं बाहुवीर्यपरायणम् ॥ ४२ ॥

गविजात उ०—अनर्घ्येये महाराज जगत्पूज्या द्विजोत्तमाः ।
गावश्च दैवतं तेषां तद्गोमूल्यं प्रदीयताम् ॥ ४३ ॥

भीष्म उ०—तच्छ्रुत्वा वचनं राजा सहामात्यपुरोहितैः ।
हर्षेण च समाविष्टः प्रोवाचेदं वचो नृपः ॥ ४४ ॥

भाषा

नहुष—मेरा आधा या सम्पूर्ण राज्य निषादों को दिया जाय । हे महर्षे ! मैं तो इस मूल्य को उचित समझता हूँ । परन्तु आप क्या समझते हैं ? ॥ ३७ ॥

च्यवन—हे पार्थिव ! मैं इस मूल्य के योग्य नहीं हूँ, आप ऋषियों के साथ विचार कर उचित मूल्य दीजिये ॥ ३८ ॥

भीष्म—महर्षि के इस वचन को सुन राजा नहुष अपार शोक सागर में मग्न हो अमात्य और पुरोहित के साथ चिन्ता करने लगे । उसी समय 'गविजात' नामक एक ऋषि वहाँ आ पहुँचे और राजा नहुष से कहा कि आप भय न करें, मैं इन मुनि को सन्तुष्ट करूँगा ॥ ३९ ॥ ४० ॥

नहुष—हे भगवन् ! आप उन मुनि महात्मा का उचित मूल्य कहिये और मेरी तथा मेरे कुल की और मेरे राज्य की रक्षा कीजिये । क्योंकि वह ऋषि यदि क्रुद्ध हो जायँ तो देवेन्द्र के सहित त्रैलोक्य को भस्म कर दें । केवल बाहुवीर्यपरायण और तपोहीन मुझ ऐसे मनुष्य की तो गणना ही क्या है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

गविजात—हे महाराज ! जगत्पूज्य द्विजोत्तमों का कोई मूल्य योग्य नहीं हो सकता, परन्तु गौ उनकी पूज्य है, इसलिये गौ रूपी मूल्य दिया जाय ॥ ४३ ॥

भीष्म—इस वाक्य को सुन बड़े हर्ष को प्राप्त हो राजा नहुष ने च्यवन मुनि से कहा कि ॥ ४४ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे गवा क्रीतोऽसि भार्गव ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये तव धर्मभृतां वर ॥ २५ ॥
च्यवन उ०—उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ ।
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युतम् ॥ २६ ॥
कीर्त्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव ।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम् ॥ २७ ॥
गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम् ॥ २८ ॥
अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च ।
अमृतायतनाश्चैताः सर्वलोकनमस्कृताः ॥ ३० ॥
तेजसा वपुषा चैव गावो वह्निसमा भुवि ।
गावो हि सुमहत्तेजः प्राणिनां च सुखप्रदाः ॥ ३१ ॥
निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम् ।
विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति ॥ ३२ ॥
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः ।
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत्किञ्चित् परं स्मृतम् ॥ ३३ ॥
इत्येतद्गोषु मे प्रोक्तं माहात्म्यं भरतर्षभ ।
गुणैकदेशवचनं शक्यं पारायणं न तु ॥ ३४ ॥
एतच्छ्रुत्वा निषादास्ते गवां माहात्म्यमुत्तमम् ।
प्रणिपत्य महात्मानं ततस्तमृषिमब्रुवन् ॥ ५७ ॥

भाषा

हे विप्रर्षे भार्गव ! उठिये २, आप गौ से कीने गये । मैं आप के लिये इसी मूल्य को उचित समझता हूँ ॥२५॥

च्यवन—हे राजेन्द्र ! यह मैं उठता हूँ, आपने उचित मूल्य से मेरा क्रय किया । गौ के तुल्य मैं कोई अक्षय धन नहीं समझता ॥ २६ ॥ क्योंकि हे वीर ! गौओं का कीर्त्तन, श्रवण, दान और दर्शन भी सब पापों का नाश करने वाला मंगल है ॥ २७ ॥ गौवें सदा लक्ष्मी के मूल हैं, गौओं में पाप नहीं रहता । गौवें यज्ञों के मूल और मुख हैं ॥ २८ ॥ कुशादि इनका भोज्य भी अमृत है और ये दुग्ध रूपी अमृत दिव्य और हव्य को धारण करती हैं और सबकी पूज्या भी हैं ॥ ३० ॥

अपने तेज और शरीर से गौवें अग्नि के तुल्य हैं क्योंकि गौओं में बड़ा तेज है और गौवें सब प्राणियों को सुख देती हैं । जिस स्थान में बैठकर गौओं का कुल निर्भय श्वास लेता है, उस स्थान की बड़ी शोभा होती है और उस स्थान के सब दोष भी नष्ट हो जाते हैं । गौवें स्वर्ग की सीढ़ी हैं । गौवें स्वर्ग में भी पूजित हैं । गौवें सब कामों को देने वाली हैं । गौ से परे कुछ भी नहीं है । हे भरतर्षभ ! यह गौओं का माहात्म्य वेद के 'गोषुम' नामक भाग में कहा है और गौओं के थोड़े से गुणों का यह वर्णन है । सब गुणों का वर्णन तो अशक्य है ॥ ३१—३४ ॥ गौओं के इस उत्तम माहात्म्य को सुन भूमि में गिर प्रणाम कर निषादों ने च्यवन ऋषि से कहा ॥ ५७ ॥

सम्भाषा दर्शनं स्पर्शं कीर्त्तनं स्मरणं तथा ।
पावनानि किलैतानि साधूनामिति शुश्रुम ॥ ५८ ॥

सम्भाषा दर्शनं स्पर्शः सहास्माभिः कृतं त्वया ।
प्रसीद भगवन्स्तस्माद्गौरेषा प्रतिगृह्यताम् ॥ ५९ ॥

च्यवन उ०—एष वः प्रतिगृह्णामि गामेतां मुक्तकिल्बिषाम् ।
निषादा गच्छत स्वर्गं मत्स्यैः सार्धं जलोद्धृतैः ॥ ६० ॥

यन्मया सुकृतं किञ्चिन्मनोवाक्कायकर्मभिः ।
दुःखार्ता जन्तवस्तेन सर्वे सन्तु सुखावहाः ॥ ६१ ॥

भीष्म उ०—ततस्तस्य प्रसादेन महर्षेर्भावितात्मनः ।
निषादास्तेन वाक्येन सह मत्स्यैर्दिवं गताः ॥ ६२ ॥

सेव्याः श्रेयोऽर्थिभिः सन्तः पुण्यतीर्थजलोपमाः ।
क्षणोपासंगयोगोऽपि न तेषां निष्फलो भवेत् ॥ ६४ ॥

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ॥ ६५ ॥

नांभोमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ ६६ ॥

भाषा

हे भगवन् ! हमने यह सुना है कि महात्माओं से सम्भाषण तथा उनके दर्शन, स्पर्शन, कीर्त्तन और स्मरण ये सब पुरुष को पवित्र करने वाले हैं । और हे भगवन् ! आपने हमारे साथ सम्भाषण, दर्शन और स्पर्शन किया, इसलिये अनुग्रह कर इस गौ को लीजिये ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

च्यवन—हे निषादो ! तुम्हारे पाप छूट गये और मैं तुम्हारी इस गौ को लेता हूँ । और इन जल से उद्धृत मत्स्यों के साथ तुम स्वर्ग को जाओ ॥ ६० ॥ आज तक मन, वचन और शरीर से मैंने जो कुछ धर्म कर्म किया, उससे ये सब दुःखी (निषाद और मत्स्य) सुख पावें ॥ ६१ ॥

भीष्म—तदनन्तर उन महर्षि के अनुग्रह और वाक्य से वे निषाद उन मत्स्यों के साथ स्वर्ग चले गये ॥ ६२ ॥ कल्याण की कामना करने वालों के लिये, पुण्यतीर्थों के जल के तुल्य महापुरुष, अवश्य सेवनीय हैं । क्योंकि महापुरुषों का क्षणिक संग भी निष्फल नहीं होता ॥ ६४ ॥ साधुओं का दर्शन बड़ा धर्म है क्योंकि इतना ही नहीं है कि साधु पुरुष तीर्थ के तुल्य है किन्तु यह भी है कि तीर्थ सेवा का फल, विलम्ब से अर्थात् अपने समय पर होता है परन्तु साधुदर्शन का फल तत्क्षण ही होता है । पुण्य जल वैसे तीर्थ नहीं हैं और मृत्तिका तथा पाषाण की प्रतिमा देव नहीं है क्योंकि वे बहुत काल की उपासना से पुरुष को पवित्र करते हैं, किन्तु साधु जन ही तीर्थ हैं क्योंकि वे अपने दर्शन मात्र से पुरुष को तत्क्षण ही पवित्र करते हैं ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अथर्षिश्च्यवनो धीमान् गविजातो महातपाः ।
वराभ्यां छन्दयामासुर्यथेष्टाभ्यां नृपोत्तमम् ॥ ६७ ॥
ततः स वरयामास धर्मे बुद्धिं सुदुर्लभाम् ।
तथेत्युक्त्वा तु तौ विप्रौ तं नृपं प्रशशंसतुः ॥ ६८ ॥
अहो धन्योऽसि राजेन्द्र यत्ते धर्मे मतिः स्थिता ।
धर्मधीर्दुर्लभा पुंसां विशेषेण महीक्षिताम् ॥ ६९ ॥
ध्रुवो राज्यमदो राज्ञां मोहश्चापि महान् ध्रुवः ।
मोहाद्ध्रुवश्च नरको राज्यं निन्दन्त्यतो बुधाः ॥ ७० ॥
राज्यं हि बहु मन्यन्ते नरा विषयलोलुपाः ।
मनीषिणस्तु पश्यन्ति तदेव नरकोपमम् ॥ ७१ ॥
तस्माल्लोकद्वयध्वंसी मदः परमदारुणः ।
भविष्यति महाराज तव नैव न संशयः ॥ ७२ ॥
अंहोभिर्मुच्यसे राजन् प्रसादादावयोर्ध्रुवम् ।
यस्मात्प्रार्थितवानावां धर्मे बुद्धिं सुदुर्लभाम् ॥ ७३ ॥
भीष्म उ०—इत्युक्त्वा तौ महात्मानौ जग्मतुः स्वं स्वमाश्रमम् ।
नहुषोऽपि वरं लब्ध्वा प्रहृष्टः प्राविशत् पुरीम् ॥ ७४ ॥
एतत्ते कथितं राजन् गुणा ये सत्समागमे ।
महाभाग्यवतां चैव किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ७५ ॥

भाषा

तदनन्तर च्यवन और गविजात दोनों महर्षियों ने राजा नहुष की इच्छानुसार उनको बहुत बर दिया अर्थात् राजा नहुष ने धर्म में अपनी बुद्धि माँगा । महर्षियों ने 'तथास्तु' कह कर कहा कि ॥६७॥ ६८॥

हे राजेन्द्र ! आपकी इच्छा धर्मबुद्धि में है इससे आप धन्य हैं, क्योंकि धर्मबुद्धि पुरुषों के लिये दुर्लभ है और राजाओं के लिये तो अत्यन्त ही दुर्लभ है क्योंकि राजाओं को राज्यमद और महामोह ध्रुव ही होते हैं । और मोह से नरक भी ध्रुव ही होता है, इसी से विवेकी पुरुष राज्य की निन्दा करते हैं । राज्य को विषय लोभी पुरुष उत्तम समझते हैं परन्तु पंडित लोग उसी राज्य को नरक के तुल्य देखते हैं ॥ ६९-७१ ॥

हे महाराज ! इसलिये हम लोग यह बर देते हैं कि त्रैलोक्य का विध्वंसी महादारुण राज्यमद आप को कदापि नहीं होगा । इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७२ ॥

हे राजन् ! हम दोनों के अनुग्रह से आप के सब पाप छूट जायँगे क्योंकि आपने धर्मबुद्धि के लिये हमसे प्रार्थना किया ॥ ७३ ॥

भीष्म—ऐसा कह कर वे दोनों महात्मा अपने २ आश्रम को चले गये और बर लेकर राजा नहुष ने भी अपनी पुरी में प्रवेश किया ॥ ७४ ॥ हे राजन् ! महापुरुषों और महाभाग्यशालियों के समागम का फल यह है कि जो मैंने तुमसे कहा, अब बतलाइये कि और आप क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ ७५ ॥

इतिहास ४, युधि० उ०—यो रक्षेत् प्राणिनं ब्रह्मन् भयार्तं शरणागतम् ।
तस्य पुण्यफलं यत्स्यात् तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ २ ॥

लोमश उ०—एकतः क्रतवः सर्वे समग्रवरदक्षिणाः ।
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥ ३ ॥
इदमेव पुरा देवास्तुलायां समतोलयन् ।
प्राणरक्षणमेवेह गौरवेणातिरिच्यते ॥ ४ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रस्याग्नेश्च संवादं शिवेरौशीनरस्य च ॥ ५ ॥
वर्तमाने महायज्ञे जिज्ञासार्थं शिविं नृपम् ।
इन्द्रः श्येनः कपोतोऽग्निर्भूत्वा तत्रोपजग्मतुः ॥ ६ ॥
अथ तं नृपतिं प्राप्य कपोतः श्येनजाद्भयात् ।
शरणार्थं महीपालं निलिल्ये भयविह्वलः ॥ ७ ॥
ततः शनैरुपागम्य श्येनरूपी सुरेश्वरः ।
राजानं सुमहात्मानं प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥ ८ ॥

श्येन उ०—धर्मात्मानं वरोऽसि त्वमेको राजन् महीक्षिताम् ।
स त्वं धर्मविरुद्धं हि कथं धर्मं चिकीर्षसि ॥ ९ ॥
भवान् कृतघ्नं दानेन सत्येनानृतवादिनम् ।
क्षमया क्रूरकर्माणमसाधुं साधुनाऽजयः ॥ १० ॥

भाषा

"यो रक्षेत्" राजा युधिष्ठिर ने लोमश ऋषि से कहा कि हे तपोधन ! ब्रह्मन् ! भयभीत शरणागत के पालन का फल आप मुझसे कहिये ॥ २ ॥

लोमश—एक ओर समग्र दक्षिणा से सम्पूर्ण अश्वमेध पर्यन्त सब यज्ञ और दूसरी ओर भयभीत प्राणी के प्राण रक्षण को रख पूर्व ही देवों ने तुलना किया परन्तु उक्त प्राणरक्षण ही भारी हुआ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इसी विषय में उशीनरवंशी राजा शिवि का इन्द्र और अग्नि के साथ सम्वाद रूपी पुराने इतिहास का लोग उदाहरण देते हैं जो यह है कि ॥ ५ ॥ राजा शिवि के महायज्ञ में उनके धर्म की जिज्ञासा से इन्द्र, श्येन (बाज पक्षी) और अग्नि, कपोत होकर गये ॥ ६ ॥ श्येन के भय से विह्वल हो, कपोत राजा के पीछे जा लुका ॥ ७ ॥ तदनन्तर धीरे से वहाँ आकर श्येन ने राजा महात्मा से यह कहा कि ॥ ८ ॥ हे राजन् ! सब धर्मात्मा राजाओं में आप श्रेष्ठ हैं सो आप धर्म के विरुद्ध धर्म क्यों करना चाहते हैं ? ॥ ९ ॥

आपने अपने उपकारियों के प्रत्युपकार रूपी दान से कृतघ्नों (उपकार के बदले उलटे अपकार करने वाले) को और सत्य से मिथ्यावादियों को तथा क्षमा से क्रूर कर्माओं को और साधुता से असाधुओं को जीत लिया है ॥ १० ॥ लोग उपकारियों का उपकार करते हैं परन्तु आप अपकार

उपकारपरेष्वेवमुपकारपरो जनः ।
अपकारपरेऽपि त्वमुपकारपरो यथा ॥ ११ ॥
अहिते हितबुद्धिस्त्वं पापेषु त्वमपापकृत् ।
दोषान्वेषणदक्षोऽपि गुणान्वेषणतत्परः ॥ १२ ॥
तदयं विहितो भक्ष्यः पीड्यमानस्य मे क्षुधा ।
मा हिंसीर्लोभतो धर्मं धर्ममुत्सृष्टवानसि ॥ १३ ॥
राजोवाच—सन्त्रस्तरूपी प्राणार्थी त्वत्तो भीतो विहङ्गमः ।
मत्सकाशमनुप्राप्तः प्राणगृध्नुरयं खगः ॥ १४ ॥
तदेवमागतस्यास्य कपोतस्याभयार्थिनः ।
कथमस्मद्विधः कुर्यात् त्यागं सद्भिर्विगर्हितम् ॥ १५ ॥
लोभाद्द्वेषाद्भयाद्वापि यस्त्यजेच्छरणागतम् ।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ १६ ॥
शास्त्रेषु निष्कृतिर्दृष्टा महापातकिनामपि ।
शरणागतहन्तॄणां न दृष्टा निष्कृतिः क्वचित् ॥ १७ ॥
यथात्मनः प्रियाः प्राणाः सर्वेषां प्राणिनां तथा ।
तस्मान्मृत्युभयत्रस्तास्त्रातव्याः प्राणिनो बुधैः ॥ १८ ॥
जन्ममृत्युजरारोगैर्नित्यं संसारसागरे ।
जन्तवः परिक्लिश्यन्ते मृत्योः पश्यन्ति ते तथा ॥ १९ ॥

भाषा

में तत्परों का भी उपकार करते हैं। अहित पुरुषों के लिये भी आप हित करते हैं और पापियों के ऊपर भी जहाँ तक हो सकता है आप क्रूर कर्म नहीं करते और दोषों को जान कर भी पुरुषों में गुणों का ही अन्वेषण करते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥ मैं क्षुधा से पीड़ित हूँ और यह कपोत मेरा उचित भक्ष्य है। आपने इसको शरण देने से धर्म को छोड़ दिया। इसलिये मैं कहता हूँ कि आप लोभ से अपने धर्म की बाधा न कीजिये ॥ १३ ॥

राजा—लोभ मेरे नहीं है, किन्तु त्रस्त की चेष्टा से युक्त तुम्हारे भय से भीत यह पक्षी अपने प्राण के लोभ से मेरी शरण में आया है तो इस रीति से आये हुये अपने अभय के अर्थी इस कपोत के त्याग को (जो अति निन्दित है) मेरे ऐसा पुरुष कैसे कर सकता है ? क्योंकि शरणागत का लोभ, द्वेष या भय से जो त्याग करता है, पंडित लोग उसके लिये ब्रह्महत्या के समान पाप कहते हैं और शास्त्रों में महापातकियों के लिये भी निष्कृति (प्रायश्चित्त) देखी गई है परन्तु शरणागत के मारने वालों की निष्कृति कहीं नहीं देखी गई ॥ १४–१७ ॥ जैसे विवेकी को अपना प्राण प्रिय होता है, वैसे सब प्राणियों को अपना २ प्राण प्रिय होता है। इसी से मृत्युभय से भीत प्राणी का पालन, पंडित का अवश्य कर्त्तव्य है। और जन्म, मृत्यु, जरा रोग से प्राणी लोग इस संसार सागर में दुःख भी पाते हैं तथा मरते भी हैं और जिसके कारण से शोक, भय, क्रोध या अति

यन्निमित्तं भवेच्छोकस्त्रासो वा क्रोध एव च ।
आयासो वा यतो मूलमेकाङ्गमपि तं त्यजेत् ॥ २० ॥
मरिष्यामीति यद्दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
युक्तं तेनानुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम् ॥ २१ ॥
यथा हि ते जीवितमात्मनः प्रियं
तथा परेषामपि जीवितं प्रियम् ।
संरक्षसे जीवितमात्मनो यथा
तथा परेषामपि रक्ष जीवितम् ॥ २२ ॥
तस्मान्नाहमिमं भीतमर्पयिष्ये कपोतकम् ।
यदत्र युक्तं मन्यन्ते कर्तुं श्येनाशु तद्वद ॥ २३ ॥
श्येन उ०—आहारात्सर्वभूतानि संभवन्ति नरेश्वर ।
आहारेण विवर्द्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ २४ ॥
शक्यते दुष्करेऽप्यर्थे राजन् वर्तयितुं चिरम् ।
न चाहारविहीनेन शक्यते वर्तितुं क्वचित् ॥ २५ ॥
भक्ष्याद्विलोपितस्यास्मान्मम प्राणा विशाम्पते ।
विसृज्य कायं यास्यन्ति यथा मम पुनर्भवः ॥ २६ ॥
मृते च मयि सर्वं मे पुत्रदारं मरिष्यति ।
रक्षमाणः कपोतं त्वं बहून् प्राणान्न रक्षसि ॥ २७ ॥
धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः परन्तप ।
अविरोधी च यो धर्मः स धर्मः सद्भिरुच्यते ॥ २८ ॥

भाषा

परिश्रम अपने को हो, वह चाहे अपना अंग ही क्यों न हो परन्तु उसको त्यागना चाहिये । मैं 'मारा जाऊँगा' इस ज्ञान से पुरुष को जो दुःख होता है, उससे पराये उस दुःख को अनुमान कर अन्यों की भी रक्षा करनी चाहिये "जैसा तुमको अपना जीवन प्रिय है, वैसा अन्यों को भी अपना जीवन प्रिय है । और जैसे तुम अपने जीवन की रक्षा करते हो वैसे अन्यों के जीवन की भी रक्षा करो" ऐसा महात्माओं का वचन है, इसलिये मैं इस भयभीत कपोत को नहीं दूँगा । हे श्येन ! इस विषय में तुम जो उचित समझते हो, वह तुरन्त ही कहो ॥ १८—२३ ॥

श्येन—हे राजन् ! आहार ही से सब प्राणी उत्पन्न होते और बढ़ते तथा जीते हैं ॥ २४ ॥ हे राजन् ! अन्यान्य विपत्तियों में प्राणी बहुत समय तक रह सकता है परन्तु आहार के बिना कदापि नहीं रह सकता ॥ २५ ॥ हे विशांपते ! भोजन के लोप से मेरे प्राण इस शरीर को छोड़ कर निकल जायँगे और मेरे मर जाने पर मेरे पुत्र, भार्या आदि सब कुटुम्ब मर जायँगे । आप इस एक कपोत की रक्षा से इतने प्राणों की हत्या करते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

हे परन्तप ! जिस धर्म से दूसरे धर्म की बाधा हो, उस धर्म को महापुरुष धर्म नहीं कहते

तस्माद्विरोधे धर्मस्य विचिन्त्य गुरुलाघवम् ।
यतो भूयास्ततो राजन् कुरु धर्मविनिर्णयम् ॥ २९ ॥

राजोवाच—नातो भूयान् परो धर्मः कश्चिदन्योऽस्ति खेचर ।
प्राणिनां भयभीतानामभयं यत्प्रदीयते ॥ ३० ॥
वरमेकस्य सत्वस्य दत्वा त्वभयदक्षिणाम् ।
न तु विप्रसहस्रस्य गोसहस्रमलंकृतम् ॥ ३१ ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ ३२ ॥
हेमधेन्वम्बरादीनां दातारः सुलभा भुवि ।
दुर्लभः पुरुषो लोके सर्वभूतहितप्रदः ॥ ३३ ॥
महतामपि यज्ञानां कालेन क्षीयते फलम् ।
भीताभयप्रदानस्य क्षय एव न विद्यते ॥ ३४ ॥
येन तप्तं तपस्तीर्थे तीर्थसेवा श्रुतं तथा ।
यज्ञं वाऽभयदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३५ ॥
चतुःसागरपर्यन्तां यो दद्यात् पृथिवीमिमाम् ।
अभयं यश्च भूतेभ्यस्तयोरभयदोऽधिकः ॥ ३६ ॥
अपि त्यजे राज्यमिमं शरीरं वापि दुस्त्यजम् ।
न त्विमं भयसन्त्रस्तं त्यजे दीनं कपोतकम् ॥ ३७ ॥

भाषा

किन्तु जो धर्म दूसरे धर्म का विरोधी नहीं होता उसी को धर्म कहते हैं, इसलिये हे राजन् ! धर्मों के इस विरोध में धर्मों की गुरुता और लघुता का विचार कर जिस धर्म में गुरुता हो उसका निर्णय कीजिये ॥ २८ ॥ २९ ॥

राजा—हे खेचर ! भयभीत प्राणियों को अभय देने से परे कोई धर्म नहीं है। सहस्र ब्राह्मणों को, वस्त्र और अलंकार से युक्त सहस्र गौओं के दान से भी वह फल नहीं मिल सकता जो कि एक भयभीत प्राणी को अभय दक्षिणा देने से मिलता है। जो दयावान पुरुष सब प्राणियों को अभय देता है, उसको देहत्याग के अनन्तर कोई भय नहीं होता अर्थात् उस पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है। इस लोक में सुवर्ण, धेनु, वस्त्रादि के दाता बहुतेरे हैं परन्तु सब प्राणियों को अभय का दाता एक पुरुष भी दुर्लभ है। बड़े २ यज्ञों के फल भी भोग से किसी समय में क्षय को प्राप्त होते हैं परन्तु भीतों के अभयदान के फल का क्षय ही नहीं होता। तप, तीर्थसेवा, वेदाध्ययन और यज्ञ भी अभय-दान कि सोलहवीं कला को नहीं पहुँचते ॥ ३०–३५ ॥ चारों सागर से वेष्टित पृथ्वी के दान से अधिक अभय का दान है। इस राज्य को और इस दुस्त्यज शरीर को भी मैं छोड़ दूँ परन्तु भयभीत शरणागत इस दीन कपोत को मैं नहीं छोड़ सकता ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

यन्ममास्ति शुभं किञ्चित्तेन जन्मनि जन्मनि ।
भवेयमहमार्त्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशकः ॥ ३८ ॥
न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम् ॥ ३९ ॥
यथा च नानृता वाणी मयैषा समुदाहृता ।
सत्येन तेन भगवन् प्रसीदतु ममेश्वरः ॥ ४० ॥
आहारार्थं समारम्भस्तव चायं विहङ्गम ।
तद्यथेष्टं समाहारमन्यदेव ददाम्यहम् ॥ ४१ ॥
श्येन उ०—य एष विहितोऽस्माकं धात्रा भक्ष्यः कपोतकः ।
तमेवोत्सृज नाहारैः कार्यमप्यपरैरपि ॥ ४२ ॥
श्येनाः कपोतान् खादन्ति श्रुतिरेषा सनातनी ।
मा राजन् सारतां ज्ञात्वा कदलीस्कन्धमारुह ॥ ४३ ॥
राजोवाच—नाहं कुशास्त्रमार्गेण क्वचिद्वर्त्ते विहङ्गम ।
शास्त्रेणैवोपदिष्टोऽयं धर्मः सत्यदयापरः ॥ ४४ ॥
सर्वसत्वेषु यद्दानमेकसत्वे च या दया ।
सर्वसत्वप्रदानात्तु दयैका च विशिष्यते ॥ ४५ ॥
सर्ववेदाश्च यत्कुर्युः सर्वयज्ञाश्च खेचर ।
सर्वतीर्थाभिषेकाश्च तत् कुर्यात् प्राणिनो दयाम् ॥ ४६ ॥

भाषा

मैं यह चाहता हूँ कि इस जन्म वा पूर्व जन्म में जो कुछ पुण्य मैंने किया उसका यही फल मुझे मिले कि मैं सब प्राणियों के दुःख का नाश करता रहूँ। स्वर्ग और मोक्ष को भी मैं नहीं चाहता किंतु दुःखी प्राणी के दुःख नाश को चाहता हूँ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

यहाँ तक मैंने जो सत्य वाणी कहा है, इस सत्य से भगवान् ईश्वर मुझ पर प्रसन्न हों॥४०॥ हे श्येन ! आहार ही के लिये तुम्हारा यह परिश्रम है तो मैं तुम्हारे लिये यथेष्ट दूसरा आहार देता हूँ ॥४१॥

श्येन—हे राजन् ! कपोत रूपी आहार मेरे लिये ब्रह्मदेव का दिया है। आप इसी को छोड़ दीजिये। मुझे अन्य आहारों से कुछ काम नहीं है। यह सनातनी श्रुति है कि श्येन कपोतों को खाते हैं। इसलिये सार (हीर) के लोभ से आप कदली वृक्ष के स्कन्ध पर आरोहण न कीजिये अर्थात् आपके समझे हुये इस अभयदान रूपी धर्म में पोल है, इसलिये इस धर्म को छोड़िये ॥४२॥४३॥

राजा—हे श्येन ! मैं निन्दित शास्त्रों के मार्ग से कदापि नहीं चलता और सत्य तथा दयारूपी धर्म का उपदेश शास्त्र ही का किया हुआ है ॥ ४४ ॥ सब प्राणियों के लिये दान करने की अपेक्षा एक प्राणी पर भी दया करना अधिक है ॥४५॥ सब वेदों के पढ़ने से और सब यज्ञों के करने से तथा सब तीर्थों में स्नान से जो फल होता है, वही प्राणियों पर दया करने से। मन, वचन, और क्रिया से जो लोग सब प्राणियों के हित में सदा उद्यत रहते हैं वे दया के दिखलाये हुये मार्ग से स्वर्ग जाते हैं।

वाङ्मनःकर्मभिर्ये तु सर्वभूतहितेरताः ।
दयादर्शितपन्थानो ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥ ४७ ॥
गच्छतस्तिष्ठतोऽवापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
यन्न भूतहितार्थाय तत् पशोरिव चेष्टितम् ॥ ४८ ॥
जङ्गमानि च भूतानि स्थावराणि च ये नराः ।
आत्मवत्परिरक्षन्ति यान्ति ते परमां गतिम् ॥ ४६ ॥
प्राणिनं वध्यमानं तु यः शक्तः समुपेक्षते ।
स याति नरकं घोरमिति प्राहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥
राज्यं समस्तं सुमहत् प्रयच्छामि तव द्विज ।
यद्वा कामयसे ह्यन्यत् वर्जयित्वा कपोतकम् ॥ ५१ ॥
श्येन उ०—यदि राजन् कपोतेन सुदृढ़ा प्रीतिरीदृशी ।
ततः कपोततुल्यानि स्वमांसानि प्रयच्छ मे ॥ ५२ ॥
राजोवाच—अनुग्रहमिमं मन्ये यन्मां श्येनाभिभाषसे ।
एतत्तेऽहं प्रयच्छामि स्वमांसं यावदिच्छसि ॥ ५३ ॥
यदप्रियं तत्सुजनश्चिराद्वदति मानवः ।
मम तु प्रियमेवैतत् कस्मादभिहितं चिरात् ॥ ५४ ॥
अध्रुवेण शरीरेण प्रतिक्षणविनाशिना ।
ध्रुवं यो नार्ज्जयेद्धर्मं स शोच्यो मूढ़चेतनः ॥ ५५ ॥
यदि प्राण्युपकाराय देहोऽयं नोपयुज्यते ।
ततः किमुपकारोऽस्य प्रत्यहं क्रियते वृथा ॥ ५६ ॥

भाषा

चलते, खड़े होते, जागते, सोते अर्थात् सब अवस्था में पुरुष की जो क्रिया, प्राणियों के हित के लिये नहीं है, वह पशु की क्रिया के तुल्य है । वृक्षादि स्थावर तथा जंगम प्राणियों की अपने तुल्य जो रक्षा करते हैं वे मनुष्य बड़ी गति को पाते हैं । पंडितों का यह वाक्य है कि जो पुरुष-पालन में समर्थ होकर मारे जाते हुये प्राणी की उपेक्षा करता है, वह घोर नरक को प्राप्त होता है । इसलिये अपना यह समस्त महाराज्य अथवा जो अन्य वस्तु तुम चाहो, वह तुमको मैं देता हूँ परन्तु इस कपोत को मैं कदापि न दूँगा ॥ ४६–५१ ॥

श्येन—हे राजन् ! यदि इस कपोत से आपका ऐसा दृढ़ प्रेम है तो तौल कर इस कपोत के तुल्य अपना मांस मुझे दीजिये ॥ ५२ ॥

राजा०—हे श्येन ! इस तुम्हारे वचन को मैं अनुग्रह समझता हूँ, तुम जितना चाहो मैं अपना उतना मांस देता हूँ ॥ ५३ ॥ जो जिसका प्रिय नहीं होता उसको वह विलम्ब से कहता है और मुझको तो अपना मांस देना प्रिय ही है तो मैं इसके कहने में क्यों विलम्ब करूँ, क्योंकि जो पुरुष इस अध्रुव (क्षणभंगुर) शरीर के देने से ध्रुव (चिरस्थायी) धर्म का लाभ नहीं करता वह मूर्ख शोचनीय है । यदि प्राणी के उपकार में इस देह का उपयोग नहीं किया जाता तो भोजन और वस्त्र से इस शरीर के उपकार में व्यर्थ परिश्रम क्यों किया जाता है ? ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

श्येन उ०—नातिरिक्तमहं याचे तव मांसं जनेश्वर ।
तस्मात्कपोतेन समं प्रयच्छ तुलया धृतम् ॥ ५७ ॥
राजोवाच—तदेवाहं करिष्यामि यन्मां श्येनाभिभाषसे ।
कपोतरक्षणं मे स्यात्तवापि च विहङ्गम ॥ ५८ ॥
लोमश उ०—एवमुक्त्वा स्वमांसानि समुत्कृत्य स पार्थिवः ।
प्रहृष्टस्तोलयामास कपोतेन समं प्रभुः ॥ ५९ ॥
त्यक्त्वात्मफलभोगेच्छां सर्वसत्वसुखैषिणः ।
भवन्ति परदुःखेन साधवो नित्यदुःखिताः ॥ ६० ॥
ध्रियमाणस्तु तुलया कपोतो व्यतिरिच्यते ।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि ततः प्रादात् स पार्थिवः ॥ ६१ ॥
न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं क्वचित् ।
ततः प्रक्षीणमांसोऽसावारुरोह तुलां स्वयम् ॥ ६२ ॥
परदुःखातुरा नित्यं सर्वभूतहिते रताः ।
नापेक्षन्ते महात्मानः स्वसुखानि महान्त्यपि ॥ ६३ ॥
अथ तस्मिन् समारूढ़े तुलामौशीनरे नृपे ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिः पपात ह ॥ ६४ ॥
ततस्तस्य तदा मत्वा धर्मे राज्ञो मतिं पराम् ।
शक्रः स्वरूपमास्थाय वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ६५ ॥

भाषा

श्येन—हे राजन् ! मैं अधिक मांस नहीं चाहता, आप तुला पर इस कपोत को रख इससे तुला हुआ अपना मांस मुझको दीजिये । ॥ ५७ ॥

राजा०—हे श्येन ! मैं वही करूँगा जो तुम कहते हो, क्योंकि ऐसा करने से कपोत कीऔर तुम्हारी दोनों की रक्षा होगी ॥ ५८ ॥

लोमश—राजा ने ऐसा कह बड़े हर्ष से अपने मांसों को काट कपोत के साथ तौला क्योंकि ॥ ५९ ॥ अपने फलभोग की इच्छा को छोड़ अन्य सब प्राणियों के सुख की इच्छा करने वाले साधु जन, अन्यों के दुःख से सदा दुःखी रहते हैं ॥ ६० ॥ तौलने पर कपोत का पलरा नीचे ही रहने लगा और राजा भी अपना मांस काट २ उस तुला के दूसरे पलरे पर रखने लगे परन्तु राजा का मांस तब भी कपोत के तुल्य नहीं हुआ । तदनन्तर राजा स्वयं उस पलरे पर चढ़ गये क्योंकि ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ सब प्राणियों के हित में उद्यत और अन्य प्राणियों के दुःखों से सदा दुःखित महात्मा जन, अपने बड़े २ सुखों की भी अपेक्षा नहीं करते ॥ ६३ ॥

उसी समय देवलोक में दुंदुभि-ध्वनि होने लगी और राजा पर आकाश से पुष्पवृष्टि हुई ॥ ६४ ॥ तदनन्तर देवेन्द्र ने श्येन शरीर को छोड़ अपने दिव्य शरीर से यह कहा कि हे राजन्, आपका कल्याण हो । मैं इन्द्र हूँ तथा यह कपोत अग्नि हैं और आपके धर्म की परीक्षा के लिये हम दोनों आपके

इन्द्रोऽहमस्मि भद्रं ते कपोतो हव्यवाडयम् ।
जिज्ञासमानौ त्वां राजन्निमं यज्ञमुपागतौ ॥ ६६ ॥
नैतत्पूर्वं नृपाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
महाकारुणिकेनेह यत्कृतं दुष्कृतं नृप ॥ ६७ ॥
परार्थे त्यजतः प्राणान् या प्रीतिरभवत्तव ।
प्राणसंश्रयलुब्धेषु न सा प्राणेषु देहिनाम् ॥ ६८ ॥
परार्थैकान्तकल्याणी स्वश्रेयात्यन्तनिष्ठुरा ।
त्वय्येव केवलं राजन् करुणा तरुणायते ॥ ६९ ॥
स्वकर्मपाशैः सुदृढैर्बद्धं कृत्स्नमिदं जगत् ।
त्वं जगद्दुःखमोक्षार्थं बद्धः करुणया नृप ॥ ७० ॥
यथा सर्वात्मना वापि दोषेष्वपहृतं त्वया ।
तथा चैवात्मनः स्थाने वासनापि न विद्यते ॥ ७१ ॥
अकृत्वेर्ष्यां विशिष्टेषु हीनाननवमान्यच ।
अकृत्वा सदृशे स्पर्द्धां त्वं लोकोत्तमतां गतः ॥ ७२ ॥
परोपकारजन्मानो विधात्रा विहिताश्च ये ।
सजला जलदाः खे च सफलाश्च महाद्रुमाः ॥ ७३ ॥
आत्मप्राणैः परप्राणान् यो नरः परिरक्षति ।
स याति परमं धाम यतो नावर्तते पुनः ॥ ७४ ॥
प्राणैरपि त्वया राजन् रक्षितः कृपणो जनः ।
स्वमांसानि प्रदत्तानि द्रव्येष्वन्येषु का कथा ॥ ७५ ॥
पशवोऽपि हि जीवन्ति केवलात्मोदरम्भराः ।
स पुनर्जीवितश्लाघ्यो यः परार्थं हि जीवति ॥ ७६ ॥

भाषा

यज्ञ में आये। यह काम जो महा कारुणिक आपने किया, पूर्व काल में किसी राजा ने नहीं किया और न आगामी में कोई राजा करेगा। दूसरे के लिये प्राणत्याग करने के समय जो हर्ष आपको हुआ वह प्राण के अत्यन्त लोभी अन्य प्राणियों में कदापि नहीं हो सकता। हे राजन्! अन्यों के लिये बड़ी उपकारिणी और अपने कल्याण में अत्यन्त निष्ठुर यह ऐसी करुणा जो तरुणायमान हो रही है सो केवल आप ही में। हे राजन्! यह सारा जगत् अपने २ कर्मपाश से अपने २ लिये भली भाँति बँधा हुआ है, परन्तु एक आप ही ऐसे हैं जो कि जगत् के दुःख छोड़ाने के लिये करुणा रूपी पाश से बँधे हुये हैं। जैसे आपने सब रीति से दोषों का वारण किया वैसे ही यह आश्चर्य है कि आप में "मैंने यह किया" यह वासना भी नहीं है। अपनी अपेक्षा अधिकों में उच्च द्वेष और हीनों का अनादर तथा अपने तुल्यों से स्पर्धा हम बड़े हैं, यह अभिमान) न करने से आप सब लोकों में उत्तम हो गये, क्योंकि प्रायः लोगों में उच्च से द्वेष, हीनों का अनादर और तुल्यों से स्पर्धा ये तीनों या इनमें से

किमत्र चित्रं यत् सन्तः परानुग्रहतत्पराः ।
न हि स्वदेहशीताय जायन्ते चन्दनद्रुमाः ॥ ७७ ॥
परोपकारव्यापारपरो यः पुरुषः सदा ।
स पदं तदवाप्नोति परादपि हि यत्परम् ॥ ७८ ॥
परोपकारैकधियः स्वसुखाय गतस्पृहाः ।
जगद्धिताय जायन्ते साधवस्त्वादृशा भुवि ॥ ७९ ॥
यत्स्वमांसानि भूतेभ्यः समुत्कृत्तानि पार्थिव ।
एषा ते शाश्वती कीर्त्तिर्लोकाननुगमिष्यति ॥ ८० ॥
दिव्यरूपधरश्चैव पालयित्वा महीं चिरम् ।
सर्वलोकानतिक्रम्य ब्रह्मलोकं गमिष्यसि ॥ ८१ ॥
एवमुक्त्वा तमिन्द्राग्नी जग्मतुस्त्रिदशालयम् ।
राजा तु क्रतुमिष्ट्वा च मुमुदे देववच्चिरम् ॥ ८२ ॥
य इदं शृणुयान्नित्यं शिबेश्चरितमुत्तमम् ।
स विधूयेह पापानि प्रयाति त्रिदिवं नरः ॥ ८३ ॥

भाषा

एक अथवा दो दोष अवश्य होते हैं परन्तु आप में ये कोई दोष नहीं हैं । विधाता ने परोपकार के लिये आकाश में सजल जलदों का और पृथ्वी पर सफल वृक्षों का जन्म दिया है, यही मनुष्यों के लिये शिक्षा है। जो मनुष्य अपने प्राणों से दूसरे के प्राणों की रक्षा करता है, वह देहान्त होने पर परब्रह्म को प्राप्त होता है, जिससे कि उसका पुनर्जन्म नहीं होता । हे राजन् ! अपने मांस दान के द्वारा आपने इस कृपण कपोत की अपने प्राणों से भी रक्षा किया, अन्य द्रव्यों की तो क्या कथा है। यों तो पशु भी केवल अपने पेट को भरकर जीते हैं परन्तु उसी का जीवन, जीवन है जो कि परोपकार के लिये जीता है। इसमें क्या आश्चर्य है कि जो महापुरुष परोपकार में तत्पर रहते हैं, क्योंकि चन्दन द्रुम अपने शरीर को शीतल करने के लिये नहीं उत्पन्न होते । जो पुरुष, परोपकार रूपी व्यापार में सदा तत्पर रहता है वह अन्त में उस उत्तम स्थान को पाता है कि जिससे परे कोई स्थान ही नहीं है। अपने सुख को छोड़ परोपकार में तत्पर आप ऐसे साधुओं के, पृथ्वी पर जन्म होने का परम प्रयोजन जगत् का उपकार ही है। आपने अन्य प्राणी के लिये जो अपने मांसों को काटा है, यह आपकी अद्वितीय और विमल कीर्त्ति सदा ही लोकों में व्याप्त रहेगी और आप दिव्य रूप से बहुत समय पर्यन्त पृथ्वी का पालन कर अन्त में सब लोकों को उल्लंघन करते ब्रह्मलोक को जाइयेगा ॥ ६५–८१ ॥

लोमश—ऐसा कहकर इन्द्र और अग्नि स्वर्गलोक को चले गये और राजा भी तत्क्षण पूर्ण शरीर हो, उस यज्ञ को समाप्त कर, देवों के तुल्य प्रजापालन करने लगे ॥ ८२ ॥ जो मनुष्य राजा शिबि के इस उत्तम चरित्र को श्रवण करता है वह यहाँ पापों का नाश कर अन्त में स्वर्गलोक को जाता है ॥ ८३ ॥

विचिन्त्य राजा स्वशरीरमध्रुवं
ध्रुवं यशः सर्वजनस्य दुर्लभम् ।
शरीरदानात्परजीवरक्षणं
विधाय लोकत्रयभूषणं ययौ ॥ ८४ ॥

१२—अथाऽहिंसा

श्रुतिः—न हिंस्यात् सर्वा भूतानि ।
देवलः—श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥
उद्योग० ३८—न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७२ ॥
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥ ७३ ॥
शान्ति० ३०६—मनसोऽप्रतिकूलानि प्रेत्य चेह च वाञ्छसि ।
भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः ॥
आत्मनः प्रतिकूलानि परेभ्यो यदि नेच्छसि ।
परेषां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तय ततो मनः ॥

भाषा

इस रीति से अपने शरीर को क्षणभंगुर और अन्य जनों के दुर्लभ यश को चिरस्थायी समझ राजा शिवि अपने शरीरदान से अन्य जीव की रक्षा के द्वारा तीनों लोकों को शोभित कर चले गये ॥ ८४ ॥

१२—अहिंसा निरूपण

"न हिंस्यात्" किसी प्राणी की हिंसा न करै ।

"श्रूयताम्" धर्म के सर्वस्व को सुनो और सुनकर निश्चय भी करो कि अपने लिये जो प्रतिकूल हो उस काम को दूसरे के विषय में न करै । अपने विषय में दूसरे से किये हुये जिस काम को पुरुष न चाहे दूसरे के विषय में आप भी उस काम को न करै और यह समझे कि यदि मैं ऐसा करूँगा तो उसके बदले में अवश्य वैसा ही दुःख पाऊँगा ।

"न तत्परस्य०" यह धर्मों का संक्षेप है कि वह काम दूसरों के विषय में न करे जो अपने विषय में प्रतिकूल हो ॥ ७२ ॥ जो अपने जीवन को चाहे वह दूसरे के प्राण को कैसे निकाले और जिस दशा को अपने में न चाहे, उस दशा में दूसरे को कैसे पहुँचावे ॥ ७३ ॥

"मनसो०" यदि इस लोक और परलोक में अपने लिये सुख ही चाहते हो तो जितेन्द्रिय होकर प्राणियों के दुःखकारी कर्म से निवृत्त हो जाओ । यदि दूसरों के किये हुये अपने दुःख को नहीं चाहते तो दूसरों के दुःखदायी कर्म से अपने को निवृत्त करो ।

मनुः ५—योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥ ४५ ॥
यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥
यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥ ४७ ॥
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥
न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

भाषा

"योऽहिंसकानि०" जो पुरुष अहिंसक-हरिण आदि प्राणियों को अपने सुख के लिये मारता है, वह इस लोक और परलोक में कदापि सुख नहीं पाता ॥ ४५ ॥ जो प्राणियों को बंधन और मरण का क्लेश नहीं दिया चाहता वह पुरुष अनन्त सुख पाता है। जो पुरुष दंश, मशकादि पर्यन्त किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता वह जिस धर्म को चाहे वा जिस काम को करना चाहे अथवा परमात्मा के ध्यानादि दुष्कर जिन कर्मों में यत्न करे वे सब सहज में उसके सिद्ध हो जाते हैं। प्राणी को मारे बिना मांस किसी खेत में धान्यादिवत् नहीं उत्पन्न होता। प्राणी के बध से नरक ही होता है। इसलिये वैदिक विधि के बिना, कदापि मांस भक्षण न करे ॥ ४६–४८ ॥

मांस की उत्पत्ति अति घृणित शुक्र शोणितादि से होती है। तथा प्राणियों के बध बन्धन भी बड़े क्रूर कर्म हैं, ऐसा निश्चय कर वैदिक मांस भक्षण से भी निवृत्त होना चाहिये। अवैदिक मांस भक्षण की तो चर्चा ही क्या है। क्योंकि सन्ध्योपासन और पितृश्राद्धादि आवश्यक (जिन कर्मों के न करने से पाप होता है) कर्मों में मांस का अवश्य उपयोग करना वेदादि शास्त्र में कहीं विहित नहीं है, जिससे यह स्पष्ट ही निश्चित होता है कि मांस का भक्षण किसी आवश्यक कर्म में आवश्यक नहीं है और अश्वमेधादि यज्ञ तो आवश्यक नहीं हैं अर्थात् उनके न करने से पाप नहीं होता किन्तु वे केवल काम्य ही हैं अर्थात् जो उनके फल की कामना करे वह यदि चाहे तो उन यज्ञों को करे, तो ऐसे अनावश्यक कर्मों में यदि मांस का उपयोग वेद में कहा है तो इतने मात्र से वैदिक मांस भक्षण भी आवश्यक नहीं है और इसी अभिप्राय से अश्वमेध की उपासना आदि शुद्ध (जिसमें मांस का उपयोग नहीं होता) अन्यान्य अनेक ऐसे उपायों का वेद में विधान है जिनसे कि अश्वमेधादि के फलों का पूर्ण लाभ होता है ॥ ४९ ॥ जो पुरुष वैदिक विधि के बिना पिशाचों की नाईं मांस भक्षण नहीं करता वह लोक में सबका प्रिय होता है ॥ ५० ॥ हिंसक आठ प्रकार के

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति।
अनभ्यर्च्य पितॄन् देवान् ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

मांसभक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

अनु० ११५—अहिंसा परमो धर्म इत्युक्तं बहुशस्त्वया।
श्राद्धेषु च भवानाह पितॄनामिषकाङ्क्षिणः ॥ १ ॥

मांसैर्बहुविधैः प्रोक्तस्त्वया श्राद्धविधिः पुरा।
अहत्वा च कुतो मांसमेवमेतद्विरुध्यते ॥ २ ॥

भाषा

होते हैं:—१ अनुमन्ता (जिसकी अनुमति के बिना बध नहीं हो सकता), (२) विशसिता (बध किये प्राणियों के अंगों का काटनेवाला), (३) निहन्ता (मारनेवाला), (४) क्रेता (मांस को खरीदनेवाला), (५) विक्रेता (मांस का बेचनेवाला), ६) संस्कर्ता (मांस को पकानेवाला), (७) उपहर्त्ता (उपहार रूप से मांस का देनेवाला), (८) खादक (मांस खानेवाला) ॥ जो पुरुष देवता और पितर के वैदिक अर्चन के बिना अपने मांस को दूसरे के मांस से बढ़ाना चाहता है, उससे अधिक कोई पुरुष पापी नहीं है ॥ ५२ ॥ जो मनुष्य सौ वर्ष तक प्रति वर्ष अश्वमेध यज्ञ करे और जो पुरुष अपने जीवन पर्यन्त कदापि मांस भक्षण न करे उन दोनों के लिये स्वर्गादि पुण्यलोक तुल्य ही होते हैं। फल, मूल, नीवार (तिन्नी) आदि शुद्ध वस्तुओं के भोजन से वह फल नहीं मिल सकता जो कि मांस के वर्जन से मिलता है ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ (मांस) शब्द का पण्डित गण यह अर्थ करते हैं कि 'माम्' (मुझको) 'स' (वह) अर्थात् इस लोक में मैं जिसका मांस खाता हूँ, वह परलोक में मुझको खायगा ॥ ५५ ॥

"अहिंसा" राजा युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से कहा कि आप अनेक बार यह कह चुके हैं कि 'अहिंसा' परम धर्म है, और यह भी आप ही कहते हैं कि पितर लोग श्राद्ध में मांस चाहते हैं। तथा अनेक प्रकार के मांसों से श्राद्ध का विधान भी आप कह चुके हैं और मांस बिना प्राणि-हिंसा के नहीं मिल सकता, इसलिये आपके इन वाक्यों के अन्योन्य में विरोध सा ज्ञात होता है, इसी से मांस वर्जन रूपी धर्म में मुझको संशय होता है। इस कारण मैं आपके मुख से इस अहिंसा रूपी सनातन धर्म के तत्त्व को निश्चय किया चाहता हूँ कि मांस के खानेवाले को क्या दोष होता है? और न खानेवाले

जातो नः संशयो धर्मे मांसस्य परिवर्ज्जने ।
दोषो भक्षयतः कः स्यात् कश्चाभक्षयतो गुणः ॥ ३ ॥

हत्वा भक्षयतो वाऽपि परेणापि हतस्य वा ।
हन्याद्वा यः परस्यार्थे क्रीत्वा वा भक्षयेन्नरः ॥ ४ ॥

एतदिच्छामि तत्वेन कथ्यमानं त्वयाऽनघ ।
निश्चयेन चिकीर्षामि धर्ममेतं सनातनम् ॥ ५ ॥

कथमायुरवाप्नोति कथं भवति सत्ववान् ।
कथमव्यङ्गतामेति लक्षण्यो जायते कथम् ॥ ६ ॥

भीष्म उ०—मांसस्याभक्षणाद्राजन् यो धर्मः कुरुनन्दन ।
तम्मे शृणु यथा तत्त्वं यथाऽस्य विधिरुत्तमः ॥ ७ ॥

रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिं सत्वं बलं स्मृतिम् ।
प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै महात्मभिः ॥ ८ ॥

ऋषीणामत्र संवादो बहुशः कुरुनन्दन ।
बभूव तेषां तु मतं यत्तच्छृणु युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयन् मधुमांसं च सममेतद् युधिष्ठिर ॥ १० ॥

सप्तर्षयो बालखिल्यास्तथैव च मरीचिपाः ।
अमांसभक्षणं राजन् प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ ११ ॥

भाषा

को क्या गुण होता है ? तथा मार कर खानेवाले को क्या दोष होता है ? और दूसरे से मारे हुये प्राणी के मांस खानेवाले को क्या दोष लगता है ? और जो दूसरे के लिये प्राणी को मारता है उसको क्या दोष होता है ? तथा जो मांस को खरीद कर खाता है उसको क्या दोष होता है ? पुरुष कैसे पूर्ण आयु पाता है ? तथा कैसे सत्वान् (धीर) होता है ? और कैसे अव्यंग (अंग-भंग से रहित) होता है ? और कैसे अच्छे लक्षणों से युक्त होता है ?) ॥ १—६ ॥

भीष्म—हे राजन् ! कुरुनन्दन ! मांस के न खाने से जो धर्म होता है और मांस भक्षण की जो विधि है, उसका तत्त्व मुझसे सुनो ॥ ७ ॥ रूप, अव्यंगता, आयु, बुद्धि, सत्त्व, बल और स्मृति के लाभ के लिये महात्माओं ने मांस को वर्जित किया है ॥ ८ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस विषय में ऋषियों के बहुत से संवाद हो चुके हैं, उनके मतों को हमसे सुनो ॥ ९ ॥ प्रतिमास में अश्वमेध करना और आजन्म मांस न खाना ये दोनों तुल्य हैं ॥ १० ॥ हे राजन् ! कश्यप, अत्रि आदि सप्तर्षि, बालखिल्य नामक ऋषिगण और मरीचिप (सूर्य और चन्द्रमा के किरणों को पान करने वाले) ये पंडित मांस भक्षण के वर्जन की प्रशंसा करते हैं ॥ ११ ॥

न भक्षयति यो मांसं न च हन्यान्न घातयेत् ।
तं मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥
अधृश्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
साधूनां सम्मतो नित्यं भवेन्मांसं विवर्जयन् ॥ १३ ॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नारदः प्राह धर्मात्मा नियतं सोऽवसीदति ॥ १४ ॥
ददाति यजते चापि तपस्वी च भवत्यपि ।
मधुमांसनिवृत्तोऽपि प्राह चैवं बृहस्पतिः ॥ १५ ॥
सदा यजति सत्रेण सदा दानं प्रयच्छति ।
सदा तपस्वी भवति मधुमांसविवर्ज्जनात् ॥ १७ ॥
सर्वभूतेषु यो विद्वान् ददात्यभयदक्षिणाम् ।
दाता भवति लोके स प्राणानां नात्र संशयः ।
एतं वै परमं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ २० ॥
प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः ॥ २१ ॥
मृत्युतो भयमस्तीति विदुषां भूतिमिच्छताम् ।
किं पुनर्हन्यमानानां तरसा जीवितार्थिनाम् ॥
अरोगाणामपापानां पापैर्मांसोपजीविभिः ॥ २३ ॥

भाषा

स्वायम्भुव मनु ने कहा है कि जो मांस भक्षण न करे और प्राणियों का बध न करे, न करावे वह सब प्राणियों का मित्र होता है ॥ १२ ॥ जो मांस वर्जन करता है उसको कोई प्राणी दबा नहीं सकता और वह सब प्राणियों का विश्वासपात्र तथा साधु जनों का माननीय होता है ॥ १३ ॥

नारद महर्षि ने यह कहा है कि दूसरे के मांस से जो अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह अवश्य ही दुःख में मग्न हो जाता है ॥ १४ ॥ और देवेन्द्र के गुरु बृहस्पति महर्षि ने यह कहा है कि सदा मांस के वर्जन करने वाले को सब यज्ञों और तपों का फल होता है । अर्थात् वह पुरुष मानो सदा यज्ञ करता है, सदा दान देता है और सदा तप करता है ॥ १५ ॥ १७ ॥ पंडित लोग इसको परम धर्म कह कर यों प्रशंसा करते हैं कि जो विवेकी पुरुष सब प्राणियों के लिये अभय रूपी दक्षिणा देता है, इसमें कुछ संशय नहीं है कि सब प्राणियों को प्राणदान देने का उसको फल होता है ॥ २० ॥ जैसे अपना प्राण अपने को प्रिय होता है वैसे ही सब प्राणियों को अपना २ प्राण प्रिय होता है । इस अनुमान से सबके प्राणों को अपने प्राण के तुल्य निश्चय करना चाहिये ॥ २१ ॥

हे महाराज ! मृत्यु का भय तो उन पंडितों को भी होता है जो कि इस लोक में अपनी उन्नति चाहते हैं और मांसोपजीवी पापी पुरुषों के हाथ से बलात्कार पूर्वक मारे जाते हुये जीवनलोभी,

तस्माद्विद्धि महाराज मांसस्य परिवर्ज्जनम् ।
धर्मस्यायतनं श्रेष्ठं स्वर्गस्य च सुखस्य च ॥ २४ ॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥ २५ ॥
न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद्वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे ॥ २६ ॥
कान्तारेष्वथ घोरेषु दुर्गेषु गहनेषु च ।
रात्रावहनि सन्ध्यासु चत्वरेषु सभासु च ॥ २८ ॥
उद्यतेषु च शस्त्रेषु मृगव्यालभयेषु च ।
अमांसभक्षणे राजन् भयमन्यैर्न गच्छति ॥ २९ ॥
शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ॥ ३० ॥
यस्माद्ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते ।
तस्माद्विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ ३३ ॥
त्रातारं नाधिगच्छन्ति रौद्राः प्राणिविहिंसकाः ।
उद्वेजनीया भूतानां यथा व्यालमृगास्तथा ॥ ३४ ॥
लोभाद्वा बुद्धिमोहाद्वा बलवीर्यार्थमेव च ।
संसर्गाद्वाथ पापानामधमा रुचिता नृणाम् ॥ ३५ ॥

भाषा

नीरोग और निरपराध प्राणियों के मृत्यु भय की तो कथा ही क्या है ! इसलिये आप यह अटल निश्चय कीजिये कि मांस का वर्जन, धर्म, स्वर्ग और सब सुखों का एक उत्तम स्थान है ॥२३॥२४॥ अहिंसा परम धर्म है, परम तप है, परम सत्य है, जिससे सब धर्म होते हैं ॥ २५ ॥ मांस, तृण वा काष्ठ वा पाषाण से नहीं उत्पन्न होता, किन्तु प्राणियों के हिंसा ही से, इसलिये मांस के भक्षण में दोष है ॥ २६ ॥

हे राजन् ! मांस भक्षण न करने वाला, सब स्थान और सब दशा में निर्भय होता है अर्थात् दूर शून्य मार्गों में, भयानक दुर्गों में, निर्जन बनों में, रात्रि वा दिन वा सन्ध्याओं में, चत्वरों में, सभाओं में, घोर युद्धों में, सिंह, व्याघ्रादि के समागम में, उसको दूसरे से भय नहीं होता॥ २८ ॥ २९ ॥ और लोक में वह सब प्राणियों का शरणदाता और विश्वासपात्र तथा उद्वेग न करने वाला होता है और उसको भी किसी से उद्वेग नहीं होता ॥ ३० ॥ मांस का यह स्वभाव है कि वह हिंसा करने वालों के जीवन को ग्रास कर जाता है, इसलिये जो पुरुष अपना भला चाहे वह कदापि मांस भक्षण न करे ॥ ३३ ॥

जैसे प्राणियों के हिंसक सिंह, व्याघ्रादि सब, प्राणियों के लिये मारने के योग्य होते हैं और जिस समय वह मारे जाते हैं उस समय कोई उनका रक्षक नहीं मिलता वही दशा हिंसक पुरुषों की भी होती है ॥ ३४ ॥ लोभ वा मूर्खता वा बलवीर्य की इच्छा अथवा पापियों के सहवास से मांस भक्षण में पुरुषों की रुचि होती है ॥ ३५ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति ।
उद्विग्नवासो वसति यत्र तत्राभिजायते ॥ ३६ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
मांसस्याभक्षणं प्राहुर्नियताः परमर्षयः ॥ ३७ ॥
इदन्तु खलु कौन्तेय श्रुतमासीत् पुरा मया ।
मार्कण्डेयस्य वदतो ये दोषा मांसभक्षणे ॥ ३८ ॥
यो वै खादति मांसानि प्राणिनां जीवितैषिणाम् ।
हतानां वा मृतानां वा यथा हन्ता तथैव सः ॥ ३९ ॥
धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः ।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥ ४० ॥
अखादन्ननुमोदंश्च भावदोषेण मानवः ।
योऽनुमोदति हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते ॥ ४१ ॥
अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सुखी ।
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान् प्राणिनामिह ॥ ४२ ॥
हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः ।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्ट इति नः श्रुतम् ॥ ४३ ॥
अप्रोक्षितं वृथा मांसं विधिहीनं न भक्षयेत् ।
भक्षयन्निरयं याति नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ४४ ॥

भाषा

अपने मांस को जो दूसरों के मांस से बढ़ाना चाहता है उसके लिये उद्वेग और सूकरादि निन्द्य योनियों में जन्म की कमी नहीं होती ॥ ३६ ॥ अनेक नियमों से युक्त बड़े २ महर्षि मुक्तकण्ठ होकर यह कहते हैं कि मांस भक्षण न करना धन्य है, यशस्य है, आयुष्य है, स्वर्ग्य है और बड़ा स्वस्त्ययन (मंगल मार्ग) है ॥ ३७ ॥

हे कौन्तेय ! मांस भक्षण में मैंने जो अनेक दोषों को कहा है, यह मैंने मार्कण्डेय महर्षि से सुना था ॥ ३८ ॥ जो मारे वा मरे प्राणियों का मांस खाता है, वह मारने वाले के तुल्य ही है क्योंकि वध तीन प्रकार का होता है अर्थात् खरीदने वाला धन से, खाने वाला उपभोग से, मारने वाला अस्त्रादि से वध करता है ॥ ३९ ॥ ४० ॥ जो मांस नहीं खाता परन्तु अपने भावदोष से प्राणि-वध का अनुमोदन करता है, उसको भी वही दोष लगता है ॥ ४१ ॥ जो मांस नहीं खाता वह इस लोक में सी प्राणियों का अधृष्य (दबाने के अयोग्य), चिरंजीवी, नीरोग और सुखी होता है ॥ ४२ ॥

मैंने यह सुना है कि सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान की अपेक्षा भी मांस के त्याग में अधिक धर्म है । मनुष्य को चाहिये कि अवैदिक अर्थात् विधिहीन वृथा मांस को कदापि न भक्षण करे क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि उसके भक्षण में मनुष्य नरक को प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

प्रोक्षिताभ्युक्षितं मांसं तथा ब्राह्मणकाम्यया ।
अल्पदोषमिदं ज्ञेयं विपरीते तु लिप्यते ॥ ४५ ॥
खादकस्य कृते जन्तून् यो हन्यात् पुरुषाधमः ।
महादोषतरस्तत्र घातको न तु खादकः ॥ ४६ ॥
भक्षयित्वाऽपि यो मांसं पश्चादपि निवर्त्तते ।
तस्यापि सुमहान् धर्मो यः पापाद्धि निवर्त्तते ॥ ४८ ॥
आहर्त्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च घातकाः सर्व एव ते ॥ ४९ ॥
इदमन्यत्तु वक्ष्यामि प्रमाणं विधिनिर्मितम् ।
पुराणमृषिभिर्जुष्टं वेदेषु परिनिष्ठितम् ॥ ५० ॥
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः प्रजार्थिभिरुदाहृतः ।
यथोक्तं राजशार्दूल न तु तन्मोक्षकाङ्क्षिणाम् ॥ ५१ ॥
हविर्यत् संस्कृतं मन्त्रैः प्रोक्षिताभ्युक्षितं शुचि ।
वेदोक्तेन प्रमाणेन पितॄणां प्रक्रियासु च ॥ ५२ ॥
अतोऽन्यथा वृथा मांसमभक्ष्यं मनुरब्रवीत् ।
अस्वर्ग्यमयशस्यं तद् रक्षोवद् भरतर्षभ ॥ ५३ ॥
विधिहीनं नरः पूर्वं मांसं राजन् न भक्षयेत् ।
अप्रोक्षितं वृथा मांसं विधिहीनं न भक्षयेत् ॥ ५४ ॥

भाषा

और वैदिक यज्ञ में उपयुक्त तथा ब्राह्मण रूपी अतिथि के लिये सम्पादित मांस के भक्षण में भी दोष है, परन्तु थोड़ा अर्थात् यज्ञ और ब्राह्मण-सत्कार से जो उत्तम फल होता है, उसकी अपेक्षा न्यून है ॥ ४५॥ और जो पुरुषाधम, मांस खाने वाले अन्यों के लिये प्राणि-वध करता है वह मांस खाने वालों की अपेक्षा बहुत ही बढ़ा चढ़ा पापी है ॥ ४६ ॥ जो पुरुष कुछ दिन मांस खाने पर भी पश्चात् मांस का त्याग कर दे उसको भी बड़ा धर्म होता है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

अब मैं वेदोक्त और ऋषियों से सेवित दूसरा पुराना प्रमाण दिखलाता हूँ कि अश्वमेधादि यज्ञ प्रवृत्तिरूपी धर्म उन्हीं मनुष्यों के लिये है जो कि संसार के व्यापार में बँधे हुये हैं अर्थात् उनके काम प्रायः ऐसे होते हैं कि जिनमें पुण्य अधिक और पाप न्यून होता है । और उक्त यज्ञादि रूपी धर्म, मोक्ष चाहने वाले विरक्तों के लिये नहीं है ॥ ५० ॥ ५१ ॥

वेदोक्त प्रमाण के अनुसार मंत्रों से संस्कार किया हुआ देवकार्य वा पितृकार्य में उपयुक्त पवित्र मांस से अन्य मांसों को मनु नें वृथा मांस और अभक्ष्य कहा है । हे भरतर्षभ ! उस मांस का भक्षण इस लोक और परलोक में भी महा दुखदायी है । ऐसे मांस का खाना राक्षसों और पिशाचों का काम है । इसलिये मनुष्य को वृथा मांस का भक्षण नहीं करना चाहिये ॥ ५२–५४ ॥

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम् ।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः ॥ ५५ ॥
श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥ ५६ ॥
ऋषिभिः संशयं पृष्टो वसुश्चेदिपतिः पुरा ।
अभक्ष्यमिति मांसं यः प्राह भक्ष्यमिति प्रभो ॥ ५७ ॥
आकाशादवनीं प्राप्तस्ततः स पृथिवीपतिः ।
एतदेव पुनश्चोक्त्वा विवेश धरणीतलम् ॥ ५८ ॥
प्रजानां हितकाम्येन त्वगस्त्येन महात्मना ।
आरण्याः सर्वदैवत्याः प्रोक्षितास्तपसा मृगाः ॥ ५९ ॥
क्रिया ह्येवं न हीयन्ते पितृदैवतसंश्रिताः ।
प्रीयन्ते पितरश्चैव न्यायतो मांसतर्पिताः ॥ ६० ॥
इदन्तु शृणु राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयाऽनघ ।
अभक्षणे सर्वसुखं मांसस्य मनुजाधिप ॥ ६१ ॥
यस्तु वर्षशतं पूर्णं तपस्तप्येत् सुदारुणम् ।
यश्चैव वर्जयेन्मांसं सममेतन्मतं मम ॥ ६२ ॥
कौमुदे तु विशेषेण शुक्लपक्षे नराधिप ।
वर्जयेन्मधुमांसानि धर्मो ह्यत्र विधीयते ॥ ६३ ॥

भाषा

सिद्धान्त तो यह है कि मांस चाहे वेदोक्त रीति से संस्कृत हो अथवा वृथा मांस हो परन्तु जो पुरुष यह चाहे कि मुझको हिंसा-दोष कुछ भी न लगे, वह किसी मांस को भक्षण न करे क्योंकि यह अब तक सुना जाता है कि अति प्राचीन समय में बड़े २ यज्ञकर्ता लोग यज्ञों में चावल के आटे ही का पशु बनाते थे ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

ऋषियों ने स्वर्गीय 'वसु' नामक चेदिराज से प्राचीन समय में यज्ञोपयुक्त मांस के विषय में भक्ष्य और अभक्ष्य का संशय पूछा । और राजा ने उसको भक्ष्य कहा । इससे तत्क्षण ही चेदिराज आकाश से पृथ्वी पर गिर पड़े और गिरने पर भी पुनः वही कहा, इस कारण पृथ्वी से भी पाताल में घुस गये ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

महात्मा अगस्त्य महर्षि ने तो वन के हरिणादि पशु विशेषों को सामान्य रूप से वेदोक्त मंत्र से प्रोक्षित कर दिया जिससे कि वे पशु, वेदोक्त देवकार्य और पितृकार्य में काम आया करते हैं और उनके मांस से उचित रीति पर पितरों की तृप्ति होती है ॥ ५९ ॥ ६० ॥

हे राजन् ! यह तो मुझसे सुनिये कि मांस भक्षण न करने से सब सुख ही सुख है और मेरा यह मत है कि सौ वर्ष पर्यन्त घोर तप करने तथा कदापि मांस को न खाने में फल तुल्य ही है ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ और यदि मांस खाने के बिना न रहा जाय तो भी शरद् ऋतु के शुक्ल पक्षों में

चतुरो वार्षिकान् मासान् यो मांसं परिवर्जयेत् ।
चत्वारि भद्राण्याप्नोति कीर्त्तिमायुर्यशो बलम् ॥ ६४ ॥
अथवा मांसमेकं वै सर्वमांसान्यभक्षयन् ।
अतीत्य सर्वदुःखानि सुखं जीवेन्निरामयः ॥ ६५ ॥
वर्जयन्ति हि मांसानि मासशः पक्षशोऽपि वा ।
तेषां हिंसानिवृत्तानां ब्रह्मलोको विधीयते ॥ ६६ ॥
मांसन्तु कौमुदं पक्षं वर्जितं पार्थ राजभिः ।
सर्वभूतात्मभूतस्थैर्विदितार्थपरावरैः ॥ ६७ ॥
नाभागेनाम्बरीषेण गयेन च महात्मना ।
आयुनाऽथानरण्येन दिलीपरघुपूरुभिः ॥ ६८ ॥
कार्तवीर्यानिरुद्धाभ्यां नहुषेण ययातिना ।
नृपेण विष्वक्सेनेन तथैव शशबिन्दुना ॥ ६९ ॥
युवनाश्वेन च तथा शिविनौशीनरेण च ।
मुचुकुन्देन मान्धात्रा हरिश्चन्द्रेण वा विभो ॥ ७० ॥
श्येनचित्रेण राजेन्द्र सोमकेन वृकेण च ।
रैवतेन रन्तिदेवेन वसुना सृञ्जयेन च ॥ ७२ ॥
दुष्यन्तेन करूषेण रामालर्कनलैस्तथा ।
विरूपाश्वेन निमिना जनकेन च धीमता ॥ ७३ ॥
ऐलेन पृथुना चैव वीरसेनेन चैव ह ।
इक्ष्वाकुणा शम्भुना च श्वेतेन सगरेण च ॥ ७४ ॥
अजेन धुन्धुना चैव तथैव च सुबाहुना ।
हर्यश्वेन च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम् ॥ ७५ ॥

भाषा

कदापि मांस भक्षण न करै क्योंकि इसमें अन्य काल मांस के भक्षण की अपेक्षा बहुत अधिक दोष है ॥ ६३ ॥ बरसात के चार महीने में जो मांस नहीं खाता वह इस लोक में कीर्ति, आयु, बल और परलोक में भी यश पाता है ॥ ६४ ॥

अथवा प्रत्येक वर्ष में एक महीना भी सब मांसों के वर्जन का यह फल है कि इस लोक में सुख से जीता है ॥ ६५ ॥ और यह आचार भी है कि प्रति वर्ष राजा लोग भी किसी २ मासों और पक्षों में सब प्रकार के मांसों का वर्जन किया करते हैं और उनके लिये इसका फल ब्रह्मलोक है॥ ६६ ॥

परन्तु हे पार्थ ! उत्तम और विवेकी सब राजाओं ने शरद् ऋतु के शुक्ल पक्ष में कदापि किसी प्रकार के मांस का भक्षण नहीं किया अर्थात् नाभाग, अम्बरीष, गय, आयु, अनरण्य, दिलीप, रघु, पूरु, कार्तवीर्य, अनिरुद्ध, नहुष, ययाति, नृग, विष्वक्सेन, शशविन्दु, युवनाश्व, उशीनर वंशी शिवि, मुचुकुन्द, मान्धाता, हरिश्चन्द्र, श्येनचित्र, सोमक, वृक, रैवत, रन्तिदेव, वसु, सृंजय, दुष्यन्त,

एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम् ।
शारदं कौमुदं मांसं ततस्ते स्वर्गमाप्नुवन् ॥ ७६ ॥

तदेतदुत्तमं धर्ममहिंसाधर्मलक्षणम् ।
ये चरन्ति महात्मानो नाकपृष्ठे वसन्ति ते ॥ ७८ ॥

मधुमांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः ।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥ ७६ ॥

अमांसभक्षणविधिं पवित्रमृषिपूजितम् ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वकामैर्महीयते ॥
विशिष्टतां ज्ञातिषु च लभते नात्र संशयः ॥ ८२ ॥

आपन्नश्चापदो मुच्येद् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
मुच्येत्तथातुरो रोगाद् दुःखान्मुच्येत दुःखितः ॥ ८३ ॥

तिर्यग्योनिं न गच्छेच्च रूपवांश्च भवेन्नरः ।
ऋद्धिमान् वै कुरुश्रेष्ठ प्राप्नुयाच्च महद्यशः ॥ ८४ ॥

एतत्ते कथितं राजन् मांसस्य परिवर्जने ।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च विधानमृषिनिर्मितम् ॥ ८५ ॥ इति ।

भाषा

करूष, राम, अलर्क, नल, विरूपाश्व, निमि, जनक, ऐल, पुरूरवा, पृथु, वीरसेन, इक्ष्वाकु, शंभु, श्वेत, सगर, अज, धुन्धु, सुबाहु, हर्यश्व, क्षुप, भरत, ये राजा तथा प्राचीन अन्यान्य राजा शरद्-काल के शुक्ल पक्ष में मांस भक्षण न करने से स्वर्ग को प्राप्त हुये ॥ ६७–७८ ॥

इस अहिंसा रूपी धर्म को जो महात्मा करते हैं, वे अन्त में स्वर्ग के पृष्ठ पर वास करते हैं ॥ ७८ ॥ जो धार्मिक जन मांस और मद्य को अपने जन्म से जीवन पर्यन्त वर्जन करते हैं, वे सब मुनि हैं। जो मनुष्य इस मांस वर्जन रूपी व्रत को सदा करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है और उसके सब काम सिद्ध होते हैं तथा अपने जातियों में श्रेष्ठ होता है। यदि वह आपत्ति में हो तो उससे, और यदि बन्धन में हो तो उससे, तथा यदि आतुर हो तो रोग से और यदि दुःखी हो तो दुःख से छूट जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ७९ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ और मनुष्य से नीची योनि में वह पुरुष कदापि नहीं जाता और रूपवान् तथा धनवान् होता है और उसका यश भी बड़ा होता है ॥ ८४ ॥

हे राजन्! मांस के वर्जन में प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग के अनुसार ऋषियों का निर्णय किया हुआ विधान यह मैंने तुमसे कहा है ॥ ८५ ॥

१३–अथ श्रद्धा

देवलः—प्रत्ययो धर्मकार्येषु सदा श्रद्धेत्युदाहृता ।
नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य धर्मकृत्यप्रयोजनम् ॥ इति ॥

देवीपुराणे—कायक्लेशैर्न बहुभिर्न चैवार्थस्य राशिभिः ।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धाहीनैः सुरैरपि ॥ इति ॥

बृहदारण्यकोपनिषत् अ० ५ ब्रा० ९—किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति ? । यमदेवत इति । स यमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? यज्ञ इति । कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति ? दक्षिणायामिति । कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति ? श्रद्धायामिति । यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धाया ᳪ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति । कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति ? हृदय इति होवाच । हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः ॥ २१ ॥

मनुः अ० ४—श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥२२६॥

भाषा

१३–श्रद्धानिरूपण

"प्रत्ययो०" धर्मकार्यों पर सदा फलदायी विश्वास करना श्रद्धा है। क्योंकि श्रद्धारहित मनुष्य को धर्मकार्य से कुछ लाभ नहीं होता ।

"कायक्लेशै०"–धर्म बड़ा सूक्ष्म है, इसी से श्रद्धा के बिना, अनेक कायक्लेश अथवा अधिक धनं से धर्म नहीं मिल सकता ।

"किं देवतो०"–पूर्व जन्म में याज्ञवल्क्य ने यह कहा है कि "मैं दिगात्मक हूँ । अर्थात् सब दिशायें मुझ ही में हैं । निदान दिशायें मुझसे अन्य नहीं हैं । मैं परब्रह्म हूँ"। उसके अनुसार याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न है कि दक्षिण दिशा रूपी तुम्हारा कौन देवता (स्वामी) है ? ॥ उ०–यमराज। वह किसके आश्रित है ? उ०–यमराज और दक्षिण दिशा दोनों यज्ञ पर प्रतिष्ठित हैं क्योंकि ऋत्विजों से किये हुये यज्ञ को दक्षिणा देकर यजमान लेता है और उसी यज्ञ से यमराज के सहित दक्षिण दिक् को अपने अधीन करता है ॥ प्र०–यज्ञ किस पर प्रतिष्ठित है ? उ०–दक्षिणा पर । क्योंकि दक्षिणा ही के बदले में वह बेंचा जाता है । प्र०–दक्षिणा किस पर प्रतिष्ठित है ? उ०–श्रद्धा पर। क्योंकि श्रद्धा ही से उचित दक्षिणा दी जाती है। प्रश्न–श्रद्धा किस पर प्रतिष्ठित है ? उ०–अन्तःकरण पर । क्योंकि धृति आदि की नाईं श्रद्धा भी अन्तःकरण ही की एक वृत्ति (व्यापार) है और वृत्ति वृत्तिमान् ही में प्रतिष्ठित होती है ।

"श्रद्धयेष्टम्०"–यज्ञ और कूपादि पूर्त्त कर्म को स्वर्गादि फल की कामना छोड़ केवल श्रद्धा से करे क्योंकि न्यायार्जित धन लगाकर इष्ट और पूर्त्त यदि श्रद्धा से किये जायँ तो उनका फल अक्षय अर्थात् मोक्ष होता है॥२२६॥ वेदाध्यायी, कृपण, त्रैवर्णिक और व्याज खाने वाले दाता के अन्नों को देवताओं

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्द्धुषेः ।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥२२४॥
तान् प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम् ।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥२२५॥

शांति० २६४—किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेन किमात्मना ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
इति धर्मः समाख्यातः सद्भिर्धर्मार्थदर्शिभिः ।

१४—अथातिथ्यम्

तैत्तिरीयोपनिषदि ११ अनुवाके—"अतिथिदेवो भव" तच्च नित्यम् । तथा च श्रूयते—

कठोप० वल्ली १—वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैता ँ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

भाषा

ने गुण और दोष के विचार से अन्योन्य में तुल्य बतलाया था अर्थात् प्रथम उक्त त्रैवर्णिक में जैसे वेदाध्ययन, गुण और कृपणता दोष है, वैसे ही द्वितीय में दान, गुण और व्याज खाना दोष है, इसलिये दोनों के अन्न, भोजन करने वालों अन्यों के लिये तुल्य ही हैं ॥ २२४ ॥

तदनन्तर ब्रह्मदेव ने आकर देवताओं से कहा कि तुम विषम अन्नों को सम न करो । देवता—इन दोनों अन्नों का अन्योन्य में क्या विशेष है ? ब्रह्म—यद्यपि कृपण और व्याज खाने वाला इन दोनों का अन्न निषिद्ध है, तथापि कृपण वेदपाठी के अन्न की अपेक्षा दाता व्याज खाने वाले का अन्न शुद्ध है क्योंकि वह श्रद्धा से पवित्र होता है और कृपण का अन्न अश्रद्धा से दूषित होता है । और यह अश्रद्धा रूपी दोष ऐसा प्रबल है कि वेदाध्ययन से भी नहीं हटता तथा श्रद्धा रूपी गुण भी इतना प्रबल है कि वह व्याज खाना रूपी दोष को अन्न से हटा देता है ॥ २२५ ॥

"किन्तस्य०"—तुलाधार नामक व्याध ने जाजलि महर्षि से यह कहा कि धर्मतत्वदर्शी मुनियों ने यह धर्म कहा है कि सात्विक श्रद्धा वाले मनुष्य को तप, सदाचार से कुछ प्रयोजन नहीं हैं क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय है । जिसकी जैसी अर्थात् सात्विकी, राजसी वा तामसी श्रद्धा होती है वह पुरुष वैसा अर्थात् सात्विक, राजस वा तामस होता है ।

१४—अतिथिसत्कारनिरूपण

"अतिथिदेवो०" आचार्य शिष्य को शिक्षा देता है कि तुम अतिथि को देवता समझ उसका सत्कार करो । अतिथि का सत्कार आवश्यक है क्योंकि उसके न करने से पाप होता है।

"वैश्वानरः०" पिता की आज्ञा से यमलोक को प्राप्त नचिकेता ऋषि के तीन रात्रि वास करने के अनन्तर अन्यत्र गये हुये यमराज के आने पर उनकी भार्या यमराज से कहती हैं कि हे वैवस्वत (सूर्यपुत्र) ! अतिथि ब्राह्मण, अग्नि रूपी होकर गृहस्थों के गृह आता है, उसके शान्ति के लिये गृहस्थ पाद्यासनादि सत्कार करते हैं, इसलिये नचिकेता के चरण धोने के लिये तुम जल ले आओ क्योंकि ॥ ७॥

आशा प्रतीक्षेमङ्गत ᳪ सूनृतं चेष्टापूर्ते पुत्रपशू ᳪ श्च सर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥
तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

अथर्व वे० का० ९ अनु० ३ सू० ६—

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ १ ॥
पयश्च वा एष रसं च० ॥ २ ॥ ऊर्जां च वा एष स्फातिं च० ॥ ३ ॥
प्रजां च वा एष पशूंश्च० ॥ ४ ॥ कीर्तिं च वा एष यशश्च० ॥ ५ ॥
श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ६ ॥
एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥

मनुः अ० ३—सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥
शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥१००॥

भाषा

जिस मन्द बुद्धि पुरुष के गृह में बसकर जो ब्राह्मण अतिथि भोजनादि सत्कार को नहीं पाता, वह अतिथि उस गृहस्थ के निश्चित सुख की आशा, अनिश्चित सुख की प्रतीक्षा, अच्छों के संग का फल, प्रियवाणी, यज्ञों का फल, कूप तड़ागादि का फल, पुत्र और पशु, इन सबको नाश कर देता है ॥८॥

तदनन्तर मृत्यु (यमराज) ने नचिकेता का सब प्रकार सत्कार कर उनसे यह कहा कि हे ब्रह्मन् ! आपको नमस्कार और नमस्कार के योग्य अतिथि होकर जो आपने मेरे गृह में तीन रात्रि तक भोजन के बिना वास किया, इस अपराध से मेरा अशुभ न होकर आपके अनुग्रह से कल्याण हो और उस अपराध के प्रायश्चित्त में आपकी वास की हुई रात्रियों के संख्या के अनुसार मैं आपको यथेष्ट तीन बर देता हूँ, आप माँगिये ॥ ९ ॥

"इष्टं च वा०" जो अतिथि से पूर्व ही खाता है, वह अपने इष्ट (यज्ञ) और पूर्त (तड़ाग वाटिका) को खाता है अर्थात् नाश करता है ॥ १ ॥ और अपने दूध और रस का नाश करता है ॥ २ ॥ अपने बल और बुद्धि का नाश करता है ॥ ३ ॥ तथा अपने पुत्र और पशु का नाश करता है ॥ ४ ॥ और अपने नाम और यश का नाश करता है ॥ ५ ॥ तथा वह अपने गृह की लक्ष्मी और मर्यादा का नाश करता है, जो कि अतिथि से पूर्व भोजन करता है । अतिथि वही हैं जो कि वेद पढ़े हैं, उनसे पूर्व ही भोजन न करे ॥ ६ ॥ ७ ॥

"सम्प्राप्ताय०" आपसे आप आये हुये अतिथि को आसन, पाद धोने के लिये जल, तथा यथाशक्ति व्यंजनादि और सत्कार के सहित अन्न, आगे कहे जाने वाले विधि से गृहस्थ दे ॥ ९९ ॥

सत्कार के बिना गृह में वास करने वाला अतिथि, उस गृह के स्वामी के किये हुये सब पुण्यों का नाश कर देता है चाहे वह गृहस्वामी उञ्छ वृत्ति (शिल अर्थात् खेतों में छूटे हुये अन्न

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥
एकरात्रिं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥१०२॥
नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं सांगतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राऽग्नयोऽपि वा ॥१०३॥
उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादि दायिनाम् ॥१०४॥

भाषा

को बीन कर उसी से अपना जीवन निर्वाह करने वाला) और पंचाग्नि (गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, आवसथ्य और सभ्य इन पाँच अग्नियों में होम करने वाला) भी क्यों न हो ॥ १०० ॥ यदि गृहस्थ अति दीन हो तब भी उसको आसन, भूमि, जल, प्रियवाणी, इन चार वस्तुओं से अतिथि का अवश्य सत्कार करना चाहिये, क्योंकि अन्नादि कदाचित न रहे, परन्तु उक्त वस्तुओं की न्यूनता किसी धार्मिक के गृह में नहीं होती ॥ १०१ ॥

एक रात्रि अन्य के गृह में वास करने से अतिथि होता है अर्थात् तिथि (दूसरी रात्रि) जिसके पास नहीं है, उसको अतिथि कहते हैं। पूर्वोक्त कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता को अपने अर्थात् यमराज के गृह में तीन रात्रि वास करने पर भी जो अतिथि कहा है, उसका यह अभिप्राय है कि यदि गृह के स्वामी यमराज अपने गृह में होते और प्रथम रात्रि में नचिकेता का अतिथि सत्कार कर देते तो द्वितीय दिन में नचिकेता का अतिथिपना छूट जाता परन्तु ऐसा नहीं हुआ अर्थात् नचिकेता के पहुँचने की रात्रि में यमराज गृह में न थे तथा नचिकेता का अतिथि सत्कार प्रथम रात्रि में न हुआ। और द्वितीय दिन नचिकेता वहाँ से चले भी नहीं गये किन्तु अपने पिता की आज्ञानुसार यमराज के दर्शनार्थ उनके आने तक अर्थात् तीन रात्रि ठहर गये और एक ही रात्रि के लिये वहाँ गये भी थे। इन कारणों से तीन रात्रि तक उनका अतिथि होना ठीक ही है, इसी से यह मनु वाक्य, उस वेद वाक्य के विरुद्ध नहीं है) ॥ १०२ ॥

पत्नी और अग्नि के सहित गृह में रहने वाला पुरुष अपने गृह पर आये हुये एक ग्रामवासी (गावाँ भाई) अथवा परिहास आदि से अपनी वृत्ति करने वाले उस मनुष्य को जो कि अपनी जीविका के लिये उसके गृह पर आवै, इन दोनों को अपना अतिथि न समझे। और गृह उसका नाम है जहाँ पत्नी और अग्नि हो, इससे यह सूचित होता है कि परदेश में डेरे पर आया हुआ मनुष्य अतिथि नहीं होता ॥ १०३ ॥

जो गृहस्थ, केवल अतिथि सत्कार पाने के लिये अन्य ग्राम को जाकर परान्न भोजन करता है, वह परान्न के दोष से जन्मान्तर में उस अन्नदाता का पशु होता है ॥ १०४ ॥ 'सूर्योढ' (सूर्यास्त समय में अन्य गृह में प्राप्त अथवा रात्रि भोजन के अनन्तर प्राप्त) अतिथि के भोजनादि सत्कार न करने में बहुत अधिक दोष है। विष्णु पुराण में भी कहा है कि—

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिनाम् ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसन् ॥१०५॥
न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम् ॥१०६॥
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥१०७॥
वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥१०८॥

भाग०९-२१, शुक उ०—वितथस्य सुतो मन्युर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः ।
महावीर्यो नरो गर्गः संकृतिस्तु नरात्मजः ॥ १ ॥
गुरुश्च रन्तिदेवश्च संकृतेः पाण्डुनन्दन ।
रन्तिदेवस्य हि यश इहाऽमुत्र च गीयते ॥ २ ॥

भाषा

"दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप ।
तस्मादष्टगुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखे गते ॥"

हे राजन् दिवाऽतिथि अर्थात् दिन में आये अतिथि के विमुख जाने से जितना पाप गृहस्थ को होता है उससे अष्ट गुण पाप, सूर्योढ के विमुख जाने से होता है ॥ १०५ ॥

उन दधि आदि मिष्ट वस्तुओं को गृहस्थ भोजन न करे जिनको कि आये हुए अतिथि के भोजन में न दे चुका हो परन्तु देने के समय यदि अतिथि ने उस वस्तु का खाना स्वीकार न किया हो तो ऐसी वस्तु को गृहस्थ खा सकता है । अतिथि सत्कार से धन, यश, आयु और स्वर्ग का लाभ भी होता है अर्थात् इतना ही नहीं है कि अतिथि सत्कार न करने से पाप होता है किंतु अतिथि सत्कार से धनादि का लाभ भी होता है ॥ १०६ ॥ पीठ और मृगचर्मादि आसन आवसथ (विश्राम का स्थान) शय्या, चौकी आदि, अनुगमन, सेवा, ये ही सब सत्कार हैं और जब अनेक अतिथि आ जायँ तब यह नियम नहीं है कि सबका तुल्य ही सत्कार किया जाय किन्तु यथायोग्य सत्कार करना चाहिये ॥ १०७ ॥

अतिथि भोजन पर्यन्त वैश्वदेव कर्म के समाप्त होने पर यदि कोई अन्य अतिथि आ जाय तो उसके लिये भी यथाशक्ति पुनः पाकादि उपाय से अन्न दे किंतु बलि कर्म को पुनः न करै ॥ १०८ ॥

उपाख्यान

"वितथस्य०"—श्री शुकदेव जी ने कहा कि हे पाण्डुनन्दन (परीक्षित)! दुष्यन्त के पुत्र राजा भरत के लिये, यज्ञ से सन्तुष्ट होकर वायुओं ने भरद्वाज ऋषि को दत्तक पुत्र दिया और भरद्वाज यद्यपि ब्राह्मण थे, तथापि राजा भरत के दत्तक पुत्र हो गये तथा भरत के वंश वितथ (विच्छिन्न) होने पर वह दत्तक पुत्र हुये । इसलिये उनका नाम वितथ पड़ा और उनका विवाह क्षत्रिय कन्या से हुआ, इसलिये भरत का क्षत्रिय वंश भरद्वाज से चला । वितथ के पुत्र मन्यु हुये । मन्यु के पाँच पुत्र, बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर तथा गर्ग हुये और नर के संकृत, संकृत के गुरु और रन्तिदेव दो पुत्र

वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः।
निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः॥ ३ ॥

व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल।
घृतपायससंयावं तोयं प्रातरुपस्थितम्॥ ४ ॥

कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः।
अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत्॥ ५ ॥

तस्मै संव्यभजत् सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः।
हरिं सर्वत्र सम्पश्यन् स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः॥ ६ ॥

अथान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपते।
विभक्तं व्यभजत्तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन्॥ ७ ॥

याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः श्वभिरावृतः।
राजन्मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते॥ ८ ॥

स आदृत्यावशिष्टं यद्बहुमानपुरस्कृतम्।
तच्च दत्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः॥ ९ ॥

पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकपरितर्पणम्।
पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्यशुभस्य मे॥ १० ॥

भाषा

हुये, जिनमें से रन्तिदेव का यश तीनों लोकों में गाया जाता है॥ १॥ २॥ रन्तिदेव ने अपना राज्यादि सब ऐश्वर्य और जो कुछ उनको मिलता गया, सबको (अपने भोजन तक) दान ही करते चले गये। यहाँ तक कि उनके और उनके कुटुम्ब के लिये भोजन भी नहीं रह गया। और एक समय उनको ४८ दिन तक लंघन हुआ जिसमें उन्होंने जल भी नहीं ग्रहण किया था। ४९ वें दिन प्रातःकाल में घी और दूध की रावड़ी तथा जल उनको मिला। उस समय रन्तिदेव और उनके कुटुम्ब भूख प्यास से काँप रहे थे और उन्होंने भोजन करना चाहा, इतने में एक ब्राह्मण अतिथि वहाँ आ पहुँचा। श्रद्धायुक्त रन्तिदेव ने सब शरीरों में परमेश्वर को देखने हुये, बड़े आदर के साथ उस अपने भोजन में से ब्राह्मण को दिया, वह ब्राह्मण खाकर चला गया॥ ३–६॥

तदनन्तर जब रन्तिदेव भोजन करने को उद्यत हुये इतने में एक दूसरा शूद्र अतिथि आ गया और परमेश्वर का स्मरण कर उस अवशिष्ट भोजन में से उस शूद्र को भी भोजन कराया॥ ७॥ उस शूद्र के जाने पर बहुत से कुत्तों को साथ लिये एक तीसरे अतिथि ने आकर कहा कि हे राजन्! मैं इन कुत्तों के सहित भूखा हूँ, कुछ अन्न दीजिये और राजा ने भी बड़े आदर सत्कार के साथ जो कुछ बचा बचाया अन्न था, सब देकर नमस्कार किया॥ ८॥ ९॥ और जल मात्र बच गया, सो भी एक ही मनुष्य के पीने योग्य था। उसको भी जब पीने को उद्यत हुये, इतने में एक पुल्कस (चाण्डाल जाति विशेष) ने आकर कहा कि हे राजन्! मैं पुल्कस हूँ, मुझे जल दीजिये।

तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम् ।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः ॥ ११ ॥
न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ १२ ॥
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥ १३ ॥
इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया ।
पुल्कसायाऽददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः ॥ १४ ॥
तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् ।
आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुर्विष्णुमायाविनिर्मिताः ॥ १५ ॥
स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निस्सङ्गो विगतस्पृहः ।
वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम् ॥ १६ ॥
ईश्वरालम्बनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः ।
माया गुणमयी राजन् स्वप्नवत् प्रत्यलीयत ॥ १७ ॥

भाषा

उसकी इस बड़े श्रम से कही हुई करुण वाणी से कृपाक्रान्त होकर राजा रन्तिदेव ने इस अमृत वाक्य को कहा कि ॥ १० ॥ ११ ॥

मैं अणिमादि अष्ट सिद्धियों से संयुक्त स्वर्गादि लोक अथवा मोक्ष परमेश्वर से नहीं चाहता, किन्तु यही चाहता हूँ कि जगत् के सब प्राणियों के अन्तःकरण में दुःख का भोक्ता रूपी होकर मैं स्थित हो जाऊँ और उनके यावत् दुःखों को उनके बदले मैं ही भोग करूँ, जिसमें मेरे कारण से सब प्राणी दुःखों से रहित हो जायँ। क्योंकि इस प्यासे हुये जीवनार्थी पुल्कस के लिये जल देने की इच्छा करने मात्र से मेरे भूख, प्यास, श्रम, दीनता, शोक, विषाद, मोह, सब नष्ट हो गये ॥ १२ ॥ १३ ॥

ऐसा कह कर प्यास से मरते हुये भी स्वाभाविक दयालु और धीर राजा रन्तिदेव ने उस पुल्कस के लिये अपने उस जल को दे दिया ॥ १४ ॥ तदनन्तर ब्रह्मादि देव, जो कि रन्तिदेव के धैर्य की परीक्षा करने के लिय अतिथि रूपी होकर उनके समीप आये थे, अपने २ दिव्य रूप से वहाँ प्रगट हो गये परन्तु परम विरक्त राजा ने केवल उनको नमस्कार कर अपनी अनन्य भक्ति से परमेश्वर को नमस्कार किया अर्थात् उन लोगों से कुछ नहीं चाहा ॥ १५ ॥ १६ ॥

हे राजन् ! उस समय ईश्वर की अपेक्षा अन्य फल से निरपेक्ष और ईश्वर में एकाग्र उन

तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्त्तिनः ।
अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः ॥ १८ ॥

१५—अथ दानम्

स्तोकादपि च दातव्यमदीनेनान्तरात्मना ।
अहन्यहनि यत्किञ्चिदकार्पण्यं तु तत्स्मृतम् ॥

इति बृहस्पतिप्रोक्तमकार्पण्यमपि दान एवान्तर्भवति । एतद्विधायकं वेदवाक्यं दम-प्रकरणे पूर्वमुदाहृतम् ।

तैत्ति० आर० १-६२—दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रश ँ सन्ति दानान्नातिदुष्करं तस्माद्दाने रमन्ते ।

वन ३१४—यशः सत्यं दमः शौचं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥

अश्व० ६१—एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ॥ ३२ ॥
सनानतस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम् ।

बृहस्पतिः—तपो धर्मः कृतयुगे ज्ञानं त्रेतायुगे स्मृतम् ।
द्वापरे चाध्वराः प्रोक्ताः कलौ दानं दया दमः ॥
दानेन योगी भवति मेधावी वृद्धसेवया ।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥

मनुः ४—दानं धर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौष्टिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥२२७॥

भाषा

राजा रन्तिदेव की संसार बंध करने वाली सत्वादि गुण रूपी ईश्वरीय माया स्वप्न के समान नष्ट हो गयी, और राजा के प्रभाव से उनके सब अनुचर भी योगी और भगवद्भक्त हो गये ॥ १७ ॥ १८ ॥

१५—दान निरूपण

पूर्व में बृहस्पति महर्षि का कहा हुआ अकार्पण्य भी दान ही के अन्तर्गत है और दान विधायक वेदवाक्य दम के प्रकरण में पूर्व ही कहा जा चुका है ।

"दानमिति०"—दान की प्रशंसा सब करते हैं और दान करना कठिन भी है, इससे अच्छे लोग दान में उद्यत रहते हैं ।

"यशः०"—भगवान् का वाक्य है कि यश, सत्य, दम, शौच, मार्दव, ह्री, अचापल, दान, तप और ब्रह्मचर्य ये मेरे स्वरूप हैं ।

"एष०"—दान, भूतदया, ब्रह्मचर्य, सत्य, धृति और क्षमा ये महायोग नामक धर्म हैं और सनातन धर्म के सनातन मूल भी यही हैं ॥ ३२ ॥

"तपो०"—सत्ययुग में तप, त्रेतायुग में ज्ञान, द्वापरयुग में यज्ञ और कलियुग में दान, दया, दम, प्रधान धर्म है । पंडित लोग यह कहते हैं कि दान करने से योगी और वृद्धों की सेवा से पंडित

यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया ।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥२२८॥

याज्ञ०—दातव्यं प्रत्यहं पात्रे निमित्तेषु विशेषतः ।
याजितेनापि दातव्यं श्रद्धापूतं तु शक्तितः ॥

उशनाः—दानादृते नोपचारो विद्यते धनिनोऽपरः ।
दीयमानं हि तत्तस्य भूय एवाभिवर्द्धते ॥

यमः—यतीनां परमो धर्मस्त्वनाहारो वनौकसाम् ।
दानमेव गृहस्थानां शुश्रूषा ब्रह्मचारिणाम् ॥
पापकर्मसमायुक्तं पतन्तं नरके नरम् ।
त्रायते दानमेकं तु पात्रभूते द्विजे कृतम् ॥
न्यायेनार्जनमर्थानां वर्द्धनं चाभिरक्षणम् ।
सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥

अगस्त्यः—गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः ।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही ॥

म० अश्व० ६१—उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः ।
दानं विभवतो दत्त्वा नराः स्वर्यान्ति धार्मिकाः ॥ ३१ ॥

भाषा

तथा अहिंसा से मनुष्य दीर्घायु होता है। यज्ञों में तथा वापी, कूप, तड़ागादि में वेदी पर वा वेदी से बाह्य देश में श्रद्धापूर्वक विद्या और तप से युक्त ब्राह्मण रूपी पात्र में यथाशक्ति दान दे। याचन करने पर शुद्ध चित्त से जो कुछ बन पड़े, अवश्य देना चाहिये। क्योंकि कभी तो ऐसा दानपात्र मिल जायगा कि जिसको देने से दाता सब नरकों से छूट जायगा ॥ २२७ ॥ २२८ ॥

"दातव्यं०"—योग्य पात्र में प्रतिदिन दान देना चाहिये तथा ग्रहणादि निमित्त में विशेष दान देना चाहिये और जब कोई याचना करै तब भी श्रद्धापूर्वक जो कुछ बन पड़े, देना चाहिये।

"दानादृते०"—धनी पुरुष के लिये दान से परे कोई धर्म नहीं है क्योंकि पूर्व जन्म के दान ही से वह धनी होता है और वर्तमान जन्म में थोड़े दान से भी अग्रिम जन्म में वह अधिक धनी होता है।

"यतीनां०"—संन्यासी और वानप्रस्थ का उवास व्रत धर्म है और गृहस्थों का दान ही धर्म है तथा ब्रह्मचारियों का गुरुसेवा धर्म है। पाप कर्म कर नरक में गिरते हुये मनुष्य को दान ही एक है जो बँचाता है परन्तु यदि वह दान पात्र रूपी ब्राह्मण में किया गया हो। सब शास्त्रों में धन के विषय में न्याय से अर्जन, न्याय से बर्द्धन, न्याय से रक्षण और सत्पात्र में दान, कहा हुआ है।

"गोभि०"—गौ, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी, अलोभी और दानशील, इन्हीं सातों पर पृथ्वी ठहरी है।

"उञ्छं०"—धार्मिक मनुष्य, अपने विभव के अनुसार खेत से बीने हुये अन्न, मूल, फल, शाक और कमण्डलु के दान से भी स्वर्ग जाते हैं ॥ ३१ ॥

श्रूयन्ते हि पुरा वृत्ता विश्वामित्रादयो नृपाः ॥ ३३ ॥
विश्वामित्रोऽसितश्चैव जनकश्च महीपतिः ।
कक्षसेनार्ष्टिसेनौ च सिन्धुद्वीपश्च पार्थिवः ॥ ३५ ॥
एते चान्ये च बहवः सिद्धिं परमिकां गताः ।
नृपाः सत्यैश्च दानैश्च न्यायलब्धैस्तपोधनाः ॥ ३६ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चाश्रितास्तपः ।
दानधर्माग्निना शुद्धास्ते स्वर्गं यान्ति भारत ॥ ३७ ॥

तत्रान्नदानप्रशंसा

अनु० ६३—कानि दानानि लोकेऽस्मिन् दातुकामो महीपतिः ।
गुणाधिकेभ्यो विप्रेभ्यो दद्याद्भरतसत्तम ॥ १ ॥
केन तुष्यन्ति ते सद्यः किं तुष्टाः प्रदिशन्ति च ।
शंस मे तन्महाबाहो फलं पुण्यकृतं महत् ॥ २ ॥
दत्तं किं फलवद्राजन्निह लोके परत्र च ।
भवतः श्रोतुमिच्छामि तन्मे विस्तरतो वद ॥ ३ ॥

भीष्म० उ०—इममर्थं पुरा पृष्टो नारदो देवदर्शनः ।
यदुक्तवानसौ वाक्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ४ ॥

नारद उ०—अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ऋषिगणास्तथा ।
लोकतन्त्रं हि संज्ञाश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

भाषा

विश्वामित्र, असित, राजा जनक, कक्षसेन, आर्ष्टिसेन, सिंधुद्वीप, ये और अन्यान्य राजागण भी सत्य और दान से बड़ी गति को पाये हुये सुने जाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि भी तप और दान आदि धर्म से शुद्ध होकर स्वर्ग को जाते हैं।

अन्नदान की प्रशंसा

'कानि०' राजा युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से कहा कि हे भरतसत्तम! राजा यदि इस लोक में दान देना चाहे तो गुणाधिक ब्राह्मणों को कौन दान दे?॥ १ ॥ ये ब्राह्मण किस दान से तुरत सन्तुष्ट होते हैं? और उनके सन्तुष्टि से क्या लाभ होता है?॥ २ ॥ किस वस्तु का दान इस लोक और परलोक में अधिक फल देता है? इन प्रश्नों का विस्तार से उत्तर दीजिये ॥ ३ ॥ भीष्म पितामह ने कहा कि मेरे पूछे हुय इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देव दर्शन (त्रिकालदर्शी) नारद भगवान् ने पूर्व ही दिया है। उनके वाक्यों को मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

नारद—देवगण और ऋषिगण भी अन्न ही की प्रशंसा करते हैं। क्योंकि अन्न से साक्षात् ही सहज रोग, भूख, पूर्ण रूप से निवृत्त होती है। और सुवर्णादि से तो अन्न के द्वारा शरीर का उपकार होता है। इसी से शरीर और प्राण दोनों अन्नमय कहलाते हैं तथा लोक के सब व्यवहार

अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छन्ति मानवाः ॥ ६ ॥
अन्नमूर्ज्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः।
अन्नेन धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो ॥ ७ ॥
अन्नाद्गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तापसास्तथा।
अन्नाद्भवन्ति वै प्राणाः प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणायाभिरूपाय यो दद्यादन्नमर्थिने।
विदधाति निधिं श्रेष्ठं पारलौकिकमात्मनः ॥ १० ॥
श्रान्तमध्वनि वर्तन्तं वृद्धमर्हमुपस्थितम्।
अर्चयेद्भूतिमन्विच्छन् गृहस्थो गृहमागतम् ॥ ११ ॥
क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः।
अन्नदः प्राप्नुते राजन् दिवि चेह च यत्सुखम् ॥ १२ ॥
नावमन्येदभिगतं न प्रणुद्यात्कथञ्चन।
अपि श्वपाके शुनि वा न दानं विप्रणश्यति ॥ १३ ॥
यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्त्तते।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय स महद्धर्ममाप्नुयात् ॥ १४ ॥
पितॄन् देवानृषीन् विप्रानतिथींश्च जनाधिप।
यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत् ॥ १५ ॥

भाषा

अन्न ही पर प्रतिष्ठित हैं। और संज्ञा (चैतन्य) भी अन्न ही के अधीन है, इसी से अन्न के सदृश दान, न कोई था, न है और न होगा। इसलिये मनुष्य, विशेष से अन्न ही लेना चाहते हैं॥५॥६॥

बल और प्राण का मूल तथा जगत् का धारण करने वाला अन्न ही है ॥ ७ ॥ यह प्रत्यक्ष तथा निस्सन्देह है कि इस लोक में गृहस्थ संन्यासी, वानप्रस्थ और संन्यासी आदि सभी का आधार अन्न ही है। और प्राण अन्न ही के अधीन है ॥ ८ ॥ जो उपस्थित, योग्य अर्थी ब्राह्मण को अन्न देता है, वह परलोक के लिये अपना श्रेष्ठ निधि (अक्षय कोश) अर्जन करता है ॥१०॥ थके हुए योग्य और अर्थी तथा अपने गृह पर उपस्थित वृद्ध पथिक के लिये गृहस्थ अन्नदान से पूर्ण सत्कार करे। इससे बड़े ऐश्वर्य का लाभ होता है ॥ ११ ॥ द्वेष और उठे हुये क्रोध को छोड़ शीलपूर्वक जो अन्नदान करता है वह परलोक और इस लोक में पूर्ण सुख पाता है ॥ १२ ॥

उपस्थित अर्थी का कदापि अनादर न करै और न निकलवावै क्योंकि डोमड़े और कुत्ते तक को भी अन्न देना कदापि निष्फल नहीं होता ॥ १३ ॥ अपरिचित और थके हुए पथिक को जो अन्न देता है उसको बड़ा धर्म होता है ॥ १४ ॥ हे जनाधिप ! जो मनुष्य देवता, पितर, ब्राह्मण और अतिथियों को अन्न से तृप्त करता है उसको बड़ा ही फल होता है ॥ १५ ॥ पातक करने वाले पुरु

कृत्वाऽतिपातकं कर्म यो दद्यादन्नमर्थिने ।
ब्राह्मणाय विशेषेण न स पापेन मुह्यति ॥ १६ ॥
ब्राह्मणेष्वक्षयं दानमन्नं शूद्रे महाफलम् ।
अन्नदानं हि शूद्रे च ब्राह्मणस्य विशिष्यते ॥ १७ ॥
न पृच्छेद्गोत्रचरणं स्वाध्यायं देशमेव च ।
भिक्षितो ब्राह्मणेनेह दद्यादन्नं प्रयाचितः ॥ १८ ॥
अन्नदस्यान्नवृक्षाश्च सर्वकामफलप्रदाः ।
भवन्ति चेह चामुत्र नृपते नात्र संशयः ॥ १९ ॥
आशंसन्ते हि पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
अस्माकमपि पुत्रो वा पौत्रो वाऽन्नं प्रदास्यति ॥ २२ ॥
अन्नं प्राणा नराणां हि सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
अन्नदः पशुमान् पुत्री धनवान् भोगवानपि ॥ २५ ॥
प्राणवांश्चापि भवति रूपवांश्च तथा नृप ।
अन्नदः प्राणदो लोके सर्वदः प्रोच्यते तु सः ॥ २६ ॥
अन्नं हि दत्त्वाऽतिथये ब्राह्मणाय यथाविधि ।
प्रदाता सुखमाप्नोति दैवतैश्चापि पूज्यते ॥ २७ ॥
प्रत्यक्षं प्रीतिजननं भोक्तुर्दातुर्भवत्युत ।
सर्वाण्यन्यानि दानानि परोक्षफलवन्त्युत ॥ २९ ॥

भाषा

भी यदि जिस किसी अर्थी को और विशेषतः ब्राह्मण अर्थी को अन्न दे तो उसके सब पातक छूट जाते हैं ॥ १६ ॥ ब्राह्मणों में दिया हुआ सुवर्णादि दान का फल भी अक्षय है परंतु उसकी अपेक्षा शूद्र में भी अन्न दान का अधिक फल है ॥ १७ ॥ अर्थी का गोत्र, शाखा, वेद और देश अन्नदान के लिये नहीं पूँछना चाहिये किन्तु क्षुधा मात्र देखना चाहिये । इसमें कुछ संशय नहीं है कि अन्नदाता के लगाये हुए अन्नरूपी वृक्ष, इस लोक और परलोक में बड़े २ उत्तम फल देते हैं ॥ १८ ॥ १९ ॥ जैसे किसान सुवृष्टि की प्रार्थना करते हैं वैसे ही पितर भी यह प्रार्थना करते हैं कि पुत्र वा पौत्र कोई हमको भी अन्न देता ॥ २२ ॥

हे नृप ! अन्न सब प्राणियों का प्राण है, और अन्न ही में सब प्रतिष्ठित हैं, इसीसे अन्नदाता मनुष्य, पुत्रवान्, पशुमान्, धनवान्, भोगवान्, प्राणवान् और रूपवान् भी होता है । तथा अन्नदाता को पण्डित लोग प्राणदाता और सर्वदाता कहते हैं । तथा अतिथि ब्राह्मण को विधिवत् अन्न का दाता पुरुष सुख भी पाता है और देवता लोग उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ २५—२७ ॥

अन्नदान प्रथम लेने वाले की प्रीति को साक्षात् ही तथा पश्चात् देने वाले की प्रीति को उत्पन्न करता है और उससे अन्य सब दानों का फल वैसा साक्षात् नहीं होता किन्तु क्रय-विक्रयादि के द्वारा किसी समय में वह अर्थी के सन्तोष को उत्पन्न करता है, क्योंकि हे भारत ! अन्न ही से कुटुम्ब का

अन्नाद्धि प्रसवं यान्ति रतिरन्नाद्धि भारत।
धर्मार्थावन्नतो विद्धि रोगनाशं तथाऽन्नतः॥ ३० ॥
अन्नं ह्यमृतमित्याह पुराकल्पे प्रजापतिः।
अन्नं भुवं दिवं खं च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्॥ ३१ ॥
अन्नप्रणाशे भिद्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः।
बलं बलवतोऽपीह प्रणश्यत्यन्नहानितः॥ ३२ ॥
आवाहाश्च विवाहाश्च यज्ञाश्चान्नमृते तथा।
निवर्तन्ते नरश्रेष्ठ ब्रह्म चात्र प्रलीयते॥ ३३ ॥
अन्नतः सर्वमेतद्धि यत्किञ्चित् स्थाणु जङ्गमम्।
त्रिषु लोकेषु धर्मार्थमन्नं देयमतो बुधैः॥ ३४ ॥
अन्नदस्य मनुष्यस्य बलमोजो यशांसि च।
कीर्तिश्च वर्द्धते शश्वत्त्रिषु लोकेषु पार्थिव॥ ३५ ॥
प्राणान् ददाति भूतानां तेजश्च भरतर्षभ।
गृहमभ्यागतायाथ यो दद्यादन्नमर्थिने॥ ३६ ॥
नारदेनैवमुक्तोऽहमदामन्नं सदा नृप।
अनसूयस्त्वमप्यन्नं तस्माद्देहि गतज्वरः॥ ४३ ॥

विद्यादानम्

मनुः अ० ४—ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम्॥ २३२ ॥

भाषा

पालन होता है, और रति भी अन्न ही से होती है तथा धर्म और अर्थ तथा रोगनाश भी अन्न से होते हैं॥२९॥ ॥ ३० ॥ पूर्वकल्प में प्रजापति ने भी यह कहा है कि, अन्न अमृत है और तीनों लोक अन्न ही पर प्रतिष्ठित हैं ॥ ३१ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! अन्न न मिलने से शरीर के पाचों धातु छिन्न भिन्न हो जाते और बलवान् का सब बल नष्ट होजाता है॥ ३२ ॥ आवाह (शरीर यात्रा), विवाह और यज्ञ अन्न के बिना नहीं हो सकता। तथा अन्न के बिना वेद भी भूल जाता है॥ ३३ ॥ तीनों लोक में जो कुछ स्थावर वा जंगममय जगत है सब अन्नमूलक है, इसलिये अन्नदान अवश्य करना चाहिये॥ ३४॥

हे भरतर्षभ ! अन्नदाता मनुष्य का बल, तेज, यश और तीनों लोक में नाम ये सब वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥ हे भरतर्षभ ! जो अपने गृह पर उपस्थित अर्थी को अन्न देता है वह मानो उसके लिये प्राण और तेज देता है॥ ३६ ॥

भीष्म—हे नृप ! नारद महर्षि से उक्त उपदेश पाकर मैं अर्थियों को नित्य अन्नदान करने लगा। और तुम भी श्रद्धा और आदरपूर्वक अर्थियों को अन्नदान किया करो और सब चिन्ताओं को दूर करो॥ ४३ ॥

विद्यादान

'ब्रह्मदो'—वेद का दान करने वाला सदा के लिये ब्रह्मलोक पाता है॥ २३२ ॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥२३३॥
अन्नदानात्समं नास्ति विद्यादानं ततोऽधिकम् ।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं तु विद्यया ॥
याज्ञ० आ०—सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यतः ।
तद्ददत्समवाप्नोति ब्रह्मलोकमविच्युतम् ॥२१२॥
कुक्षौ तिष्ठति यस्यान्नं विद्याभ्यासेन जीर्यति ।
कुलानुद्धरते तस्य दश पूर्वान् दशापरान् ॥

विशिष्टदानम्

महा.अनु.५९,युधि.उ.—यानीमानि बहिर्वेद्यां दानानि परिचक्षते ।
तेभ्यो विशिष्टं किं दानं मतन्ते कुरुपुङ्गव ॥ १ ॥
कौतूहलं हि परमं तत्र मे विद्यते प्रभो ।
दातारं दत्तमन्वेति यद्दानं तत्प्रचक्ष्व मे ॥ २ ॥
भीष्म उ०—अभयं सर्वभूतेभ्यो व्यसने चाप्यनुग्रहः ।
यच्चाभिलषितं दद्यात्तृषितायाभियाचते ॥ ३ ॥
दत्तं मन्येत यद्दत्वा तद्दानं श्रेष्ठमुच्यते ।
दत्तं दातारमन्वेति यद्दानं भरतर्षभ ॥ ४ ॥

भाषा

"सर्वेषामेव०"—सब दान अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत के दानों की अपेक्षा ब्रह्म (वेद) दान श्रेष्ठ है ॥ २३३ ॥

यद्यपि अन्नदान के समान अन्य कोई दान नहीं है तथापि विद्यादान उससे अधिक है क्योंकि अन्न से थोड़े समय के लिये तृप्ति होती है और विद्या से सदा के लिये तृप्ति होती है ।

"सर्वधर्म०"—ब्रह्म (वेद) सर्वधर्ममय है, उसका दान सब दानों से अधिक है क्योंकि ब्रह्मदान करने वाला सदा के लिये ब्रह्मलोक पाता है ॥ २१२ ॥

जिसका दिया हुआ अन्न किसी के उदर में पड़ कर विद्याभ्यास के परिश्रम से पचता है उसकी दश पीढ़ियाँ नीचे की और दश ऊपर की स्वर्ग को जाती हैं ।

दान विशेष

"यानीमानि०"—राजा युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से पूछा कि हे कुरुपुंगव ! यज्ञवेदी से पृथक् जो ये अनेक प्रकार के दान किये जाते हैं उनमें कौन कौन दानों को आप अति उत्तम मानते हैं। मुझको उन दानों के सुनने की बड़ी इच्छा है । इसलिये उन दानों को आप कहें, जो कि दाता को अधिक होकर पुनः मिलते हैं ॥ १ ॥ २ ॥

भीष्म—हे भरतर्षभ ! सब प्राणियों को अपनी ओर से अभयदान और दुःख की दशा में अनुग्रह दान, तथा जो जिस वस्तु के बिना दुःखी होकर उस वस्तु को माँगे उसके लिये ईप्सित वस्तु

हिरण्यदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च।
एतानि वै पवित्राणि तारयन्त्यपि दुष्कृतम् ॥ ५ ॥
एतानि पुरुषव्याघ्र साधुभ्यो देहि नित्यदा।
दानानीह नरं पापान् मोक्षयन्ति न संशयः ॥ ६ ॥
यद् यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे।
तत्तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥ ७ ॥
प्रियाणि लभते नित्यं प्रियदः प्रियकृत्तथा।
प्रियो भवति भूतानामिह चैव परत्र च ॥ ८ ॥
याचमानमभीमानादनासक्तमकिञ्चनम् ।
यो नार्च्चति यथाशक्ति स नृशंसो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥
अमित्रमपि चेद्दीनं शरणैषिणमागतम् ।
व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः ॥ १० ॥
कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते।
अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥ ११ ॥
क्रियानियमितान् साधून् पुत्रदारैश्च कर्षितान् ।
अयाचमानान् कौन्तेय सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत् ॥ १२ ॥
आशिषं ये न देवेषु न च मर्त्येषु कुर्वते।
अर्हन्तो नित्यसन्तुष्टास्तथा लब्धोपजीविनः ॥ १३ ॥

भाषा

का दान, और जिस दान को देकर दाता यह समझे कि अच्छा दान हुआ, ये दान सब दानों में श्रेष्ठ हैं। सुवर्णदान, गोदान, पृथ्वीदान, ये बड़े पवित्र हैं और दाता के पापों का नाश कर ये अधिक रूप से उसको मिलते हैं ॥ ३—५ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! अच्छे पात्रों में तुम इन दानों को सदा दिया करो ॥ ६ ॥ जो पदार्थ लोक में सबको प्रिय हो, और जो दाता के गृह में उनमें से वर्तमान हो, अक्षय फल के लिये गुणवान् पात्रों में उन पदार्थों को देना चाहिये क्योंकि जो, प्रिय पदार्थ को देता है वह प्रिय पदार्थ को पाता है। और इस लोक तथा परलोक में वह दाता सब प्राणियों का प्रिय होता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

हे युधिष्ठिर ! माँगने वाले दरिद्र का जो पुरुष अभिमान से यथाशक्ति सत्कार नहीं करता वह पापभागी होता है ॥ ९ ॥ दीन होकर शरण आये हुए शत्रु पर भी जो पुरुष आपत्ति के समय अनुग्रह करता है वही उत्तम है ॥ १० ॥ जो मनुष्य दुर्बल, क्षीणवृत्ति, तथा दरिद्र विद्वान् पुरुष की क्षुधा को नाश करता है उसके समान कोई पुरुष नहीं है ॥ ११ ॥

हे कौन्तेय ! अपने धर्मक्रिया में तत्पर तथा दुर्बल, पत्नी और पुत्र से संयुक्त, और कदापि कुछ न माँगने वाले साधुजनों को सब उपायों से निमन्त्रण करना चाहिये ॥ १२ ॥ जो नित्य सन्तुष्ट और आपसे आप लब्ध वस्तुओं को उपयोग करने वाले, योग्य पुरुष, देवताओं वा मनुष्यों से कुछ

आशीविषसमेभ्यश्च तेभ्यो रक्षस्व भारत।
तान् सूक्तैरुपजिज्ञास्य तथर्त्विजवरोत्तमान् ॥ १४ ॥
कृतैरावसथैर्नित्यं सप्रेष्यैः सपरिच्छदैः।
निमन्त्रयेथाः कौरव्य सर्वकामसुखावहैः ॥ १५ ॥
यदि ते प्रतिगृह्णीयुः श्रद्धापूतं युधिष्ठिर।
कार्यमित्येव मन्वाना धार्मिकाः पुण्यकर्मिणः ॥ १६ ॥
विद्यास्नाता व्रतस्नाता ये व्यपाश्रित्य जीविनः।
गूढ़स्वाध्यायतपसो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥ १७ ॥
तेषु शुद्धेषु दान्तेषु स्वदारपरितोषिषु।
यत्करिष्यसि कल्याणं तत्ते लोकेषु धार्यते ॥ १८ ॥
यथाग्निहोत्रं सुहुतं सायं प्रातर्द्विजातिना।
तथा दत्तं द्विजातिभ्यो भवत्यथ यतात्मसु ॥ १९ ॥
एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः।
विशिष्टः सर्वयज्ञेभ्यो ददतस्तात वर्तताम् ॥ २० ॥

देवलः—अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्।
दानमित्यभिनिर्दिष्टं व्याख्यानं तस्य कथ्यते ॥
द्विहेतुषडधिष्ठानां षडङ्गं षड्विपाकयुक्।
चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते ॥

भाषा

लेने की इच्छा नहीं करते, महाविषधर सर्पों की तरह उन मनुष्यों से अपनी रक्षा करो अर्थात् शक्ति रहते उनकी सेवा न करने से पुरुष का सर्वनाश होता है। इसलिये प्रियवाणी, उत्तमस्थान, और सुखदायी अन्यान्य सब वस्तुओं से उनका निमन्त्रण किया करो। यदि वे धार्मिक लोग तुम्हारे किये हुए सत्कार को तुम्हारी श्रद्धा से पवित्र समझकर स्वीकार करैं। और ऐसे उत्तम ऋत्विजों (यज्ञ कराने वालों) का भी निमंत्रण किया करो ॥ १३—१६ ॥

जो ब्राह्मण, वेदाध्ययन वा ब्रह्मचर्य अथवा दोनों को समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के अनन्तर शुद्धाचार से चलते हैं उनके लिये जो कुछ तुम उपकार करोगे उससे इस लोक और परलोक में तुम्हारा कल्याण होगा ॥ १७ ॥ १८ ॥ जैसे प्रातःकाल और सायंकाल में विधिवत् अग्निहोत्र करना द्विजाति के लिये आवश्यक है वैसे ही पात्र में दान करना भी ॥ १९ ॥

हे तात! सब यज्ञों से अधिक यह श्रद्धायुक्त दक्षिणासहित दानरूपी यज्ञ तुम्हारा सदा ही हुआ करे ॥ २० ॥

"अर्थानां०"—उचित पात्र में श्रद्धा से वस्तुओं को देने का नाम दान है। उसका व्याख्यान यह है कि दान के कारण २, आश्रय ६, अंग ६, परिणाम ६, प्रकार ४, रीति ३, और नाश के कारण ३ होते हैं।

नाल्पत्वं वा बहुत्वं वा दानस्याभ्युदयावहम् ।
श्रद्धा भक्तिश्च दानानां वृद्धिक्षयकरे स्मृते ॥
धर्ममर्थश्च कामश्च व्रीडाहर्षभयानि च ।
अधिष्ठानानि दानानां षडेतानि प्रचक्षते ॥
पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनपेक्ष्य प्रयोजनम् ।
केवलं त्यागबुद्ध्या यद् धर्मदानं तदुच्यते ॥
प्रयोजनमपेक्ष्यैव प्रसङ्गाद् यत् प्रदीयते ।
अनर्हेषु च रागेषु कामदानं तदुच्यते ॥
संसदि व्रीडया स्तुत्या चार्थोऽर्थिभ्यः प्रयाचितः ।
प्रदीयते च यद्दानं व्रीडादानमिति स्मृतम् ॥
दृष्ट्वा प्रियाणि श्रुत्वा वा हर्षवद्यत् प्रदीयते ।
हर्षदानमिति प्राहुर्दानं तद्धर्मचिन्तकाः ॥
आक्रोशनार्थं हिंस्राणां प्रतीकाराय यद्भवेत् ।
दीयते तापकर्तृभ्यो भयदानं तदुच्यते ॥
दाता प्रतिग्रहीता च श्रद्धा देयं च धर्मयुक् ।
देशकालौ च दानानामङ्गान्येतानि षड्विदुः ॥
अपापरोगी धर्मात्मा दित्सुरव्यसनः शुचिः ।
अनिन्द्या जीवकर्मा च षड्भिर्दाता प्रशस्यते ॥

भाषा

देय वस्तु के अल्प वा अधिक होने से दान, उत्तम वा अधम नहीं होता किन्तु दाता की श्रद्धा और भक्ति, ये दो ही दानों की उत्तमता में और इनमें से एक वा दोनों का अभाव दोनों की अधमता में कारण हैं।

धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भय, ये छः दान के आश्रय हैं। धर्मदान वह कहलाता है जो दाता के किसी प्रयोजन के बिना केवल धर्मबुद्धि से दिया जाता है।

जो दान किसी लौकिक प्रयोजन के लिये ब्याजमात्र से दिया जाता है वह अर्थदान है। और वही उस दशा में कामदान कहलाता है जब स्त्रीसुख के लिये किसी दूत दूती आदि को दिया जाता है। जनसमाज में किसी के मांगने पर वस्तुओं को देना लज्जादान है क्योंकि-"यदि मैं न दूँगा तो समाज के लोग मुझे अच्छा न समझेंगे" इस लज्जा के विचार से वह दान दिया जाता है। प्रिय को देख वा सुनकर हर्ष से जो दान दिया जाता है वह हर्षदान कहलाता है।

दुःखदायी प्रबल क्रूरों के वारणार्थ जो दान दिया जाता है वह भयदान है। दाता प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, देयवस्तु, पुण्यदेश, और पुण्यकाल, ये छः अंग दान के हैं। कुष्ठादि पाप दोष से रहित, धर्मात्मा, देने की इच्छा किये, दुर्व्यसन से रहित, स्नानादि से पवित्र, उचित जीविका वाला पुरुष उत्तम दाता है।

त्रिशुक्लः कृशवृत्तिश्च घृणालुः सकलेन्द्रियः ।
सौमुख्याद्यभिसम्प्रीतिरर्थिनां दर्शने सदा ॥
सत्कृतिश्चानसूया च सदा श्रद्धेति कीर्त्यते ।
अनापराधमक्लेशं स्वयं तेनार्जितं धनम् ॥
स्वल्पं वा विपुलं वापि देयमित्यभिधीयते ।
यत्र यद्दुर्लभं भद्रं यस्मिन् कालेऽपि वा पुनः ॥
दानार्हौ देशकालौ तौ श्रेष्ठौ स्यातां न चान्यथा ।
अवस्था देशकालानां पात्रदात्रोश्च सम्पदा ॥
हीनं वापि भवेत् श्रेष्ठं श्रेष्ठं वाप्यन्यथा भवेत् ।
दुष्फलं निष्फलं हीनं तुल्यं विपुलमक्षयम् ।
षड्विपाकं समुद्दिष्टं षडेतानि विपाकतः ॥
नास्तिकस्तेनहिंस्रेभ्यो जाराय पतिताय च ।
पिशुनभ्रूणहन्तृभ्यः प्रदत्तं दुष्फलं भवेत् ॥
महदप्यफलं दानं परमप्यूनतां व्रजेत् ॥
यथोक्तमिति यद्दत्तं चित्तेन कलुषेण तु ।
तत्तु सङ्कल्पदोषेण दानं तुल्यफलं भवेत् ॥
युक्ताङ्गैः सकलैः षड्भिर्दानं स्याद्विपुलोदयम् ।
अनुक्रोशवशाद्दत्तं दानमक्षयतां व्रजेत् ॥

भाषा

दन्त, यज्ञोपवीत और वस्त्र, ये जिसके शुक्ल हों और जिसकी जीविका उसके आवश्यक कामों के लिये पूर्ण न हो तथा जो दयावान् हो और जिसकी सब इन्द्रियाँ पूर्ण हों वह प्रतिग्रहीता उत्तम है।

अर्थियों के देखने पर प्रसन्नमुख होना और उनका सत्कार करना तथा उन पर मिथ्या दोष न लगाना, श्रद्धा कहलाती है। देय वस्तु उसे कहते हैं जो चाहे थोड़ी हो वा बहुत परन्तु अन्याय से न प्राप्त की गयी हो और दाता से स्वयं अर्जित की गई हो। तथा जो द्रव्य जिस देश वा काल में दुर्लभ हो वह भी देय वस्तु है। दान के देश, तीर्थादि हैं और काल, पर्वादि हैं। देश, काल, पात्र, और दाता के श्रेष्ठ होने से दान श्रेष्ठ होता है और अधम होने से हीन होता है। दान, परिणाम में ६ प्रकार का होता है। अर्थात् (१) जिसका फल दुःख है, (२) जिसका कुछ भी फल नहीं है, (३) जिसका बहुत थोड़ा फल है, (४) जिसका फल उसके तुल्य है, (५) जिसका फल उसकी अपेक्षा अधिक है और (६) जिसका फल अक्षय है।

नास्तिक, चोर, हत्यारा, परदारगामी, पतित, पिशुन (चुगली करने वाला) और भ्रूणहत्या करने वाले को जो दान दिया जाय तो वह उपरोक्त दानों में से पहिला दान है। श्रद्धा और भक्ति दोनों के बिना जो दान दिया जाय वह दूसरा है। श्रद्धा और भक्ति में एक के बिना जो दिया जाय तो वह तीसरा है। जिस दान को देते समय दाता का चित्त शोकादि किसी दोष से दूषित हो वह चौथा है। पूर्वोक्त ६

आ० काण्डे पराशरः अ० १–अभिगम्य कृते दानं त्रेतास्वाहूय दीयते ।
द्वापरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ ॥ २९ ॥

अत्र माधवः—धर्मस्य तारतम्यापादकानि निमित्तानि विभजते—अभिगम्येति । यत्र प्रतिग्रहीता वर्तते, तत्र दाता स्वयं गत्वा गुरुमिव तमभिगम्य कृते दानं करोति । त्रेतायां प्रतिग्रहीतारमाहूय तस्मै दीयते । 'त्रेतासु' इति बहुवचनं कृतद्वापरादिषु जातावेकवचनमिति प्रदर्शनार्थम् । द्वापरे स्वयमागत्य याचमानाय प्रतिग्रहीत्रे दीयते । कलौ न याच्ञामात्रेण, किन्तु सेवया । बृहस्पतिरपि अमुं विभागमाह—

"कृते प्रदीयते गत्वा त्रेतास्वानीयते गृहे ।
द्वापरे च प्रार्थयतः कलावनुगमान्विते" ॥ इति ॥
अभिगम्योत्तमं दानमाहूयैव तु मध्यमम् ।
अधमं याचमानाय सेवादानन्तु निष्फलम् ॥ २९ ॥ इति च ॥

माधवः—निमित्तकृतं तारतम्यं दर्शयति—अभिगम्येति । उत्तमत्वाद्यवान्तरविशेषः पुराणे फलद्वारेणोपपादितः—

"गत्वा यद्दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम् ।
सहस्रगुणमाहूय याचितन्तु तदर्द्धकम् ॥
अभिगम्य तु यद्दानं यद्वा दानमयाचितम् ।
विद्यते सागरस्यान्तस्तस्यान्तो नैव विद्यते ॥" इति ॥

पात्रता

क्षान्तिः स्पृहा दया सत्यं दानं शीलं तपः श्रुतम् ।
एतदष्टाङ्गमुद्दिष्टं परमं पात्रलक्षणम् ॥

भाषा

अंग जिसके पूर्ण हों वह दान पांचवाँ है। और यदि यही दया से युक्त हो तो छठवें प्रकार का दान है।

"अभिगम्य कृते०"—सत्ययुग में दाता, लेने वाले के गृह जाकर गुरुवत् उसका आराधन कर, उसको दान देता है, त्रेता में उसको अपने समीप बुलाकर दान देता है, द्वापर में स्वयं आकर मागने वाले को देता है। और कलियुग में केवल मागने से नहीं किन्तु अपनी सेवा कराकर देता है।

"कृते०"—सत्ययुग में जाकर, त्रेता में बुलाकर, द्वापर में माँगने से, कलि में सेवा से दान देता है।

"अभिगम्योत्तमं०"—जाकर दान देना उत्तम, बुलाकर दान मध्यम, माँगने पर दान अधम, और सेवा से दान देना निष्फल होता है।

"गत्वा०"—स्वयं जाकर दान देने का फल अनन्त और बुलाकर देने का फल उस दी हुई वस्तु की अपेक्षा सहस्रगुण अधिक तथा माँगने से देने का फल उससे पाँचसौ गुणा अधिक होता है। जो दान जाकर वा बिना माँगे दिया जाता है; समुद्र का अन्त है परन्तु उसके फल का अन्त नहीं है।

पात्र

क्षमा, इच्छा, दया, सत्य, दान, शील, तप, वेद, ये आठ जिसमें हों वह पात्र है।

महा०—साङ्गांस्तु चतुरो वेदान् योऽधीते वै द्विजर्षभः ।
षड्भ्योऽनिवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥

याज्ञवल्क्यः—न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।
षड्भ्योऽनिवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥

महा.अनु.२३,युधि.उ.-पित्र्यं वाप्यथवा दैवं दीयते यत्पितामह ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं दत्तं केषु महाफलम् ॥ ४९ ॥

भीष्म उ०—येषां दाराः प्रतीक्षन्ते सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
उच्छेषपरिशेषं हि तान् भोजय युधिष्ठिर ॥ ५० ॥
चारित्रनिरता राजन् ये कृशाः कृशवृत्तयः ।
अर्थिनश्चोपगच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५१ ॥
तद्भक्तास्तद्गृहा राजंस्तद्बलास्तदपाश्रयाः ।
अर्थिनश्च भवन्त्यर्थे तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५२ ॥
तस्करेभ्यः परेभ्यो वा ये भयार्त्ता युधिष्ठिर ।
अर्थिनो भोक्तुमिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५३ ॥
अकल्ककस्य विप्रस्य रौद्यात् करकृतात्मना ।
वटवो यस्य भिक्षन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५४ ॥
हृतस्वाहृतदाराश्च ये विप्रा देशसंप्लवे ।
अर्थार्थमभिगच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५५ ॥

भाषा

"साङ्गां०"—शिक्षादि ६ अंगों सहित चार वेदों के कतिपय भागों को यथाशक्ति पढ़कर अध्यापनादि ६ कर्मों को जो ब्राह्मण किया करता है उसको महर्षिगण पात्र समझते हैं ।

"न विद्यया०"—केवल विद्या वा तप से पात्रता नहीं होती, किन्तु जो अपने छः कर्मों को करता है उसी को ऋषिगण पात्र समझते हैं । राजा युधिष्ठिर ने कहा कि हे पितामह ! पितृकार्य वा देवकार्य में कैसे पात्रों को दान देने का बड़ा फल है ? ॥ ४९ ॥

भीष्म—हे युधिष्ठिर ! जैसे किसान सुवृष्टि की प्रतीक्षा करते हैं वैसे जिनकी स्त्रियां उनके ले आये हुए और उनके भोजन से अवशिष्ट वस्तु की प्रतीक्षा करती हैं, उनको भोजन कराया करो । ॥ ५० ॥ हे राजन् ! जिनकी जीविका अति अल्प है और चरित्र उनका अच्छा है, शरीर दुर्बल है और जो बिना बुलाए अर्थी होकर आते हैं, उनको देने का बड़ा फल है ॥ ५१ ॥

हे राजन् दिया हुआ दान ही जिनका प्रिय तथा गृह, बल और आधार है, उन अर्थियों को देने का बड़ा फल है ॥ ५२ ॥ हे युधिष्ठिर ! चोरों वा शत्रुओं से भयभीत होकर भगे हुए जो अर्थी भोजन की इच्छा करते हैं, उनको देने का बड़ा फल है ॥ ५३ ॥ पाप रहित विप्र की दरिद्रता और रूक्षता के कारण जो उसके बालक भिक्षा माँगते हैं उनको देने का महाफल है ॥ ५४ ॥ देशव्यापी दुर्भिक्षादि उपद्रवों के समय जो लुट जाते हैं और जिनकी स्त्रियाँ हर ली जाती हैं वे विप्र किसी प्रयोजन से प्राप्त हों तो उनको देने का बड़ा फल है ॥ ५५ ॥

व्रतिनो नियमस्थाश्च ये विप्रा श्रुतसम्मताः।
तत्समाप्त्यर्थमिच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५६ ॥
अत्युत्क्रान्ताश्च धर्मेषु पाखण्डसमयेषु च।
कृशप्राणाः कृशधनास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५७ ॥
कृतसर्वस्वहरणा निर्दोषाः प्रभविष्णुभिः।
स्पृहयन्ति च भुक्तान्नं तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५८ ॥
तपस्विनस्तपोनिष्ठास्तेषां भैक्षचराश्च ये।
अर्थिनः किञ्चिदिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५९ ॥

अनु० २२, युधि० उ०—कीदृशाः साधवो विप्राः केभ्यो दत्तं महाफलम्।
कीदृशानामभोक्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३२ ॥

भीष्म० उ०—अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३३ ॥
अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३४ ॥
अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः।
स्वकर्मनिरता ये च तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३५ ॥
साङ्गांश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः।
षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥ ३६ ॥

भाषा

वेद के विद्वान् जो ब्राह्मण अपने व्रत वा नियम की समाप्ति के लिये धन चाहते हैं उनके लिये देने का बड़ा फल है ॥ ५६ ॥ कलियुगादि पाखण्ड समयों में भी धर्म को न छोड़ने वाले अल्प-प्राण और अल्पधन ब्राह्मणों को देने का बड़ा फल है ॥ ५७ ॥ अपराध के बिना ही किसी प्रबल पुरुष ने जिनका सर्वस्व हरण कर लिया हो और इसी कारण से जो अन्न के अर्थी हों तो उनको देने का बड़ा फल है ॥ ५८ ॥ जो तप में सदा तत्पर हैं तथा उनके लिये जो दूसरे पुरुष भिक्षा माँगते हैं, इन दोनों प्रकार के ब्राह्मणों को भिक्षा देने का बड़ा फल है ॥ ५९ ॥

राजा युधिष्ठिर ने कहा कि हे पितामह ! कैसे विप्र अति उत्तम हैं जिनके देने का महाफल है ? ॥ ३२ ॥

भीष्म—क्रोधरहित, धर्मतत्पर, सत्यवादी, दमयुक्त विप्र अति उत्तम हैं जिनको देने का महा-फल होता है ॥ ३३ ॥ गर्व से शून्य, क्षमायुक्त, तत्त्वनिश्चय वाले, जितेन्द्रिय, और सब प्राणियों के हितैषी ब्राह्मण अति उत्तम हैं जिनके देने का महाफल है ॥ ३४ ॥ लोभशून्य, शुद्ध, वेद पढ़े लोकलज्जा वाले, सत्यवादी, और अपने कर्मों में उद्यत ब्राह्मण अति उत्तम हैं जिनको देने का महाफल है ॥ ३५ ॥ शिक्षादि छः अंगों सहित, चारों वेदों के कतिपय भागों को यथाशक्ति पढ़कर अध्यापनादि ६ कर्मों को जो ब्राह्मण करता रहता है, उसको ऋषिगण पात्र समझते हैं ॥ ३६ ॥ अनन्तरोक्त

ये त्वेवं गुणजातीयास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ।
सहस्रगुणमाप्नोति गुणार्हाय प्रदायकः ॥ ३७ ॥
प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः ।
तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजर्षभः ॥ ३८ ॥
गामश्वं वित्तमन्नं वा तद्विधे प्रतिपादयेत् ।
द्रव्याणि चान्यानि तथा प्रेत्यभावेन शोचति ॥ ३९ ॥
तारयेत्तत्कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजोत्तमः ।
किमङ्ग पुनरेवैते तस्मात्पात्रं समाचरेत् ॥ ४० ॥
निशम्य च गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसम्मतम् ।
दूरादानीय सत्कृत्य सर्वतश्चापि पूजयेत् ॥ ४१ ॥

मनु०—सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥
पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च ।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥ ८६ ॥

अनु० ७३—स्वाध्यायाढ्यं शुद्धयोनिं प्रशान्तं
वैतानस्थं पापभीरुं बहुज्ञम् ।

भाषा

गुणों से युक्त ब्राह्मण को दान देने वाला उस दी हुई वस्तु को सहस्र गुण पाता है ॥ ३७ ॥ विवेक, वेदाध्ययन, सदाचार और शील से युक्त, एक ब्राह्मण में दान देंने से मी दाता का कुल, स्वर्ग पाता है ॥ ३८ ॥ गौ, अश्व, धन, अन्न वा अन्यान्य द्रव्य, पूर्वोक्त उत्तम ब्राह्मण को देकर दाता परलोक में किसी विषय का शोक नहीं पाता ॥ ३९ ॥ पूर्वोक्त प्रकारों में से एक प्रकार के एक ब्राह्मण को मी दान देने से दाता का सम्पूर्ण कुल स्वर्ग पाता है और पूर्वोक्त प्रत्येक प्रकार के अनेकानेक ब्राह्मणों को दान देने का फल कहाँ तक कहा जा सकता है । इसलिये पात्र आवश्यक है ॥ ४० ॥

जब उक्त गुण से संयुक्त साधु सम्मत ब्राह्मण सुना जाय तब दूर से भी उसको बुलवा कर सब उत्तम प्रकारों से उसका सत्कार और पूजन करना चाहिये ॥ ४१ ॥

"समम्०"—ब्राह्मण से अन्य क्षत्रियादि को जो दिया जाता है वह उतना ही दाता को मिलता है और अपने कर्म से रहित ब्राह्मण को जो दिया जाता है वह उसका द्विगुण, पढ़ते हुये ब्राह्मण को जो दिया जाता है वह उसका लक्ष गुण, वेद पारग ब्राह्मण को जो दिया जाता है वह अनन्त होकर दाता को सुख देता है ॥ ८५ ॥

पात्र के उक्त गुणों के आधिक्य और न्यूनता के तथा दाता के विश्वास रूपी श्राद्ध के आधिक्य और न्यूनता के अनुसार परलोक में दानफल का आधिक्य और न्यूनता होती है ॥ ८६ ॥

"स्वाध्या०"—भली भाँति वेद पढ़ा, शुद्ध कुल में उत्पन्न, शान्त, अग्निहोत्रादि यज्ञ करने वाला,

गोषु क्षान्तं नातितीक्ष्णं शरण्यम्
वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः ॥ ३७ ॥

अनु० ३७—अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा तप आर्जवम् ।
अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ८ ॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते न चाकार्याणि भारत ।
स्वभावतो निविष्टानि तत्पात्रं मानमर्हति ॥ ९ ॥

१६—अथ शमः

स च मनसि कामादिवेगानामनुत्पत्तिः ।

तैत्ति० आर० १०-६२—शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे रमन्ते ॥

तैत्ति० आर० १०-६३—शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दञ्छमो भूतानां दुराधर्षं शमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माच्छमं परमं वदन्ति ।

तुलाधारजाजलिसंवादः

शां० २६०,यु० उ०—शमस्य तपसो वाऽपि किन्नु श्रेष्ठतमं स्मृतम् ।
एतन्मे संशयं तात यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

भाषा

पाप से डरने वाला, बहुश्रुत, गौ का सेवक, कोमल स्वभाव वाला, दयायुक्त और क्षीण जीविका वाले को पात्र कहते हैं ॥ ३७ ॥

"अक्रोधः"—क्रोधहीनता, सत्यवादिता, अहिंसा, तप, ऋजुता (सीधापन) अद्रोह, अभिमानशून्यता, लोकलज्जा, क्षमा, दम, शम, ये सब जिसमें स्वाभाविक हों और कोई अकार्य कर्म उसमें न देखा जाय वही पात्र, बड़े मान और सत्कार के योग्य है ॥ ८ ॥ ९ ॥

१६—शम निरूपण

अन्तःकरण में कामादि के वेग को उत्पन्न न होने देना शम है ।

"शम०"—बन में मुनिगण शम को मुख्य मानते हैं । इसी से शम में उद्यत रहते हैं ।

"शमेन०"—शान्त लोग शम से धर्म करते हैं । ऋषिगण शम से स्वर्गलोक पाये । शान्त पुरुष को कोई दबा नहीं सकता, शम में सब प्रतिष्ठित है, इससे शम को श्रेष्ठ कहते हैं ।

उपाख्यान

"शमस्य०"—राजा युधिष्ठिर ने कहा कि हे तात ! शम और दम में कौन श्रेष्ठ है ? यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उ०—विविधा हि गतिः प्रोक्ता धर्मस्येह मनीषिभिः ।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य शमस्तेषां परायणम् ॥ २ ॥
शमः पवित्रमतुलं शमः पुण्यमनुत्तमम् ।
शमः सुखमसंख्येयं शमः पापहरं स्मृतम् ॥ ३ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तुलाधारस्य संवादं जाजलेश्च महात्मनः ॥ ४ ॥
पुरा हि सागरोपान्ते जाजलिर्नाम वै द्विजः ।
तपस्तेपे महाघोरं वायुभक्षः समाहितः ॥ ५ ॥
तस्य वर्षाण्यनेकानि स्थाणुभूतस्य तिष्ठतः ।
कलिङ्गौ शकुनावेत्य नीडं शिरसि चक्रतुः ॥ ६ ॥
शान्तो दयावान् ब्रह्मर्षिरुपप्रेक्ष्य तु दम्पती ।
ततस्तौ सुखविस्रब्धौ तत्राण्डानि विमुञ्चतः ॥ ७ ॥
अण्डेभ्योऽप्यथ पुष्टेभ्यो व्यजायन्त शकुन्तकाः ।
व्यवर्द्धताथ तत्रैव न चचाल स जाजलिः ॥ ८ ॥
कदाचिज्जातपक्षास्ते समुत्पत्य विहङ्गमाः ।
नैवाजग्मुर्यदा राजंस्तदासौ प्रययौ द्विजः ॥ ९ ॥
अथ तत्र समाविष्टः प्रोवाच न मया समः ।
लोकेऽस्मिंस्तापसः कश्चित्ततः खे वाक्यमब्रवीत् ॥ १० ॥

भाषा

भीष्म—अपने अपने विज्ञान के अनुसार पण्डितों के कहे हुये तीन प्रकार के धर्मों में शम ही मूल है और शम ही अति पवित्र तथा शम ही मुख्य पुण्य है और मुख्य सुख है, तथा पापनाशकों में भी शम ही प्रधान है ॥ २ ॥ ३ ॥

"अत्राप्यु०"–भीष्म पितामह ने राजा युधिष्ठिर से कहा कि शम के विषय में भी तुलाधार (वणिक) और जाजलि ऋषि का संवाद रूपी पुराना इतिहास है कि ॥ ४ ॥ प्राचीन समय में समुद्र के समीप जाजलि नामक ब्राह्मण वायु भक्षण करते हुये घोर तप आरम्भ किया ॥ ५ ॥

बहुत वर्षों तक ठूँठे लकड़ी की तरह खड़े हुए उस ऋषि के मस्तक पर कलिंग नामक स्त्री पुरुष दो पक्षियों ने अपना घोंसला बना लिया ॥ ६ ॥ शान्त और दयावान् महर्षि ने भी शिर नहीं हिलाया, और थोड़े ही काल में पक्षियों के अण्डे और अण्डों से बच्चे हुए। इस रीति से पक्षी का कुटुम्ब बढ़ा और बीच २ में समाधि छूटने पर भी महर्षि ने दया से शिर नहीं हिलाया ॥ ७ ॥ ८ ॥

हे राजन्! एक समय वे सब पक्षी उड़कर चले गये और फिर नहीं आये, तब ऋषि भी उनको खोजने चले। जाते २ एक स्थान में बैठ गये और वहाँ अपने आप यह कहने लगे कि, "इस लोक में मेरे ऐसा कोई तपस्वी नहीं है"। तदनन्तर आकाशवाणी हुई कि ॥ ९ ॥ १० ॥-हे

वाराणस्यां निवसति तुलाधारो महामतिः ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं भाषसे द्विज ॥ ११ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य तुलाधारदिदृक्षया ।
अचिरेणैव कालेन प्राप्तो वाराणसीं पुरीम् ॥ १२ ॥
तत्रापश्यत् तुलाधारं विक्रीणन्तं रसान् बहून् ।
तुलाधारोऽपि तं दृष्ट्वा प्रतिपूज्याब्रवीदिदम् ॥ १३ ॥
तुलाधार उ०—अनाख्यातोऽपि विदितो मया त्वं द्विजसत्तम ।
यदिहागमने कार्यं तदप्यवगतं मया ॥ १४ ॥
तपतस्ते तपस्तीव्रं जाता मूर्द्ध्नि शकुन्तकाः ।
ततस्त्वां विस्मयाविष्टं खे वाक् प्रोवाच मां प्रति ॥ १५ ॥
तं श्रुत्वा च महर्षे त्वं मां दिदृक्षुरिहागतः ।
तद्वदाशु द्विजश्रेष्ठ प्रियं किं करवाणि ते ॥ १६ ॥
जाजलि उ०—विक्रीणीषे सर्वरसान् सर्वगन्धांश्च नित्यशः ।
कथं ते नैष्ठिको धर्मो विदितस्त्वं वदस्व मे ॥ १७ ॥
तुलाधार उ०—न मेऽधीतानि शास्त्राणि नोपास्ता अपि त्वद्विधाः ।
पूर्वाभ्यासादयं विप्र धर्मः प्रादुरभून्मम ॥ १८ ॥
कर्मणा मनसा वाचा यन्नित्यं सेवते नरः ।
तदभ्यासो हरत्येष माभूत्ते तत्र संशयः ॥ १९ ॥

भाषा

ब्राह्मण ! काशी पुरी में एक महामति तुलाधार रहता है, वह भी ऐसा नहीं कह सकता जैसा तुम कहते हो ॥ ११ ॥ इस आकाशवाणी को सुनकर तुलाधार को देखने के लिये काशी चले, और थोड़े ही दिनों में वाराणसी पहुँचे ॥ १२ ॥ वहाँ दूकान पर अनेक प्रकार के रसों को बेचते हुए तुलाधार को देखा। तुलाधार ने भी उनको देख सब काम छोड़ उनकी पूजा कर उनसे यह कहा ॥ १३ ॥

हे द्विजसत्तम ! किसी के कहे बिना ही मैं आपको और आप के कार्य को भी समझ गया ॥ १४ ॥ तप करते हुए आप के शिर पर पक्षी उत्पन्न हो गये, जिससे आपको अभिमान हुआ, तदनन्तर आकाशवाणी से मुझको सुनकर मुझे देखने के लिये आप यहाँ आये हैं, इसलिये आप तुरन्त कहें कि आप की मैं क्या सेवा करूँ ? ॥ १५ ॥ १६ ॥

जाजलि—तुम सब रसों और गंधों को सदा बेचा करते हो, इसलिये बतलाओ कि धर्मतत्त्व का ज्ञान तुमको कैसे हुआ ? ॥ १७ ॥

तुलाधार—हे विप्र ! शास्त्र मेरे पढ़े नहीं हैं और न मैंने आप ऐसे महात्माओं की सेवा की है। किन्तु पूर्व जन्म के अभ्यास से मेरे अन्तःकरण में इस धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। और इस विषय में आप कुछ सन्देह न करें क्योंकि मनुष्य, मन, वचन और कर्म से जिस काम को सदा किया करता है उसको भी दबाकर पूर्व जन्म का अभ्यास अपने कार्य का प्रकाश करता है ॥ १८ ॥ १९ ॥

यो दुःखितानि भूतानि दृष्ट्वा भवति दुःखितः ।
सुखितानि सुखी चैव तं धर्मं वेद नैष्ठिकम् ॥ २० ॥
अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वै पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥ २१ ॥
परिच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम् ।
तथैव मन्दिरं विष्णोः कृतं वित्तानुसारतः ॥ २२ ॥
अन्येषामपि देवानां ब्राह्मणानां गवां तथा ।
करोम्यत्यन्तशुश्रूषां पाखण्डानामुपेक्षकः ॥ २३ ॥
यद्ददामि न तन्न्यूनं यद् गृह्णामि न चाधिकम् ।
विक्रीणामि रसांश्चाहं मद्यवर्जममांसकम् ॥ २४ ॥
यः करोति जडान्धानां वणिक्कर्मणि वञ्चनम् ।
स याति नरके घोरे धनं तस्यापि हीयते ॥ २५ ॥
सर्वेषां च सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥ २६ ॥
यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव ।
वाङ्मनःकर्मपारुष्यैः स पापां गतिमाप्नुयात् ॥ २७ ॥
नाहं परेषां कर्माणि स्तौमि निन्दामि न द्विज ।
समोऽस्मि सर्वभूतानां पश्य मे जाजले व्रतम् ॥ २८ ॥

भाषा

दुःखी प्राणी को देख खेदयुक्त होना और सुखी को देख हर्षयुक्त होना वास्तविक धर्म है ॥ २० ॥

हे जाजले ! जिससे किसी प्राणी को दुःख न पहुँचे और यदि कदाचित पहुँचे भी तो बहुत थोड़ा। ऐसी जीविका परम धर्म है और मैं भी उसी से जीता हूँ ॥ २१ ॥ थोड़े काष्ठों और तृणों से अपने वित्तानुसार मैंने यह गृह और विष्णु मन्दिर बनाया है तथा अन्य देवताओं, ब्राह्मणों और गौओं की भी मैं बहुत सेवा करता रहता हूँ और पाखण्डी पुरुषों से दूर रहता हूँ ॥ २२ ॥ २३ ॥ जो वस्तु बेचता हूँ वह न्यून नहीं और जो दाम लेता हूँ वह अधिक नहीं रहता तथा मद्य और मांस से अतिरिक्त रसों को बेचता हूँ ॥ २४ ॥ जो वणिक् अपने काम में, जड़ अन्धादि जनों को ठगता है वह दरिद्र होकर अन्त में नरक को प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

हे जाजले ! जो पुरुष अपने वचन और कर्म से सदा सबका मित्र और सबका उपकारी होता है वह धर्म को जानता है ॥ २६ ॥ जैसे सब लोग मृत्युमुख से डरते हैं वैसे मन, वचन और कर्म की क्रूरता के कारण जिस पुरुष से सब उद्वेग को प्राप्त होते हैं वह पुरुष अधोगति को प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

हे द्विज ! देखिये, मेरा यह नियम है कि किसी के काम की निन्दा वा स्तुति मैं कदापि नहीं

यथा पंग्वन्धबधिराः क्लीबमूकजड़ादयः ।
दैवेन पिहितद्वाराः सोपमा विषयेषु मे ॥ २९ ॥
यथा वृद्धातुरकृशा निःस्पृहा विषयान् प्रति ।
तथैव कामभोगेषु ममापि विगता स्पृहा ॥ ३० ॥
तुल्यौ मित्रारिपक्षौ मे तुल्ये निन्दाप्रशंसने ।
तुल्यता सर्वभूतेषु मम तिष्ठति जाजले ॥ ३१ ॥
सर्वभूतात्मभूतस्य समं सर्वत्र पश्यतः ।
देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ ३२ ॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पातकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३३ ॥
यः स्तौति यश्च मां द्वेष्टि तावुभावपि मे समौ ।
रागद्वेषविहीनस्य न च मे स्तः प्रियाप्रिये ॥३४ ॥
सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः ।
सर्वं हि जाजले तीर्थं मास्म ते संशयो भवेत् ॥ ३५ ॥
शम एव परं तीर्थं शम एव परं तपः ।
शम एव परं ज्ञानं शमो योगः परस्तथा ॥ ३६ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
सर्व एते शमेनैव प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥ ३७ ॥

भाषा

करता । और सब प्राणियों के लिये जैसे पंगु, अन्ध, बधिर, नपुंसक, मूक, जड़ आदि के लिये विषयभोग का द्वार प्रारब्ध से बंद किया हुआ है, विषयों के उपयोग में मेरी भी वही उपमा है॥ २९॥

जैसे अतिवृद्ध, रोगातुर और अति दुर्बलों को विषयों के प्रति इच्छा नहीं होती वैसे ही मुझको भी काम भोगों के प्रति इच्छा नहीं होती ॥ ३० ॥ मेरे लिये मित्र और शत्रु तथा निन्दा और प्रशंसा तुल्य ही हैं और मैं भी सब प्राणियों के लिये तुल्य ही हूँ ॥ ३१ ॥ निराधार होकर सर्वाधार (परमेश्वर) का अन्वेषण करने वाले और सबको एक दृष्टि से देखते हुए तथा सब प्राणियों के अन्तरात्मा हुए पुरुष की गति को देवता लोग भी नहीं जान सकते ॥ ३२ ॥

जब अपने मन, वचन और कर्म से सब प्राणियों के विषय में पुरुष दुष्टभाव नहीं करता तब उसको परमेश्वर प्राप्त होते हैं ॥ ३३ ॥ जो मेरी स्तुति करता है और जो मुझसे द्वेष करता है, ये दोनों मेरे लिये तुल्य हैं क्योंकि जब राग और द्वेष मेरे नहीं हैं तब मेरा कौन प्रिय और कौन अप्रिय है ॥ ३४ ॥

हे जाजले ! मेरे लिये सब नदियाँ सरस्वती हैं और सब पर्वत पुण्य हैं तथा सब स्थान तीर्थ हैं, इसमें आप सन्देह न करें ॥ ३५ ॥ शम ही बड़ा तीर्थ है, शम ही बड़ा तप है, शम ही ज्ञान है तथा शम ही बड़ा योग है ॥ ३६ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी, ये सब शम ही से उत्तम गति को पाते हैं ॥ ३७ ॥

दानमिज्या तपः शौचं तीर्थं वेदाः श्रुतं तथा ।
अशान्तमनसः पुंसः सर्वमेतदनर्थकम् ॥ ३८ ॥
रागद्वेषानृतक्रोधलोभमोहमदादिभिः ।
सर्वदोषैर्विनिर्मुक्तो यः स शांत इति स्मृतः ॥ ३९ ॥
शमार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभिः ।
तस्मात्स सर्वशास्त्रज्ञो यस्य शान्तं मनः सदा ॥ ४० ॥
यच्छ्रुतं न विरागाय न धर्माय न शान्तये ।
सम्बद्धमपशब्देन काकवाशितमेव तत् ॥ ४१ ॥
भीष्म उ०—एतान् धर्मांस्तुलाधारः कथयित्वा तु जाजलेः ।
ततोऽस्य दर्शयामास समीपस्थान् शकुन्तकान् ॥ ४२ ॥
तुलाधार उ०—एते शकुन्तका विप्र सम्भूता मूर्द्धि ये तत्र ।
आह्वयैतान् द्विजश्रेष्ठ त्वमेषां धर्मतः पिता ॥ ४३ ॥
ततो जाजलिना ते तु समाहूताः शकुन्तकाः ।
वाचं प्रोचुस्ततो दिव्यां धर्मस्य वचनात् किल ॥ ४४ ॥
शकुन्तका ऊ०—त्यज स्पर्द्धामिमां ब्रह्मन् विस्मयं परमं त्यज ।
शमे मनः समाधाय ततो ज्ञास्यसि तत् पदम् ॥ ४५ ॥
सुदुःखार्जितमेतत्ते तपः क्षरति विस्मयात् ।
तपसि क्षरते चैव न प्राप्स्यसि परं पदम् ॥ ४६ ॥

भाषा

जिसके हृदय में शान्ति नहीं है उस पुरुष के दान, यज्ञ, शौच, तीर्थसेवन, वेदाध्यन, अन्य शास्त्राध्ययन, ये सब व्यर्थ ही हैं ॥ ३८ ॥ शान्त वह कहलाता है जो राग, द्वेष, मिथ्याभाषण, क्रोध, लोभ, मोह, गर्व, आदि सब दोषों से रहित होता है ॥ ३९ ॥ जिसका मन सदा शान्त है वह सब शास्त्रों का पण्डित है क्योंकि शम ही के लिये पण्डितों ने सब शास्त्रों को प्रकट किया है ॥ ४० ॥ जिस अध्ययन से वैराग्य वा धर्म की शान्ति नहीं आती वह काकों का काँव २ शब्द ही है ॥ ४१ ॥

भीष्म—तुलाधार ने इन धर्मों को जाजलि से कह समीपवर्त्ती उन पक्षियों का (जो पहिले जाजलि के शिर पर रहे थे) दर्शन करा कर कहा ॥ ४२ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! ये वे पक्षी हैं जो तुम्हारे शिर पर उत्पन्न हुये थे । इनको बुलाओ, क्योंकि आप धर्म से इनके पिता हैं ॥ ४३ ॥

तदनन्तर जाजलि के बुलाये हुये उन पक्षियों ने धर्मदेव के आज्ञानुसार दिव्यवाणी से यह कहा ॥ ४४ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस स्पर्द्धा को और परम अभिमान को छोड़िये, मन में शान्ति धारण करो, तब परमेश्वर को जानोगे ॥ ४५ ॥ बड़े दुःख से अर्जन किया हुआ यह आपका तप इस गर्व के कारण क्षरित हो रहा है और इसके क्षरित हो जाने पर आप परमेश्वर को न पाइयेगा ॥ ४६ ॥

विस्मयं त्वं परित्यज्य तपसः क्षयकारणम् ।
शमे मनः समाधाय ध्यानयोगपरो भव ॥ ४७ ॥
चीरवासी जटी वापि त्रिदण्डी मुण्ड एव च ।
वृथा क्लिश्यति स ब्रह्मन् यस्य शान्तं न मानसम् ॥ ४८ ॥
भूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
शमः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ४९ ॥
वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहं तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥ ५० ॥
वयं स्नेहादिह प्राप्तास्तव धर्मविवक्षया ।
शान्तो भव त्यज स्पर्द्धामित्युक्त्वा ते ययुः खगाः ॥ ५१ ॥
एवं तैरनुशास्तोऽसौ तुलाधारेण वै द्विजः ।
शममास्थाय परमं जगाम परमां गतिम् ॥ ५२ ॥
तस्माद्विद्धि महाराज तपसः शममुत्तमम् ।
तपस्वी स्वर्गमाप्नोति शान्तात्मा ब्रह्मणः पदम् ॥ ५३ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं मया तत्त्वेन भारत ।
शमे मनः समाधाय ध्यानयोगपरो भव ॥ ५४ ॥
य इदं शृणुयान् नित्यं पुण्यमाख्यानमुत्तमम् ।
यः पठेत्प्राञ्जलिर्भूत्वा स गच्छेत्परमां गतिम् ॥ ५५ ॥

भाषा

तप के नाशक इस अभिमान को छोड़ शम में मन लगाकर ध्यानयोग से तत्पर होओ ॥ ४७॥ चीर धारण किये वा जटा रखाये वा त्रिदण्डी वा मुण्डित पुरुष, व्यर्थ ही क्लेश करते हैं, यदि उनका मन शान्त नहीं है ॥४८॥ भूषण से अलंकृत होकर भी जिस किसी आश्रम में रहकर शमयुक्त हो धर्म करै क्योंकि आश्रम के चिह्न दण्ड, जटा, काषाय वस्त्रादि, धर्म के कारण नहीं हैं ॥ ४९ ॥ रागी पुरुष पर बन में भी क्रोधादि दोष, अपना प्रभाव दिखलाते हैं और गृह में भी पाँचों इन्द्रियों का निग्रह तप है अर्थात् राग को निवृत्त कर अच्छे कर्मों में जो प्रवृत्त रहता है उसके लिये गृह ही तपोवन है ॥ ५० ॥ हम (पक्षीगण) प्रेम से आपके लिये धर्म कथनार्थ यहां आये हैं। आप शान्त हो जावें, अभिमान को छोड़ें, ऐसा कह पक्षीगण चले गये ॥ ५१ ॥ इस रीति से साक्षात् और पक्षियों के द्वारा तुलाधार की शिक्षा पाके से वह जाजलि ब्राह्म परम गति को प्राप्त हुआ ॥ ५२ ॥ हे महाराज ! इसलिये आप तप की अपेक्षा शम को उत्तम समझिये क्योंकि, तपस्वी स्वर्ग को प्राप्त होता है और शान्त पुरुष परब्रह्म को ॥ ५३ ॥ हे भारत! मैंने तत्त्व से यह सब कह दिया, आप शम में मन लगाकर ध्यानयोग में तत्पर होओ ॥ ५४ ॥ जो इस पुण्य उत्तम आख्यान को बद्धाञ्जलि होकर सुनता वा पढ़ता है, वह परमगति को प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

१७—अथ मातापित्रोर्गुरोश्च शुश्रूषा

तैत्तिरीय०११ अनुवाके—मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव॥ इति॥

मनु० अ० २—आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥२२५॥
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥२२६॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥२२७॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥२२८॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥२२९॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥२३०॥

भाषा

१७—माता पिता और गुरु की सेवा का निरूपण

"मातृ०"—देव की ऐसी सेवा माता की करो, देव की ऐसी सेवा पिता की करो, और देव की ऐसी सेवा आचार्य की करो। (ये उपदेश शिष्य के प्रति आचार्य के हैं)॥

"आचार्यो०"—आचार्य परमात्मा का, पिता ब्रह्मदेव का, माता पृथ्वी का और सहोदर भ्राता अपने आत्मा का स्वरूप है॥ २२५॥ इन आचार्यादिकों का किसी अवस्था में किसी को भी और विशेषकर ब्राह्मण को अनादर नहीं करना चाहिये॥ २२६॥ मनुष्यों की उत्पत्ति में गर्भाधान के अनन्तर अनेक वर्षों तक जो २ क्लेश, मनुष्य के लिए माता पिता भोगते हैं, उनका निष्कृय (बदला) सौ वर्ष में भी सेवा करके मनुष्य नहीं दे सकता॥ २२७॥ इसलिये माता और पिता की प्रीति को मनुष्य प्रतिदिन बढ़ाता रहै और आचार्य की प्रीति को भी सदा बढ़ाता रहै क्योंकि इन तीनों ही के प्रसन्न होने से पुरुष को तप के बिना भी चान्द्रायणादि सब तपों का फल प्राप्त होता है॥२२८॥ इन तीनों की सेवा ही बड़ा तप है, और इनकी अनुमति के बिना इनकी सेवा से अन्य किसी धर्म को न करै॥ २२९॥ क्योंकि ये ही तीनों लोक हैं, अर्थात् तीनों लोकों की प्राप्ति के कारण हैं, तथा ये ही ब्रह्मचर्यादि तीनों आश्रम हैं क्योंकि तीनों आश्रमों के दाता ये ही तीन हैं, और ये ही तीनों वेद हैं क्योंकि तीनों वेदों के पढ़ने से जो फल होता है उसके उपाय ये ही हैं, तथा ये ही तीन, तीनों अग्नि (जो अभी कहे जायँगे) हैं, क्योंकि उन अग्नियों से जितने यज्ञ होते हैं उनके फल इन तीनों ही की प्रसन्नता से मिलते हैं॥ २३०॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥२३१॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीन् लोकान्विजयेद्गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥२३२॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥२३४॥
यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥२३५॥
तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥२३६॥
त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥२३७॥

भाषा

पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि, और आचार्य आहवनीय अग्नि हैं अर्थात् ये तीन प्रत्येक इन तीन अग्नियों के तुल्य हैं ॥ २३१ ॥ प्रमाद छोड़ इन तीनों की सेवा करने से गृहस्थ, तीनों लोकों को विजय करता है और अपने शरीर से प्रकाशमान हो स्वर्गलोक में देवताओं के तुल्य आनन्द पाता है ॥ २३२ ॥

पितृभक्ति से इस लोक में और मातृभक्ति से स्वर्गलोक में तथा आचार्य की भक्ति से ब्रह्मलोक में वास और सुख पाता है ॥ २३३ ॥

जिसने इन तीनों का आदर किया मानो उसने सब धर्मों का आदर किया और जिसने इनका अनादर किया उसके श्रौत और स्मार्त सब धर्म कर्म व्यर्थ ही होते है ॥२३४॥

जब तक ये तीन जीते रहें तब तक इनकी अनुज्ञा के बिना पुरुष कोई अन्य धर्म न करे किन्तु इन्हीं के प्रिय तथा हित कामों में प्रतिदिन तत्पर रहा करै ॥२३५॥

इनकी शुश्रूषा से अन्य समय में इनकी आज्ञानुसार पुरुष मन, वचन और कर्म से जो कुछ पारलौकिक फल के लिये धर्म करै उसको भी करने के अनन्तर इनसे निवेदन करता रहै क्योंकि ॥२३६॥ पुरुष का सब धर्म इन्हीं की सेवा से पूर्ण हो जाता है, इसलिये इनकी सेवा ही पुरुष के लिये साक्षात् (सब पुरुषार्थों का देने वाला) परम धर्म है । और अग्निहोत्रादि रूपी सब धर्म प्रत्येक, इनकी सेवा की अपेक्षा न्यून धर्म हैं क्योंकि वे प्रत्येक एक ही एक फल के देने वाले हैं ॥२३७॥

१८—अथाचापलम्

विमृश्यकारितेति यावत् ।

शा० २६५, यु० उ०—कथं कार्यं परीक्षेत शीघ्रं वाथ चिरेण वा ।
सर्वथा कार्यदुर्गेऽस्मिन् भवान्नः परमो गुरुः ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चिरकारेस्तु यत्पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले ॥ २ ॥

चिरकारिक भद्रं ते भद्रन्ते चिरकारिक ।
चिरकारी हि मेधावी नापराध्यति कर्मसु ॥ ३ ॥

चिरकारी महाप्राज्ञो गौतमस्याभवत्सुतः ।
चिरेण सर्वकार्याणि विमृश्यार्थान् प्रपद्यते ॥ ४ ॥

चिरं सञ्चिन्तयत्यर्थांश्चिरं जाग्रत् चिरं स्वपन् ।
चिरं कार्याभिपत्तिश्च चिरकारी तथोच्यते ॥ ५ ॥

अलसग्रहणं प्राप्तो दुर्मेधावी तथोच्यते ।
बुद्धिलाघवयुक्तेन जनेनादीर्घदर्शिना ॥ ६ ॥

व्यभिचारे तु कस्मिंश्चित् व्यतिक्रम्य परान् सुतान् ।
पित्रोक्तः कुपितेनाथ जहीमां जननीमिति ॥ ७ ॥

भाषा

१८—अचापल का निरूपण

पूर्ण विचार के अनन्तर कार्य करने को अचापल कहते हैं ।

"कथं०"—राजा युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से कहा कि कामों का मार्ग पाप और पुण्य रूपी होने से बड़ा दुर्ग है। इसके ज्ञान में आप ही हमारे परम गुरु हैं, इसलिये आप यह कहें कि कामों से पूर्व, कामों के उचित और अनुचित होने की परीक्षा किस प्रकार तुरन्त हो सकती है ॥ १ ॥

भीष्म—इस विषय में भी अंगिरा के वंश में उत्पन्न चिरकारी नामक ऋषि के समाचार रूपी पुराने इतिहास को लोग कहते हैं ॥ २ ॥ चिरकाल तक विचार के अनन्तर काम करने से उन ऋषि का चिरकारी नाम था क्योंकि चिरकारी पण्डित प्रायः कामों में धोखा नहीं खा सकता ॥ ३ ॥

गौतम के पुत्र महापण्डित चिरकारी हुए। वे चिरकाल तक विचार कर सब कामों को करते थे तथा कर्तव्य का विचार चिरकाल तक जागते सोते सब समय में करते थे और कार्य करने में भी अधिक काल व्यय करते थे, इसी से उनका नाम चिरकारी था ॥ ४ ॥ ५ ॥ यहाँ तक कि अदूरदर्शी नीच जन उनका नाम 'अलस' रक्खे थे ॥ ६ ॥

एक समय उनके पिता ने व्यभिचार के कारण उनकी माता पर क्रुद्ध होकर उनके भाइयों से

इत्युक्त्वा स तदा विप्रो गौतमो जपतां वरः ।
अविमृश्य महाभागो वनमेव जगाम सः ॥ ८ ॥
स तथेति चिरेणोक्त्वा स्वभावाच्चिरकारिकः ।
विमृश्य चिरकारित्वाच्चिन्तयामास वै चिरम् ॥ ९ ॥
पितुराज्ञां कथं कुर्यां न हन्यां मातरं कथम् ।
कथं धर्मच्छले नास्मिन्निमज्जेयमसाधुवत् ॥ १० ॥
पितुराज्ञा परो धर्मः स्वधर्मो मातृरक्षणम् ।
अस्वतन्त्रं च पुत्रत्वं किन्तु मां नानुपीडयेत् ॥ ११ ॥
स्त्रियं हत्वा मातरं च को हि जातु सुखी भवेत् ।
पितरं चाप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठामवाप्नुयात् ॥ १२ ॥
अनवज्ञा पितुर्युक्ता धारणं मातृरक्षणम् ।
युक्तक्षेमावुभावेतौ नातिवर्तेत मां कथम् ॥ १३ ॥
पिता ह्यात्मानमाधत्ते जायायां जज्ञिवानिति ।
शीलचारित्रगोत्रस्य धारणार्थं कुलस्य च ॥ १४ ॥
सोऽहं मात्रा स्वयं पित्रा पुत्रत्वे प्रकृतः पुनः ।
विज्ञानं मे कथं न स्यात् द्वौ बुध्ये चात्मसम्भवम् ॥ १५ ॥
जातकर्मणि यत्प्राह पिता यच्चोपकर्मणि ।
पर्याप्तः स दृढ़ीकारः पितुर्गौरवनिश्चये ॥ १६ ॥

भाषा

कहा कि अपनी माता को मारो। जब उन्होंने नहीं मारा तब कुपित होकर चिरकारी से कहा कि तुम मारो और झटपट ऐसा कह कर वन में तप करने चले गये ॥ ७ ॥ ८ ॥

चिरकारी अपने स्वभाव के अनुसार अच्छा कह चिरकाल तक यह विचार करने लगे कि ॥ ९ ॥ कौन ऐसा उपाय है जिससे मैं पिता की आज्ञा का पालन भी करूँ और माता को मारूँ भी नहीं और इस धर्मसंकट में भी डूबने से बच जाऊँ ॥ १० ॥ पिता की आज्ञा का पालन करना मुख्य धर्म है और माता की रक्षा करना भी वैसा ही है। पुत्रत्व भी स्वतन्त्रता का नाशक है अर्थात् पुत्र को पिता के परतन्त्र ही होना चाहिये ॥ ११ ॥ स्त्रीजाति को और विशेषकर माता को मारकर कौन सुखी हो सकता है और पिता का अनादर करके कौन प्रतिष्ठा पा सकता है ॥ १२ ॥

पिता का अनादर न करना और माता की रक्षा करना ये दोनों धर्म यहाँ एक दूसरे के विरुद्ध हैं। कैसे, ऐसा हो कि मैं इनमें से एक को कर दूसरे के विरोध से नष्ट न हो जाऊँ ॥ १३ ॥ पिता अपने कुल और चरित्र की रक्षा करने के लिये अपनी पत्नी में पुत्र को उत्पन्न करता है; इस रीति से मैं पिता और माता दोनों का पुत्र हूँ। तब ऐसी दशा में कैसे दोनों को तुल्य न समझूँ ॥ १४ ॥ १५ ॥

पिता का गौरव इससे दृढ़ निश्चित होता है कि जो बालक के जातकर्म में वह "अश्मा भव" (हे पुत्र ! तू पाषाण के ऐसा अभेद्य हो) "परशुर्भव" (तू परशु के ऐसा मेरे शत्रुओं का छेदक हो)

गुरुरग्र्यः परो धर्मः पोषणाध्यापनान्वितः।
पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः॥ १७॥
प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता।
शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति॥ १८॥
तस्मात्पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं कथञ्चन।
पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः॥ १९॥
भोग्ये भोज्ये प्रवचने सर्वलोकनिदर्शने।
भर्त्रा चैव समायोगे सीमन्तोन्नयने तथा॥ २०॥
पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमन्तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः॥ २१॥
आशिषस्ता भजन्त्येनं पुरुषं प्राह यत्पिता।
निष्कृतिः सर्वपापानां पिता यच्चाभिनन्दति॥ २२॥
मुच्यते बन्धनात्पुष्पं फलं वृक्षात्प्रमुच्यते।
क्लिश्यन्नपि सुतं स्नेहैः पिता पुत्रं न मुञ्चति॥ २३॥
एतद्विचिन्तितं तावत्पुत्रस्य पितृगौरवम्।
पिता नाल्पतरं स्थानं चिन्तयिष्यामि मातरम्॥ २४॥

भाषा

इन मन्त्रों को पढ़ता है तथा उपनयन के पूर्व, जब २ पिता परदेश से आता है तब पुत्र के शिर पर हाथ रख "आत्मा वै पुत्रनामाऽसि" (तू मेरी आत्मा ही है; केवल तेरा नाम मात्र पुत्र है) इस मन्त्र को पढ़ता है और न केवल उसी समय, किन्तु उससे पूर्व भी नामकरण ही के समय इस मन्त्र को पढ़ता है॥१६॥

पुत्र का पोषण और अध्यापन जब पिता ही करता है, तब मुख्य गुरु वही है। और वेद में भी यही निश्चित है कि पुत्र के लिये वही धर्म है जो पिता कहै॥ १७॥ पुत्र, पिता की प्रीति मात्र का कारण है और पिता तो शरीरादि सब पदार्थ पुत्र को देता है॥ १८॥

इसलिये सब अवस्थाओं में पिता का वचन मानना चाहिये और उसमें कुछ भी विचार नहीं करना चाहिये तथा पिता के कहे हुए काम में यदि कोई पाप भी हो तो वह पिता की आज्ञा पालन ही से छूट जाता है॥ १९॥ वस्त्रादि के भोग, अन्नादि के भोजन, वेदों के अध्ययन, लौकिक शिक्षा, और पुत्र के गर्भाधानादि संस्कारों में पुत्र के लिये पिता ही प्रधान है॥ २०॥ पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है, पिता परम तप है, और पिता के प्रसन्न होने से सब देवता प्रसन्न होते हैं॥ २१॥ जो शुभाशीर्वाद पिता के मुख से निकलते हैं, वे पुरुष को प्राप्त होते हैं, और पुरुष के लिये जिस काम को पिता अभिनन्दन करता है वह पुत्र के छिपे सब पापों का प्रायश्चित्त है॥ २२॥

बन्धन (वृन्त) से पुष्प और वृक्ष से फल छूट जाता है परन्तु अति क्लेश पाने पर भी अति स्नेह के कारण, पुत्र को पिता नहीं छोड़ता।॥ २३॥ यहाँ तक तो मैंने पिता के गौरव की चिन्ता की, अब माता के गौरव की चिन्ता करता हूँ॥ २४॥

योह्ययं मयि सञ्जातो मर्त्यत्वे पाञ्चभौतिकः ।
अस्य मे जननी हेतुः पावकस्य यथारणिः ॥ २५ ॥
माता देहारणिः पुंसां सर्वस्यार्तस्य निर्वृतिः ।
मातृलाभे सनाथत्वं अनाथत्वं विपर्यये ॥ २६ ॥
न च शोचति नाप्येनं स्थाविर्यमपकर्षति ।
श्रिया हीनोऽपि यो गेहमन्वेति प्रतिपद्यते ॥ २७ ॥
पुत्रपौत्रोपपन्नोऽपि जननीं यः समाश्रितः ।
अपि वर्षशतस्यान्ते स द्विहायनवच्चरेत् ॥ २८ ॥
समर्थं वासमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा ।
रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ॥ २९ ॥
तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दुःखितः ।
तदा शून्यं जगत्तस्य यदा मात्रा वियुज्यते ॥ ३० ॥
नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः ।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ ३१ ॥
कुक्षिसन्धारणाद्धात्री जननाज्जननी स्मृता ।
अङ्गानां वर्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः ॥ ३२ ॥
शिशोः शुश्रूषणाच्छुश्रूर्माता देहमनन्तरम् ।
चेतनावान्नरो हन्याद्यस्य नासुषिरं शिरः ॥ ३३ ॥

भाषा

यह ज़ो पृथ्वी आदि पाँच भूतों से बना हुआ मेरा शरीर है इसका कारण मेरी माता है क्योंकि जैसे अरणी के भीतर से अग्नि प्रकट होती है वैसे ही यह मेरा शरीर माता के उदर से प्रकट हुआ ॥ २५ ॥ पुरुष के देह की अरणी और सुखों की खानि माता है तथा माता ही के बिना बालक अनाथ हो जाते हैं ॥ २६ ॥ चाहे धनहीन भी हो परन्तु जो पुरुष 'अम्बा' कहते घर में जाता है उसको शोक नहीं होता और वृद्धता उसको दुःख नहीं देती ॥ २७ ॥ पुत्र पौत्र वाला होकर भी जो अपनी माता के आश्रित है वह सौ वर्षों के अनन्तर भी दो वर्ष के बालक के ऐसा होता है ॥ २८ ॥ समर्थ वा असमर्थ, कृश वा स्थूल पुत्र की माता रक्षा ही करती है । माता से अन्य कोई माता के समान पोषण करने वाला नहीं है ॥ २९ ॥ पुरुष वृद्ध और दुःखी तब होता है तथा उसके लिये जगत् शून्यवत् तब होता है जब माता से उसका वियोग हो जाता है ॥ ३० ॥ माता के समान न कोई छाया है, न गति है, न रक्षक है और न कोई प्रिय है ॥ ३१ ॥

माता, उदर में धारण करने से धात्री, जन्म देने से जननी, अंगो की वृद्धि करने से अम्बा और वीर पुत्र उत्पन्न करने से वीरसू कही जाती है ॥ ३२ ॥ लड़कों की शुश्रूषा करने से माता शुश्रू कहलाती है और पुरुष का वह एक अव्यवहित देह है । उसको कोई कैसे मार सकता है जिसका शिर, मेदा, मज्जा आदि से शून्य अर्थात् सूखी तुमड़ी के ऐसा पोला नहीं है ॥ ३३ ॥ पति और पत्नी

दम्पत्योः प्राणसंश्लेषे योऽभिसन्धिः कृतः किल।
तं माता च पिता चेति भूतार्थो मातरि स्थितः ॥ ३४ ॥
माता जानाति यद्गोत्रं माता जानाति यस्य सः।
मातुर्भरणमात्रेण प्रीतिः स्नेहः पितुः प्रजा ॥ ३५ ॥
पाणिबन्धं स्वयं कृत्वा सहधर्ममुपेत्य च।
यदा यास्यन्ति पुरुषाः स्त्रियो नार्हन्ति वाच्यताम् ॥ ३६ ॥
भरणाद्धि स्त्रियो भर्ता पात्याच्चैव स्त्रियः पतिः।
गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता न पुनः पतिः ॥ ३७ ॥
एवं स्त्री नापराध्नोति नर एवापराध्यति।
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥ ३८ ॥

भाषा

के संभोग समय में "*पुत्रो मे गौरो जायेत वेदमब्रवीत् सर्वमायुरियात्*" (मेरा पुत्र गौर वर्ण हो, वेद पढ़े, पूर्णायु होवे) इत्यादि वेदवाक्यों से जो मनोरथ दिखलाया गया है वह यद्यपि माता वा पिता दोनों का होता है तथापि उसकी सत्यता माता ही में है क्योंकि पिता चाहे वैसा मनोरथ करै वा न करै परन्तु माता अवश्य ही वैसा मनोरथ करती है ॥ ३४ ॥ यद्यपि पुत्र के गोत्र को माता ही जानती है और यह भी वही जानती है कि पुत्र किसका है तथा गर्भ में प्रवेश ही के समय से माता पुत्र से स्नेह और हर्ष प्रकट करती है इसी से पुत्र को भी उससे हर्ष और स्नेह करना चाहिये। तथापि "*माता भस्त्रा पितुः पुत्रो यतो जातः स एव सः*" (माता चर्म कोष मात्र है, पुत्र पिता ही का है अर्थात् जिस पिता से जो पुत्र उत्पन्न हुआ वही वह है) ऐसा शास्त्र में कहा है, जिसके अनुसार पुत्र, पिता ही का है। तात्पर्य यह है कि हर्ष और स्नेह पुत्र को माता से अवश्य ही करना चाहिये। परन्तु पिता की आज्ञा का उल्लंघन पुत्र को नहीं करना चाहिये क्योंकि पुत्र, पिता ही का होता है ॥ ३५ ॥

जो पिता परदारगामी होता है उसकी स्त्री अर्थात् पुत्र की माता परपुरुषगामिनी होती है क्योंकि वह पिता उस माता को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इसलिये ऐसी माता के पुत्र में यह निश्चय होना दुर्घट है कि यह अपने पिता ही का पुत्र है। परन्तु मेरा पिता तो वैसा नहीं है, इससे मैं अवश्य ही अपने पिता का ही पुत्र हूँ। तब मुझे उसकी आज्ञा का कदापि उल्लंघन नहीं करना चाहिये। तब क्या पिता की आज्ञा से माता का शिर काट डालना चाहिये? नहीं, क्योंकि ॥ ३६ ॥ स्त्री के भरण-पोषण करने से पुरुष भर्ता होता है और पालन करने से पति होता है, तो जब पालन-पोषण पुरुष नहीं करता किन्तु स्त्री के प्राण लेने की आज्ञा देता है, तब वह उस स्त्री का कोई नहीं है तो ऐसे पुरुष की आज्ञा से मैं माता को नहीं मारूँगा। व्यभिचार रूप अपराध होने पर भी स्त्रियों के व्यभिचार में भी पुरुष ही का अपराध होता है क्योंकि ॥ ३७ ॥ पुरुषजाति यदि व्यभिचारी न हो तो स्त्रीजाति किसके साथ व्यभिचार करैगी? हाँ! स्त्री यदि व्यभिचार का अनुमोदन करे तब तो वह भी अपराधिनी होती है परन्तु ॥ ३८ ॥ स्त्री का परम देवता पति ही है तो ऐसी दशा में जब

स्त्रिया हि परमो भर्ता दैवतं परमं स्मृतम् ।
तस्यात्मना तु सदृशमात्मानं परमं ददौ ॥ ३९ ॥

नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति ।
सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यन्ति चाङ्गनाः ॥ ४० ॥

यश्च नोक्तोऽथ निर्देशः स्त्रिया मैथुनतृप्तये ।
तस्य स्मारयतो व्यक्तमधर्मो नास्ति संशयः ॥ ४१ ॥

एवं नारीं मातरं च गौरवे चाधिके स्थिताम् ।
अवध्यां तु विजानीयुः पशवोप्यविचक्षणाः ॥ ४२ ॥

देवतानां समावायमेकस्थं पितरं विदुः ।
मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादभ्येति मातरम् ॥ ४३ ॥

एवं विमृशतस्तस्य चिरकारितया बहु ।
दीर्घः कालो व्यतिक्रान्तस्ततोऽस्याभ्यागमत्पिता ॥ ४४ ॥

भाषा

पतिरूप होकर इन्द्र आये तो मेरी माता का यह धर्म था कि उनको अपना पति जानकर अपने को उनके समर्पण करै और जब वह उनको अपने पति से अन्य नहीं जानती थी तब कैसे व्यभिचार का अनुमोदन रूपी अपराध मेरी माता पर हो सकता है ? तथा वर्णसंकर दोष भी मेरे कुल पर नहीं हो सकता क्योंकि गर्भधारण तो हुआ ही नहीं ॥ ३९ ॥ स्त्रियाँ सब कार्यों में दूसरों के अनुरोध से चलती हैं, क्योंकि वे स्वभाव से अबला और पुरुषाधीन होती हैं, इसलिये बलात्कार के व्यभिचार में स्त्रियों का अपराध नहीं होता ॥ ४० ॥

और जब वेद ही में यह आख्यायिका है कि "त्वष्टा के पुत्र तीन शिर वाले विश्वरूप के मारने से उत्पन्न ब्रह्महत्या के तृतीयांश को मासिक रजरूप से स्त्रियों में इन्द्र स्थापन करते हैं, उसके बदले में स्त्रियां इन्द्र से बर माँगती हैं कि जब तक हमारे पेट से गर्भ न निकल जाय तब तक भी हमको पुरुष संग हुआ करै" तब ब्रह्महत्या रखने से इन्द्र ही अपराधी हुए क्योंकि यदि वह ऐसा न करते तो किसके बदले में स्त्रियाँ, पुरुष संग अधिक होने का बर उनसे माँगतीं तो ऐसी दशा में इन्द्र के अपराध से माता का बध करना किसी भी रीति से उचित नहीं है ॥ ४१ ॥

पशुप्राय मनुष्य भी स्त्रीजाति मात्र को अवध्य समझते हैं, उसमें भी विशेष कर माता को, उसमें भी ऐसी माता को जो पतिव्रता है ॥ ४२ ॥ अच्छे लोग अपने पिता को देवताओं का एकीकृत समूह समझते हैं अर्थात् पिता की प्रसन्नता से स्वर्ग का लाभ होता है, ऐसा मानते हैं। और माता को तो मनुष्य और देवता दोनों का समुदाय समझते हैं क्योंकि, माता की प्रसन्नता से इस लोक में पालन होता है, और अन्तमें स्वर्गलाभ भी होता है ॥ ४३ ॥ ऐसा विचार करते २ चिरकारी को बहुत काल बीत गये यहाँ तक कि उनके पिता तपोवनसे लौट कर घर आये ॥ ४४ ॥

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः ।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम् ॥ ४५ ॥

सोऽब्रवीद्दुःखसन्तप्तो दुःखेनाश्रूणि वर्तयन् ।
श्रुतधैर्यप्रसादेन पश्चात्तापमुपागतः ॥ ४६ ॥

आश्रमं मम सम्प्राप्तस्त्रिलोकेशः पुरन्दरः ।
अतिथिव्रतमास्थाय ब्राह्मणं रूपमास्थितः ॥ ४७ ॥

स मया सान्त्वितो वाग्भिः स्वागतेनाभिपूजितः ।
अर्घ्यं पाद्यं यथान्यायं मया च प्रतिपादितः ॥ ४८ ॥

परवानस्मि चेत्युक्तः प्रणयिष्यति तेन च ।
अत्र चाकुशले जाते स्त्रिया नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४९ ॥

एवं न स्त्री न चैवाहं नाध्वगस्त्रिदशेश्वरः ।
अपराध्यति धर्मस्य प्रमादस्त्वपराध्यति ॥ ५० ॥

ईर्ष्याजं व्यसनं प्राहुस्तेन चैवोर्ध्वरेतसः ।
ईर्ष्यया त्वहमाक्षिप्तो मग्नो दुष्कृतसागरे ॥ ५१ ॥

हत्वा साध्वीं च नारीं च व्यसनित्वाच्च वासिताम् ।
भर्तव्यत्वेन भार्यां च को नु मां तारयिष्यति ॥ ५२ ॥

अन्तरेण मयाऽऽज्ञप्तश्चिरकारीत्युदारधीः ।
यद्यद्य चिरकारी स्यात्स मां त्रायेत पातकात् ॥ ५३ ॥

भाषा

जब उनके पिता तपोवन में ही थे तभी उनके विचार में यह आया कि मेरी पत्नी को मारना उचित नहीं है। और उन्होंने अपने अध्ययन और धीरता के प्रसाद से पश्चात्ताप को प्राप्त हो महा दुःख से अश्रुओं को गिराते हुए अपने मन में यह कहा कि ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

मेरे आश्रम में त्रिलोकनाथ इन्द्र, ब्राह्मण वेष से अतिथि होकर आये। मैंने उनकी सान्त्वना, स्वागत, अर्घ्य पाद्यादि से जैसा कि उचित था पूजा की और उनको विश्राम दिया, और उनसे यह भी कहा कि मैं आपका हूँ और मैं यह भी जानता था कि वे मुझसे प्रेम करेंगे, ऐसी दशा में यदि उनकी चंचलता से (माया से मेरा रूप धारण करना) स्त्री दूषित हुई तो इस विषय में अहिल्या का कुछ अपराध नहीं है ॥ ४७---५० ॥ क्रोध से मुनियों को भी प्रमाद होता है। मुझे भी क्रोध से स्त्री को मारने की आज्ञा देकर पाप समुद्र में डूबना पड़ा ॥ ५१ ॥ मैंने अपनी पतिव्रता भार्या की निरपराध हत्या की। मुझे इस पापसमुद्र के पार कौन पहुँचावेगा ॥ ५२ ॥

मैंने प्रमाद से चिरकारी को आज्ञा दिया। आज यदि मेरा चिरकारी अपने नाम के अनुसार चिरकारी हुआ तो मुझे इस पाप से बचा लेगा ॥ ५३ ॥ हे चिरकारी ! तुम्हारा कल्याण हो,

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिकः॥ ५४॥
त्राहि मां मातरं चैव तपो यच्चार्जितं मया।
आत्मानं पातकेभ्यश्च भवाद्य चिरकारिकः॥ ५५॥
सहजं चिरकारित्वमतिप्रज्ञतया तव।
सफलं तत्तथा तेऽस्तु भवाद्य चिरकारिकः॥ ५६॥
चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः।
सफलं चिरकारित्वं कुरु त्वं चिरकारिक॥ ५७॥
चिरायते च सन्तापाच्चिरं स्वपिति धारितः।
आवयोश्चिरसन्तापादवेक्ष्य चिरकारिकः॥ ५८॥
एवं सदुःखितो राजन्महर्षिर्गौतमस्तदा।
चिरकारिं ददर्शाथ पुत्रं स्थितमथान्तिके॥ ५६॥
चिरकारी तु पितरं दृष्ट्वा परमदुःखितः।
शस्त्रं त्यक्त्वा ततो मूर्ध्ना प्रसादायोपचक्रमे॥ ६०॥
गौतमस्तं ततो दृष्ट्वा शिरसा पतितं भुवि।
पत्नीं चैव निराकारां परामभ्यागमन्मुदम्॥ ६१॥
न हि सा तेन संभेदं पत्नी नीता महात्मना।
विजने चाश्रमस्थेन पुत्रश्चापि समाहितः॥ ६२॥

भाषा

तुम्हारा कल्याण हो। हे चिरकारी ! यदि तुम आज अपनी माता के मारने के विषय में चिरकारी हुए अर्थात् अब तक 'मारूँ कि न मारूँ' इस विचार के कारण तुम अपनी माता को मार नहीं चुके हो तो तुम्हारा चिरकारी नाम सत्य ही है॥ ५४॥

मेरी और अपनी माता की तथा मेरे किये हुए तप की रक्षा करो और अपने को भी पाप से बचाओ, इस रीति से आज तुम चिरकारिक हो जाओ॥ ५५॥ तुम्हारी महाबुद्धि होने के कारण चिरकारिता स्वाभाविक है, परन्तु वह चिरकारिता तुम्हारी सफल हो। आज तुम चिरकारी हो जाओ॥५६॥ तुम्हारी माता चिरकाल तक तुम्हारी उत्पत्ति चाहती थी और चिरकाल तक तुमको गर्भ में धारण किया था, इसलिये हे चिरकारिक ! तुम अपनी चिरकारिता को उस माता के विषय में आज सफल करो और यह भी देखो कि हमको पश्चात्ताप करते और तुमको विचार करते भी चिरकाल व्यतीत हो गया॥५७॥५८॥

गौतम मुनि ऐसा कहते २ घर आये और चिरकारिक पुत्र को देखा॥ ५९॥ परम दुःखित चिरकारी ने पिता को देख शस्त्र को हाथ से छोड़ पिता के समीप पृथ्वी पर शिर से गिर पड़े॥६०॥ गौतम, पुत्र को इस तरह और पत्नी को निराकार (लज्जा से पाषाण हो गई) देख बड़े हर्ष को प्राप्त हुए॥६१॥ क्योंकि चिरकारी महात्मा ने उनकी पत्नी को मार नहीं डाला और शस्त्र हाथ में लेने से उनकी

हन्या इति समादेशः शस्त्रपाणौ सुते स्थिते ।
विनीते प्रसवत्यर्थे विवासे चात्मकर्मसु ॥ ६३ ॥
बुद्धिश्चासीत्सुतं दृष्ट्वा पितुश्चरणयोर्नतम् ।
शस्त्रग्रहणचापल्यं संवृणोति भयादिति ॥ ६४ ॥
ततः पित्रा चिरं स्तुत्वा चिरं चाघ्राय मूर्धनि ।
चिरं दोर्भ्यां परिष्वज्य चिरं जीवेत्युदाहृतः ॥ ६५ ॥
एवं स गौतमः पुत्रं प्रीतिहर्षगुणैर्युतः ।
अभिनन्द्य महाप्राज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ६६ ॥
चिरकारिक भद्रं ते चिरकारी चिरं भव ।
चिराय यदि ते सौम्य चिरमस्मि न दुःखितः ॥ ६७ ॥
गाथाश्चाप्यब्रवीद्विद्वान् गौतमो मुनिसत्तमः ।
चिरकारिषु धीरेषु गुणोद्देशसमाश्रयाः ॥ ६८ ॥
चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ॥ ६९ ॥
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७० ॥
बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च ।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७१ ॥

भाषा

आज्ञापालन में उद्यत था ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ पिता ने यह समझा कि माता के मारने के लिये शस्त्र ग्रहण रूपी अपराध को आच्छादन करने के लिये भयभीत होकर यह मेरे चरणों पर गिरा ॥ ६४ ॥

तदनन्तर चिरकाल तक प्रशंसा कर और चिरकाल तक पुत्र के मस्तक को चूम कर तथा चिरकाल तक पुत्र को हाथों से हृदय लगा कर उससे कहा 'त्वं चिरं जीव' ॥ ६५ ॥ इस रीति पुत्र का अभिनन्दन कर गौतम महर्षि ने कहा ॥ ६६ ॥ हे चिरकारिक ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम चिरकाल तक चिरकारी रहो, क्योंकि तुम्हारी चिरकारिता से मेरा चिरकाल भावी दुःख मिट गया ॥ ६७ ॥

तदनन्तर विद्वान् गौतम महर्षि ने चिरकारी से धीर पुरुषों की शिक्षा के लिये इन गाथाओं को कहा ॥ ६८ ॥ मनुष्य को चाहिये कि चिरकाल तक परीक्षा करने के अनन्तर किसी को अपना मित्र बनावै और यदि किसी प्रबल कारण से उस मित्र का त्याग करना चाहे तो भी धीरे २ चिरकाल के अनन्तर उसका त्याग करै क्योंकि चिरकाल का मित्र, चिरकाल तक धारण करने के योग्य होता है ॥ ६९ ॥

राग, दर्प, द्रोह, पापकर्म, और किसी का अपकार करने में चिरकारी (विलम्ब से करने वाला) अच्छा होता है ॥ ७० ॥ बन्धु, मित्र, भृत्य और स्त्री पर अपराध का जब सन्देह हो तब उसके निर्णय में चिरकारी अच्छा होता है ॥ ७१ ॥ हे कौरव्य ! इस रीति से अपने पुत्र पर उसकी

एवं स गौतमस्तत्र प्रीतः पुत्रस्य भारत ।
कर्मणा तेन कौरव्य चिरकारितया तथा ॥ ७२ ॥
एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ।
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥ ७३ ॥
चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति ।
पश्चात्तापकरं कर्म न किञ्चिदुपपद्यते ॥ ७४ ॥
चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् ।
चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याचान्वेषणं चिरम् ॥ ७५ ॥
चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान्निषेव्य च ।
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ॥ ७६ ॥
ब्रुवतश्च परस्यापि वाक्यं धर्मोपसंहितम् ।
चिरं पृष्टोऽपि च ब्रूयाच्चिरं न परितप्यते ॥ ७७ ॥
उपास्य बहुलास्तस्मिन्नाश्रमे सुमहातपाः ।
समाः स्वर्गं गतो विप्रः पुत्रेण सहितस्तदा ॥ ७८ ॥

१८—अथ मार्दवम्

तच्च शीलविशेषत्वादवयुत्त्यानुवादन्यायेन शीले पर्यवसितम् । शीलं च यद्यपि "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इति "शुचौ तु चरिते शीलम्" इति चाभिधानाभ्यां बाह्यावान्तरव्यापाररूपं तथापि हारीतेन महर्षिणा—

भाषा

चिरकारिता और काम से गौतम महर्षि प्रसन्न हो गये ॥ ७२ ॥ ऐसे ही सब कार्यों में चिरकालिक विचार से निश्चय करने वाला पुरुष चिरकालिक पश्चात्ताप को नहीं पाता ॥ ७३ ॥

चिरकाल तक क्रोध को धारण करै और चिरकाल तक काम को रोके रहै, इससे उस पुरुष को काम करने से पश्चात्ताप नहीं होता ॥ ७४ ॥ मनुष्य को चाहिये कि चिरकाल तक वृद्धों की उपासना करै और चिरकाल तक उनके समीप रहकर उनकी पूजा करै, तथा चिरकाल तक धर्म किया करै, और चिरकाल तक धर्म का अन्वेषण करै, चिरकाल तक विद्वानों के समीप बैठा करै और चिरकाल तक शिष्ट पुरुषों की सेवा करै । इस रीति से चिरकाल तक अपने को ठीक करने के बाद चिरकाल तक निर्दोष हो जाता है ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

शत्रु भी यदि धर्मयुक्त बात कहता वा पूछता हो तो चिरकाल तक विचार कर उसका उत्तर देना चाहिये । ऐसा करने से चिरकालिक पश्चात्ताप नहीं होता ॥ ७७ ॥ गौतम महर्षि अपने पुत्र के सहित अपने आश्रम में बहुत बर्षों तक रहने के बाद स्वर्ग को चले गये ॥ ७८ ॥

१९—मार्दव निरूपण

'मार्दव'—अन्तःकरण की कोमलता को कहते हैं तथा मार्दव का तात्पर्य यहाँ शील से है। 'शील' यद्यपि मानस और बाह्य सदाचार को कहते हैं तथापि हारीत नाम के महर्षि ने शील का

ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यताऽपरोपतापिताऽनसूयता मृदुताऽपारुष्यं मित्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं, प्रशान्तिश्चेति त्रयोदश विधं शीलमिति शीलविभजनात्। "स्मृतिशीले च तद्विदाम्" इति मानववाक्यव्याख्यानावसरे "अत्र च प्रवृत्तिभिन्ना द्रोहाद्याचारस्य प्रामाण्यमुच्यते आचारश्चेत्यत्र तु प्रवृत्त्यात्मकस्येत्यपौनरुक्त्यम्" इति पूर्वोपन्यस्तमित्रमिश्रव्याख्यानाच्च भावाभावसाधारणं मानसमेव। स्मृतिसाहचर्याच्च तस्य तथात्वमेवोचितमृते प्रियवादित्वापारुष्याभ्याम्भावाभावरूपाभ्याम् वस्तुतस्तु न कादाचित्कं ब्रह्मण्यत्वाद्यन्यतमं शीलम् किन्तु 'इदं (ब्रह्मण्यत्वादि) सदा सेविष्ये न कदाचिदपि त्यक्ष्यामीति' सङ्कल्प्य निरन्तरमनुष्ठीयमानं शीलितं परिशीलितं स्वभावतामापन्नं शीलमित्युच्यते, शीलसमाधाविति धात्वर्थानुगमात् "शीलं स्वभाव" इत्युक्तकोशाच्च, एवं चोक्त एतद्विषयकः सङ्कल्प एव मुख्यं शीलं यद्विषयत्वादभ्यस्यमानं ब्रह्मण्यतादिकमपि शीलमित्युच्यते तदेव च भाव इत्याचक्षते अत्र च विशेषो धर्मराजसज्जने पूर्वमुक्तः।

महा०शां०१२४यु०उ०—इमे जना नरश्रेष्ठ प्रशंसन्ति सदा भुवि।
धर्मस्य शीलमेवादौ ततो मे संशयो महान्॥ १॥
यदि तच्छक्यमस्माभिर्ज्ञातुं धर्मभृतां वर।
श्रोतुमिच्छामि तत् सर्वं यथैतदुपलभ्यते॥ २॥

भाषा

तेरह भेद दिखलाया है। (१) ब्राह्मणों में श्रद्धा, (२) देवता और पितर में भक्ति, (३) क्रोध का अभाव, (४) दूसरों को दुःख न देना, (५) किसी के गुण में दोष न निकालना, (६) मन की कोमलता, (७) रूखा न बोलना, (८) प्राणियों से मैत्री, (९) प्रिय बोलना, (१०) किसी के उपकार को न भूलना, (११) दीन को शरण देना, (१२) दया और (१३) शान्ति।

इनमें से रूखा न बोलने और प्रिय बोलने के अतिरिक्त, अन्य सब भेद, अन्तःकरण ही के धर्म हैं। वास्तविक बात तो यह है कि ब्रह्मण्यता आदि तेरहवाँ इनमें से कोई एक इतने मात्र से शील नहीं कहा जा सकता कि वह किसी कारण से एक वा दो बार पुरुष में, पूर्वोक्त लक्षणों में से कोई एक लक्षण आ जाने से शीलवान् नहीं हो सकता किन्तु "ब्राह्मणों में श्रद्धा आदि पूर्वोक्त लक्षणों को कदापि नहीं छोड़ेंगे, सदा ही इनको धारण करेंगे" ऐसे दृढ़ संकल्प के अनुसार निरन्तर धारण किये जाने से जब ब्रह्मण्यता आदि पुरुष की स्वभावता को प्राप्त हो जाते हैं तब वे शीलवान् कहे जाते हैं। इससे सिद्ध हो गया कि 'शील' शब्द का मुख्य अर्थ अनन्तरोक्त संकल्प ही है जिसको 'शुद्ध भाव' भी कहते हैं। इस विषय में विशेष, धर्मराजसज्जन के मनूक्त धर्मलक्षण के व्याख्यान में तथा शौच (आठवाँ लक्षण सामान्यधर्म) के प्रकरण में पहिले ही कहा जा चुका है।

उपाख्यान

"इमे०" राजा युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से कहा कि हे नरश्रेष्ठ! भूलोक के लोग धर्मों में पहिले शील ही की प्रशंसा करते हैं, इससे मुझे बड़ा सन्देह है। यदि मैं समझ सकता हूँ तो मुझसे इस विषय में

कथं तत् प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ! ।
किंलक्षणं च तत् प्रोक्तं ब्रूहि मे वदतांवर ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—पुरा दुर्योधनेनेह धृतराष्ट्राय मानद ।
आख्यातं तप्यमानेन श्रियं दृष्ट्वा तथागतम् ॥ ४ ॥
इन्द्रप्रस्थे महाराज ! तव सभ्रातृकस्य ह ।
सभायां चावहसनं तत् सर्वं शृणु भारत ॥ ५ ॥
भवतस्तां सभां दृष्ट्वा समृद्धिं चाप्यनुत्तमाम् ।
दुर्योधनस्तदासीनः सर्वं पित्रे न्यवेदयत् ॥ ६ ॥
श्रुत्वा हि धृतराष्ट्रश्च दुर्योधनवचस्तदा ।
अब्रवीत् कर्णसहितं दुर्योधनमिदं वचः ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र उ०—किमर्थं तप्यसे पुत्र श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
श्रुत्वा त्वामनुनेष्यामि यदि सम्यग् भविष्यति ॥ ८ ॥
त्वया च महदैश्वर्यं प्राप्तं परपुरञ्जय ।
किङ्करा भ्रातरः सर्वे भिन्नसम्बन्धिनः सदा ॥ ९ ॥
आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ १० ॥

दुर्यो० उवाच—दश तानि सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिः युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ११ ॥

भाषा

जो निर्णय हो कहिये कि शील का क्या लक्षण है, और कैसे वह मिल सकता है ? १—३ ॥

भीष्म—हे महाराज ! पहिले भीमादि भाइयों के सहित आप की लक्ष्मी को इन्द्रप्रस्थ में देखकर दुर्योधन ने आपकी सभासमृद्धि को बड़े सन्ताप के साथ अपने पिता धृतराष्ट्र से निवेदन किया और धृतराष्ट्र ने राजा कर्ण के सहित दुर्योधन से कहा कि ॥ ४—७ ॥

हे पुत्र ! इस विषय में मैं तुम्हारे सन्ताप का कारण सुना चाहता हूँ और सुनकर जैसा उचित होगा समझाऊँगा ॥ ८ ॥ हे परपुरंजय ! तुमने भी बड़ा ऐश्वर्य्य पाया है, और भाई, मित्र तथा सम्बन्धी सब तुम्हारे किंकर हैं । उत्तम वस्त्र, उत्तम भोजन, उत्तम अश्वादि, सब पदार्थ तुम्हारे उत्तम ही उत्तम हैं । तब किस कारण से तुम विवर्ण और दुर्बल हो ? ॥ ९ ॥ १० ॥

दुर्योधन—हे भारत ! पाण्डव के गृह में प्रति दिन सहस्र स्नातक (वेद, विद्या, व्रत से युक्त) महात्मा सुवर्ण की पात्रियों (थालियों) में भोजन करते हैं ॥ ११ ॥ स्वर्ग के पुष्पों तथा फलों से भरी हुई उस दिव्य सभा को और तीतरों के तुल्य अनेक वर्णों से भूषित उन घोड़ों तथा अनेक

दृष्ट्वा च तां सभां दिव्यां दिव्यपुष्पफलान्विताम् ।
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान् वस्त्राणि विविधानि च॥ १२ ॥
दृष्ट्वा तां पाण्डवेयानां ऋद्धिं वैश्रवणीं शुभाम् ।
अमित्राणां सुमहतीमनुशोचामि भारत ॥ १३ ॥
धृतराष्ट्र उ०—यदीच्छसि श्रियं तात यादृशी सा युधिष्ठिरे ।
विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान् भव पुत्रक ॥ १४ ॥
शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः ।
न हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ॥ १५ ॥
एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः ।
सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे ॥ १६ ॥
एते हि पार्थिवाः सर्वे शीलवन्तो दयान्विताः ।
अतस्तेषां गुणक्रीता वसुधा स्वयमागता ॥ १७ ॥
दुर्यो० उवाच—कथं तत् प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ।
येन शीलेन तैः प्राप्ता क्षिप्रमेव वसुन्धरा ॥ १८ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदेन पुरा प्रोक्तं शीलमाश्रित्य भारत ॥ १९ ॥
प्रह्लादेन हृतं राज्यं महेन्द्रस्य महात्मनः ।
शीलमाश्रित्य दैत्येन त्रैलोक्यं च वशीकृतम् ॥ २० ॥

भाषा

प्रकार के कौषेयादि उत्तम वस्त्रों से सुशोभित कुबेर की लक्ष्मी सी मेरे शत्रु पाण्डवों की बड़ी लक्ष्मी को देख मुझे महाशोक है ॥ १२ ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र—हे तात ! यदि युधिष्ठिर की ऐसी, अथवा उनसे भी बढ़ी चढ़ी लक्ष्मी को चाहते हो तो हे पुत्र ! तुम शीलवान् हो जाओ, क्योंकि ॥ १४ ॥ शील से तीनों लोक के विजय में कुछ संशय नहीं है, और शीलवान् के लिये कोई कार्य असाध्य नहीं है ॥ १५ ॥ राजा मान्धाता ने एक रात्रि में और राजा जनमेजय ने तीन दिनों में, तथा राजा नाभाग ने एक सप्ताह में, संपूर्ण पृथ्वी को अपने वश में कर लिया क्योंकि ये सब राजा शीलवान् और दयावान् थे । इसी से उनके गुणों से खरीदी हुई पृथ्वी आप से आप उनके हाथ आ गयी ॥ १६ ॥ १७ ॥

दुर्योधन—हे भारत ! जिस शील से उन राजाओं ने पृथ्वी को शीघ्र ही हाथ में कर लिया वह शील कैसे प्राप्त होता है ? ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्र—हे भारत ! इस विषय में भी नारद महर्षि का कहा हुआ प्राचीन इतिहास यह है कि ॥ १९ ॥

प्रह्लाद दैत्य ने शील के बल से तीनों लोकों को अपने वश में कर देवेन्द्र का राज छीन लिया॥ २० ॥

ततो बृहस्पतिं शक्रः प्राञ्जलिः समुपस्थितः ।
तमुवाच महाप्राज्ञः श्रेय इच्छामि वेदितुम् ॥ २१ ॥
ततो बृहस्पतिस्तस्मै ज्ञानं नैःश्रेयसं परम् ।
कथयामास भगवान् देवेन्द्राय कुरूद्वह ॥ २२ ॥
एतावच्छ्रेय इत्येव बृहस्पतिरभाषत ।
इन्द्रस्तु भूयः पप्रच्छ को विशेषो भवेदिति ॥ २३ ॥
बृहस्प० उवाच—विशेषोऽस्ति महांस्तात भार्गवस्य महात्मनः ।
अत्रागमय भद्रन्ते भूय एव सुरर्षभ ! ॥ २४ ॥
आत्मनस्तु ततः श्रेयो भार्गवात् सुमहातपाः ।
ज्ञानमागमयत् प्रीत्या पुनः स परमद्युतिः ॥ २५ ॥
तेनापि समनुज्ञातो भार्गवेण महात्मना ।
श्रेयोऽस्तीति पुनर्भूयः शुक्रमाह शतक्रतुः ॥ २६ ॥
भार्गवस्त्वाह सर्वज्ञः प्रह्लादस्य महात्मनः ।
ज्ञानमस्ति विशेषेणेत्युक्तो हृष्टश्च सोऽभवत् ॥ २७ ॥
स ततो ब्राह्मणो भूत्वा प्रह्लादं पाकशासनः ।
गत्वा प्रोवाच मेधावी श्रेय इच्छामि वेदितुम् ॥ २८ ॥
प्रह्लादस्त्वब्रवीद्विप्रं क्षणो नास्ति द्विजर्षभ ।
त्रैलोक्यराज्यसक्तस्य ततो नोपदिशामि ते ॥ २९ ॥
ब्राह्मणस्त्वब्रवीद्राजन् यस्मिन् काले क्षणो भवेत् ।
तदोपदेष्टुमिच्छामि यदाचर्यमनुत्तमम् ॥ ३० ॥

भाषा

तदनन्तर इन्द्र बद्धाञ्जलि होकर अपने गुरु बृहस्पति के समीप उपस्थित हुए और उनसे कहा कि मैं अपने कल्याण का मार्ग जानना चाहता हूँ ॥ २१ ॥ बृहस्पति ने देवेन्द्र को तत्त्व का उपदेश कर कहा कि यही कल्याण का मार्ग है । इन्द्र ने पुनः प्रश्न किया कि इससे भी अधिक कोई विशेष है? ॥ २२ ॥ २३ ॥

बृहस्पति ने कहा कि शुक्राचार्य इससे भी अधिक जानते हैं । उनके समीप जाओ, पुनः हमारे समीप आना ॥ २४ ॥ तदनन्तर शुक्राचार्य के समीप जाकर देवेन्द्र ने उनसे भी वैसा ही प्रश्न किया और उन्होंने भी उस विशेष को उपदेश कर यह कहा कि यही कल्याण का मार्ग है । इन्द्र ने पुनः यह प्रश्न किया कि इससे भी अधिक और कोई विशेष उपदेश है ? ॥ २५ ॥ २६ ॥ शुक्राचार्य ने कहा कि इससे भी अधिक ज्ञान प्रह्लाद महात्मा को है, ऐसा सुनकर इन्द्र को हर्ष हुआ ॥ २७ ॥

तदनन्तर ब्राह्मण का वेष धारण कर इन्द्र, प्रह्लाद के समीप जाकर कहने लगे कि मैं कल्याण का मार्ग जानना चाहता हूँ ॥ २८ ॥ प्रह्लाद ने कहा, हे द्विजर्षभ ! मैं आप को उपदेश नहीं कर सकता क्योंकि त्रैलोक्य के राज्य के भार के कारण मुझे क्षण (समय) नहीं रहता ॥ २९ ॥ ब्राह्मण ने कहा जब ही आप को समय हो तब ही मैं उपदेश लेना चाहता हूँ ॥ ३० ॥ ब्राह्मण के

ततः प्रीतोऽभवद्राजा प्रह्लादो ब्रह्मवादिनः ।
तथेत्युक्त्वा शुभे काले ज्ञानतत्त्वं ददौ तदा ॥ ३१ ॥
ब्राह्मणोऽपि यथान्यायं गुरुवृत्तिमनुत्तमाम् ।
चकार सर्वभावेन यदस्य मनसेप्सितम् ॥ ३२ ॥
पृष्टश्च तेन बहुशः प्राप्तं कथमरिन्दम ।
त्रैलोक्यराज्यं धर्मज्ञ कारणं तद्ब्रवीहि मे ।
प्रह्लादोऽपि महाराज ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥
प्रह्लाद उवाच—नासूयामि द्विजान् विप्र राजाऽस्मीति कदाचन ।
काव्यानि वदतां तेषां संयच्छामि वहामि च ॥ ३४ ॥
ते विस्रब्धाः प्रभाषन्ते संयच्छन्ति च मां सदा ।
ते मां काव्यपथे युक्तं शुश्रूषुमनसूयकम् ॥ ३५ ॥
धर्मात्मानं जितक्रोधं नियतं संयतेन्द्रियम् ।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिका ॥ ३६ ॥
सोऽहं वागग्रविद्यानां रसानामवलेहिता ।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ३७ ॥
एतत् पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम् ।
यद् ब्राह्मणमुखे काव्यमेतच्छ्रुत्वा प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

भाषा

इस वचन से राजा प्रह्लाद ने प्रसन्न होकर उपदेश देना स्वीकार कर लिया ॥ ३१ ॥ ब्राह्मण भी प्रह्लाद के इच्छानुसार गुरुसेवा करने लगे और जब अपनी सेवा के बल से प्रह्लाद को ब्राह्मण ने सन्तुष्ट कर लिया तब किसी समय उनसे यह प्रश्न किया कि हे धर्मज्ञ ! उस कारण को बतलाइये जिससे आपने त्रैलोक्य का राज्य पाया । प्रह्लाद ने कहा कि ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

हे विप्र ! जिस समय ब्राह्मण लोग मुझको मेरे गुरु शुक्राचार्य के नीतिशास्त्र की शिक्षा देते हैं उस समय 'मैं राजा हूँ' इस अभिमान से मैं उनकी शिक्षा का अनादर नहीं करता, किन्तु बड़े आदर से उन शिक्षाओं को सुनकर, उन्हीं के अनुसार सब कार्य करता हूँ ॥ ३४ ॥ और वे ब्राह्मण निःशंक हो सदा मुझको शिक्षा देते हैं तथा यह भी कहा करते हैं "देखो इसी नियम से रहना, अन्यथा कदापि न करना" इस रीति से जैसे मधुमक्षिका प्रतिदिन अपने छत्ते को पुष्पादि के रसों से भरती रहती है । उसी तरह ब्राह्मण लोग मुझ सेवक को सदा उपदेशों से पूर्ण करते रहते हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

इस रीति से मैं वागग्रविद्या (जिनकी विद्या हृदय में होती है न कि पुस्तकों में) ब्राह्मणों के उपदेश रस को पी २ कर नक्षत्रों पर चन्द्रमा के तुल्य अपने सजातीयों पर अपने अधिकार को प्रतिदिन दृढ़ करता रहता हूँ ॥ ३७ ॥ पृथ्वी में यही अमृत है और यही उत्तम नेत्र है कि ब्राह्मणों के मुख से नीतिशास्त्र को सुनकर उसके अनुसार अपनी प्रवृत्ति ठीक करना और यही कल्याण का

एतावच्छ्रेय इत्याह प्रह्लादो ब्रह्मवादिनम् ।
शुश्रूषितस्तेन तदा दैत्येन्द्रो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
यथावद्गुरुवृत्त्या ते प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते प्रदाताऽस्मि न संशयः ॥ ४० ॥
कृतमित्येव दैत्येन्द्रमुवाच स ततो द्विजः ।
प्रह्लादस्त्वब्रवीत् प्रीतो गृह्यतां वर इत्युत ॥ ४१ ॥
ब्राह्मण उवाच—यदि राजन् प्रसन्नस्त्वं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
भवतः शीलमिच्छामि प्राप्तुमेष वरो मम ॥ ४२ ॥
ततः प्रीतस्तु दैत्येन्द्रो भयमस्याऽभवन् महत् ।
वरे प्रदिष्टे विप्रेण नाल्पतेजाऽयमित्युत ॥ ४३ ॥
एवमस्त्विति स प्राह प्रह्लादो विस्मितस्तदा ।
उपाकृत्य तु विप्राय वरं दुःखान्वितोऽभवत् ॥ ४४ ॥
दत्ते वरे गते विप्रे चिन्तासीन्महती तदा ।
प्रह्लादस्य महाराज निश्चयं न च जग्मिवान् ॥ ४५ ॥
तस्य चिन्तयतस्तावच्छायाभूतं महाद्युति ।
तेजो विग्रहवत्तात शरीरमजहात्तदा ॥ ४६ ॥
तमपृच्छन्महाकायं प्रह्लादः को भवानिति ।
प्रत्याह तं तु शीलोऽस्मि त्यक्तो गच्छाम्यहं त्वया ॥ ४७ ॥

भाषा

मार्ग है । इसके बाद उस ब्राह्मण की सेवा से सन्तुष्ट हो कर राजा प्रह्लाद ने उस ब्राह्मण से यह भी कहा कि ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

हे द्विजसत्तम ! तुम्हारी इस उचित गुरुसेवा से मैं प्रसन्न हूँ । तुम यथेष्ट वर माँगो । मैं अवश्य दूँगा ॥ ४० ॥ ब्राह्मण ने कहा, जो वर मुझे इष्ट था वह मिल चुका । प्रह्लाद ने कहा नहीं २ कोई अन्य वर माँगो ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण ने कहा, हे राजन् ! यदि आप प्रसन्न होकर हमारा प्रिय चाहते हैं तो मेरा यही इष्ट वर है कि आप अपना शील मुझे दीजिये ॥ ४२ ॥ इस वर के श्रवण से प्रह्लाद को बड़ा भय हुआ और उन्होंने यह निश्चय किया कि यह ब्राह्मण कोई बड़ा तेजस्वी पुरुष है ॥ ४३ ॥

इस रीति से आश्चर्य में आकर प्रह्लाद ने ब्राह्मण से 'एवमस्तु' कह दिया और ब्राह्मण भी वर लेकर चला गया ॥ ४४ ॥ इसके बाद अतिदुःखित हो प्रह्लाद ने "यह कौन था जो मेरे शील रूपी सारांश ही को लेकर चला गया" । इस तरह बड़ी चिन्ता की परन्तु कुछ निश्चय नहीं कर पाया ॥ ४५ ॥

हे तात उसी समय एक महातेजोमय शरीर प्रह्लाद के शरीर से निकल कर खड़ा हुआ ॥ ४६ ॥ प्रह्लाद ने उससे पूछा कि आप कौन हैं ? उसने कहा हे राजन् ! मैं शील हूँ, आपने मुझे त्याग दिया,

तस्मिन् द्विजोत्तमे राजन् वत्स्याम्यहमनिन्दिते।
योऽसौ शिष्यत्वमागम्य त्वयि नित्यं समाहितः।
इत्युक्त्वाऽन्तर्हितं तद्वै शक्रं चान्वाविशत्प्रभो ॥ ४८ ॥
तस्मिंस्तेजसि याते तु तादृग्रूपस्ततोऽपरः।
शरीरान्निःसृतस्तस्य को भवानिति चाब्रवीत् ॥ ४९ ॥
धर्मं प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः।
तत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शीलं ततो ह्यहम् ॥ ५० ॥
ततोऽपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा।
शरीरान्निस्सृतस्तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ ५१ ॥
को भवानिति पृष्टश्च तमाह स महाद्युतिः।
सत्यं विद्ध्यसुरेन्द्राद्य प्रयास्ये धर्ममन्वहम् ॥ ५२ ॥
तस्मिन्ननुगते धर्मे महान्वै पुरुषोऽपरः।
निश्चक्राम ततस्तस्मात् पृष्टश्चाह महाबलः।
वृत्तं प्रह्लाद मां विद्धि यतः सत्यं ततो ह्यहम् ॥ ५३ ॥
तस्मिन् गते महाशब्दः शरीरात्तस्य निर्ययौ।
पृष्टश्चाह बलं विद्धि यतो वृत्तमहं ततः ॥ ५४ ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र यतो वृत्तं नराधिप।
ततः प्रभामयी देवी शरीरात्तस्य निर्ययौ ॥ ५५ ॥
तामपृच्छत् स दैत्येन्द्रः सा श्रीरित्येनमब्रवीत्।
उषिताऽस्मि स्वयं वीर त्वयि सत्यपराक्रम।
त्वया त्यक्ता गमिष्यामि बलं ह्यनुगता ह्यहम् ॥ ५६ ॥

भाषा

इस लिये मैं अब जाता हूँ। अब उसी ब्राह्मण में रहूँगा जो आपका शिष्य था ऐसा कह कर वह शील पुरुष वहाँ से चलकर इन्द्र के शरीर में प्रवेश कर गया। ॥ ४७॥ ४८ ॥

तदनन्तर एक वैसा ही दूसरा पुरुष प्रह्लाद के शरीर से निकला उससे श्री प्रह्लाद ने पूछा कि आप कौन हैं? ॥ ४९ ॥ उसने उत्तर दिया कि हे दैत्येन्द्र! मैं धर्म हूँ और उसी ब्राह्मण में जाता हूँ, क्योंकि मैं वहीं रहता हूँ जहाँ शील रहता है। उसके बाद तीसरा पुरुष भी प्रह्लाद के शरीर से निकल चला। उससे भी प्रह्लाद ने पूछा कि आप कौन हैं? उसने कहा, हे असुरेन्द्र! मैं सत्य हूँ और धर्म के पीछे जाता हूँ। तदनन्तर एक चतुर्थ पुरुष भी वैसा ही प्रह्लाद के शरीर से निकला और पूछने पर उसने कहा मैं वृत्त (सदाचार) हूँ और सत्य के समीप जाता हूँ। इसके पश्चात् प्रह्लाद के शरीर से महाशब्द करता हुआ एक पंचम पुरुष निकला और पूछने पर कहा मैं बल हूँ, ऐसा कह सदाचार के समीप चला गया। इसके बाद एक प्रभामयी देवी प्रह्लाद के शरीर से निकली। प्रह्लाद ने पूछा आप कौन हैं? देवी ने कहा, हे सत्यव्रत! पराक्रमी, बीर! मैं श्री (लक्ष्मी) हूँ। आप

ततो भयं प्रादुरासीत् प्रह्लादस्य महात्मनः ।
अपृच्छत् स ततो भूयः क यासि कमलालये ॥ ५७ ॥
त्वं हि सत्यव्रता देवी लोकस्य परमेश्वरी ।
कश्चासौ ब्राह्मणश्रेष्ठस्तत् त्वामिच्छामि वेदितुम् ॥ ५८ ॥
श्रीरुवाच—स शक्रो ब्रह्मचारी यस्त्वत्तश्चैवोपशिक्षितः ।
त्रैलोक्ये ते यदैश्वर्यं तत्तेनापहृतं प्रभो ॥ ५९ ॥
शीलेन हि त्रयो लोकास्त्वया धर्मज्ञ निर्जिताः ।
तद्विज्ञाय सुरेन्द्रेण तव शीलं हृतं प्रभो ॥ ६० ॥
धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम् ।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥ ६१ ॥
भीष्म उवाच—एवमुक्त्वा गता श्रीस्तु ते च सर्वे युधिष्ठिर ।
दुर्योधनस्तु पितरं भूय एवाब्रवीद्वचः ॥ ६२ ॥
शीलस्य तत्त्वमिच्छामि वेत्तुं कौरवनन्दन ।
प्राप्यते च यथाशीलं तं चोपायं वदस्व मे ॥ ६३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—सोपायं पूर्वमुद्दिष्टं प्रह्लादेन महात्मना ।
संक्षेपेण तु शीलस्य शृणु प्राप्तिं नरेश्वर ॥ ६४ ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥ ६५ ॥

भाषा

मैं आज तक रही । अब आप ने त्याग कर दिया, इसलिये मैं अब बल के समीप जाती हूँ, क्यों कि मैं बल ही के पीछे रहती हूँ ॥५०—५७॥

तदनन्तर प्रह्लाद को बड़ा भय हुआ और उस स्त्री से पुनः प्रश्न किया कि हे कमलालये! तुम तो लोक की परमेश्वरी हो और सत्यव्रता देवी हो, अपने सत्यव्रत को छोड़ कहाँ जाती हो ? मैं इस तत्त्व को जानना चाहता हूँ कि वह ब्राह्मण श्रेष्ठ कौन था ? ॥ ५८ ॥

श्री—हे प्रभो ! वह ब्रह्मचारी इन्द्र थे जिनको आपने शिक्षा दी है और उन्होंने त्रैलोक्य में आपके ऐश्वर्य को हरण कर लिया, क्योंकि ॥ ५९ ॥ हे धर्मज्ञ ! आपने शील से तीनों लोकों का विजय किया था और यही समझकर देवेन्द्र ने आपके शील को ले लिया ॥६०॥ हे महाप्राज्ञ ? धर्म, सत्य, वृत्त, बल और मैं इन पाँचों का शील ही मूल है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ६१ ॥

भीष्म—ऐसा कहकर श्री भी सीधी चली गई । इस इतिहास को सुन दुर्योधन ने अपने पिता से पुनः कहा कि ॥ ६२ ॥ हे कौरवनन्दन ! मैं शील का तत्त्व और उसके प्राप्ति का उपाय जानना चाहता हूँ; मुझसे कहिये ॥ ६३ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा कि प्रह्लाद महात्मा के इतिहास के द्वारा मैंने सब कुछ कह दिया । हे नरेश्वर ! अब शील का उपाय संक्षेप से कहता हूँ, सुनो ॥ ६४ ॥ मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी का द्रोह

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्मपौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथं च न ॥ ६६ ॥
तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि ।
शीलं समासे नैतत्ते कथितं कुरुसत्तम ॥ ६७ ॥
यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित् ।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते ॥ ६८ ॥
धृत० उवाच—एतद्विदित्वा तत्त्वेन शीलवान् भव पुत्रक ।
यदीच्छसि श्रियं तात सुविशिष्टां युधिष्ठिरात् ॥ ६९ ॥
भीष्म उवाच—एतत् कथितवान् पुत्रे धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
एतत् कुरुष्व कौन्तेय ततः प्राप्स्यसि तत्फलम् ॥ ७० ॥

२०—अथ सन्तोषः

विषयत्याग इति यावत् ।

मनुः अ० ४—सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥ इति
सन्तुष्टः को न शक्नोति फलमूलैश्च वर्तितुम् ।
सर्वाणीन्द्रियलौल्येन सङ्कटान्यवगाहते ॥

भाषा

न करना तथा सब प्राणियों पर अनुग्रह करना तथा दान करना यही शील है जिसकी प्रशंसा मैंने कह सुनाई ॥ ६५ ॥ जो काम दूसरों के लिये हितकर न हो वा जिस काम के करने से अपने को लज्जा आवै उस काम को कदापि न करै ॥ ६६ ॥ मनुष्य उसी कर्म को सदा करै जिससे कि जब समाज में पुरुष की प्रशंसा हो यही शील का संक्षेप से तात्पर्य है जो मैंने तुमसे कहा ॥ ६७ ॥

हे नृपते ! यद्यपि शीलरहित पुरुष भी किसी समय में लक्ष्मी को पा जाया करते हैं। तथापि वे चिरकाल तक उसका भोग नहीं करने पाते और जड़मूल से नष्ट भी हो जाते हैं। हे पुत्र ! पूर्वोक्त विषय को निश्चय कर यदि तुम युधिष्ठिर की अपेक्षा बढ़ी चढ़ी लक्ष्मी चाहते हो तो शीलवान् हो जाओ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

भीष्म—हे कौन्तेय ! राजा धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र से यह कहा, और तुम भी यही करो तब इससे अच्छा फल पाओगे ॥ ७० ॥

२०—सन्तोष निरूपण

"सन्तोष" यथासंभव अपने और अपने कुटुम्बादि के प्राण धारण और आवश्यक पंच यज्ञादि मात्र के लिये उपयोगी धन की अपेक्षा अधिक धन की इच्छा न करने को सन्तोष कहते हैं। पुरुष को चाहिये कि यदि सुख चाहै तो पूर्ण सन्तोष कर अधिक धन के अर्जन में यत्न न करै क्योंकि सब सुखों का मूल सन्तोष और सब दुःखों का मूल उसका अभाव (तृष्णा) है ॥ १२ ॥ जितने संकट और कष्ट हैं सब असन्तोष के कारण और इन्द्रियों की चंचलता से होते हैं, क्योंकि यदि सन्तोष हो तो कौन

सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥
सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥
कामं कामयमानस्य यदि कामः प्रसिद्ध्यति ।
तथैव परमं कामं भूयो विन्दति मानवः ॥
कामाभिलाषान्मोहाच्च न नरः सुखमेधते ।
श्येनालयतरुच्छायां व्रजान्निव कपिञ्जलः ॥
शान्ति० अ० २१—सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् ।
तुष्टेर्न किञ्चित्परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ॥ २ ॥
वनप० अ० २—असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ।
अन्तो नास्ति पिपासायाः सन्तोषः परमं सुखम् ।
तस्मात् सन्तोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ ४५ ॥

भाषा

मनुष्य ऐसा है कि जो फलों और मूलों से भी अपनी शरीर यात्रा न कर सके। जैसे चरणों में उपानह पहिने हुए पुरुष के लिये मानों सम्पूर्ण पृथ्वी पर चर्म ही बिछा रहता है वैसे मन में सन्तोष धारण करने वाले मनुष्य के लिये सदा सब स्थानों में संपत्ति ही रहती है।

पृथ्वी पर जो कुछ धान, यव अन्न आदि और सुवर्णादि धातुऐं तथा पशु आदि प्राणी और स्त्री आदि विषय हैं, वे सब समुदित हो कर, एक पुरुष की भी इच्छा को पूरी नहीं कर सकते, क्योंकि इच्छा का यह स्वभाव ही है कि मिली हुई वस्तु अधिक से अधिक भी हो तब भी उससे ऊपर को ही चलती है। इससे मनुष्य को सन्तोष ही करना चाहिये। सन्तोष रूपी अमृत से तृप्त शान्त पुरुषों को जो सुख सदा रहता है वह धन के लोभ में पड़कर इधर उधर दौड़ने वाले अति धनवान् पुरुषों को स्वप्न में भी और क्षण मात्र के लिये भी नहीं हो सकता। यद्यपि इष्ट विषय के लाभ से पुरुष की कतिपय इच्छायें शान्त हो जाती हैं तथापि अन्यान्य नवीन २ अनन्त इच्छाओं से उसके दुःख अनन्त ही होते जाते हैं। जैसे बाज पक्षी के घोंसले वाले वृक्ष की शीतल छाया में सुख भोगने वाले अन्यान्य पक्षी अवश्य ही महा दुःख पाते हैं वैसे ही सन्तोष को छोड़ लोभ में फँसे हुए मनुष्य अवश्य ही दुःख पाते हैं। सन्तोष स्वर्ग से भी बढ़ कर है, सन्तोष परम सुख है और सन्तोष से परे कोई प्रतिष्ठा नहीं है॥ २॥

मूढ़ लोग लोभ में तत्पर होते हैं तथा पण्डित लोग सन्तोष में। लोभ का कहीं अन्त नहीं है और सन्तोष से अधिक कोई सुख नहीं है। इससे पण्डित, सन्तोष ही को इस लोक में उत्तम समझते है ॥ ४५ ॥

२१—अथ मङ्गलम्

श्रीयोग्यतेति यावत्।

तथा चोपन्यस्तपरे वीरमित्रोदये बृहस्पतिः—
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम्।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥ इति॥

शक्र उवाच—का त्वं केन च कार्येण सम्प्राप्ता चारुहासिनी।
महा०शां०अ०२२८—कुतश्चागम्यते सुभ्रु गन्तव्यं क्व च ते शुभे॥ १८॥
श्रीरुवाच—पुण्येषु त्रिषु लोकेषु सर्वे स्थावरजङ्गमाः।
ममात्मभावमिच्छन्तो यतन्ते परमात्मना॥ १९॥
साऽहं वै पङ्कजे जाता सूर्यरश्मिविबोधिते।
भूत्यर्थं सर्वभूतानां पद्मा श्रीः पद्ममालिनी॥ २०॥
अहं लक्ष्मीरहं भूतिः श्रीश्चाहं बलसूदन।
अहं श्रद्धा च मेधा च सन्नतिर्विजितिः स्थितिः॥ २१॥
अहं धृतिरहं सिद्धिरहं तद्भूतिरेव च।
अहं स्वाहा स्वधा चैव सन्नतिर्नियतिः स्मृतिः॥ २२॥
राज्ञां विजयमानानां सेनाग्रेषु ध्वजेषु च।
निवासे धर्मशीलानां विषयेषु परेषु च॥ २३॥
जितकाशिनि शूरे च सङ्ग्रामेष्वनिवर्त्तिनि।
निवसामि मनुष्येन्द्रे सदैव बलसूदन॥ २४॥
धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि।
प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम्॥ २५॥

भाषा

२१—मंगल निरूपण

"प्रशस्ता०" अच्छे कामों को सदा करने और निषिद्ध कामों से सदा बचने को तत्त्वदर्शी लोग मंगल कहते हैं। लक्ष्मी के लिये योग्यता भी यही है।

उपाख्यान

इन्द्र ने लक्ष्मी से पूछा कि हे सुभ्रु! तुम कौन हो? और किस कार्य से और कहाँ से आती हो। और कहाँ जावोगी॥ १८॥

सूर्य के तेज से विकासित कमल में, सब प्राणियों के हितार्थ मैं प्रकट हुई और मुझे पद्मा, पद्ममालिनी, लक्ष्मी, भूति, और श्री भी कहते हैं। और मैं ही श्रद्धा, मेधा, विनय, विजय, मर्यादा, धैर्य, सिद्धि, (अणिमादि) स्वाहा, स्वधा, और स्मृति भी हूँ॥ २०—२२॥

विजय प्राप्त करते हुए राजाओं के ध्वजों पर और सेनाओं के अग्र भाग में तथा धर्मशील पुरुषों के स्थान में, देशों तथा नगरों में और संग्राम से न हटने वाले विजयशील शूरों में तथा सदा

असुरेष्ववसं पूर्वं सत्यधर्मनिबन्धना ।
विपरीतांस्तु तान् बुद्ध्वा त्वयि वासमरोचयम् ॥ २६ ॥
शक्र उवाच—कथं वृत्तेषु दैत्येषु त्वमवात्सीर्वरानने ।
दृष्ट्वा च किमिहागास्त्वं हित्वा दैतेयदानवान् ॥ २७ ॥
श्रीरुवाच—स्वधर्ममनुतिष्ठत्सु धैर्यादचलितेषु च ।
स्वर्गमार्गाभिरामेषु सत्त्वेषु निरता ह्यहम् ॥ २८ ॥
दानाध्ययनयज्ञेज्यापितृदैवतपूजनम् ।
गुरूणामतिथीनाञ्च तेषां नित्यमवर्तत ॥ २९ ॥
सुसंमृष्टगृहाश्चासन् जितस्त्रीका हुताग्नयः ।
गुरुशुश्रूषका दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ३० ॥
श्रद्दधाना जितक्रोधा दानशीलाऽनसूयवः ।
भृतपुत्रा भृतामात्या भृतदारा ह्यनीषवः ॥ ३१ ॥
अमर्षेण न चाऽन्योन्यं स्पृहयन्ते कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ते धीराः परसमृद्धिभिः ॥ ३२ ॥
दातारः सङ्गृहीतार आर्याः करुणवेदिनः ।
महाप्रसादा ऋजवो दृढभक्ता जितेन्द्रियाः ॥ ३३ ॥
सन्तुष्टभृत्यसचिवाः कृतज्ञाः प्रियवादिनः ।
यथार्हमानार्थकरा ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ ३४ ॥

भाषा

धर्मात्मा, महाबुद्धि, ब्रह्मण्य और सत्यवादी पुरुषों में तथा नम्र और दानशील पुरुषों में मैं सदा ही रहा करती हूँ ॥ २३—२५ ॥ सत्य और धर्म के कारण मैं पहिले असुरों के गृह में थी परन्तु जब उनको विपरीत होते देखा तब मैं तुममें रहना चाहती हूँ ॥ २६ ॥

इन्द्र—हे वरानने ! कैसे आचार वाले दैत्यों में आप रही हो ? और उनमें क्या विपरीत देखा जिससे उनको छोड़ यहाँ आई ॥ २७ ॥

श्री—अपने धर्म को करने तथा धैर्य से विचलित नहीं होने वाले और स्वर्ग मार्ग में रुचि रखने वाले प्राणियों में मैं रहा करती हूँ । दैत्यगण ऐसे ही थे ॥ २८ ॥ अर्थात् दान, अध्ययन, यज्ञ, देवता, पितर, गुरु और अतिथियों का पूजन उनमें सदा रहा ॥ २९ ॥ उनके गृह सदा पवित्र रहते थे और वे स्त्रियों के वश में नहीं थे और होम करते थे, गुरु की सेवा करते थे तथा दमयुक्त, ब्रह्मण्य, सत्यवादी, श्रद्धावान्, क्रोध शून्य, दानशील, अनिन्दक, पुत्रदार, और अमात्य के पोषक थे ॥ ३० ॥ ३१ ॥ और अन्योन्य में अमर्ष नहीं करते थे तथा एक की समृद्धि को देख दूसरे को सन्ताप नहीं होता था ॥ ३२ ॥ तथा वे दाता, संग्रह करने वाले, दयावान्, महाप्रसाद (प्रसन्न होकर बड़ा फल देने वाले) सूधे, दृढ़ मित्रता वाले, जितेन्द्रिय, भृत्यों और सचिवों को सन्तुष्ट करने वाले, कृतज्ञ किसी के उपकार को न भूलने वाले) प्रियवादी, यथायोग्य मान और सत्कार करने वाले, लोकलज्जा वाले,

नित्यं पर्वसु सुस्नाताः स्वनुलिप्ताः स्वलङ्कृताः ।
उपवासतपःशीला प्रतीता ब्रह्मवादिनः ॥ ३५ ॥
नैतानभ्युदियात् सूर्यो न चाप्याशु प्रगेशयाः ।
रात्रौ दधि च सक्तूंश्च नित्यमेव व्यवर्जयन् ॥ ३६ ॥
कल्यं घृतं चान्ववैक्षन् प्रयता ब्रह्मवादिनः ।
मङ्गल्यान्यपि चापश्यन् ब्राह्मणांश्चाप्यपूजयन् ॥ ३७ ॥
सदा हि वदतां धर्मं सदा चाप्रतिगृह्णताम् ।
अर्द्धं च रात्र्याः स्वपतां दिवा चास्वपतां तथा ॥ ३८ ॥
कृपणाऽनाथवृद्धानां दुर्बलाऽऽतुरयोषिताम् ।
दयां च संविभागं च नित्यमेवानुमोदताम् ॥ ३९ ॥
त्रस्तं विषण्णमुद्विग्नं भयार्तं व्याधितं कृशम् ।
हृतस्वं व्यसनार्तं च नित्यमाश्वासयन्ति ते ॥ ४० ॥
धर्ममेवान्ववर्तन्त न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुकूलाश्च कार्येषु गुरुवृद्धोपसेविनः ॥ ४१ ॥
पितॄन् देवाऽतिथींश्चैव यावत्तेऽभ्यवपूजयन् ।
अवशेषाणि चाश्नन्ति नित्यं सत्यतपोधृताः ॥ ४२ ॥
नैकेऽश्नन्ति सुसम्पन्नं नागच्छन्त परस्त्रियम् ।
सर्वभूतेष्ववर्तन्त यथात्मनि दयां प्रति ॥ ४३ ॥

भाषा

व्रत करने वाले, प्रतिदिन और विशेषकर पर्वों पर स्नान, अनुलेपन और अलंकार से युक्त, उपवास और तप करने वाले विश्वासपात्र और ब्रह्मवादी थे ॥ ३३—३५ ॥ सूर्योदय से पहिले वे उठते थे, प्रातःकाल में कदापि नहीं सोते थे, रात्रि में दही वा सत्तू कदापि नहीं खाते थे ॥ ३६ ॥ प्रतिदिन प्रातःकाल में घृत, गौ आदि मंगल्यों का दर्शन करते थे और ब्राह्मणों की पूजा करते थे ॥ ३७ ॥ सदा धर्म की वार्ता करते थे, प्रतिग्रह कदापि नहीं लेते थे, रात्रि के प्रथम अर्द्ध में वा दिन में सोते नहीं थे ॥ ३८ ॥ दरिद्र, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगातुर और स्त्रियों पर सदा दया रखते थे और यथा-योग्य सबका पालन करते थे ॥ ३९ ॥ शोकग्रस्त, उद्विग्न, भयभीत, व्याधित, दुर्बल, हृतस्व (जिसका धन किसी ने लूट लिया हो) तथा अन्यान्य आपत्तियों में पड़े हुए प्राणियों को सदा आश्वासन और सहायता दिया करते थे ॥ ४० ॥ धर्म ही करते थे और हिंसा कदापि नहीं करते थे तथा गुरु और वृद्धों की सेवा करते थे और सब कार्यों में उन सबकी एक ही मति होती थी ॥ ४१ ॥

देवता, पितर और अतिथियों का यथोचित पूजन करते थे और इनसे बचे हुए पदार्थों को सदा भोजन करते थे ॥ ४२ ॥ अकेले मिष्ट पदार्थ नहीं खाते थे, परस्त्रीगमन कदापि नहीं करते थे। अपने तुल्य अन्यों में दया करते थे। आकाश में, पशुओं में अथवा योनि से अन्यत्र कहीं भी, और

नैवाकाशे न पशुषु वियोनौ न च पर्वसु ।
इन्द्रियस्य विसर्गं ते रोचयन्ति कदाचन ॥ ४४ ॥
नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा ।
उत्साहोऽथानहङ्कारः परमं सौहृदं क्षमा ॥ ४५ ॥
सत्यं दानं तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वं तेष्वभवत् प्रभो ॥ ४६ ॥
निद्रा तन्द्रीरसम्प्रीतिरसूयार्थानवेक्षिता ।
अरतिश्च विषादश्च स्पृहा चाप्यविशन्न तान् ॥ ४७ ॥
साहमेवं गुणेष्वेव दानवेष्ववसं पुरा ।
प्रजासर्गमुपादाय नैकं युगविपर्ययम् ॥ ४८ ॥
ततः कालविपर्यासे तेषां गुणविपर्ययात् ।
अपश्यं निर्गतं धर्मं कामक्रोधवशात्मनाम् ॥ ४९ ॥
सभासदं च वृद्धानां सतां कथयतां कथाः ।
प्राहसन्नभ्यसूयंश्च सर्ववृद्धान् गुणावराः ॥ ५० ॥
युवानश्च समासीना वृद्धानभिगतान् सतः ।
नाभ्युत्थानाभिवादाभ्यां यथा पूर्वमपूजयन् ॥ ५१ ॥
वर्तयत्येव पितरि पुत्रः प्रभवते तथा ।
अभृत्या भृत्यतां प्राप्य ख्यापयन्त्यनपत्रपाः ॥ ५२ ॥
यथा धर्मादपेतेन कर्मणामहितेन ये ।
महतः प्राप्नुवन्त्यर्थान् तेषां तत्राभवत् स्पृहा ॥ ५३ ॥

भाषा

अमावास्यादि पर्वों में कदापि अपने वीर्य का पात नहीं होने देते थे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ दान, दक्षता, ऋजुता, उत्साह, अहंकार न करना, निष्कपट मित्रता, सत्य, तप, शौच, दया और प्रियभाषण, ये सब उन दैत्यों में सदा बसते थे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

निद्रा, तन्द्रा (झप्पी), अनुचित प्रीति, अनुचित रस, निन्दा, अविवेक, उदासीनता, विवाद, और अतिलोभ, ये दोष उन दैत्यों में कदापि न थे ॥ ४७ ॥ ऐसे गुणवाले उन दैत्यों में मैं प्रजा-सृष्टि से अनेक युगों तक थी ॥ ४८ ॥ तदनन्तर काल के विपर्यय से गुणों के नष्ट होने के कारण वे, काम और क्रोध के वश में हो गये। और मैंने देखा कि धर्म उनसे निकल गया॥ ४९ ॥

सभा में व्याख्यान देते हुए वृद्धों को अल्पगुण वाले दैत्य हँसने लगे और उनके गुणों में दोष निकालने लगे ॥ ५० ॥ वृद्धों के आने पर नवयुवक जैसे पूर्व में अभ्युत्थान और प्रणाम करते थे वैसे न करने लगे॥ ५१ ॥ गृहतंत्र चलाते हुए पिता का अनादर कर पुत्र अपना प्रभाव दिखाने लगा। जो पोषण के योग्य नहीं था वह दैत्यों से पोषण पाकर अपने को प्रसिद्ध करने लगा ॥ ५२ ॥ दैत्यों के घरों में ऐसे लोगों की प्रशंसा होने लगी जिन्होंने अन्यायों से बहुत सा धन अर्जन किया था ॥ ५३ ॥

उच्चैश्चाभ्यवदन् रात्रौ नीचैस्तत्राग्निरज्वलत् ।
पुत्राः पितॄनत्यचरन् नार्यश्चात्यचरन् पतीन् ॥ ५४ ॥
मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
गुरुत्वान्नाभ्यनन्दन्त कुमारान्नान्वपालयन् ॥ ५५ ॥
भिक्षां बलिमदत्वा च स्वयमन्नानि भुञ्जते ।
अनिष्ट्वा संविभज्याथ पितॄन् देवातिथीन् गुरून् ॥ ५६ ॥
न शौचमन्वरुध्यन्त तेषां सूदजनास्तथा ।
मनसा कर्मणा वाचा भक्ष्यमासीदनावृतम् ॥ ५७ ॥
विप्रकीर्णानि धान्यानि काकमूषिकभोजनम् ।
अपावृतं पयोऽतिष्ठदुच्छिष्टाश्चास्पृशन् घृतम् ॥ ५८ ॥
कुद्दालं दात्रपिटकं प्रकीर्णं कांस्यभोजनम् ।
द्रव्योपकरणं सर्वं नान्ववैक्षत् कुटुम्बिनी ॥ ५६ ॥
प्राकारागारविध्वंसान्न स्म ते प्रतिकुर्वते ।
नाद्रियन्ते पशून् बद्धा यवसेनोदकेन च ॥ ६० ॥
बालानां प्रेक्षमाणानां स्वयं भक्ष्यानभक्षयन् ।
तथा भृत्यजनं सर्वमसन्तर्प्य च दानवाः ॥ ६१ ॥

भाषा

रात्रि में उच्चशब्द से बोलने लगे और रात्रि में उनके यहाँ अग्नि भी थोड़ा ही प्रज्वलित होने लगा । पुत्र, पिता के तथा पत्नी, पतियों के विरुद्ध काम करने लगीं ॥ ५४ ॥ माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि, और गुरुओं का आदर तथा बालकों का पालन दैत्यों के घरों से उठ गया ॥ ५५ ॥ देवता, पितर, अतिथि, और गुरुओं का अन्न से सत्कार और वैश्वबलि किये बिना ही दैत्य अन्न खाने लगे ॥ ५६ ॥ दैत्यों के सूदजन (भोजन बनाने वाले) मन, वचन, कर्म से शौच को छोड़ दिया और भक्ष्य वस्तुएँ भी अनावृत (खुली) रहने लगीं ॥ ५७ ॥ अन्न सब इधर उधर छितर बितर पड़े रहने लगे और अन्नों को काक और चूहे आदि खाने लगे । दूध बिना ढका रहने लगा, और घृत को दैत्य लोग अपवित्र होकर छूने लगे ॥ ५८ ॥ दैत्यों के घरों की कुटुम्बिनी (गृह की स्वामिनी) कुदार, कुल्हाड़ी, खाँचा, कांस्यादि के भोजन पात्र और अन्यान्य गृहोपयोगी द्रव्यों पर ध्यान नहीं देने लगीं ॥ ५६ ॥

प्राकार (पनाह) और गृहादि के विध्वंस होने पर दैत्यों ने उनका प्रतिकार (मरम्मत) कराना छोड़ दिया और पशुओं को घरों पर बाँध २ कर हरी घास और जल से भी उनका सत्कार करना छोड़ दिया ॥ ६० ॥ दैत्यगण, अपनी तरफ ताकते हुए लड़कों को न देकर ही आप मिष्ट (मिठाई) भोजन करने लगे और भृत्यजनों को बिना भोजन कराये ही भोजन करने लगे ॥ ६१ ॥

पायसं कृशरं मांसमपूपानथ शष्कुलीः ।
अपाचयन्नात्मनोऽर्थे वृथामासान्यभक्षयन् ॥ ६२ ॥
उत्सूर्यशायिनश्चासन् सर्वे चासन् प्रगेनिशाः ।
अवर्तन् कलहाश्चात्र दिवारात्रं गृहे गृहे ॥ ६३ ॥
अनार्याश्चार्यमासीनं पर्युपासन्न तत्र ह ।
आश्रमस्थान् विधर्मस्थाः प्राद्विषन्त परस्परम् ॥ ६४ ॥
सङ्कराश्चाभ्यवर्तन्त न च शौचमवर्तत ।
ये च वेदविदो विप्रा विस्पष्टमनृचश्च ये ।
निरन्तरविशेषास्ते बहुमानावमानयोः ॥ ६५ ॥
हारमाभरणं वेशं गतं स्थितमवेक्षितम् ।
असेवन्त भुजिष्या वै दुर्जनाचरितं विधिम् ॥ ६६ ॥
स्त्रियः पुरुषवेशेन पुंसः स्त्रीवेशधारिणः ।
क्रीड़ारतिविहारेषु परां मुदमवाप्नुवन् ॥ ६७ ॥
प्रभवद्भिः पुरा दायानर्हेभ्यः प्रतिपादितान् ।
नाभ्यवर्तन्त नास्तिक्याद्वर्तन्तः संभवेष्वपि ॥ ६८ ॥
मित्रेणाभ्यर्थितं मित्रमर्थं संशयिते क्वचित् ।
बालकोट्यग्रमात्रेण स्वार्थेनाघ्नत तद्वसु ॥ ६९ ॥
परस्वाऽऽदानरुचयो विपणव्यवहारिणः ।
अदृश्यन्तार्यवर्णेषु शूद्राश्चापि तपोधनाः ॥ ७० ॥

भाषा

पायसं (खीर), कृशर (खिचड़ी), मांस, पूआ, शष्कुली (पूड़ी) आदि केवल अपने पेट के लिये पकाने लगे और वृथा मांस (देवता पितर को समर्पण न करके) भी खाने लगे ॥ ६२ ॥ दैत्य सब, सूर्योदय के बाद भी सोने लगे और प्रातःकाल को रात्रि बना दिया तथा घर २ दिन रात कलह होने लगा ॥ ६३ ॥

अनार्यों ने आर्यों की उपासना छोड़ दी, विधर्मियों ने आश्रमियों को हँसना और अन्योन्य में द्वेष करना आरम्भ कर दिया ॥ ६४ ॥ वर्णसंकर होने लगे, शौच आचार निकल गया, वेदविद् ब्राह्मणों और स्पष्ट मूर्खों के लिये मान अपमान दैत्यों के घर में तुल्य हो गया ॥ ६५ ॥ हार, अलंकार, वेष, चलना, खड़ा होना और ताकना, आदि जो दुर्जनों के आचार हैं वे दैत्यों की रखेली स्त्रियों में आ गये ॥ ६६ ॥ क्रीड़ा, रति और बिहारों में स्त्रियाँ, पुरुष के वेष से और पुरुष स्त्रियों के वेष से हर्ष पाने लगे ॥ ६७ ॥ योग्य पुरुषों को, पूर्व पुरुषों के दिलाये हुए दाय (भाग) को अपनी नास्तिकता से दैत्यगण अपहरण करने लगे ॥ ६८ ॥ मित्र के माँगे हुए अर्थ को बाल के अग्रभाग मात्र अर्थात् अतिन्यून तथा अनिश्चित स्वार्थ के लिये दैत्यगण नाश करने लगे ॥ ६९ ॥ दैत्यों के उच्चवर्ण, दूसरों के धन हरण में उद्यत और क्रय-विक्रय के व्यवहारी होने लगे तथा शूद्र सब तपस्वी होने लगे ॥ ७० ॥

अधीयन्तेऽव्रताः केचिद् वृथा व्रतमथापरे ।
अशुश्रूषुर्गुरोः शिष्यः कश्चिच्छिष्यसखो गुरुः ॥ ७१ ॥

पिता चैव जनित्री च श्रान्तौ वृत्तोत्सवाविव ।
अप्रभुत्वे स्थितौ वृद्धावन्नं प्रार्थयतः सुतान् ॥ ७२ ॥

तत्र वेदविदः प्राज्ञा गाम्भीर्ये सागरोपमाः ।
कृष्यादिष्वभवन् सक्ता मूर्खाः श्राद्धान्यभुञ्जत ॥ ७३ ॥

प्रातः प्रातश्च सुप्रश्नकल्पनं प्रेषणक्रिया ।
शिष्यानप्रहितास्तेषामकुर्वन् गुरवः स्वयम् ॥ ७४ ॥

श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे वधूः प्रेष्यानशासत ।
अन्वशासच्च भर्तारं समाहूयाभिजल्पती ॥ ७५ ॥

प्रयत्नेनापि चारक्षच्चित्तं पुत्रस्य वै पिता ।
व्यभजच्चापि संरम्भाद् दुःखवासं तथा वसन् ॥ ७६ ॥

अग्निदाहेन चौरैर्वा राजभिर्वा हृतं धनम् ।
दृष्ट्वा द्वेषात् प्राहसन्त सुहृत्संभाविता ह्यपि ॥ ७७ ॥

कृतघ्ना नास्तिकाः पापा गुरुदाराभिमर्शिणः ।
अभक्ष्यभक्षणरता निर्मर्यादा हतत्विषः ॥ ७८ ॥

भाषा

दैत्यों में बहुतेरे व्रतों के बिना वेद पढ़ने लगे और बहुतेरे वेदाध्ययन के बिना व्यर्थ ही व्रत करने लगे और शिष्यों ने गुरु की सेवा करना छोड़ दिया और कोई २ गुरु शिष्यों के सखा हो गये ॥ ७१ ॥ दैत्यों के माता पिता जीते जी प्रभुत्व से निकाल दिये गये और वृद्ध होकर पुत्रों से अन्न माँगने लगे ॥ ७२ ॥ दैत्यों के यहाँ सागर के ऐसे गम्भीर वेदवित् विद्वान खेती करने लगे और श्राद्धों में मूर्ख ब्राह्मण भोजन करने लगे ॥ ७३ ॥ प्रत्येक प्रातःकाल में गुरु लोग आपसे आप शिष्यों के समीप जाकर सुप्रश्न पूछने लगे और अन्यान्य कार्यों के लिये शिष्यों से प्रेषित होकर काम करने लगे ॥ ७४ ॥

सास श्वसुर के समक्ष बोलती हुई बहू भृत्यों के लिये आज्ञा और पति को बुलाकर शिक्षा देने लगी ॥ ७५ ॥ पिता बड़े क्लेश और प्रयत्न से पुत्र के चित्त की रक्षा करने लगे और क्रोध से पुत्र को सब देकर आप दुःख भोगने लगे ॥ ७६ ॥ अग्निदाह से नष्ट, चोरों और राजाओं से छीन लिये गये किसी के धन को देखकर उसके मित्र भी द्वेष से हँसने लगे ॥ ७७ ॥ और दैत्य सब कृतघ्न (उपकारी का अपकार करने वाले), नास्तिक, पापी, गुरुदारगामी, अभक्ष्यभक्षी, मर्यादा-हीन, और हततेज हो गये ॥ ७८ ॥

तेष्वेवमादीनाचारानाचरत्सु विपर्यये ।
नाहं देवेन्द्र वत्स्यामि दानवेष्विति मे मतिः ॥ ७९ ॥
तन्मां स्वयमनुप्राप्तामभिनन्द शचीपते ।
त्वयार्चितां मां देवेश पुरो धास्यन्ति देवताः ॥ ८० ॥
यत्राहं तत्र मे कान्ता मद्विशिष्टा मदर्पणाः ।
सप्त देव्यो जयाष्टम्यो वासमेष्यन्ति तेऽष्टधा ॥ ८१ ॥
आशा श्रद्धा धृतिः क्षान्तिर्विजितिः सन्नतिः क्षमा ।
अष्टमी वृत्तिरेतासां पुरोगा पाकशासन ॥ ८२ ॥
तांश्चाहं चासुरांस्त्यक्त्वा युष्मद्विषयमागताः ।
त्रिदशेषु निवत्स्यामो धर्मनिष्ठान्तरात्मसु ॥ ८३ ॥
इत्युक्तवचनां देवीं प्रीत्यर्थं च ननन्दतुः ।
नारदश्चात्र देवर्षिर्वृत्रहन्ता च वासवः ॥ ८४ ॥
ततोऽनलसखो वायुः प्रववौ देववेश्मसु ।
इष्टगन्धः सुखस्पर्शः सर्वेन्द्रियसुखावहः ॥ ८५ ॥
शुचौ चाभ्यर्थिते देशे त्रिदशाः प्रायशः स्थिताः ।
लक्ष्मीसहितमासीनं मघवन्तं दिदृक्षवः ॥ ८६ ॥
ततो दिवं प्राप्य सहस्रलोचनः श्रियोपपन्नः सुहृदा महर्षिणा ।
रथेन हर्यश्वयुजा सुरर्षभः सदः सुराणामभिसत्कृतो ययौ ॥ ८७ ॥

भाषा

हे देवेन्द्र ! मेरी यह मति है कि ऐसे दुराचारी दैत्यों के पास मैं कदापि न रहूँगी ॥ ७९ ॥ इसलिये हे शचीपते ! आपसे प्राप्त मैं, आपसे अभिनन्दन चाहती हूँ । क्योंकि जब आप मेरा सत्कार करेंगे तब सब देवता मुझे अग्रगामिनी बनावेंगे ॥ ८० ॥

हे पाकशासन ! मेरी प्यारी आठ देवियाँ, जहाँ मैं रहती हूँ वहाँ वास करती हैं और उनके आठ कार्य हैं तथा नाम भी प्रायः उनके वही हैं, जो कि उनके कार्यों के नाम हैं । वे ये हैं—आशा (१) श्रद्धा (२) धृति (३) शान्ति (४) विजिति (५) (विजय) सन्नति (नम्रता) (६) क्षमा (७) वृत्ति (जीविका) (८) ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ये सब और हम असुरों को छोड़कर आपके यहाँ आई हैं और देवताओं में वास करेंगी क्योंकि देवताओं का अन्तरात्मा धर्मनिष्ठ है ॥ ८३ ॥ ऐसा कहती हुई लक्ष्मी देवी का, नारद देवर्षि और देवेन्द्र ने अभिनन्दन किया ॥ ८४ ॥

तदनन्तर देवताओं के घरों में सुगन्ध, सुखस्पर्श, और सब इन्द्रियों के सुखदाता वायु बहने लगा ॥ ८५ ॥ और देवता लोग पवित्र और उत्तम स्थानों में स्थित होकर लक्ष्मीसहित देवेन्द्र के दर्शन की इच्छा से प्रतीक्षा करने लगे ॥ ८६ ॥

तदनन्तर देवेन्द्र, लक्ष्मी और नारद देवर्षि के साथ हरित वर्ण के घोड़ों वाले रथ से स्वर्ग में पहुँचे ॥ ८७ ॥ इसके बाद नारद देवर्षि ने लक्ष्मी और देवेन्द्र के इच्छानुसार लक्ष्मी का स्वागत

अथेङ्गितं वज्रधरस्य नारदः श्रियश्च देव्या मनसा विचारयन् ।
श्रियै शशंसाऽमरदृष्टपौरुषः शिवेन तत्रागमनं महर्षिः ॥ ८८ ॥

ततोऽमृतं द्यौः प्रववर्ष भास्वती पितामहस्यायतने स्वयंभुवः ।
अनाहता दुन्दुभयोऽथ नेदिरे तथा प्रसन्नाश्च दिशश्चकाशिरे ॥ ८९ ॥

यथर्त्तुशस्येषु ववर्ष वासवो न धर्ममार्गाद्विचचाल कश्चन ।
अनेकरत्नाकरभूषणा च भूः सुघोषघोषाभुवनौकसां जये ॥ ९० ॥

क्रियाभिरामा मनुजा मनस्विनो बभुः शुभे पुण्यकृतां पथि स्थिताः ।
नरामराः किन्नरयक्षराक्षसाः समृद्धिमन्तः सुमनस्विनोऽभवन् ॥ ९१ ॥

न जात्वकाले कुसुमं कुतः फलं पपात वृक्षात्पवनेरितादपि ।
रसप्रदाः कामदुघाश्च धेनवो न दारुणा वाग्विचचार कस्य चित् ॥ ९२ ॥

इमां सपर्यां सह सर्वकामदैः श्रियाश्च शक्रप्रमुखैश्च दैवतैः ।
पठन्ति ये विप्रसदः समागताः समृद्धकामाः श्रियमाप्नुवन्ति ते ॥ ९३ ॥

त्वया कुरूणांवर यत्प्रचोदितं भवाभवस्येह परं निदर्शनम् ।
तदद्य सर्वं परिकीर्तितं मया परीक्ष्य तत्त्वं परिगन्तुमर्हसि ॥ ९४ ॥

भाषा

किया ॥ ८८ ॥ और आकाश से अमृत वृष्टि हुई तथा ब्रह्मलोक में दुंदुभिगण, बिना बजाये आपसे आप बजने लगे और सब दिशाओं में प्रसन्नता फैल गयी ॥ ८९ ॥

तब से ऋतु के अनुसार खेतों में वृष्टि होने लगी और कोई प्राणी धर्म मार्ग से विचलित नहीं हुआ और अनेक रत्नाकरों (समुद्रों) से भूषित पृथ्वी भी भुवनवासियों के जय से समृद्ध और शोभित हो गई ॥ ९० ॥ और मनुष्य भी अच्छे कर्म वाले तथा महापुरुषों के अनुसारी और मनस्वी होने लगे। इस रीति से नर, अमर, किन्नर, यक्ष, राक्षसादि सभी समृद्धिमान और प्रसन्न हो गये ॥ ९१ ॥ तथा फल को कौन कहै, पुष्प भी असमय में वायु के झकोरे से वृक्षों से टूटकर नहीं गिरे तथा गौएँ बहुत रस और अन्यान्य मनोरथ भी अपने सेवकों को देने लगीं। और भयावनी वाणी कहीं किसी की भी सुनने में नहीं आई ॥ ९२ ॥

देवेन्द्र आदि देवों की की हुई इस लक्ष्मी पूजा की कथा को जो लोग ब्राह्मण सभाओं में पढ़ेंगे वे भी लक्ष्मी को पावेंगे ॥ ९३ ॥ हे कुरुप्रवर ! तुमने समृद्धि और उसके अभाव का उदाहरण जो पूछा था उसको पूर्ण रीति से मैंने कह दिया, अब तुमको चाहिये कि इस विषय में अपने विचार से तत्त्व निश्चय करो ॥ ९४ ॥

२२—अथाक्रोधः

स च क्रोधानुत्पादः । क्षमा तु सत्यपि क्रोधे तत्कार्यताडनाद्यनुत्पाद इति भेदः । स च शमेऽन्तर्भूतोऽपि क्रोधेस्येतरदोषापेक्षया प्राबल्यबोधनाय ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन महर्षिभिः शमात्पृथगुपात्तः ।

महा० आ० अ० ७९, यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते ।
शु० उ०—देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ १ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा ।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ॥ २ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ ३ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति ।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥ ४ ॥
यः सन्धारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते ।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥ ५ ॥
यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः ।
न क्रुद्ध्येद्यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः ॥ ६ ॥
यत् कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतसः ।
न तत्प्राज्ञोऽनुकुर्वीत न विदुस्ते बलाबलम् ॥ ७ ॥

भाषा

२२—अक्रोध निरूपण

कदापि क्रोध की उत्पत्ति न होने को अक्रोध कहते हैं । और क्षमा से इसका यह भेद है कि क्रोध होने पर भी ताडनादि न करना क्षमा है । यह अक्रोध यद्यपि शम के अन्तर्गत है तथापि अन्य दोषों की अपेक्षा क्रोध में प्रबलता दिखलाने के लिये इसकी महर्षियों ने शम से पृथक् गणना किया है । जैसे वसिष्ठ के ब्राह्मण होने पर भी उनकी प्रधानता दिखलाने के लिये उनको ब्राह्मणों से पृथक् कहा जाता है कि ब्राह्मण लोग आये और वसिष्ठ भी आये ।

"यः परेषां"—शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री देवयानी से कहा कि हे देवयानि ! तू यह निश्चय कर कि जिस मनुष्य ने दूसरों के कुवाच्योंको सहन किया उसने सबको जीत लिया ॥ १ ॥ घोड़े के समान उठे हुए क्रोध को जो पुरुष रोक लेता है उसी का नाम सारथी है । और वह सारथी नहीं है जो घोड़े की रश्मि (रास) पर लटका करता है ॥ २ ॥ जैसे जीर्ण त्वक् (केंचुल) को सर्प छोड़ देता है वैसे ही जो पुरुष उठे हुए क्रोध को छोड़ देता है वही पुरुष है ॥ ३ ॥ ४ ॥ जो क्रोध को रोकता और कुवाच्यों को सहता है, तथा जिसके अन्तः करण में कोप से वास्तविक ताप नहीं होता वह मनुष्य अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के योग्य होता है ॥५॥ जो पुरुष प्रतिमास सौ वर्ष तक यज्ञ करै उसकी अपेक्षा वह अधिक श्रेष्ठ है जो कदापि क्रोध न करै ॥६॥ कुमार और कुमारी बाल्य से मूढ होकर जो बैर करैं उसका अनुकरण विवेकी को न करना चाहिये क्योंकि वे बलाबल नहीं जानते ॥ ७ ॥

भाग०स्कं०४अ०११–संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम्।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथाऽऽमयम् ॥ ३१ ॥
येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम्।
न बुधस्तद्वशंगच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः ॥ ३२ ॥

वन०अ०२६०यु०उ०–क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥ १ ॥
यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे।
तस्याभवाय भवति क्रोधः परमदारुणः ॥ २ ॥
क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते।
तत्कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥ ३ ॥
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥ ४ ॥
वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ॥ ५ ॥
हिंस्यात् क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान् सम्पूजयीत च।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद्यमसादनम् ॥ ६ ॥

भाषा

"संयच्छ"—हे राजन् ! जैसे वैद्य, औषधि से रोग को रोकता है वैसे तुम अपनी पढ़ी हुई विद्याओं से, सब सुखों के नाशक क्रोध का वारण करो ॥ ३१॥ जिससे आक्रमण किये हुए पुरुष को देखकर लोगों को बड़ा उद्वेग होता है उस क्रोध के वश में जाने को वह विचारवान् न चाहेगा जो कि अपने लिये अभय चाहता है ॥ ३२ ॥

"क्रोधो"—राजा युधिष्ठिर ने द्रौपदी से कहा कि हे महाप्राज्ञे ! मनुष्यों को मारने वाला और सुख देने वाला भी क्रोध है, क्योंकि जब पुरुष क्रोध को सहन कर लेता है तब क्रोध उस पुरुष का कल्याण करता है और जब क्रोध को नहीं सहन करता तो वही क्रोध उसका नाश करता है अधिक क्या कहना है। क्रोध से प्रजाओं के नाश के उदाहरण सहस्रों हैं तब मेरे ऐसा पुरुष क्यों न इस लोकनाशक क्रोध को वारण करै ॥ १—३ ॥

क्रुद्ध पुरुष क्या पाप नहीं कर सकता ? और क्रुद्ध गुरुओं को भी मारता है तथा अपनी परुष-वाणी से महापुरुषों का भी अपमान करता है ॥ ४ ॥ कुपित पुरुष कदापि वाच्य और अवाच्य का विवेक नहीं रखता इसी से उसके लिये न कोई अकार्य है और न कोई अवाच्य है ॥ ५ ॥

क्रोध से पुरुष अवध्यों का वध कर देता है और वध्यों को पूजता है यहाँ तक कि क्रुद्ध आत्म-

एतान्दोषान् प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः ।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चामुत्र चोत्तमम् ॥ ७ ॥
तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत् ।
एतत् द्रौपदि सन्धाय न मे मन्युः प्रवर्द्धते ॥ ८ ॥
आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात् ।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ॥ ९ ॥
मूढ़ो यदि क्लिश्यमानः क्रुध्यतेऽशक्तिमान्नरः ।
बलीयसां मनुष्याणां त्यजत्यात्मानमात्मना ॥ १० ॥
तस्यात्मानं सन्त्यजतो लोका नश्यन्त्यनात्मनः ।
तस्मात् द्रौपद्यशक्तस्य मन्योर्नियमनं स्मृतम् ॥ ११ ॥
विद्वांस्तथैव यः शक्तः क्लिश्यमानो न कुप्यति ।
अनाशयित्वा क्लेष्टारं परलोके च नन्दति ॥ १२ ॥
तस्माद्बलवता चैव दुर्बलेन च नित्यदा ।
क्षन्तव्यं पुरुषेणाहुरापत्स्वपि विजानता ॥ १३ ॥
मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः ।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ॥ १४ ॥
सत्यं चानृततः श्रेयो नृशंसाच्चानृशंसता ।
तमेवं बहु दोषन्तु क्रोधं साधुविवर्जितम् ॥ १५ ॥

भाषा

हत्या भी कर लेता है ॥ ६ ॥ इन्हीं दोषों को देखकर इस लोक में उत्तम सुख चाहने वाले पण्डितों ने क्रोध को जीत लिया है ॥ ७ ॥ मेरे ऐसा पुरुष, धीरों से वर्जित उस क्रोध को कैसे करे। हे द्रौपदि ! यही समझकर मैं अपने क्रोध को नहीं बढ़ने देता ॥ ८ ॥

क्रुद्ध के प्रति, जो पुरुष क्रोध नहीं करता वह अपनी और उसकी दोनों की बड़े भय से रक्षा करता है इसलिये वह दोनों का चिकित्सक है ॥ ९ ॥ यदि असमर्थ और मूढ़ मनुष्य प्रबल मनुष्यों से क्लेश पाने के कारण क्रोध में आकर अनन्य गति होने से आत्महत्या करता है तो परलोक में भी उसको महाक्लेश होता है इसी से असमर्थ मनुष्य के लिये क्रोध का नियम से वारण कहा हुआ है ॥ १० ॥ ११ ॥ और जो समर्थ विद्वान् मनुष्य, दूसरों से क्लेश पाकर भी क्रोध नहीं करता तो वह क्लेशदाता का नाश भी नहीं करता और परलोक में सुख भी पाता है ॥ १२ ॥

इसलिये दुर्बल और प्रबल सबको आपत्काल में भी विचारबल से कदापि क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥ हे कृष्णे ! इसीसे साधु पुरुषों का, क्रोध को विजय करना ही सिद्धान्त है ॥१४॥ जैसे मिथ्या के विरुद्ध सत्य उत्तम है वैसे ही क्रोध के विरुद्ध अक्रोध भी उत्तम है तो ऐसी दशा में दुर्योधन के वधार्थ भी मेरे ऐसा पुरुष क्रोध कैसे करे ? ॥ १५ ॥

माद्दशः प्रसृजेत् कस्मात् सुयोधनवधादपि ।
तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ॥ १६ ॥
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम् ।
यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥ १७ ॥
क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत् प्रपश्यति ।
न कार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ॥ १८ ॥
हन्त्यवध्यानपि क्रुद्धो गुरून् क्रुद्धस्तुदत्यपि ।
तस्मात्तेजसि कर्तव्यः क्रोधो दूरे प्रतिष्ठितः ॥ १६ ॥
दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः ।
गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमंजसा ॥ २० ॥
क्रोधं त्यक्त्वा तु पुरुषः सम्यक् तेजोऽभिपद्यते ।
कालयुक्तं महाप्राज्ञे क्रुद्धैस्तेजः सुदुःसहम् ॥ २१ ॥
क्रोधस्त्वपण्डितैः शश्वत्तेज इत्यभिनिश्चितम् ।
रजस्तु लोकनाशाय विहितं मानुषं प्रति ॥ २२ ॥
तस्माच्छश्वत् त्यजेत् क्रोधं पुरुषः सम्यगाचरन् ।
श्रेयान् स्वधर्मानयगो न क्रुद्ध इति निश्चितम् ॥ २३ ॥
यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तमचेतसाम् ।
अतिक्रमो मद्विधस्य कथं स्यात् त्विदनिन्दिते ॥ २४ ॥

भाषा

दूरदर्शी पण्डित लोग जिस पुरुष को तेजस्वी कहते हैं, यह निश्चय है कि उस पुरुष के अन्तःकरण में वास्तविक क्रोध नहीं रहता अर्थात् तत्वदर्शी विद्वान् उसीको तेजस्वी मानते हैं जो कि उत्पन्न हुये क्रोध को भी विचारबल से नाश कर देता है क्योंकि ॥ १६ ॥ १७ ॥ क्रुद्ध पुरुष को उचित कार्य और लोकमर्यादा नहीं सूझती तथा वह अवध्यों को भी मारता और दुःख देता है, इसलिये अपना तेज चाहने वाले को अत्यावश्यक है कि क्रोध को दूर ही से विसर्जन किये रहे और दक्षता (आलस्य न करना), अमर्ष (अन्य की अधिक उन्नति न सहना), शूरता, शीघ्रता, ये चार, तेज के गुण हैं जिनको कि क्रोध से अभिभूत पुरुष भली भाँति नहीं पा सकता ॥ १८—२० ॥

हाँ ! क्रोध के छोड़ने से पुरुष को तेज मिल सकता है और क्रुद्ध पुरुष तेज के योग्य नहीं होता ॥ २१ ॥ जिन्होंने यह निश्चय किया है कि क्रोध ही तेज है वे पण्डित नहीं हैं क्योंकि क्रोध रजोगुण है जो कि लोगों के नाश का कारण है और तेज तो सत्वगुण है, यह महाभेद है ॥ २२ ॥

इसलिये यह निश्चय है कि अच्छा आचार करता हुआ पुरुष सदा ही क्रोध का त्याग करे और क्रुद्ध पुरुष सदा ही निन्दित है ॥ २३ ॥ यह दूसरी बात है कि निर्बुद्धि मनुष्य प्रायः क्रोध

यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
न स्यात् सन्धिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥ २५ ॥
अभिषिक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद् गुरुणा हतः ।
एवं विनाशे भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २६ ॥
आक्रुष्टः पुरुषः सर्वं प्रत्याक्रोशेदनन्तरम् ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७ ॥
हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्राश्चापि तथा पितॄन् ।
हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन् भार्यास्तथैव च ॥ २८ ॥
एवं संकुपिते लोके जन्म कृष्णे न विद्यते ।
प्रजानां सन्धिमूलं हि जन्म विद्धि शुभानने ॥ २९ ॥
ताः क्षिपेरन् प्रजाः सर्वाः क्षिप्रं द्रौपदि तादृशे ।
तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभयाय च ॥ ३० ॥

२३—अथ प्रसादः

'स च मुखश्रीः' मुखवैवर्ण्यकारणे शोकादौ सत्यपि मुखवैवर्ण्याभाव इति यावत्। अयमेव माधुर्यमित्युच्यते रसविद्याविद्भिः । तथा च साहित्यदर्पणे-"सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता" ।

भाषा

किया करते हैं परन्तु हे अनिन्दिते! मेरे ऐसा मनुष्य कैसे क्रोध कर सकता है ॥ २४ ॥ यदि पृथिवी के समान क्षमा करने वाले मनुष्य, पृथ्वी पर न होते तो मनुष्यों में सन्धि कदापि नहीं होती क्योंकि विग्रह (झगड़ा) का मूल क्रोध ही है ॥ २५ ॥

यदि क्रुद्ध को क्रोध से सब मार दे और मारते हुये गुरु को भी मार दे, सर्वत्र ऐसा ही हुआ करे तो प्राणियों के नाश और अधर्म के राज्य होने में क्या सन्देह है ? ॥२६ ॥ यदि गाली देने पर सब गाली दें और मारने पर मार दें, यही मर्यादा सामान्य से प्रचलित हो तो पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, पत्नी पति को, और पति, पत्नी को सदा मारा ही करे क्योंकि ऐसा कौन है कि जिससे कभी कोई अपराध न हो और जब ऐसे ही मर्यादा लोप हो तो किसी पुरुष का जन्म भी न हो क्योंकि जन्म तो स्त्री और पुरुष के मेल मिलाप ही से होता है इसलिये हे द्रौपदि ! यही सिद्धान्त है कि क्रोध ही प्रजा के नाश का कारण है यदि न रोका जाय, और वही प्रजा के अभय का भी कारण है यदि रोका जाय ॥ २७—३०॥

२३—प्रसाद निरूपण

मुख की छाया को बिगाड़ने वाले शोकादि दोषों के रहने पर भी मुख की छाया को मैली न होने देना, प्रसाद है । इसी को साहित्यशास्त्र वाले माधुर्य कहते हैं ।

यथा—आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोप्याकारविभ्रमः॥ इति॥

अयो० १६—स तदन्तः पुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम्।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित्॥ १॥
प्रासकार्मुकविभ्रद्भिर्युवभिर्मृष्टकुण्डलैः।
अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वानुरक्तैरधिष्ठिताम्॥ २॥
अत्र काषायिणो वृद्धान्वेत्रपाणीन्स्वलङ्कृतान्।
ददर्श विष्ठितान्द्वारि स्त्र्यध्यक्षान्सुसमाहितान्॥ ३॥
ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः।
सहसोत्पतिताः सर्वे ह्यासनेभ्यः ससंभ्रमाः॥ ४॥
तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः।
क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति॥ ५॥
ते राममुपसंगम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः।
सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे॥ ६॥
प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः।
तत्रैवानाययामास राघवः प्रियकाम्यया॥ ७॥
तं वैश्रवणसंकाशमुपविष्टं स्वलङ्कृतम्।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे॥ ८॥
वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना।
अनुलिप्तं परार्घ्येन चन्दनेन परन्तपम्॥ ९॥
स्थितया पार्श्वतश्चापि बालव्यजनहस्तया।
उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा॥ १०॥

भाषा

रामोपाख्यान

"स तदन्तः" वह (सुमन्त्र) अन्तःपुर के उन मनुष्यों से भरे हुये द्वार को लंघन कर स्वामिभक्त, अप्रमादी, एकाग्र, और कुण्डल वर्छि, धनुषादि अनेक चिह्न धारण किये हुये पुरुषों से युक्त कक्षा में पहुँचे॥ १॥ और वहाँ पहुँच कर अग्रिम द्वार पर काषाय वस्त्र धारी, हाथ में बेत लिये वृद्ध मनुष्यों को देखा॥ २॥ ३॥

वे सब भी सुमन्त्र को देख अपने अपने आसन से तुरत ही उठ खड़े हो गये॥ ४॥ सुमन्त्र ने उनसे यह कहा कि तुरत ही श्री राम से निवेदन करो कि द्वार पर सुमन्त्र खड़ा है॥ ५॥ उन्होंने तुरन्त ही जाकर श्री सीतासहित श्री राम से ऐसा निवेदन किया॥ ६॥ श्री रामजी ने निवेदन के अनन्तर सुमन्त्र को वहीं अपने समीप बुलाया। सुमन्त्र वहाँ जाकर सजे हुये सुवर्ण के पलंग पर बैठे, अलङ्कारयुक्त, अतिसुगन्ध रक्तचन्दन को लगाये और एक पार्श्व में बैठी हुई चँवर हाथ

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वतेजसा ।
ववन्दे वरदं बन्दी विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥
प्राञ्जलिः सुमुखं दृष्ट्वा विहारशयनासने ।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥ १२ ॥
कौसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
महिष्याऽपि हि कैकेय्या गम्यतां तत्र माचिरम् ॥ १३ ॥
एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः ।
ततः संमानयामास सीतामिदमुवाच ह ॥ १४ ॥
देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे ।
मन्त्रयेते ध्रुवं किञ्चिदभिषेचनसंहितम् ॥ १५ ॥
लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा ।
संचोदयति राजानं मदर्थमसितेक्षणा ॥ १६ ॥
सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामानुवर्तिनी ।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥ १७ ॥
दिष्ट्या खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह ।
सुमन्त्रं प्राहिणोद्दूतमर्थकर्मकरं मम ॥ १८ ॥
यादृशी परिषत् तत्र तादृशो दूत आगतः ।
ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

भाषा

में लिये सीता के सहित कुबेर के सदृश श्रीराम को, चित्रा तारा सहित चन्द्रमा के ऐसा देख ॥ ७—१० ॥ अपने तेज से सूर्य के ऐसे जाज्वल्यमान उन श्रीराम को बन्दी (सुमन्त्र) ने बड़े विनय से प्रणाम किया ॥ ११ ॥ और श्रीराम से सत्कार पाकर उनको प्रसन्न देख बद्धाञ्जलि हो उनसे यह निवेदन किया कि ॥ १२ ॥ हे राम ! आप ऐसे पुत्र से कौसल्या देवी सुप्रजा हैं और कैकेयी रानी के सहित पिता आपको देखना चाहते हैं ॥ १३ ॥ इसको सुन श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े हर्ष को प्राप्त हो सीता से यह कहा कि ॥ १४ ॥

हे देवि ! यह अवश्य है कि देव और देवी दोनों मिलकर मेरे विषय की राज्याभिषेक संबन्धी किसी बात पर विचार कर रहे हैं ॥ १५ ॥ मैं समझता हूँ कि मेरे राज्याभिषेक के हर्ष से भरी हुई माता कैकेयी से महाराज ने पूछा है कि भरत यहाँ नहीं हैं तो राम का राज्याभिषेक इसी समय किया जाय अथवा भरत के आने पर ? और माता ने यह कहा है कि राम का राज्याभिषेक तुरत ही कर दिया जाय भरत पीछे सुन लेंगे क्योंकि ॥ १६ ॥ १७ ॥

यह एक शुभलक्षण ज्ञात होता है जो कि मेरे पिता और माता ने मेरे हितकारी सुमन्त्र ही को मेरे समीप प्रेषित किया, इससे ज्ञात होता है कि महाराज अवश्य आज ही मेरा राज्याभिषेक

हन्त शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।
सह त्वं परिवारेण सुखमास्स्व रमस्व च ॥ २० ॥
पतिसंमानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा ।
आद्वारमनुवव्राज मंगलान्यभिदध्युषी ॥ २१ ॥
राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं राजसूयाभिषेचनम् ।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥ २२ ॥
दीक्षितं व्रतसंपन्नं वराजिनधरं शुचिम् ।
कुरङ्गशृङ्गपाणिञ्च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥ २३ ॥
पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः ।
वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥ २४ ॥
अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः ।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥
पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः ।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत्प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥ २६ ॥
अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत्सुहृज्जनैः ।
स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥
ततः पावकसंकाशमारुरोह रथोत्तरम् ।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजितं राजनन्दनः ॥ २८ ॥
मेघनादमसंबाधं मणिहेमविभूषितम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया मेरुवर्चसम् ॥ २९ ॥

भाषा

करेंगे ॥ १८ ॥ १९ ॥ हर्ष की बात है कि तुरत ही मैं जाकर महाराज का दर्शन करूँगा और पति से सम्मानित श्री सीता, द्वार पर्यन्त रामजी को पहुँचाने आईं और उस समय अनेक मंगल कामना करती हुई सीता अपने मन में श्री राम से यह कहने लगीं कि महाराज को चाहिये कि इस समय युवराज के स्थान पर आपका अभिषेक कर कालान्तर में आपकी राजसूय यज्ञ करने की योग्यता सम्पादन के लिये महाराज्य पर भी इन्द्र के तुल्य आपका अभिषेक करैं और उस समय दीक्षा लिये, व्रत पर बैठे मृगचर्म धारी, पवित्र, और मृगशृङ्ग, हाथ में लिये आप को देखती हुई मैं आपकी सेवा करूँ। पूर्व दिशा में वज्रधारी इन्द्र, दक्षिण में यमराज, पश्चिम दिशा में वरुण, और उत्तर दिशा में कुबेर आप की रक्षा करैं ॥ २१—२४ ॥

तदनन्तर राज्याभिषेक के लिये मंगल वस्तुओं को धारण किये हुये श्रीराम, सीता को अनुज्ञा देकर सुमन्त्र के साथ अपने मन्दिर से निकले जैसे पर्वत की कन्दरा से सिंह निकलता है। और अन्तः पुर से निकलते ही प्रथम द्वार पर बद्धाञ्जलि लक्ष्मण को देखा। और मध्य कक्षा में सब मित्र गण और अर्थीगण को देखते तथा उनसे संभाषण करते सूर्य के समान दीप्यमान महारथ पर आरूढ़ हो, महामेघ से चन्द्रमा की नाईं अपने राजमन्दिर से निकले। और लक्ष्मण भी चँवर लेकर उनके

करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः।
हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम्॥ ३०॥
प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया।
स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन्॥ ३१॥
निकेतान्निर्ययौ श्रीमान्महाभ्रादिव चन्द्रमाः।
चित्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः॥ ३२॥
जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः।
ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत॥ ३३॥
तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः।
ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसन्निभाः॥ ३४॥
अनुजग्मुस्तथा रामं शतशोऽथ सहस्रशः।
अग्रतश्चास्य सन्नद्धाश्चन्दनागुरुभूषिताः॥ ३५॥
खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो जनाः।
ततो वादित्रशब्दाश्च स्तुतिशब्दाश्च बन्दिनाम्॥ ३६॥
सिंहनादाश्च शूराणां ततः शुश्रुविरे पथि।
हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः॥ ३७॥
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिन्दमः।
रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामपिप्रीषया ततः॥ ३८॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे।
नूनं नन्दति ते माता कौसल्यामातृनन्दन॥ ३९॥
पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम्।
सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीता सीमन्तिनी वरा॥ ४०॥

भाषा

पीछे उसी रथ पर आरूढ़ हो गये। और उसी समय जनसमूहों के जयशब्द का तुमुल कोलाहल हुआ॥ २५—३०॥

तदनन्तर रामजी के रथ से आगे खड्ग और चर्म लिये अलंकृत बहुत से हितैषी शूर जन चले और रथ के पीछे सैकड़ों और सहस्रों घोड़े और हाथी चले। और मार्ग में बाद्यौघ और बन्दियों के शब्द और शूरों के सिंहनाद अनेक प्रकार के सुनने में आये। तथा अटालियों के वातायनों (दरीची) के द्वारा, अयोध्या पुर की स्त्रियां श्रीरामजी पर माङ्गलिक पुष्पवृष्टि करने लगीं और पृथ्वी पर जो स्थित रहे तथा अटालियों पर जो आरूढ़ थे वे सब मनुष्य श्रीराम को प्रणाम करने लगे और स्त्रियाँ यों कहने लगीं कि हे मातृनन्दन! पिता के राज्य पर उपस्थित हुये शुभ यात्रा वाले तुम पुत्र को देखती हुई कौसल्या माता सब से अधिक भाग्यशालिनी है और सीता देवी भी सब उत्तम स्त्रियों से उत्तम हैं॥ ३४—४०॥

अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ।
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत्तपः ॥ ४१ ॥
रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।
इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः ॥
शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ॥ ४२ ॥
स राघवस्तत्र तदा प्रलापान् शुश्राव लोकस्य समागतस्य ।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः प्रहृष्टरूपस्य पुरे जनस्य ॥ ४३ ॥
एष श्रियं गच्छति राघवोऽद्य राजप्रसादाद्विपुलां गमिष्यन् ।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥ ४४ ॥
लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।
नह्यप्रियं किञ्चन जातु कश्चित्पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४५ ॥
संघोषवद्भिश्च हयैः सनागैः पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।
प्रहीयमानः प्रवरैश्च वादिकैरभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४६ ॥
करेणुमातङ्गरथाश्वसङ्कुलं महाजनौघैः परिपूर्णचत्वरम् ।
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसञ्चयं ददर्श रामो विमलं महापथम् ॥ ४७ ॥
अयो० १७—स रामो रथमास्थाय संप्रहृष्टसुहृज्जनः ।
पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हागुरुधूपितम् ॥ १ ॥
अपश्यन्नगरं श्रीमान्नानाजनसमन्वितम् ।
स गृहैरभ्रसङ्काशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥ २ ॥

भाषा

सीता देवी ने पूर्वजन्म में बड़ा तप किया है इसी से जैसे रोहिणी तारा, चन्द्रमा से सम्बन्ध रखती है वैसे सीता भी राम से संबन्ध पाया है । ऐसी २ प्रियवाणी स्त्रियों की, प्रसादों के शृङ्ग से निकलती हुई श्रीराम ने सुना ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ तथा राज्याभिषेक के उत्सव से बड़े हर्ष को प्राप्त हुये पुरजनों के मुख से यह भी सुना कि ॥ ४३ ॥ यह श्रीराघव जाते हैं जो आज महाराज के प्रसाद से बड़े ऐश्वर्य और लक्ष्मी को प्राप्त होंगे । अब हमारे जो मनोरथ अवशिष्ट भी होंगे वे सब पूर्ण हो जायँगे क्योंकि अब इनके शासन में हम रहेंगे । सब मनुष्यों को यह बड़ा लाभ है कि जो अब से चिरकाल तक यह राज्य करेंगे क्योंकि इनके राज्य में कभी कोई मनुष्य दुःख नहीं देखेगा ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ आगे जय २ कहने वाले स्वस्तिक और अन्यान्य स्तुतिपाठक और वंशपाठकों के स्तुति शब्दों को सुनते श्री राम ने हथिनी, हाथी, घोड़े और बड़े २ जनसमूहों से संकुल तथा सब रत्नों और पण्य वस्तुओं से पूर्ण विमल महापंथ आपण (हाट) को देखा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

अनेक वर्ण की पताकाओं और ध्वजों से शोभित तथा अति उत्तम जड़ाए हुए अगुरुधूपों से सुवासित अनेक प्रकार के मनुष्यों से युक्त और मेघ के ऐसे उच्च श्वेत गृहों से शोभित अयोध्या नगर के राजमार्ग के मध्य से श्रीराम चले जिसके दोनों पार्श्वों में उत्तम चन्दनों और अगुरुओं के तथा

राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागुरुधूपितम् ।
चन्दनानाञ्च मुख्यानामगुरूणाञ्च सञ्चयैः ॥ ३ ॥
उत्तमानाञ्च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च ।
आविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥
शोभमानमसम्बाधं तं राजपथमुत्तमम् ।
सम्वृतं विविधैः पुष्पैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥
ददर्श तं राजपथं दिवि देवपतिर्यथा ।
दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगुरुचन्दनैः ॥ ६ ॥
नानामाल्योपगन्धैश्च सदाऽभ्यर्चितचत्वरम् ।
आशीर्वादान्बहून् शृण्वन्बहुभिः समुदीरितान् ॥ ७ ॥
यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान्ययौ ।
पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥
अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय ।
यथा स्म पोषिता पित्रा यथा सर्वैः पितामहैः ।
ततः सुखतरं सर्वे रामे वत्स्याम राजनि ॥ ९ ॥
अलमद्य हि भुक्तेन परमार्थैरलं च नः ।
यदि पश्यामि निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥
ततो हि नः प्रियतरं नात्यत्किञ्चिद्भविष्यति ।
यथाऽभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ॥ ११ ॥
एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः शुभाः कथाः ।
आत्मसम्पूजनीः शृण्वन्ययौ रामो महापथम् ॥ १२ ॥

भाषा

अन्यान्य उत्तमोत्तम गन्धों के राशि लग रहे थे और महामूल्य कौशेय आदि वस्त्र और अनेक प्रकार मुक्ता आदि उत्तम रत्न तथा विविध प्रकार के पुष्प और भक्ष्य वस्तु, विपणियों (दुकानों) पर पसारे हुये थे । तथा दही, अक्षत, हवि, लाज (लावा), धूप, अगुरु, चन्दन और अनेक प्रकार की पुष्पमालायें भी उस राजपथ में सदा विकीर्ण रहती थीं । वहाँ सब मनुष्यों के शुभाशीर्वादों को सुनते और प्रणामादि से स्वीकार करते श्रीराम चले । और तटस्थ सा होकर अपने विषय में लोगों की कही हुई इन प्रशंसाओं को सुना कि अपने पितामह और प्रपितामहादि के स्थान पर अभिषिक्त होकर प्रजापालन कीजिये । जैसे इन (राम) के पिता और पितामहादि के समय में हम सबको पालन पोषण का सुख होता आया उससे भी अधिक सुख अब इनके राजा होने पर होगा । यदि राज्याभिषेक पाये इन राम को चलते हुये हम देखेंगे तो हमारे उस सुख से अधिक कोई इस लोक वा परलोक का अन्य सुख न होगा क्योंकि राम के अभिषेक से प्रिय कोई हमारा नहीं है । इन तथा अन्यान्य प्रशंसाओं को सुनते हुए श्री रामजी चले ॥ १—१२ ॥

नहि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात् ।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥ १३ ॥
यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥ १४ ॥
सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम् ।
चतुर्णाम् हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ॥ १५ ॥
चतुष्पथान्देवपथांश्चैत्यांश्चायतनानि च ।
प्रदक्षिणं परिहरन् जगाम नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥
स राजकुलमासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः ।
प्रसादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ॥ १७ ॥
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः ।
वर्धमानगृहैश्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ॥ १८ ॥
तत्पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रसदनोपमम् ।
राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ॥ १९ ॥
स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः ।
पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ॥ २० ॥
स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः ।
सन्निवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तः पुरमत्यगात् ॥ २१ ॥

तस्मिन्प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे ।
प्रतीक्षते तस्य पुनः स्म निर्गमं यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥ २२ ॥

भाषा

श्रीराम के आगे निकल जाने पर भी कोई मनुष्य वहाँ ऐसा नहीं था जो श्रीराम में लगे हुये अपने मन वा नेत्र को पलटा सकै यहाँ तक कि जिसने श्रीराम को नहीं देखा अथवा जिसको श्रीराम नहीं देखा वह, सब लोगों में अपने को निन्दित समझता था। और उसका अन्तरात्मा उसकी निन्दा करता था, क्योंकि जगत् के सब वर्ण और आश्रम वालों पर श्री रामजी स्वाभाविक बहुत दया रखते थे, इसलिये वह सबके परम प्रिय थे ॥ १३–१५ ॥ श्री रामजी चतुष्पथों, देवपथों (देवमन्दिरों), चैत्यों (धर्मशालाओं) और आयतनों (मठों) को अपने दक्षिण भाग में छोड़ते गये ॥ १६ ॥ जाते २ मेघसमूह और कैलास के कंगूरों के सदृश आकाश को रुद्ध करते हुये, रत्नों से खचित, श्वेत महागृहों से शोभित, देवेन्द्र गृह के समान राजभवन में श्रीराम पहुँचे और बड़े बड़े शूर धानुष्क बीरों से रक्षित तीन कक्षाओं (खण्ड) तक रथ पर चलकर उतर पड़े और दो कक्षा तक चरणों से चलकर अपने अनुचरों को वहीं छोड़ अन्तःपुर में प्रविष्ट हुये। और जैसे समुद्र, चन्द्रमा के उदय की प्रतीक्षा करते हैं वैसे उनके साथ के सब जन उनके निकलने की प्रतीक्षा करते वहीं स्थित हो गये ॥ १७—२२ ॥

अयो० १८—स ददर्शासने रामो विषण्णं पितरं शुभे।
कैकेय्या सहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥
स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत्।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥
रामेत्युक्त्वा तु वचनं बाष्पपर्य्याकुलेक्षणः।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥ ३ ॥
तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम्।
रामोऽपि भयमापन्नः पदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम् ॥ ४ ॥
इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसन्तापकर्शितम्।
निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥
ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम्।
उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥ ६ ॥
अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन्।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥
चिन्तयामास चतुरो रामः पितृहिते रतः।
किंस्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥
अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्त्तते ॥ ९ ॥

भाषा

श्रीराम ने कैकेयी के सहित, उत्तमासन पर बैठे, विषाद में डूबे, शुष्कमुख और दीन पिता को देखा ॥ १ ॥ और बड़े विनय से प्रथम पिता के चरणों में तदनन्तर कैकेयी के चरणों में प्रणाम किया। राजा दशरथ "राम" कहकर चुप हो गये क्योंकि अश्रु जल ने उनके कण्ठ को रुद्ध कर दिया, जिससे कि वह बोल न सके और उनके नेत्रों को भी उसी ने रुद्ध कर दिया जिससे कि श्रीराम को वह देख भी न सके। ऐसी भयावनी और नवीन राजा की दशा को एकाएकी देख राम भी जैसे कोई अचानक चरणों से सर्प को स्पर्श कर भयभीत होता है वैसे भय को प्राप्त हो गये क्योंकि उनको यह शङ्का हो गयी कि यह विवाद की दशा मेरे किसी अपराध से तो नहीं है ॥ २—४ ॥

हर्षशून्य इन्द्रियों से युक्त, शोक और सन्ताप से दुःखित, उष्ण और लम्बी श्वास खींचते, व्यथित और व्याकुल चित्तवाले, क्षोभ के अयोग्य होकर भी क्षोभ को प्राप्त सागर के ऐसे, राहुग्रस्त सूर्य के तुल्य और कदाचित् मिथ्याभाषण से चूके हुये, तेजोहीन ऋषि के सरीखे, पिता को देख कर उनके अत्यन्त असम्भावित शोक के मूल कारण को विचार करते श्रीराम बड़े शोक को प्राप्त हुये ॥ ५—७ ॥ और अपने मन में कहने लगे कि पूर्व में मेरे पिता मुझे देख कितना प्रसन्न होते थे और यदि किसी अन्य पर कुपित भी रहते थे तो मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते थे उन्हीं इन मेरे पिता को आज मेरे दर्शन से खेद होता है, इसका क्या कारण है? ॥ ८ ॥ ९ ॥

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः ।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥
कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता ।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय ॥ ११ ॥
अप्रसन्नमनाः किन्तु सदा मां प्रतिवत्सलः ।
विषण्णवदनो दीनः सदा मां प्रतिभाषते ॥ १२ ॥
शारीरो मानसो वाऽपि कच्चिदेनं न बाधते ।
सन्तापो वाभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥ १३ ॥
कच्चिन्न किञ्चिद्भरते कुमारे प्रियदर्शने ।
शत्रुघ्ने वा महासत्वे मातॄणां वा ममाशुभम् ॥ १४ ॥
अतोषयन्महाराजमकुर्वन्वा पितुर्वचः ।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥ १५ ॥
यतो मूलं नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मनः ।
कथं तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ १६ ॥
कच्चित्ते परुषं किञ्चिदभिमानात्पिता मम ।
उक्तो भवत्या रोषेण येनास्य लुलितं मनः ॥ १७ ॥
एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः ।
किं निमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे ॥ १८ ॥
एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना ।
उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः ॥ १९ ॥

भाषा

श्रीराम ने दीन के तुल्य शोकार्त हो कैकेयी को नमस्कार कर यह कहा कि क्या मैंने अज्ञान से कुछ अपराध किया जिससे कि मेरे पिता कुपित हैं ? आप इस कोप के कारण को कहिये और आप ही इनको प्रसन्न कीजिये ॥ १० ॥ ११ ॥ सदा ही मुझसे प्रसन्न होकर बोलते थे, क्या कारण है जो आज नहीं बोलते ? कोई शारीर व्याधि वा मानस सन्ताप तो इनको बाधा नहीं करता है, क्योंकि मनुष्य का शरीर, पाप और पुण्य दोनों से बनता है, इस कारण मनुष्यमात्र को सदा सुख दुर्लभ होता है। क्या भरत वा शत्रुघ्न वा माताओं के विषय में महाराज, मेरा कोई अपराध देखते हैं ? ॥१२–१४॥

असन्तोष वा आज्ञाभङ्ग से राजा के कुपित होने पर मैं मुहूर्त भर भी जीने की इच्छा नहीं कर सकता क्योंकि पुरुष, जिसको अपने जन्म का मूल कारण समझता है, पिता रूपी उस प्रत्यक्ष देवता के विरुद्ध कार्य को वह कैसे कर सकता है ॥ १५ ॥ १६ ॥ क्या अपने अभिमान वा रोष से कुछ ऐसा परुष कह दिया कि जिससे मेरे पिता का मन कलुषित हो गया ? हे देवि ! मेरे पूछे हुये इस विषय को यथार्थ कहिए कि किस कारण से महाराज में यह अपूर्व विचार उत्पन्न हुआ ॥ १७ ॥ १८ ॥ इस बात को सुन कर कैकेयी ने निर्लज्ज और धृष्ट होकर अपने हित की यह बात कही कि ॥ १९ ॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किञ्चन।
किञ्चिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नानुभाषते ॥ २० ॥
प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्य प्रवर्तते।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेन श्रुतं मम ॥ २१ ॥
एष मह्यं वरं दत्वा पुरा मामभिपूज्य च।
स पश्चात्तप्यते राजा यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥ २२ ॥
अतिसृज्य ददानीति वरं मम विशाम्पतिः।
स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥ २३ ॥
धर्ममूलमिदं राम विदितञ्च सतामपि।
तत्सत्यं न त्यजेद्राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥ २४ ॥
यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥ २५ ॥
यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते।
ततोऽहमभिधास्यामि नह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥ २६ ॥
एतत्तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम्।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसन्निधौ ॥ २७ ॥

भाषा

हे राम! राजा कुपित नहीं हैं और न इन पर कोई विपत्ति है, किन्तु इनके मन में तुम्हारे विरुद्ध कोई ऐसी बात है कि जिसको तुम्हारे भय से नहीं कहते। इनकी जिह्वा, तुम ऐसे प्रिय से अप्रिय कहने का उत्साह नहीं करती। परन्तु यदि तुम पिता के भक्त हो तो इन्होंने जो मुझे वर दिया था उसको अवश्य करो॥ २० ॥ २१ ॥ इन्हीं राजा ने अति प्रसन्न होकर मुझे वर दिया था और आज अन्य प्राकृत जन की नाईं पश्चात्ताप करते हैं। यह विचार इनको पहिले ही करना उचित था जब तक कि वर न दे चुके थे। और वर देने के अनन्तर अब इनका उस वर से बचने का विचार करना, जल शुष्क हो जाने पर सेतु बाँधने के विचार सा व्यर्थ ही है॥ २२ ॥ २३ ॥ तुम्हारा भी ऐसा करना धर्म है कि जिससे तुम्हारे प्रयोजन में भङ्ग डालने के कारण मुझ पर कुपित हो कर महाराज अपने सत्य को छोड़ न दें क्योंकि सब धर्मों का मूल सत्य ही है और सत्य को महापुरुष गण भी ऐसा ही समझते आये हैं। तथा अधर्म से पिता को बचाना और पिता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का महान् धर्म है ॥ २४ ॥ यदि तुम्हारे लिये प्रिय व अप्रिय जो कुछ महाराज कहेंगे उसको तुम करोगे अर्थात् राजा की अनुमति से तुम्हारे लिये प्रिय वा अप्रिय जो मैं कहूँगी उसको तुम करोगे, क्योंकि तुम्हारे अप्रिय को राजा साक्षात् तुम्हारे समक्ष नहीं कहेंगे तब मैं कहूँगी॥ २५॥ २६॥ कैकेयी के उस वचन को सुनकर व्यथित हो श्री राम ने राजा के समक्ष कैकेयी से यह कहा कि॥ २७॥

अहो धिङ्नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ २८ ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ २९ ॥
तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ ३० ॥
तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम्।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥ ३१ ॥
पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥ ३२ ॥
तत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम्।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥ ३३ ॥
यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु ॥ ३४ ॥
सन्निदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम्।
त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ३५ ॥
भरतश्चाभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम्।
त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥ ३६ ॥

भाषा

अहो देवि! मेरे विषय में पिता की आज्ञा को उल्लंघन करने की शङ्का को सूचित करते हुये उस आप के वाक्य को धिक्कार है। आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि महाराज की आज्ञा से मैं अग्नि में भी गिर सकता हूँ, तीक्ष्ण विष को भी खा सकता हूँ, समुद्र में भी कूद सकता हूँ ॥ २८ ॥ २९ ॥ इसलिये आप उस काम को कहिये जो महाराज चाहते हैं। मैं उसको करूँगा और करने की प्रतिज्ञा भी करता हूँ तथा राम, दो बार नहीं कहते अर्थात् कहा सो कहा, पुनः उसके विरुद्ध भाषण नहीं करते ॥ ३० ॥ तदनन्तर कैकेयी ने ऋजु सत्यवादी श्री राम से यह महादारुण वचन कहा कि ॥ ३१ ॥ पूर्व समय के देवासुर संग्राम में मैंने तुम्हारे पिता के शरीर में चुभे हुये शल्यों को निकाल कर इनकी रक्षा की। उस समय इन्होंने प्रसन्न हो कर मुझे दो वर दिया ॥ ३२ ॥ आज अभी उनमें से एक वर यह माँगा कि अपने राज्य पर भरत का अभिषेक कीजिये और दूसरा यह कि तुम (राम) दण्डकारण्य को जावो ॥ ३३ ॥ यदि तुम अपने पिता और अपने को सत्यप्रतिज्ञ किया चाहते हो तो हे राघव! नरश्रेष्ठ! मेरे इस वचन को सुनो ॥ ३४ ॥

इनकी आज्ञा पर खड़े रहो जैसा कि इन्होंने प्रतिज्ञा किया है अर्थात् तुम चौदह वर्ष के लिये वन को जाव और इसी तुम्हारे अभिषेक की सामग्री से जो कि तुम्हारे लिये राजा ने सम्पादन किया है, भरत का अभिषेक हो और तुम इस अभिषेक को छोड़ चौदह वर्ष तक दण्डकारण्य

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ।
अभिषेकमिदं त्यक्त्वा जटाचीरधरो भव ॥ ३७ ॥
भरतः कोसलपतेः प्रशास्तु वसुधामिमाम् ।
नानारत्नसमाकीर्णां सवाजिरथसङ्कुलाम् ॥ ३८ ॥
एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः ।
शोकैः संक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥ ३९ ॥
एतत्कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन ।
सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥ ४० ॥
इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥ ४१ ॥

अयो० १९—तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम् ।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥
एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः ।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥
इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः ।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिन्दमः ॥ ३ ॥
मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः ।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥ ४ ॥
हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥ ५ ॥

भाषा

में जटा और चीर को धारण करो तथा भरत, अनेक रत्नों और रथ, हाथी, घोड़ों से भरी हुई इस कोशलपति की पृथ्वी का शासन करें । इसी कारण करुणा और शोक से अति दुःखी होकर महाराज तुमको देखा नहीं चाहते । हे रघुनन्दन ! तुम ऐसा करो कि जिससे महराज के सत्य का पालन हो ॥ ३५–४० ॥ कैकेयी के इस दारुण वचन से श्री राम की मुख छाया में कुछ भी विकार नहीं पहुँचा और भीतर भी उनको शोक न आया किन्तु राजा पुत्रवियोग के बड़े शोक से व्यथित हो गये ॥४१॥

लोकदृष्टि में मरण के तुल्य उस वचन को सुन कर और शोक न कर श्री राम ने कैकेयी से यह कहा कि ॥ १ ॥ एवमस्तु (भरत का अभिषेक हो) तथा राजा की प्रतिज्ञा को पालन करता हुआ, जटाचीर धारी होकर बनवास के लिये मैं जाऊँगा ॥ २ ॥ परन्तु यह मैं जानना चाहता हूँ कि जैसे पूर्व में महाराज मेरा अभिनन्दन करते थे वैसा अब क्यों नहीं करते ? हे देवि ! इस प्रश्न से आप मेरे वचन के मिथ्या होने की शंका से क्रोध न करें किंतु हर्ष करें क्योंकि मैं अवश्य ही जटाचीर धारण कर बन जाऊँगा । ऐसे निर्दोष, महानुभाव, कृतज्ञ, हितैषी और राजा तथा गुरु पिता की आज्ञा से मैं क्या नहीं कर सकता ॥ ३—५ ॥

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥
अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥ ७ ॥
किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥
तथाऽऽश्वासय ह्रीमन्तं किन्त्विदं यन्महीपतिः।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥ ९ ॥
गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥ १० ॥
दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥ ११ ॥
सा हृष्टा तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी।
प्रस्थानं श्रद्दधाना सा त्वरयामास राघवम् ॥ १२ ॥
एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादिहावर्तयितुं नराः ॥ १३ ॥
तव त्वहं क्षमं मन्ये नोत्सुकस्य विलम्बनम्।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

भाषा

किन्तु एक यह दुःख बहुत ही मेरे मन को दग्ध करता है जो कि राजा ने अपने मुख से भरत के अभिषेक को मुझसे नहीं कहा क्योंकि केवल आपकी आज्ञा से मैं हर्षपूर्वक सीता, राज्य, प्राण और धन को भरत भाई के लिये अर्पण कर सकता था। और इसकी तो बात ही क्या है कि जो आपके प्रिय के लिये महाराज की प्रतिज्ञा का पालन करता हुआ मैं भरत को राज्य दूँगा ॥ ६—८ ॥ आप महाराज को आश्वासन दीजिये क्योंकि यह क्या है जो कि महाराज अधोमुख होकर पृथ्वी को देखते अश्रु गिरा रहे हैं और आज ही राजा के आज्ञानुसार मातुल-कुल से भरत को ले आने के लिये सब दूत शीघ्रगामी अश्वों पर आरूढ़ हो कर जायँ और बिना कुछ विचार किये पिता के वाक्यानुसार चौदह वर्ष वास करने के लिये तुरत ही यह मैं दण्डकारण्य को जाता ही हूँ ॥ ९—११ ॥

इस रामवाक्य को सुन उनके वनयात्रा पर विश्वास करती हुई प्रसन्नमुखी रानी कैकेयी ने यह कहा कि ऐसा हो। सब दूत भरत को लेने जायँगे परन्तु तुम वन जाने को उत्सुक हो, इस कारण तुम्हारा विलम्ब मैं उचित नहीं समझती, इसलिये हे राम ! तुमको तुरत ही वन जाना चाहिये और महाराज, जो लज्जायुक्त हो कर अपने मुख से तुमसे नहीं कहते इसमें दूसरा कोई कारण नहीं है

व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते ।
नैतत् किञ्चिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १५ ॥

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादतित्वरन् ।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥ १६ ॥

धिक्कष्टमिति निःश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः ।
मूर्च्छितो न्यपतत् तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषिते ॥ १७ ॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याऽभिप्रचोदितः ।
कशयेव हतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम् ।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥ २० ॥

यत्तत्र भवतः किञ्चिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया ।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥

नह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ २२ ॥

अनुक्तोऽप्यत्र भवता भवत्या वचनादहम् ।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥

भाषा

किंतु लज्जा ही कारण है । इसलिये इसके विषय में तुम पश्चात्ताप न करो और जब तक तुम शीघ्र ही इस पुर से निकल कर वनयात्रा न करोगे तब तक तुम्हारे पिता, न स्नान करैंगे और न भोजन करैंगे क्योंकि ॥ १२—१६ ॥ मैंने ऐसा ही शपथ उनको रखा दिया है । तदनन्तर शोकातुर महाराज (धिक कष्टम्) कह लम्बी श्वास खींच मूर्च्छित हो कर उस पलँग पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

कैकेयी के आज्ञानुसार, कशा से आहत अश्व की नाईं वन जाने को शीघ्रता करते हुये श्रीराम ने राजा को पलँग पर उठाकर बैठाया और कैकेयी से यह कहा कि हे देवि ! मैं अर्थपरायण हो कर लोक में नहीं रह सकता, मुझे आप निर्मल धर्म पर स्थित और ऋषियों के तुल्य समझिये। अर्थात् सुख और दुःख में तुल्यता मेरी स्वाभाविक है ॥ १८—२० ॥

वनवास क्या वस्तु है ? मेरे प्राणत्यागपर्यन्त, जो कुछ पूज्यपाद श्री पिताजी का प्रिय काम मेरे किये हो सकता है उसको आप सर्वथा किया ही समझें क्योंकि पिता की शुश्रूषा और आज्ञा पालन से अधिक कोई धर्म नहीं है, इसलिये श्री पिताजी के बिना कहे भी आपके वचन से चौदह वर्ष तक मैं निर्जन वन में वास करूँगा ॥ २१—२३ ॥

न नूनं मयि कैकेयि किञ्चिदाशंससे गुणान् ।
यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥ २४ ॥
यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् ।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद्वनम् ॥ २५ ॥
भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा ।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥
रामस्य तु वचः श्रुत्वा भृशं दुःखगतः पिता ।
शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम् ॥ २७ ॥
वन्दित्वा चरणौ राज्ञो विसंज्ञस्य पितुस्तदा ।
कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात महाद्युतिः ॥ २८ ॥
स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् ।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥ २९ ॥
तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनुजगाम ह ।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥
आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् ।
शनैर्जगाम सापेक्षो दृष्टिं तत्राविचालयन् ॥ ३१ ॥
न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति ।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥ ३२ ॥

भाषा

हे कैकेयि ! यह अवश्य है कि आप मेरे किसी गुण को नहीं जानतीं क्योंकि यदि जानती होतीं तो आप मेरी स्वामिनी होकर इस काम के लिये महाराज से न कहतीं अर्थात् मैं केवल आपकी भी आज्ञा से राज्य छोड़ देता ॥ २४ ॥ जब तक मैं माता से पूछता हूँ और सीता को सान्त्वना देता हूँ तब तक आप क्षमा करें । तदनन्तर मैं दण्डकारण्य जाऊँगा ॥ २५ ॥ आप ऐसा करियेगा जिससे कि भरत, राज्य का पालन और पिता की सेवा किया करें ॥ २६ ॥

इस रामवाक्य को सुन अति दुःखित और शोक से स्पष्ट बोलने में असमर्थ महाराज अत्युच्च स्वर से रोदन कर पुनः मूर्च्छित हो गये ॥ २७ ॥ तदनन्तर मूर्च्छित पिता और अनार्या कैकेयी को प्रदक्षिणापूर्वक चरणों में प्रणाम कर श्री राम अन्तःपुर से निकल पड़े ॥ २८ ॥ २९ ॥ आँख में अश्रु भरे और अति क्रुद्ध श्रीलक्ष्मण उनके पीछे चले क्योंकि यद्यपि श्री लक्ष्मण अन्तःपुर में नहीं गये थे तथापि उनको उक्त समाचार किसी प्रकार विदित हो गया था ॥ ३० ॥ श्रीराम अभिषेकशाला की प्रदक्षिणा करते और लोगों के तत्क्षण उद्वेग के वारणार्थ उस शाला में स्थित सामग्री को देखकर धीरे २ चले ॥ ३१ ॥ जैसे क्षय, चन्द्रमा की स्वाभाविक शोभा को नष्ट नहीं करता वैसे श्री राम की स्वाभाविक महाशोभा को राज्यनाश ने न्यून नहीं किया ॥ ३२ ॥ राज्य को त्यागकर वन जाते श्री राम के चित्त

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ ३३ ॥
प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलङ्कृते ।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥ ३४ ॥
धारयन् मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च ।
प्रविवेशात्मवान् वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥ ३५ ॥
सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमान् श्रीमतः सत्यवादिनः ।
नालक्षयत रामस्य कञ्चिदाकारमानने ॥ ३६ ॥
उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान् ।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥ ३७ ॥
वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम् ।
मातुः समीपं धर्मात्मा प्रविवेश महायशाः ॥ ३८ ॥
तं गुणैः समतां प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः ।
सौमित्ररनुवव्राज धारयन् दुःखमात्मजम् ॥ ३९ ॥
प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदायुतं समीक्ष्य तां चार्थविपत्तिमागताम् ।
न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया ॥ ४० ॥

२४—अथ परोपकारः

स च पूर्वोक्ताया दयायाः फलम् अतस्तदुपाख्यानमेवैतदुपाख्यानम् ।

भाषा

में, जीवन्मुक्त के चित्त में जैसे कोई विकार नहीं होता वैसे ही कुछ भी विकार नहीं हुआ ॥ ३३ ॥

श्वेतच्छत्र तथा चँवरों की जोड़ी और पुरजनों को छोड़, बाह्य इन्द्रियों को दुःखचेष्टा से दूर रख और मन को सुख दुःख में समान धारण करते श्रीराम, उक्त अप्रिय समाचार कहने के लिये अपने माता के अन्तःपुर में गये ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ अभिषेकोत्सव के लिये अलंकृत सब पार्श्ववर्ती जनों में से किसी ने भी मान्य और सत्यवादी राम के मुख पर आकार का विकार कुछ भी नहीं देखा क्योंकि विकार तो मुख पर कौन कहै अंतःकरण में भी नहीं था ॥ ३६ ॥

जैसे शरत् पूर्णिमा के चन्द्रमा अपने उचित तेज को नहीं त्यागते वैसे ही श्री राम ने अपने स्वाभाविक और सहज सत्वगुण के लिये उचित हर्ष चिह्नों का त्याग नहीं किया ॥ ३७ ॥ अन्तःपुर के जनों को मधुरवाणी से आनन्दित करते श्री राम अपने माता के समीप प्राप्त हुये, तत्पश्चात् श्री लक्ष्मण भी अपने दुःख को सम्हालते वहाँ प्राप्त हुये ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ लोकदृष्टि से, अर्थविपत्ति रूपी राज्यनाश को देख कर भी श्रीराम, विकार को नहीं प्राप्त हुये, किन्तु कौसल्या, दशरथ आदि आत्मीयों के प्राण विपत्ति की शंका से केवल उनको चिन्ता हुई ॥ ४० ॥

२४—परोपकार का निरूपण

जैसे अन्तःकरण की वृत्ति रूपी दया का अनन्त सुख और दुःखी की रक्षा फल है वैसे ही

२५—अथानायासः

बृहस्पतिः—शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥ इति ॥

अयञ्च सन्तोषस्य फलम् अतस्तदुपाख्यानमेवैतदुपाख्यानम्।

२६—अथ स्त्रीरक्षा

सा च श्रुतिस्मृतिसदाचारप्रमाणकेषु स्त्रीवृत्तेषु, स्त्रीणामनुचितवृत्तेभ्यो व्यावर्त्य स्थापना।

मनु० अ० ९—अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥
कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

भाषा

परोपकार भी उसी का फल है और जैसे दुःखी की रक्षा, सामान्य धर्म अर्थात् सुख लाभ का कारण है वैसे ही परोपकार भी। परोपकार सुखी के उपकार को भी कहते हैं और दया, केवल दुःखी की रक्षा को कहते हैं जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है और इसका उदाहरण भी दया के उपाख्यान में दिखला दिया गया है।

२५—अनायास का निरूपण

"शरीरं"—जिस शुभ कर्म से भी शरीर को अत्यन्त पीड़ा हो उसको न करना अनायास है। और यह भी पूर्वोक्त सन्तोष का फल है तथा इसके उदाहरण का भी वर्णन सन्तोष के उपाख्यान में हो चुका है ॥

२६—स्त्रीरक्षा का निरूपण

अनुचित आचारों से वारण कर श्रुति-स्मृति और सदाचार के अनुसारी वृत्त (चालचलन) पर स्त्रियों का स्थापन करना स्त्रीरक्षा है ॥

"अस्वतन्त्राः"—पति आदि का यह अवश्य कर्त्तव्य है कि स्त्रियों को सदा अपने अधीन रक्खें और रूप रस आदि उचित विषयों में भी स्त्रियों का अधिक प्रसंग वारण कर उनको अपने वश में रक्खें ॥ २ ॥

विवाह से पूर्व पिता स्त्री (अपनी कन्या) की रक्षा करै और यौवनावस्था में पति उसकी रक्षा करै, और यदि पति और पुत्र न हो तो पिता आदि उसकी रक्षा करैं। तथा वृद्धावस्था में पुत्र उसकी रक्षा करै। इस रीति से स्त्रियों की स्वतन्त्रता किसी अवस्था में उचित नहीं है ॥ ३ ॥

ऋतु के आरम्भ से पूर्व यदि पिता कन्या को दान न करै तो पिता, और ऋतु काल में यदि पत्नी के समीप पति न जाय तो पति, तथा पति के परलोकगामी होने पर यदि पुत्र माता की रक्षा न करै तो पुत्र, पातकी और निन्द्य होता है ॥ ४ ॥ छोटे २ दुःसंगों से भी स्त्रियों की विशेष

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥
इमं हि सर्ववर्णानाम्पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥
स्वां प्रसूतिं चरित्रञ्च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ ७ ॥
पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥
यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथा विधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥

भाषा

रूप से रक्षा करनी चाहिये और बड़े बड़े दुःसंगों से कौन कहे ? क्योंकि स्त्रीरक्षा में यदि कुछ भी प्रमाद किया जाय तो वे अरक्षित स्त्रियाँ अपने पितृकुल और भर्तृकुल दोनों को सन्ताप देती हैं ॥ ५ ॥ यह स्त्रीरक्षण रूपी धर्म (जो कि आगे भी कहा जायगा) सबके लिये सब धर्मों से श्रेष्ठ है । ऐसा समझ कर अन्ध, पङ्गु आदि भी अपनी भार्या की रक्षा में सदा प्रयत्न करें क्योंकि ॥ ६ ॥ भार्या की रक्षा से अपने वंश की रक्षा इस कारण होती है कि वर्णशंकर के बिना शुद्ध सन्तान उत्पन्न होती है और पिता पितामह आदि से आये हुये शिष्टाचार की रक्षा होती है तथा शुद्ध सन्तान से श्राद्धादि के द्वारा अपनी (पति की) रक्षा होती है और अपने धर्म की भी रक्षा होती है क्योंकि मनुष्य को अपनी शुद्ध पत्नी के साथ ही यज्ञादि धर्म करने का अधिकार है ।

पति शुक्ररूप से भार्या के उदर में प्रवेश कर गर्भ हो पुत्र रूप से उत्पन्न होता है जैसा कि यह श्रुति है "आत्मा वै पुत्रनामाऽसि (नामकरण में पिता कहता है कि बालक ! तुम मेरा आत्मा ही हो, केवल नाममात्र तुम्हारा "पुत्र" है) और भार्या का भी 'जाया' नाम इसी से है कि पति उसमें पुत्र रूप से पुनः जायमान होता है । जैसा कि बह्वृच ब्राह्मण की यह श्रुति है—

"पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् ।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥
तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥"

(जायारूपी माता में पति गर्भ होकर प्रवेश करता है और उसमें पुनः नवीन होकर दश मास में जायमान होता है इसलिये जाया, जाया है क्योंकि पति, उसमें पुनः जायमान होता है) ॥ ८ ॥ शास्त्रविहित पुरुष के सम्बन्ध से स्त्री उत्कृष्ट पुत्र को, और शास्त्रनिषिद्ध पुरुष के सेवन से निकृष्ट पुत्र को, उत्पन्न करती है इस कारण सन्तान शुद्धि के लिये पत्नी की यत्न से रक्षा करे । और रक्षा का प्रकार संक्षेप से यह है कि ॥ ९ ॥ कोई पुरुष ऐसा नहीं है कि जो बलात्कार से स्त्रियों की रक्षा

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपङ्क्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥ ११ ॥
अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥
पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीणां दूषणानि षट् ॥ १३ ॥

२७—अथ ह्रीः

सा च लोकलज्जा अमूलादपि लोकापवादाद्भयमिति यावत् । तथा

रामा.यु.का.सर्ग११५—तां तु पार्श्वे स्थितां प्रह्वां रामः सम्प्रेक्ष्य मैथिलीम् ।
हृदयान्तर्गतं भावं व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

भाषा

कर सकै क्योंकि ऐसी रक्षा होने पर भी स्त्रियों का व्यभिचार देखा जाता है, किन्तु जो उपाय अब कहे जायँगे, उनसे स्त्रियों की रक्षा हो सकती है और वे उपाय यह हैं कि ॥ १० ॥ धन के संग्रह में, उचित व्यय में, द्रव्य और शरीर के शोधन में, पति, श्वसुरादि की सेवा में, रसोई बनाने में, तथा शय्या, आसन, कुण्ड, कटाह आदि की रक्षा में, स्त्रियों को सदा लगाये रहैं अर्थात् इन कामों से स्त्रियों को अवकाश न दिया करै ॥ ११ ॥ जो स्त्रियाँ अपनी दुःशीलता के कारण अपनी रक्षा नहीं चाहतीं वे यदि सच्चे आज्ञाकारी पति से गृह में रुद्ध भी रक्खी जाँय तो वे रक्षिता नहीं हैं । किन्तु जो स्त्रियाँ अपनी धर्मज्ञता से अपनी रक्षा आप ही करती हैं वे ही सुरक्षिता हैं । तात्पर्य यह है कि पुराणादि के द्वारा धर्म से स्वर्ग आदि और अधर्म से नरक आदि लाभ और हानि का शुभ उपदेश ही केवल स्त्रियों की रक्षा का मुख्य उपाय है ॥ १२ ॥

स्त्रीदूषण के ये छः कारण हैं—(१) मादक वस्तु का सेवन, (२) दुष्टजनों का संग, (३) पति का वियोग, (४) गृह से निकल यहाँ वहाँ भ्रमण, (५) असमय में शयन, (६) पर गृह में वास । इसलिये इन व्यभिचारजनक दोषों के आक्रमण से स्त्री की रक्षा करै ॥ १३ ॥

२७—ह्री का निरूपण

निर्मूल लोकापवाद से भी डर कर बचना ह्री है । उसी को लोकलज्जा भी कहते हैं ।

उपाख्यान

"तां तु"—पार्श्व में स्थित और लज्जा से नम्र मैथिली को देख श्री राम ने अपने हृदय के भाव को कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

एषाऽसि निर्जिता भद्रे शत्रुं जित्वा रणाजिरे।
पौरुषाद्यदनुष्ठेयं मयैतदुपपादितम् ॥ २ ॥
गतोऽस्म्यन्तममर्षस्य धर्षणा सम्प्रमार्जिता।
अवमानश्च शत्रुश्च युगपन्निहतौ मया ॥ ३ ॥
अद्य मे पौरुषं दृष्टमद्य मे सफलः श्रमः।
अद्य तीर्णप्रतिज्ञोऽहं प्रभवाम्यद्य चात्मनः ॥ ४ ॥
या त्वं विरहिता नीता चलचित्तेन रक्षसा।
दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः ॥ ५ ॥
संप्राप्तमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति।
कस्तस्य पौरुषेणार्थो महताप्यल्पचेतसः ॥ ६ ॥
लङ्घनं च समुद्रस्य लङ्कायाश्चापि मर्दनम्।
सफलं तस्य च श्लाघ्यमद्य कर्म हनूमतः ॥ ७ ॥
युद्धे विक्रमतश्चैव हितं मन्त्रयतस्तथा।
सुग्रीवस्य ससैन्यस्य सफलोऽद्य परिश्रमः ॥ ८ ॥
विभीषणस्य च तथा सफलोऽद्य परिश्रमः।
विगुणं भ्रातरं त्यक्त्वा यो मां स्वयमुपस्थितः ॥ ९ ॥
इत्येवं वदतः श्रुत्वा सीता रामस्य तद्वचः।
मृगीवोत्फुल्लनयना बभूवाश्रुपरिप्लुता ॥ १० ॥

भाषा

हे भद्रे ! रण में शत्रु (रावण) को जीत यह तुम पलटाई गई हो। पौरुष से जो करना चाहिये सो यह मैंने किया ॥ २ ॥ मैं क्रोध के अन्त को प्राप्त हुआ और शत्रुकृत धर्षणा का मार्जन हो गया तथा मेरा अपमान और शत्रु ये दोनों एक ही बार मुझसे मारे गये ॥ ३ ॥ आज मेरा पौरुष लोगों से देखा गया और आज मेरा परिश्रम सफल हुआ तथा आज मैं रावण वध की प्रतिज्ञा से उत्तीर्ण हुआ और आज मैं अपने में हूँ ॥ ४ ॥ मेरे बिना अकेली तुम, चंचल राक्षस से हरण की गई, यह तुम्हारा प्रारब्धकृत दोष आज मेरे पराक्रम से छुड़ा दिया गया, क्योंकि जो पुरुष कथञ्चित् प्राप्त अपने अपमान को अपने तेज से मार्जन नहीं करता उस मंदबुद्धि पुरुष का महान पराक्रम भी व्यर्थ ही हो जाता है ॥ ६ ॥

हनुमान का समुद्रलंघन, लंकामर्दन रूपी प्रशंसनीय कर्म आज सफल है ॥ ७ ॥ युद्ध में पराक्रम और हित की मन्त्रणा करते सैन्यसहित सुग्रीव का परिश्रम आज सफल है ॥ ८ ॥ और विभीषण का भी परिश्रम आज सफल है जो कि अधर्मकारी भाई को छोड़ मेरे समीप उपस्थित हुये ॥ ९ ॥ ऐसा कहते हुये श्रीराम के अभिप्राय (तुमसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है) को समझ कर मृगी के ऐसे सीता के नेत्र फूल कर अश्रुपूर्ण हो गये ॥ १० ॥ अपने समीप में अपनी हृदयप्रिया

पश्यतस्तां तु रामस्य समीपे हृदयप्रियाम् ।
जनवादभयाद्राज्ञो बभूव हृदयं द्विधा ॥ ११ ॥
सीतामुत्पलपत्राक्षीं नीलकुञ्चितमूर्द्धजाम् ।
अवदद्वै वरारोहां मध्ये वानररक्षसाम् ॥ १२ ॥
यत्कर्तव्यं मनुष्येण धर्षणां प्रतिमार्जता ।
तत्कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकाङ्क्षिणा ॥ १३ ॥
निर्जिता जीवलोकस्य तपसा भावितात्मना ।
अगस्त्येन दुराधर्षा मुनिना दक्षिणेव दिक् ॥ १४ ॥
विदितश्चास्तु भद्रं ते योऽयं रणपरिश्रमः ।
सुतीर्णः सुहृदां वीर्यान्न त्वदर्थं मया कृतः ॥ १५ ॥
रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः ।
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जता ॥ १६ ॥
प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढा ॥ १७ ॥
तद्गच्छ त्वानुजानेऽद्य यथेष्टं जनकात्मजे ।
एता दशदिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया ॥ १८ ॥
कः पुमांस्तु कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम् ।
तेजस्वी पुनरादद्यात् सुहृल्लोभेन चेतसा ॥ १९ ॥

भाषा

सीता को देखते हुये श्री राम का हृदय, लोकापवाद के भय से दो टुकड़ा हो गया अर्थात् एक टुकड़े ने यह कहा कि ऐसी हृदयप्रिया सीता को न छोड़ना चाहिये और दूसरे ने यह कहा कि अवश्य छोड़ना चाहिये नहीं तो लोकापवाद होगा ॥ ११ ॥ वानरों और राक्षसों के मध्य में श्री राम ने कमलपत्राक्षी सीता से यह कहा कि ॥ १२ ॥ अपनी धर्षणा के मार्जन के लिये जो मनुष्य का कर्तव्य है वह अपने मान के लिये रावण को मार मैंने किया अर्थात् जैसे इल्वल और वातापी से आक्रमण की हुई दक्षिण दिशा प्राणिमात्र के वश में आने के योग्य न थी परन्तु अगस्त्य ही मुनि का काम था कि उसको अपने वश में किया वैसे रावण से हरण की हुई तुमको युद्ध से पुनः मैंने अपने वश में किया ॥ १३ ॥ १४ ॥ तुम्हारा कल्याण हो और यह तुम निश्चय करो कि अपने आचार की रक्षा और अपने प्रसिद्ध वंश के अपवाद तथा नीचता के मार्जन ही के लिये अपने मित्रों के पराक्रम से मैंने इस युद्ध परिश्रम को किया न कि तुम्हारे लिये ॥ १५ ॥ १६ ॥ तुम्हारे धर्म में सन्देह होने के कारण यह मेरे समक्ष खड़ी तुम, नेत्र रोगी के लिये दीपशिखा की नाईं मेरी पूरी प्रतिकूला हो ॥ १७ ॥ इसलिये हे जनकात्मजे ! तुमको आज मैं अनुज्ञा देता हूँ कि दशो दिशाओं में जहाँ तुम्हारी इच्छा हो जाव । मुझको तुमसे कुछ प्रयोजन नहीं है क्योंकि ॥ १८ ॥ अच्छे कुल में उत्पन्न कौन तेजस्वी पुरुष परगृह में रही हुई स्त्री को प्रेम के कारण ग्रहण करैगा । अपने कुल का नाम

रावणाङ्कपरिक्लिष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन्महत् ॥ २० ॥
यदर्थं निर्जिता मे त्वं सोऽयमासादितो मया ।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥ २१ ॥
तदद्य व्याहृतं भद्रे मयैतत्कृतबुद्धिना ।
लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथासुखम् ॥ २२ ॥
शत्रुघ्ने वाऽथ सुग्रीवे राक्षसे वा विभीषणे ।
निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः ॥ २३ ॥
नहि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
मर्षयत्यचिरं सीते स्वगृहे पर्यवस्थिताम् ॥ २४ ॥
ततः प्रियार्हश्रवणा तदप्रियं ।
प्रियादुपश्रुत्य चिरस्य मानिनी ॥
मुमोच बाष्पं रुदती तदा भृशम् ।
गजेन्द्रहस्ताभिहतेव वल्लरी ॥ २५ ॥

रामा० यु० का०—एवमुक्ता तु वैदेही परुषं रोमहर्षणम् ।
स० ११६ राघवेण सरोषेण श्रुत्वा प्रव्यथिताऽभवत् ॥ १ ॥
सा तदाऽश्रुतपूर्वं हि जने महति मैथिली ।
श्रुत्वा भर्तुर्वचो घोरं लज्जयाऽवनताऽभवत् ॥ २ ॥
प्रविशन्तीव गात्राणि स्वानि सा जनकात्मजा ।
वाक्शरैस्तैः सशल्येव भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ ३ ॥

भाषा

लेता हुआ मैं रावण के गोद में दबी हुई और उसके काम दूषित चक्षुओं से देखी हुई तुमको कैसे पुनः ग्रहण करूँ। जिस पूर्वोक्त कार्य के लिये मैंने तुमको पलटाया वह मेरा कार्य सिद्ध हो गया। तुम पर अब मेरा राग नहीं है, जहाँ चाहो जाव। हे भद्रे ! मैंने आज अपना निश्चय तुमसे कह दिया, अब तुम लक्ष्मण वा भरत वा शत्रुघ्न वा सुग्रीव वा राक्षस विभीषण में अपने मन का निवेश करो। अथवा जिसमें तुम्हारा सुख हो वही करो। मैं यह नहीं समझता कि अपने गृह में स्थित तुम ऐसी दिव्यरूपा मनोहारिणी स्त्री को रावण थोड़े समय तक भी सहन कर सका होगा ॥ १९—२४ ॥

तदनन्तर प्रियवाणी के श्रवणयोग्या माननीया सीता, अपने प्रिय के मुख से ऐसी अप्रियवाणी सुनकर जैसे गजेन्द्र के हस्त से आकर्षण की हुई नवीन कोमल लता, पुष्पों को छोड़ती है वैसे ही रोती हुई अश्रुवों को छोड़ने लगी ॥ २५ ॥ क्रोधाक्रान्त श्री राम के रोमहर्षण इस परुष वाक्य से सीता अति व्यथित हो गयीं और जैसी बात किसी अन्य से भी कदापि नहीं सुनी गयी वैसी भयावनी बात अपने प्रिय के मुख से सुनकर सीता, लज्जा से अति नम्र हो गयीं। हृदय में चुभे हुये इन वाक्य रूपी बाणों के फल से अति दुःखित हो मानो अपने अंगों में लीन होती हुई श्री सीता ने अश्रु की वर्षा किया ॥ १—३ ॥

ततो बाष्पपरिक्लिन्नं प्रमार्जन्ती स्वमाननम् ।
शनैर्गद्गदया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥
किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम् ।
रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव ॥ ५ ॥
न तथाऽस्मि महाबाहो यथा मामवगच्छसि ।
प्रत्ययं गच्छ मे स्वेन चारित्रेणैव ते शपे ॥ ६ ॥
पृथक् स्त्रीणां प्रचारेण जातिं त्वं परिशङ्कसे ।
परित्यजैनां शङ्कां तु यदि तेऽहं परीक्षिता ॥ ७ ॥
यदहं गात्रसंस्पर्शं गताऽस्मि विवशा प्रभो ।
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति ॥ ८ ॥
मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते ।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा ॥ ९ ॥
सह संवृद्धभावेन संसर्गेण च मानद ।
यदि तेऽहं न विज्ञाता हता तेनास्मि शाश्वतम् ॥ १० ॥
प्रेषितस्ते महावीरो हनूमानवलोककः ।
लङ्कास्थाऽहं त्वया राजन् किं तदा न विसर्जिता ॥ ११ ॥

भाषा

तदनन्तर अश्रुधारा से आर्द्र अपने मुख को पोंछती हुई श्री सीता ने धीरे से गद्गदवाणी में श्री राम से यह कहा कि ॥ ४ ॥ हे वीर ! जैसे कोई प्राकृत पुरुष अपनी प्राकृत स्त्री को सुनाता है वैसे रूक्ष, अनुचित और कर्णकटु इस ऐसे वाक्य को आप क्यों मुझे सुनाते हैं ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! आप मुझे जैसी दुष्टा समझते हैं वैसी नहीं हूँ, मैं अपने पातिव्रत्य रूपी चारित्र के शपथ से आप को ठीक विश्वास दिलाऊँगी तब आप विश्वास करेंगे ॥ ६ ॥ आप जो सामान्य स्त्रियों के चारित्र देखने से स्त्रीजाति मात्र को दुष्ट समझते हैं यह कदापि उचित नहीं है, यदि मैं अनेक बार आप से परीक्षित हो चुकी हूँ, तो आप इस शङ्का को छोड़िये । यह तो आप न कहिये कि जब तू राक्षस के अङ्गस्पर्श से दूषित हो गयी, तब मैं तेरी क्या परीक्षा करूँ ? क्योंकि ॥ ७ ॥ हे प्रभो ! वह स्पर्श, मेरी इच्छा से नहीं किन्तु बलात्कार से हुआ, इस कारण उसके होने में भाग्य का अपराध है न कि मेरा ॥ ८ ॥ और जो कि अन्तःकरण, मेरे अधीन था, वह जैसे पूर्व में आप का था वैसे अब भी आप ही का है । और अङ्ग तो मुझ अबला के पराधीन थे, उनके स्पर्श में मैं क्या कर सकती थी ॥ ९ ॥ एक ही साथ उत्पन्न हुए अन्योन्यानुराग रूपी सम्बन्ध और चिरकाल तक सहवास से भी यदि आपने मेरे गुणों को नहीं जाना तब तो आपके इस अज्ञान से मैं सदा के लिये मारी ही गयी ॥ १० ॥ आप के परिचित महावीर, मेरी दशा को देखने वाले खड़े हैं । यदि आपको मुझ पर ऐसा ही सन्देह था तो उसी समय इनसे क्यों न मेरे पास कहला दिया कि तूँ अब

प्रत्यक्षं वानरस्यास्य तद्वाक्यसमनन्तरम् ।
त्वया सन्त्यक्तया वीर त्यक्तं स्याज्जीवितं मया ॥ १२ ॥
न वृथा ते श्रमोऽयं स्यात्संशये न्यस्य जीवितम् ।
सुहृज्जनपरिक्लेशो न चायं विफलस्तव ॥ १३ ॥
त्वया तु नृपशार्दूल रोषमेवानुवर्तता ।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम् ॥ १४ ॥
अपदेशो मे जनकान्नोत्पत्तिर्वसुधातलात् ।
मम वृत्तञ्च वृत्तज्ञ बहु ते न पुरस्कृतम् ॥ १५ ॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये मम निपीडितः ।
मम भक्तिश्च शीलञ्च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम् ॥ १६ ॥
इति ब्रुवन्ती रुदती बाष्पगद्गदभाषिणी ।
उवाच लक्ष्मणं सीता दीनं ध्यानपरायणम् ॥ १७ ॥
चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम् ।
मिथ्याऽपवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ १८ ॥
अप्रीतेन गुणैर्भर्त्रा त्यक्ताया जनसंसदि ।
या क्षमा मे गतिर्गन्तुं प्रवेक्ष्ये हव्यवाहनम् ॥ १९ ॥

भाषा

मेरे काम की नहीं है, क्योंकि उस समय आप ऐसा कहलाये होते तो इन्हीं बानर के प्रत्यक्ष मैं अपने प्राण त्याग देती जिससे कि इतने दिनों तक मुझे आपके वियोग की व्यथा ही न होती, और युद्ध में प्राण संशय उठाकर आपको इतना परिश्रम भी नहीं करना पड़ता, तथा आपके मित्रों को इतना क्लेश भी न उठाना पड़ता ॥ ११—१३ ॥

हे राजशार्दूल ! आपने तो क्रोधवश होकर मेरे गुणों को भूल, लघु मनुष्य के ऐसा मेरे स्त्रीत्व जाति ही को पुरस्कार दिया ॥ १४ ॥ आपने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया कि मैं कदापि प्राकृत स्त्री नहीं हूँ क्योंकि राजा जनक की यज्ञभूमि के सम्बन्ध मात्र से मुझे लोग वैदेही कहते हैं, न कि मैं राजा जनक से उत्पन्न हुई, किन्तु पृथ्वीतल से मैं उत्पन्न हुई, इसलिये मैं मनुष्य योनि वाली स्त्री नहीं हूँ, तथा बड़े मान के योग्य मेरे इतने काल तक अपने (राम के) परिक्षित चरित्र को भी आपने अपने विचार में पुरस्कार नहीं दिया ॥ १५ ॥ तथा बाल्यावस्था में धर्म और सन्तान के उद्देश से आपके किये हुये मेरे पाणिग्रहण को भी आपने अपने विचार में प्रमाण नहीं किया तथा मेरी भक्ति और मेरे शीलादि सब गुणों को आपने एकाएकी अपने पीठ पीछे कर दिया ॥ १६ ॥ अश्रु से ऐसा गद्गद बोलती, रोदन करती, सीता ने दीन और ध्यानमग्न श्री लक्ष्मण से यह कहा कि ॥ १७ ॥

हे सौमित्रे ! इस महा दुःख रोग का औषध रूपी चिता बनाओ क्योंकि ऐसे मिथ्यापवाद से कलङ्कित होकर मैं नहीं जी सकती ॥ १८ ॥ गुणों से प्रसन्न न होकर जन समाज के मध्य में पति की त्यागी हुई स्त्री की जो गति उचित है, उसके लिये मैं अग्नि में प्रवेश करूँगी । श्री सीता के

एवमुक्तस्तु वैदेह्या लक्ष्मणः परवीरहा।
अमर्षवशमापन्नो राघवं समुदैक्षत ॥ २० ॥
स विज्ञाय मनश्छन्दं रामस्याकारसूचितम्।
चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान् ॥ २१ ॥
नहि रामं तदा कश्चित्कालान्तकयमोपमम्।
अनुनेतुमथो वक्तुं द्रष्टुं वाप्यशकत्सुहृत् ॥ २२ ॥
अधोमुखं स्थितं रामं ततः कृत्वा प्रदक्षिणम्।
उपावर्तत वैदेही दीप्यमानं हुताशनम् ॥ २३ ॥
प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली।
बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥ २४ ॥
यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥ २५ ॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥ २६ ॥
एवमुक्त्वा तु वैदेही परिक्रम्य हुताशनम्।
विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशङ्केनान्तरात्मना ॥ २७ ॥
जनश्च सुमहांस्तत्र बालवृद्धसमाकुलः।
ददर्श मैथिलीं दीप्तां प्रविशन्तीं हुताशनम् ॥ २८ ॥
सा तप्तनवहेमाभा तप्तकाञ्चनभूषणा।
पपात ज्वलनं दीप्तं सर्वलोकस्य सन्निधौ ॥ २९ ॥

भाषा

इस वाक्य को सुनकर बड़े अमर्ष में आकर श्री लक्ष्मण ने श्री राम को देखा ॥ १९ ॥ २० ॥ और श्री राम के भ्रूभङ्ग आदि आकार से सूचित उनके अभिप्राय को समझ कर उनके मति के विषय में चिन्ता किया ॥ २१ ॥ उस समय काल, मृत्यु और यमराज के तुल्य अति विकराल आकार को धारण किये, श्री राम से कोई उनका मित्र भी कुछ प्रार्थना नहीं कर सका, यहाँ तक कि उनकी ओर देखने में भी सब भयभीत हो गये। तदनन्तर अधोमुख खड़े हुये, श्री राम को प्रदक्षिणा कर श्री सीता, लक्ष्मण की रचित चिता में जाज्वल्यमान हुताशन के समीप आईं और देवताओं तथा ब्राह्मणों को नमस्कार कर अग्नि के समीप बद्धाञ्जलि हो कर यह कहने लगीं कि ॥ २२—२४ ॥

यदि मेरा हृदय श्री राघव से कदापि नहीं हटता तो लोक के साक्षी यह पावक मेरी सब प्रकार से रक्षा करैं ॥ २५ ॥ यदि वास्तविक में शुद्ध चरित्र वाली मुझको, राघव भ्रम से दुष्टा जानते हैं, तो लोक के साक्षी पावक मेरी सब प्रकार से रक्षा करैं ॥ २६ ॥ ऐसा कह अग्नि की प्रदक्षिणा कर श्री सीता ने निःशङ्क अन्तरात्मा से अग्नि में प्रवेश किया ॥ २७ ॥ वहाँ के समुदित बाल, वृद्ध सबने श्री सीता को अग्नि में प्रवेश करते देखा अर्थात् तुरत तपाये हुऐ सुवर्ण सी चमकती और तपाये सुवर्ण से भूषित श्री सीता

ददृशुस्तां विशालाक्षीं पतन्तीं हव्यवाहनम् ।
सीतां सर्वाणि रूपाणि रुक्मवेदिनिभां तदा ॥ ३० ॥
ददृशुस्तां महाभागां प्रविशन्तीं हुताशनम् ।
ऋषयो देवगन्धर्वा यज्ञे पूर्णाहुतीमिव ॥ ३१ ॥
प्रचुक्रुशुः स्त्रियः सर्वास्तां दृष्ट्वा हव्यवाहने ।
पतन्तीं संस्कृतां मन्त्रैर्वसोर्धारामिवाध्वरे ॥ ३२ ॥
ददृशुस्तां त्रयो लोका देवगन्धर्वदानवाः ।
शप्तां पतन्तीं निरये त्रिदिवाद्देवतामिव ॥ ३३ ॥
तस्यामग्निं विशन्त्यां तु हाहेति विपुलः स्वनः ।
रक्षसां वानराणाञ्च संबभूवाद्भुतोपमः ॥ ३४ ॥

रामा० यु० का०—ततो हि दुर्मना रामः श्रुत्वैवं वदतां गिरः ।
सर्ग० ११७ दध्यौ मुहूर्तन्धर्मात्मा बाष्पव्याकुललोचनः ॥ १ ॥
ततो वैश्रवणो राजा यमश्च पितृभिः सह ।
सहस्राक्षश्च देवेशो वरुणश्च जलेश्वरः ॥ २ ॥
षडर्द्धनयनः श्रीमान्महादेवो वृषध्वजः ।
कर्ता सर्वस्य लोकस्य ब्रह्मा ब्रह्मविदाम्वरः ॥ ३ ॥

भाषा

सब लोगों के समक्ष प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ीं, और वहाँ के सब प्राणियों ने सुवर्ण वेदी सी सीता को अग्नि में गिरते देखा। तथा ऋषिगण, देवगण ने जैसे यज्ञ के अन्त में अग्नि में पूर्णाहुति दी जाती है वैसे अग्नि में प्रवेश करती हुई महाभागा सीता को देखा ॥ २८—३१ ॥ यज्ञ में मन्त्रों से संस्कार की हुई वसुधारा (अविच्छिन्न घृतधारा) के तुल्य, प्रज्वलित अग्नि में गिरती हुई सीता को देख लङ्का की स्त्रियाँ बड़े उच्च स्वर से रोने लगीं ॥ ३२ ॥

किसी के कारण स्वर्ग से नरक में गिरती हुई, देवता के समान उन सीता को तीनों लोक तथा देव, गन्धर्व और दानवों ने देखा ॥ ३३ ॥ सीता के अग्निप्रवेश के समय राक्षसों और वानरों के आश्चर्यरूपी महान् हा ! हा ! कार कोलाहल ने आकाश को पूर्ण कर दिया ॥ ३४ ॥ तदनन्तर सबके हा ! हा ! कार शब्द को सुनकर खिन्न चित्त हो "प्राकृत स्त्रियों की नाईं सीता इसके योग्य नहीं थीं जैसा कि उसके साथ किया गया" ऐसा विचार कर सीतावियोग से अश्रुपूर्ण नेत्र हो श्रीराम, मुहूर्त भर इस चिन्ता में तत्पर हो गये। मैंने क्या कहा? क्या किया? और अब से मुझे क्या करना चाहिये? ॥ १ ॥ इतने ही में दिक्पालों के सहित श्री शिव और श्री ब्रह्मदेव श्री राम पर अनुग्रह करने के लिये वहाँ आ पहुँचे। अर्थात् राजा कुबेर, पितरों के सहित यमराज, सहस्राक्ष देवेन्द्र, वृषध्वज त्रिनेत्र श्री महादेव और सब लोकों के कर्ता तथा चतुर्मुख प्रजापति देव, राजादि, दिक्पाल, वसिष्ठादि ऋषि और वंश रूपी वेदज्ञों की परम्परा ऋषि में प्रथम श्री ब्रह्मदेव, ये सब एक

एते सर्वे समागम्य विमानैः सूर्यसन्निभैः ।
आगम्य नगरीं लङ्कामभिजग्मुश्च राघवम् ॥ ४ ॥
ततः सहस्ताभरणान्प्रगृह्य विपुलान्भुजान् ।
अब्रुवंस्त्रिदशश्रेष्ठा राघवं प्राञ्जलिं स्थितम् ॥ ५ ॥
कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।
उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने ॥ ६ ॥
कथं देवगणश्रेष्ठमात्मानं नावबुद्ध्यसे ।
ऋतधामा वसुः पूर्वं वसूनाञ्च प्रजापतिः ॥ ७ ॥
त्रयाणामपि लोकानामादिकर्ता स्वयम्प्रभुः ।
रुद्राणामष्टमो रुद्रः साध्यानामपि पञ्चमः ॥ ८ ॥
अश्विनौ चापि कर्णौ ते सूर्याचन्द्रमसौ दृशौ ।
अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परन्तप ।
उपेक्षसे च वैदेहीं मानुषः प्राकृतो यथा ॥ ९ ॥
इत्युक्तो लोकपालैस्तैः स्वामी लोकस्य राघवः ।
अब्रवीत् त्रिदशश्रेष्ठान् रामो धर्मभृतां वरः ॥ १० ॥
आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद्ब्रवीतु मे ॥ ११ ॥

भाषा

साथ सूर्य तुल्य विमानों से लङ्का में आकर श्री राम के अभिमुख पहुँच गये ॥ २–४ ॥

तदनन्तर बद्धाञ्जलि होकर खड़े हुये श्री राम से उन देवश्रेष्ठों ने दिव्य भूषणों से भूषित अपने बड़े २ हाथों को उठा उठा कर यह कहा कि ॥ ५ ॥ आप अपने वास्तविक स्वरूप से सब लोकों के कर्ता और उपनिषद् के तत्वज्ञानी इन्द्रादि देवों में श्रेष्ठ हो, क्योंकि "*विष्णुमुख्या वै देवाः*" (देवों में विष्णु ही मुख्य हैं) यह वेद है । सो आप ऐसा होकर अग्नि में गिरती हुई सीता की कैसे उपेक्षा करते हैं ? ॥ और हे देवगणश्रेष्ठ ! आप अपने को क्यों नहीं समझते क्योंकि ॥ ६ ॥ आप किसी २ पूर्व लोकसृष्टियों से पूर्व ब्रह्माण्ड और उसके स्वामी के सृष्टिकर्ता ऋतधामा नामक वसु हैं तथा रुद्रों में अष्टम (महादेव) और साध्यों में पञ्चम (वीर्यमान) हैं, और दोनों अश्विनी कुमार आपके कर्ण हैं, तथा सूर्य और चन्द्रमा आपके नेत्र हैं, तथा विश्व के अन्त, आदि और मध्य में आप ही देखे जाते हैं अर्थात् सबके तत्व आप ही हैं, सो आप ऐसा होकर प्राकृत मनुष्य की नाईं कैसे सीता की उपेक्षा करते हैं ? ॥७–९॥ उन लोकपालों के मुख से ऐसा सुनकर श्री राम ने उनसे कहा कि ॥१०॥ मैं अपने इस स्वरूप को दशरथ का पुत्र राम नामक एक मनुष्य ही समझता हूँ, दूसरा नहीं, और आपने भी यही कहा है कि "तुम अपने को नहीं समझते" इसलिये मैं वास्तविक में जैसा हूँ, वह सब भगवान् सर्वज्ञ मेरे परम गुरु आप, मुझ जिज्ञासु को उपदेश कीजिये (ब्रह्मविद्या के उपदेश का यही मार्ग, श्रुति स्मृति में सर्वत्र प्रसिद्ध है) ॥ ११ ॥ ऐसा कहते हुये श्रीराम से श्री

इति ब्रुवाणं काकुत्स्थं ब्रह्मा ब्रह्मविदाम्वरः ।
अब्रवीच्छृणु मे वाक्यं सत्यं सत्यपराक्रम ॥ १२ ॥
भगवन्नारायणो देवः श्रीमाश्चक्रायुधः प्रभुः ।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ॥ १३ ॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव ।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥ १४ ॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः ।
अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव वृहद्बलः ॥ १५ ॥
सेनानीर्ग्रामणीः सर्वं त्वं बुद्धिस्त्वं क्षमा दमः ।
प्रभवश्चाप्ययश्च त्वमुपेन्द्रो मधुसूदनः ॥ १६ ॥
इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वं पद्मनाभो रणान्तकृत् ।
शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः ॥ १७ ॥
सहस्रशृङ्गो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः ।
त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयम्प्रभुः ॥ १८ ॥

भाषा

ब्रह्मदेव ने कहा कि हे सत्यपराक्रम ! मेरे इस सत्य वाक्य को सुनो ॥ १२ ॥ नारायण (नार, अर्थात् जीवों के समूह में अयन अर्थात् स्थान करने वाले विराट् रूप) देव (स्वप्रकाश) आप ही हो जिसके चिह्न चक्र, गदा,शंखादि हैं । तथा विराट् विष्णुमूर्ति का भेद, एक दन्ष्ट्रा वाले धरणी-वराह भी आप हो । भूत भविष्यत कालरूपी शत्रु के जेता अर्थात् नित्य आप ही हो, क्योंकि मध्य, अन्त आदि में एक रस जो ब्रह्म तत्व है, वह आप ही हो, धर्माधिकारी प्राणियों के परम धर्म आप हो, क्योंकि, *"यज्ञो वै विष्णुः"* (वह विष्णु ही यज्ञ हैं) इस श्रुति रूपी प्रमाण से अश्वमेध पर्यन्त सब धर्म आप ही हो, तथा आपकी सेना (शाखा) हम सब विश्व में फैल रहे हैं और शत्रु के नाशक चार भुज आपके हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

तथा शार्ङ्ग (सींग का बना हुआ) काल रूपी धनु, आपका है, और आप हृषीकों (इन्द्रियों) के ईश अर्थात् नियम कर्ता हो, तथा "पुरु" अर्थात् अधिक फलों के "ष" अर्थात् देने वाले (अथवा पूर्ण हो तथा पुरुषोत्तम और अजित खड्गधृक् (नन्दकनाभ खड्ग के धारक) विष्णु (सर्वव्यापक) कृष्ण (श्याम वर्ण) वृहद्बल (लीला कन्दुक की नाईं पूर्ण ब्रह्माण्ड के धारण में समर्थ हो) ॥ १५ ॥ सेनानी (सेनापति) और ग्रामणी (मन्त्री) तथा सब जगत आप ही हो । आप निश्चयात्मिका बुद्धि हो, क्षमा हो, दम हो, सृष्टि हो, प्रलय हो और वामनादि मूर्ति भेद आपही के हैं ॥ १६ ॥

इन्द्र को बनानेवाले और महेन्द्र (सकल लोक के स्वामी) आप हो तथा पद्मनाभ (जिसकी नाभि से विराट रूपी कमल उत्पन्न हुआ) तथा युद्ध में शत्रुओं के नाशक आप हो और दिव्य महर्षि लोग आपको रक्षा करने में समर्थ और रक्षक भी कहते हैं ॥ १७ ॥ तथा सहस्र शृङ्ग वेदात्मा (सहस्र शाखामय वेदरूपी) शत शीर्ष अनेक विधान से युक्त, अति श्रेष्ठ और तीनों लोक के स्वतन्त्र स्वामी

सिद्धानामपि साध्यानामाश्रयश्चासि पूर्वजः ।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोङ्कारः परात्परः ॥ १९ ॥
प्रभवं निधनं चापि नो विदुः को भवानिति ।
दृश्यसे सर्वभूतेषु गोषु च ब्राह्मणेषु च ॥ २० ॥
दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च ।
सहस्रचरणः श्रीमाञ्छतशीर्षः सहस्रदृक् ॥ २१ ॥
त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्वपर्वतान् ।
अन्ते पृथिव्याः सलिले दृश्यसे त्वं महोरगः ॥ २२ ॥
त्रीन् लोकान्धारयन् राम देवगन्धर्वदानवान् ।
अहं ते हृदयं नाम जिह्वा देवी सरस्वती ॥ २३ ॥
देवा रोमाणि गात्रेषु ब्रह्मणा निर्मिताः प्रभो ।
निमेषस्ते स्मृता रात्रिरुन्मेषो दिवसस्तथा ॥ २४ ॥
संस्कारास्त्वभवन्वेदा नैतदस्ति त्वया विना ।
जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम् ॥ २५ ॥
अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षणः ।
त्वया लोकास्त्रयः क्रान्ताः पुरा स्वैर्विक्रमैस्त्रिभिः ॥ २६ ॥

भाषा

आप हो, सिद्ध और साध्यों के आश्रय और पूर्वज भी आप हो । आप यज्ञ हो, वषट्कार हो, ओंकार हो, सब परों से भी परे हो ॥ १८ ॥ १९ ॥ विश्व की सृष्टि और प्रलय के स्थान आप ही हो और वास्तविक में यह कोई नहीं जानता कि आप कौन हो, परन्तु सब प्राणियों, गौओं, ब्राह्मणों और दिशाओं में तथा आकाश, पर्वतों में अन्तर्यामी आप वेद से सुने जाते हो, तथा सहस्र चरण, शिर, नेत्रादि अनन्त रूपों से पृथ्वी और सब पर्वतों को आप धारण करते हो, और ब्रह्म दिन के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ में महासर्प पर सोये हुये आप देखे जाते हो ॥ २०—२२ ॥ और देव, गन्धर्व, दानव के सहित तीनों लोकों के धारण करने वाले विराट् नारायण आप हो । यहाँ तक "मैं कहाँ से आया" इस प्रश्न का उत्तर हो गया अर्थात् यह कह दिया गया कि आप नारायण ही के मूर्ति अर्थात् देह रूपी हैं । अब आगे यह कहा जायगा कि "सब देहों के स्वामी देही आप हैं" जिससे मैं कौन हूँ, इस प्रश्न का उत्तर होगा ।

हे राम ! मैं आपका हृदय हूँ, और सरस्वती देवी आपकी जिह्वा है, देवगण रोम, निमेष रात्रि, उन्मेष दिन और विधि निषेध के वाक्य वेद हैं, अर्थात् इनमें कोई आपके बिना नहीं है । सब जगत आपका शरीर है । पृथ्वी का सामर्थ्य आपका धैर्य है, आपका कोप अग्नि है, आपका प्रसाद चन्द्रमा है और आप ही ने वामन रूप से तीनों लोकों का आक्रमण किया था ॥ २३—२६ ॥

महेन्द्रश्च कृतो राजा बलिं बद्ध्वा सुदारुणम् ।
सीता लक्ष्मीर्भवान्विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ॥ २७ ॥

वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम् ।
तदिदं नस्त्वया कार्यं कृतं धर्मभृतां वर ॥ २८ ॥

निहतो रावणो राम प्रहृष्टो दिवमाक्रम ।
अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः ॥ २९ ॥

अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः ।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥ ३० ॥

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम् ।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च ॥ ३१ ॥

इममार्षस्तवं दिव्यमितिहासं पुरातनम् ।
ये नराः कीर्तयिष्यन्ति तेषां नास्ति पराभवः ॥ ३२ ॥

रामा० यु० का०—एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं पितामहसमीरितम् ।
सर्ग० ११८ अङ्केनादाय वैदेहीमुत्पपात विभावसुः ॥ १ ॥

विधूयाथ चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः ।
उत्तस्थौ मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम् ॥ २ ॥

तरुणादित्यसङ्काशां तप्तकाञ्चनभूषणाम् ।
रक्ताम्बरधरां बालां नीलकुञ्चितमूर्द्धजाम् ॥ ३ ॥

भाषा

आप ही ने बलि को बाँध, इन्द्र को राजा कर दिया। यह सीता लक्ष्मी हैं, और आप विष्णु देव हैं। केवल रावण के वधार्थ आपने मानुष शरीर स्वीकार किया, और अब रावण मारा गया, हमारा कार्य सिद्ध हो गया, आप हर्षपूर्वक जब चाहैं, वैकुण्ठ को पधारें। इस कर्म से भी आपका वीर्य अमोघ है, और आपके पराक्रम भी मोघ (निष्फल) नहीं हैं। दर्शन आपका अमोघ है, और स्तुति भी अमोघ है तथा जो मनुष्य आप में भक्ति करेंगे, वे भी अमोघ होंगे। पुराण पुरुषोत्तम आप में जो लोग अटल भक्ति करेंगे, वे लोग सुख, स्वर्ग, मोक्ष पावैंगे ॥ २७—३१ ॥ इस वेदोक्त पुराने इतिहास रूपी तथा आपके सगुण और निर्गुण स्वरूप को वर्णन करने वाले स्तोत्र को जो मनुष्य पढ़ा करेंगे वे शत्रुओं और पापों से आक्रान्त नहीं होंगे ॥ ३२ ॥

इस पितामह वाक्य को सुन, अग्निदेव सीता को गोद में ले, चिता से निकल खड़े हुये ॥ १ ॥ अर्थात् अग्निदेव ने चिता को फेंक फाँक, स्रुक स्रुवा आदि अपने चिह्नों से युक्त, अपनी दिव्य मूर्ति को धारण कर, चमकीले सुवर्णालङ्कारों से विभूषित, रक्त वस्त्र धारिणी, नील घूँघरवाले बालों से शोभित,

अक्लिष्टमाल्याभरणां तथा रूपामनिन्दिताम् ।
ददौ रामाय वैदेहीमङ्के कृत्वा विभावसुः ॥ ४ ॥
अब्रवीत्तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः ।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥ ५ ॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा ।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा ॥ ६ ॥
रावणेनापनीतैषां वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा ।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती ॥ ७ ॥
रुद्धा चान्तः पुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा ।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः ॥ ८ ॥
प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली ।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना ॥ ९ ॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥ १० ॥
ततः प्रीतमना रामः श्रुत्वैवं वदतां वरः ।
दध्यौ मुहूर्तं धर्मात्मा हर्षव्याकुललोचनः ॥ ११ ॥
एवमुक्तो महातेजा धृतिमानुरुविक्रमः ।
उवाच त्रिदशश्रेष्ठं रामो धर्मभृतां वरः ॥ १२ ॥

भाषा

अम्लान पुष्पमाला को धारण करती, बाल सूर्य के तुल्य बाला सीता को गोद में कर श्री राम को दे दिया॥ २—४ ॥ और लोक के साक्षी अग्निदेव ने उस समय श्री राम से यह कहा कि हे राम ! यह तुम्हारी सीता है, इसमें कोई पाप नहीं है, इसने मन, वचन वा नेत्र से कदापि तुम्हारे विषय में अत्याचार नहीं किया । यह जो छायारूप से मुझमें प्रवेश कर गई सो रावण एक बलवान् राक्षस से उस समय हरण की गई थी जब कि तुम इसके समीप नहीं थे और तुम क्या ? इसका रक्षक कोई वहाँ नहीं था । और वहाँ से ले आकर रावण के अन्तःपुर में रात्रि दिन भयावनी राक्षसियों के द्वारा सुरक्षित थी, उस समय भी यह तुम्हारी ही चिन्ता में प्रतिक्षण तत्पर थी, और अनेक प्रकार के लोभ और तर्जना दिखलाने पर भी इसने रावण को कुछ भी नहीं समझा । इसलिये मैं तुमको आज्ञा देता हूँ कि इस शुद्ध भावा और निष्पापा सीता को तुम ग्रहण करो और आज से इसके विषय में कदापि कोई अनुचित बात तुम न कहना ॥ ५—१० ॥

तदनन्तर आँखों से हर्ष की वर्षा करते हुये, श्री राम ने थोड़ा विचार कर अग्निदेव से कहा कि ॥ ११ ॥ १२ ॥ श्री सीता के लिये अग्निशुद्धि लोक में उचित ही थी, क्योंकि रावण के अन्तःपुर में

अवश्यं चापि लोकेषु सीता पावनमर्हति ।
दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तःपुरे शुभा ॥ १३ ॥
बालिशो बत कामात्मा रामो दशरथात्मजः ।
इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि ॥ १४ ॥
अनन्यहृदयां सीतां मच्चित्तपरिरक्षिणीम् ।
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ १५ ॥
इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा ।
रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधिः ॥ १६ ॥
न च शक्तः सुदुष्टात्मा मनसाऽपि हि मैथिलीम् ।
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव ॥ १७ ॥
नेयमर्हति वैक्लव्यं रावणान्तःपुरे सती ।
अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा ॥ १८ ॥
विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा ।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा ॥ १९ ॥
अवश्यं च मया कार्यं सर्वेषां वो वचो हितम् ।
स्निग्धानां लोकपालानामेवं च वदतां हितम् ॥ २० ॥

भाषा

बहुत काल तक यह थी; अर्थात् यद्यपि इनमें कोई दोष नहीं था, तथापि यदि मैं बिना अग्निशुद्धि के इनको ग्रहण करता तो लोग यह कहते कि दशरथ के पुत्र राम कामवश और मूर्ख हैं, क्योंकि उन्होंने बिना शुद्धि के जानकी को ग्रहण कर लिया ॥ १३ ॥ १४ ॥

मैं भी यह जानता हूँ कि सीता का हृदय मुझ ही में रहता है, और इसी कारण वह सदा अपने को दोषों से बचाये रहती है तथा समुद्र जैसे अपनी वेला (तीर मर्यादा) को उल्लङ्घन नहीं कर सकता, वैसे पातिव्रत तेज से रक्षित सीता को रावण लङ्घन नहीं कर सकता था तथा वह दुष्टात्मा रावण मन से भी मैथिली की धर्षणा नहीं कर सकता था जैसे प्रज्वलित अग्निशिखा को कोई हाथ से नहीं दबा सकता ॥ १६ ॥ १७ ॥ और यह भी संभव नहीं है कि रावण के अन्तः पुर में रहने से सीता को भय से कायरता आयी हो, क्योंकि जैसे प्रभा सूर्य से अन्य नहीं है वैसे सीता भी मुझसे अन्य नहीं है, क्योंकि वेद में कहा है कि, "*अर्द्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी*" (यह पुरुषका अर्द्ध भाग ही है जो कि पत्नी है) यहाँ तक से यह स्पष्ट कह दिया गया कि छाया सीता में बलात्कार से यद्यपि रावण का स्पर्श हुआ तथापि अग्निदेव ने जिस सीता को मुझे दिया उसमें उक्त स्पर्श की भी शङ्का नहीं है, इसलिये जैसे विवेकी धीर पुरुष से अपनी कीर्ति नहीं त्यागी जा सकती, वैसे तीनों लोक में शुद्धा सीता भी मुझसे नहीं छूट सकती, और मुझमें स्नेहवाले जगत्पूज्य और उक्त प्रकार से मेरा हित कहते हुये आप सबका वाक्य भी मेरे लिये अवश्य पालनीय है ॥ १८—२० ॥ संग्राम में विजय की

इत्येवमुक्त्वा विजयी महाबलः ।
प्रशस्यमानः स्वकृतेन कर्मणा ॥
समेत्य रामः प्रियया महायशाः ।
सुखं सुखार्होऽनुबभूव राघवः ॥ २१ ॥

रामा० यु० का०—एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं राघवेणानुभाषितम् ।
सर्ग० ११९ ततः शुभतरं वाक्यं व्याजहार महेश्वरः ॥ १ ॥
पुष्कराक्ष महाबाहो महावक्षः परन्तप ।
दिष्ट्या कृतमिदं कर्म त्वया धर्मभृतां वर ॥ २ ॥
दिष्ट्या सर्वस्य लोकस्य प्रवृद्धं दारुणं तमः ।
अपवृत्तं त्वया संख्ये रामरावणजं भयम् ॥ ३ ॥
आश्वास्य भरतं दीनं कौसल्यां च यशस्विनीम् ।
कैकेयीं च सुमित्रां च दृष्ट्वा लक्ष्मणमातरम् ॥ ४ ॥
प्राप्य राज्यमयोध्यां च नन्दयित्वा सुहृज्जनम् ।
इक्ष्वाकूणां कुले वंशं स्थापयित्वा महाबल ॥ ५ ॥
इष्ट्वा तुरगमेधेन प्राप्य चानुत्तमं यशः ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्वा त्रिदिवं गन्तुमर्हसि ॥ ६ ॥
एष राजा दशरथो विमानस्थः पिता तव ।
काकुत्स्थ मानुषे लोके गुरुस्तव महायशाः ॥ ७ ॥
इन्द्रलोकं गतः श्रीमांस्त्वया पुत्रेण तारितः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा त्वमेनमभिवादय ॥ ८ ॥
महादेववचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विमानशिखरस्थस्य प्रणाममकरोत्पितुः ॥ ९ ॥

भाषा

प्राप्त और अपने कामों से सराहे जाते हुए श्री राम ऐसा कह सीता को ग्रहण कर आनन्दित हुए ॥ २१ ॥

श्रीराम के वाक्यों को सुन, श्री महेश्वर ने परम शुभ वाक्य यह कहा कि हे महाबाहो ! आपने यह काम बहुत अच्छा किया, अर्थात् सब लोकों के रावण जनित भय रूपी दारुण अन्धकार को जो आपने नाश कर दिया, यह बहुत अच्छा हुआ । हे महाबल ! अब दीन भरत, कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा को आश्वासन दें, अयोध्या में राज ग्रहण करने से सब मित्रों को आनन्दित कर तथा इक्ष्वाकु-कुल में वंश की स्थापना करने के अनन्तर अश्वमेध यज्ञ से अति उत्तम यश लोक में फैला कर और ब्राह्मणों को बहुत सा धन देकर आपको अपने लोक में जाना चाहिये ॥ १—६ ॥

हे काकुत्स्थ ! यह तुम्हारे पिता राजा दशरथ विमान पर स्थित हैं जो कि मनुष्य लोक में तुम्हारे पिता थे, और तुम पुत्र से तारित हो कर इन्द्रलोक में गये हैं, तुम लक्ष्मण के साथ इनको प्रणाम करो ॥ ७ ॥ ८ ॥ श्री महादेव के वाक्य को सुन कर, लक्ष्मण के सहित राघव ने विमानस्थित

दीप्यमानं स्वया लक्ष्म्या विरजोम्बरधारिणम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा ददर्श पितरं प्रभुः ॥ १० ॥
हर्षेण महताविष्टो विमानस्थो महीपतिः ।
प्राणैः प्रियतरं दृष्ट्वा पुत्रं दशरथस्तदा ॥ ११ ॥
आरोप्याङ्के महाबाहुर्वरासनगतः प्रभुः ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य ततो वाक्यं समाददे ॥ १२ ॥
न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षभैः ।
त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते ॥ १३ ॥
कैकय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर ।
तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम ॥ १४ ॥
त्वां तु दृष्ट्वा कुशलिनं परिष्वज्य सलक्ष्मणम् ।
अद्य दुःखाद्विमुक्तोऽस्मि नीहारादिव भास्करः ॥ १५ ॥
तारितोऽहं त्वया पुत्र सुपुत्रेण महात्मना ।
अष्टावक्रेण धर्मात्मा कहोलो ब्राह्मणो यथा ॥ १६ ॥
इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः ।
वधार्थं रावणस्येह विहितं पुरुषोत्तम ॥ १७ ॥
सिद्धार्था खलु कौसल्या या त्वां रामगृहं गतम् ।
वनान्निवृत्तं संहृष्टा द्रक्ष्यते शत्रुसूदनम् ॥ १८ ॥

भाषा

पिता को प्रणाम किया और अपनी लक्ष्मी से विराजमान तथा जिन पर पृथ्वी का रज नहीं पड़ सकता ऐसे वस्त्रों को धारण किये पिता को देखा ॥ ९ ॥ १० ॥ तदनन्तर विमानस्थित श्रेष्ठासन पर बैठे राजा दशरथ, महाहर्ष से आविष्ट हो प्राण से भी अधिक प्रियपुत्र को अपने गोद में उठा बाहुओं से बलपूर्वक परिष्वङ्ग कर यह बोले ॥ ११ ॥ १२ ॥

हे राम ! तुम से मैं सत्य कहता हूँ कि देववरों से सम्मानित स्वर्ग, तुम्हारे बिना मुझे अच्छा नहीं लगता और तुम्हारे वनवास के लिये कैकेयी ने जो २ बातें मुझसे कहा वे सब बातें अब तक मेरे हृदय में स्थित हैं, परन्तु आज कुशलयुक्त, लक्ष्मण सहित तुमको देख और परिष्वङ्ग कर जैसे नीहार (कुहरा) से सूर्य निर्मुक्त होते हैं, वैसे ही उस चिन्ता दुःख से मैं निर्मुक्त हो गया ॥ १३—१५ ॥

हे पुत्र ! जैसे अष्टावक्र ऋषि से उनके पिता कहोल महर्षि तारित हुए वैसे तुम ऐसे महात्मा पुत्र से मैं तारित हुआ । और अब यह मैं जानता हूँ कि रावण के वधार्थ देवेश्वरों ने मेरे पुत्र होने से तुमको आच्छादित किया था और वास्तविक में तुम पुरुषोत्तम हो ॥ १६ ॥ १७॥ हे राम ! कौसल्या के मनोरथ सिद्ध हुए, जो कि शत्रु को मार वन से पलट कर गृह आये हुए तुमको देखेंगीं ॥ १८ ॥

सिद्धार्थाः खलु ते राम नरा ये त्वां पुरीं गतम् ।
राज्ये चैवाभिषिक्तं च द्रक्ष्यन्ते वसुधाधिपम् ॥ १६ ॥

अनुरक्तेन बलिना शुचिना धर्मचारिणा ।
इच्छेयं त्वामहं द्रष्टुं भरतेन समागतम् ॥ २० ॥

चतुर्दश समाः सौम्य वने निर्यातितास्त्वया ।
वसता सीतया सार्द्धं मत्प्रीत्या लक्ष्मणेन च ॥ २१ ॥

निवृत्तवनवासोऽसि प्रतिज्ञा पूरिता त्वया ।
रावणं च रणे हत्वा देवताः परितोषिताः ॥ २२ ॥

कृतं कर्म यशः श्लाघ्यं प्राप्तं ते शत्रुसूदन ।
भ्रातृभिः सह राज्यस्थो दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥ २३ ॥

इति ब्रुवाणं राजानं रामः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च ॥ २४ ॥

सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया ।
स शापः केकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत्प्रभो ॥ २५ ॥

तथेति स महाराजो राममुक्त्वा कृताञ्जलिम् ।
लक्ष्मणं च परिष्वज्य पुनर्वाक्यमुवाच ह ॥ २६ ॥

धर्मं प्राप्स्यसि धर्मज्ञ यशश्च विपुलं भुवि ।
रामे प्रसन्ने स्वर्गञ्च महिमानं तथोत्तमम् ॥ २७ ॥

भाषा

हे राम ! पुर के मनुष्यों का मनोरथ सिद्ध हुआ, जो कि पुरी में आकर, राज्याभिषेक पाने के अनन्तर राजा हुए तुमको देखेंगे ॥ १९ ॥ अनुरागयुक्त, बली, शुद्ध और धर्मचारी भरत के साथ तुम्हारे मिलाप को मैं स्वर्ग में ही बैठा देखा चाहता हूँ ॥ २० ॥

हे सौम्य ! मेरी प्रीति से सीता और लक्ष्मण के साथ चौदह वर्ष तक तुमने वनवास किया, अब वह निवृत्त हुआ, तुमने प्रतिज्ञा पूरी की, रावण को मारकर देवताओं को सन्तुष्ट किया, यह बहुत प्रशंसनीय कार्य कर यश पाया । अब राज्यस्थित हो, भाइयों के सहित चिरकाल तक जीवो ॥ २१—२३ ॥ ऐसा कहते हुए राजा दशरथ से श्री राम ने हाथ जोड़ कहा कि हे धर्मज्ञ ! आप कैकेयी और भरत पर अनुग्रह करैं, अर्थात् आपने कैकेयी से यह कहा था कि "पुत्र सहित तुम्हारा त्याग करता हूँ" सो यह घोर शाप कैकेयी और भरत को स्पर्श न करै ॥ २४ ॥ २५ ॥

महाराज दशरथ ने तथाऽस्तु कह पुनः कृताञ्जलि लक्ष्मण को परिष्वङ्ग कर उनसे कहा कि ॥ २६ ॥ हे धर्मज्ञ ! धर्म और इस लोक में बड़ा यश तथा राम के प्रसन्न होने से स्वर्ग और उत्तम महिमा को भी तुम पाओगे ॥ २७ ॥ हे सुमित्रा के आनन्दवर्द्धन ! तुम राम की सेवा करो, तुम्हारा

रामं शुश्रूष भद्रन्ते सुमित्रानन्दवर्द्धन ।
रामः सर्वस्य लोकस्य हितेष्वभिरतः सदा ॥ २८ ॥
एते सेन्द्रास्त्रयो लोकाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अभिवाद्य महात्मानमर्चन्ति पुरुषोत्तमम् ॥ २९ ॥
एतत्तदुक्तमव्यक्तमक्षरं ब्रह्मसम्मितम् ।
देवानां हृदयं सौम्य गुह्यं रामः परन्तपः ॥ ३० ॥
अवाप्तं धर्माचरणं यशश्च विपुलं त्वया ।
एनं शूश्रूषताऽव्यग्रं वैदेह्या सह सीतया ॥ ३१ ॥
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं राजा स्नुषां बद्धाञ्जलिं स्थिताम् ।
पुत्रीत्याभाष्य मधुरं शनैरेनामुवाच ह ॥ ३२ ॥
कर्तव्यो न तु वैदेहि मन्युस्त्यागमिमं प्रति ।
रामेणेदं विशुद्ध्यर्थं कृतं वै त्वद्धितैषिणा ॥ ३३ ॥
सुदुष्करमिदं पुत्रि तव चारित्रलक्षणम् ।
कृतं यत्तेऽन्यनारीणां यशो ह्यभिभविष्यति ॥ ३४ ॥
न त्वं कामं समाधेया भर्तृशुश्रूषणं प्रति ।
अवश्यं तु मया वाच्यमेषते दैवतं परम् ॥ ३५ ॥

भाषा

कल्याण हो क्योंकि राम सब लोक के हित में सदा उद्यत रहते हैं और ये इन्द्र सहित तीन लोक तथा सिद्ध और परमर्षिगण, इन राम पुरुषोत्तम की प्रणामपूर्वक पूजा करते हैं । यही राम रूपी वस्तु, देवताओं का हृदय कहा है। सुनो, श्रुति *"देवानां ॐ हृदयं ब्रह्मान्व विन्दत्"* (देवों के हृदय रूपी ब्रह्म को पाता है) और यही राम रूपी वस्तु देवों का गोप्य है। सुनो, श्रुति *"एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम्"* यही अज्ञान का महानाशक, देवों का गोप्य है। और यही राम रूपी वस्तु *"अन्तरस्मिन्निमे लोकाः"* (इसीके भीतर ये लोक हैं) इत्यादि वेदवाक्यों में कहा हुआ है, तथा सब जगत् का कारण नित्य ब्रह्म यही है ॥ २८—३० ॥ और तुम्हारे समस्त ही ब्रह्मादि देवताओं ने भी इनको ऐसा ही कहा है, इसलिये सीता के सहित इनकी इतने काल तक इतनी सेवा करने से तुमको सब धर्म प्राप्त हो चुके ॥ ३१ ॥ लक्ष्मण से ऐसा कह राजा दशरथ ने बद्धाञ्जलि खड़ी स्नुषा (पुत्रवधू) को मधुर सम्बोन्धन कर धीरे से यह कहा कि ॥३२॥ यह जो *"यथेष्टं गम्यताम्"* जहाँ चाहो जाओ, ऐसा त्याग तुम्हारा राम ने किया। इससे शोक न करना क्योंकि तुम्हारे ही हित के लिये तुम्हारी शुद्धि के प्रकाशनार्थ राम ने ऐसा किया ॥ ३३ ॥

हे पुत्रि ! तुम्हारा यह अग्निप्रवेश रूपी चारित्रकर्म, सब स्त्रियों के यश से अधिक होगा ॥ ३४ ॥ यद्यपि पतिसेवा के लिये तुमको प्रेरणा करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तुम आप से आप उसमें तत्पर हो तथापि मैं तुम्हारा गुरु हूँ, इससे मुझको अवश्य कहना चाहिये। इसलिये मैं तुमसे यह कहता हूँ कि "यह राम" तुम्हारे परदैवत हैं ॥ ३५ ॥ राजा दशरथ ने दोनों पुत्रों और

इति प्रतिसमादिश्य पुत्रौ सीतां च राघवः।
इन्द्रलोकं विमानेन ययौ दशरथो नृपः॥ ३६ ॥
विमानमास्थाय महाऽनुभावः
श्रिया च संहृष्टतनुर्नृपोत्तमः।
आमन्त्र्य पुत्रौ सह सीतया च
जगाम देवप्रवरस्य लोकम्॥ ३७ ॥

रामा० उ० का०—तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीनचेतसाम्।
सर्ग ४५ उवाच वाक्यं काकुत्स्थो मुखेन परिशुष्यता॥ १ ॥
सर्वे शृणुत भद्रं वो मा कुरुध्वं मनोऽन्यथा।
पौराणां मम सीतायां यादृशी वर्तते कथा॥ २ ॥
पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च।
वर्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति॥ ३ ॥
अहं किल कुले जात इक्ष्वाकूणां महात्मनाम्।
सीताऽपि सत्कुले जाता जनकानां महात्मनाम्॥ ४ ॥
जानासि त्वं यथा सौम्य दण्डके विजने वने।
रावणेन हृता सीता स च विध्वंसितो मया॥ ५ ॥
तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना जनकस्य सुतां प्रति।
अत्रोषितामिमां सीतामानयेयं कथं पुरीम्॥ ६ ॥
प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनं तदा।
प्रत्यक्षं तव सौमित्रे देवानां हव्यवाहनः॥ ७ ॥
अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः।
चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां सन्निधौ पुरा॥ ८ ॥

भाषा

सीता को ऐसा उपदेश दे और उनकी अनुमति ले पुनः उसी विमान से स्वर्ग लोक चले गये॥ ३६ ॥ ३७ ॥

"तेषां"—लक्ष्मणादि खिन्नचित्त सब भाइयों के समक्ष श्रीराम ने सूखते हुये मुख से यह कहा कि ॥ १ ॥ आप सब सुनते जाइये और मेरे अभिप्राय से विरोध न करियेगा कि पुरवासी और नगर-वासियों में मेरी कथा सीता के विषय में जैसी है॥ २ ॥ अर्थात् पुर और नगर में घृणाजनक अपवाद मेरे विषय में है जो कि मेरे मर्मस्थानों को विदीर्ण कर रहा है॥ ३ ॥ हे लक्ष्मण! मैं इक्ष्वाकुवंशी महात्माओं के कुल में उत्पन्न हूँ, और सीता भी जनक उपाधि वाले महात्माओं के कुल में उत्पन्न है॥ ४ ॥ हे सौम्य! यह सब बातें तुमको प्रत्यक्ष हो चुकी हैं, कि दण्डक वन से रावण ने सीता को हर लिया और मैंने उसका विध्वंस भी कर दिया तथा लङ्का में मुझे यह शङ्का भी हुयी कि यहाँ इतने दिन रही हुई सीता को मैं कैसे अयोध्यापुरी को ले जाऊँ? तदनन्तर तुम्हारे प्रत्यक्ष ही विश्वास के लिये सीता ने अग्निप्रवेश किया और सब देवताओं तथा ऋषियों के उस

ऋषीणां चैव सर्वेषामपापां जनकात्मजाम् ।
एवं शुद्धसमाचारा देवगन्धर्वसन्निधौ ॥ ६ ॥
लङ्काद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेदिता ।
अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम् ॥ १० ॥
ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः ।
अयं तु मे महान्वादः शोकश्च हृदि वर्तते ॥ ११ ॥
पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।
अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥
पतत्येवाधमांल्लोकान्यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ।
अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते ॥ १३ ॥
कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम् ।
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान्वा पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥
अपवादभयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ।
तस्माद्भवन्तः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे ॥ १५ ॥
नहि पश्याम्यहं भूतं किञ्चिद्दुःखमतोऽधिकम् ।
श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ॥ १६ ॥
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज ।
गङ्गायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥ १७ ॥
आश्रमो दिव्यसङ्काशस्तमसातीरमाश्रितः ।
तत्रैतां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन ॥ १८ ॥

भाषा

समाज में, अग्निदेव, वायुदेव, सूर्य और चन्द्रमा ने सीता को निष्पाप कहा। इस रीति से शुद्धाचार वाली सीता को देवों और गन्धर्वों के समीप लङ्काद्वीप में महेन्द्र ने मेरे हाथ में दे दिया, और मेरा अन्तरात्मा भी यशस्विनी सीता को शुद्ध जानता है, तदनन्तर सीता को लेकर मैं अयोध्या में आया। ऐसा होने पर भी पुर और देश में यह निन्दा मेरे विषय में है जिससे कि मेरे हृदय में शोक है॥ और जिस मनुष्य की अकीर्ति जब तक लोक में कही जाती है तब तक नरकों में उसका वास होता है तथा अकीर्ति की निन्दा देवता लोग करते हैं और कीर्ति की प्रशंसा लोक में होती है। कीर्ति के लिये सब महात्माओं के उद्योग हुआ करते हैं। हे पुरुषर्षभगण! अपवाद से भयभीत होकर मैं सीता की क्या बात है, अपने प्राणों को और आप को भी छोड़ दूँ। इसलिये आप देखें कि मैं इस शोक सागर में डूब रहा हूँ, और इस अकीर्ति दुःख से अधिक मैं किसी दुःख को नहीं समझता।

हे सौमित्रे! कल प्रातःकाल सुमन्त्र वाले रथ पर आरोहण कर और सीता को भी उस पर बिठला कर मेरे देश के अन्त में, अर्थात् गङ्गा के उस पार तमसा नदी के तीर में वाल्मीकि

शीघ्रमागच्छ सौमित्रे कुरुष्व वचनं मम।
न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथञ्चन ॥ १९ ॥

तस्मात्त्वं गच्छ सौमित्रे नात्र कार्या विचारणा।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत्प्रतिवारिते ॥ २० ॥

शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च।
ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथञ्चन।
अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात् ॥ २१ ॥

मानयन्तु भवन्तो मां यदि मच्छासने स्थिताः।
इतोऽद्यनीयतां सीता कुरुष्व वचनं मम ॥ २२ ॥

पूर्वमुक्तोऽहमनया गङ्गातीरेऽहमाश्रमान्।
पश्येयमिति तस्याश्च कामः सम्वर्त्यतामयम् ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो बाष्पेण पिहितेक्षणः।
संविवेश स धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः॥
शोकसंविग्नहृदयो निशश्वास यथा द्विपः ॥ २४ ॥

राम० उ० का०, सर्ग ४६ — ततो रजन्यां व्युष्टायां लक्ष्मणो दीनचेतनः।
सुमन्त्रमब्रवीद्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

सारथे तुरगान् शीघ्रान् योजयस्व रथोत्तमे।
स्वास्तीर्णं राजवचनात्सीतायाश्चासनं शुभम् ॥ २ ॥

भाषा

महात्मा के आश्रम के समीप एकान्त देश में छोड़ कर झट चले आओ। मेरा कहा मानो, इसमें कुछ भी प्रतिवाद न करना ॥ ५—१९ ॥ इस मेरी आज्ञा में कुछ भी विचार न करो, क्योंकि इस मेरी आज्ञा के भङ्ग में मेरी बड़ी अप्रसन्नता होगी। मैं तुमको अपने चरणों और प्राणों का शपथ देता हूँ, और इस बीच में जो लोग कुछ भी सान्त्वना वाक्य किसी रीति से बोलेंगे वे सदा के लिए मेरे अहित प्रसिद्ध होंगे। तुम यदि मेरी आज्ञा में स्थित हो तो मेरा वचन करो। सीता को अवश्य यहाँ से ले जाओ, और उनके ले जाने का यह उपाय है कि ॥ २०—२२ ॥ सीता ने पूर्व में मुझसे कहा था कि गङ्गातीर में ऋषियों को पुनः मैं देखना चाहती हूँ, उनका यह मनोरथ सिद्ध हो ॥ २३ ॥ धर्मात्मा श्री राम, ऐसा कह, अश्रुपूर्ण लोचन हो, भाइयों का विसर्जन कर अपने गृह में प्रविष्ट हुए और दीर्घ उष्ण श्वास लेने लगे ॥ २४ ॥

उस रात्रि के व्यतीत होने पर उद्विग्नचित्त श्री लक्ष्मण ने सूखते मुख से सारथी को कहा कि ॥ १ ॥ हे सारथे! उत्तम रथ में शीघ्रगामी अश्वों की योजना करो और सीता का आसन भी उस पर ठीक लगाओ, यह राजा की आज्ञा है क्योंकि ॥ २ ॥ राजा की आज्ञा से महर्षियों के

सीता हि राजवचनादाश्रमं पुण्यकर्मणाम् ।
मया नेया महर्षीणां शीघ्रमानीयतां रथः ॥ ३ ॥
सुमन्त्रस्तु तथेत्युक्त्वा युक्तं परमवाजिभिः ।
रथं सुरुचिरप्रख्यं स्वास्तीर्णं सुखशय्यया ॥ ४ ॥
आनीयोवाच सौमित्रिं मित्राणां मानवर्द्धनम् ।
रथोऽयं समनुप्राप्तो यत्कार्यं क्रियतां प्रभो ॥ ५ ॥
एवमुक्तः सुमन्त्रेण राजवेश्मनि लक्ष्मणः ।
प्रविश्य सीतामासाद्य व्याजहार नरर्षभः ॥ ६ ॥
त्वया किलैष नृपतिर्वरं वै याचितः प्रभुः ।
नृपेण च प्रतिज्ञातमाज्ञप्तश्चाश्रमं प्रति ॥ ७ ॥
गङ्गातीरे मया देवि ऋषीणामाश्रमाञ्शुभान् ।
शीघ्रं गत्वा तु वैदेहि शासनात्पार्थिवस्य नः ॥ ८ ॥
अरण्ये मुनिभिर्जुष्टे अवनेया भविष्यसि ।
एवमुक्ता तु वैदेही लक्ष्मणेन महात्मना ॥ ९ ॥
प्रहर्षमतुलं लेभे गमनं चाप्यरोचयत् ।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ १० ॥
गृहीत्वा तानि वैदेही गमनायोपचक्रमे ।
इमानि मुनिपत्नीनां दास्याम्याभरणान्यहम् ॥ ११ ॥
वस्त्राणि च महार्हाणि धनानि विविधानि च ।
सौमित्रिस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारोप्य मैथिलीम् ॥ १२ ॥
प्रययौ शीघ्रतुरगं रामस्याज्ञामनुस्मरन् ।
अब्रवीच्च तदा सीता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्द्धनम् ॥ १३ ॥

भाषा

आश्रम पर ले जाऊँगा, रथ शीघ्र लाओ ॥ ३ ॥ सुमन्त्र ने "अच्छा" कह उनके वाक्यानुसार तुरत ही रथ को सुसज्जित कर उनके समीप ला दिया और निवेदन किया कि हे प्रभो ! रथ यह आ गया, जो कार्य हो किया जाय ॥ ४ ॥ ५ ॥ तदनन्तर राजगृह में जाकर श्री लक्ष्मण ने श्री सीता से कहा कि ॥ ६ ॥ आपने किसी समय महाराज से वर माँगा था और उन्होंने देने की प्रतीज्ञा की थी तथा मैंने उनकी आज्ञा पायी । अब हे देवि ! गङ्गातीर में ऋषियों के शुभ आश्रमों पर मुनि-सेवित वन में मैं चलकर आपको रथ से उतारूँगा । इस वाक्य को सुनकर श्री सीता ने बड़े हर्ष से गमन स्वीकार किया और अनेक प्रकार के उत्तम वस्त्रों और रत्नों को साथ ले चलने में सन्नद्ध हो गयीं, तथा श्री लक्ष्मण से कहा कि उत्तम २ वस्त्रों और भूषणों को मुनिपत्नियों के लिये मैं ले चलती हूँ, उनको दूँगी । श्री लक्ष्मण ने अच्छा कह श्री राम की आज्ञा स्मरण करते रथ पर उनको चढ़ा ले चले । कुछ काल के उपरान्त श्री सीता ने श्री लक्ष्मण से कहा कि ॥ ७—१३ ॥

अशुभानि बहून्येव पश्यामि रघुनन्दन।
नयनं मे स्फुरत्यद्य गात्रोत्कम्पश्च जायते ॥ १४ ॥
हृदयं चैव सौमित्रे अस्वस्थमिव लक्षये।
औत्सुक्यं परमं चापि अधृतिश्च परा मम ॥ १५ ॥
शून्यामेव च पश्यामि पृथिवीं पृथुलोचन।
अपि स्वस्ति भवेत्तस्य भ्रातुस्ते भ्रातृवत्सल ॥ १६ ॥
श्वश्रूणां चैव मे वीर सर्वासामविशेषतः।
पुरे जनपदे चैव कुशलं प्राणिनामपि ॥ १७ ॥
इत्यञ्जलिकृता सीता देवता अभ्ययाचत।
लक्ष्मणोऽर्थं ततः श्रुत्वा शिरसा वन्द्य मैथिलीम् ॥ १८ ॥
शिवमित्यब्रवीद्धृष्टो हृदयेन विशुष्यता।
ततो वासमुपागम्य गोमतीतीर आश्रमे ॥ १९ ॥
प्रभाते पुनरुत्थाय सौमित्रिः सूतमब्रवीत।
योजयस्व रथं शीघ्रमद्य भागीरथीजलम् ॥ २० ॥
शिरसा धारयिष्यामि त्रियम्बक इवौजसा।
सोऽश्वान्विचारयित्वा तु रथे युक्तान्मनोजवान् ॥ २१ ॥
आरोहस्वेति वैदेहीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
सा तु सूतस्य वचनादारुरोह रथोत्तमम् ॥ २२ ॥
सीता सौमित्रिणा सार्द्धं सुमन्त्रेण च धीमता।
आससाद विशालाक्षी गङ्गां पापविनाशिनीम् ॥ २३ ॥

भाषा

हे रघुनन्दन! इस समय मैं अपशकुन बहुत देखती हूँ, अर्थात् मेरा दक्षिण नेत्र बहुत फड़कता है, मेरे अङ्गों में कम्प होता है, और मेरा हृदय (मन) अस्वस्थ (अपने में नहीं है) और बार २ अयोध्या ही को मुझे पलटाना चाहता है। तथा मेरी धीरता नष्ट होती है, और पृथ्वी को मैं अपने सुख से शून्या देखती हूँ। हे वीर! आपके भाई का कल्याण हो, मेरी सासुओं का भी कल्याण हो, तथा अयोध्या पुर और देश में सब प्राणियों का कुशल हो। श्री सीता ने हाथ जोड़ कर देवताओं से भी यह प्रार्थना की। श्री लक्ष्मण ने इस वाक्य को सुन सूखते हृदय से ऊपर हर्ष दिखला श्री सीता को शिर से प्रणाम कर कहा कि, सब अच्छे हैं। तदनन्तर गोमती नदी के तीर एक आश्रम में सायङ्काल होने पर ठहर गये ॥ १४—१९ ॥

प्रातःकाल उठकर श्री लक्ष्मण ने सूत से कहा कि रथ योजित करो, मैं भागीरथी के जल को शिर से धारण करूँगा, अर्थात् वहाँ स्नान करूँगा। सूत ने रथ को सुसज्जित कर निवेदन किया, श्री सीता और श्री लक्ष्मण उस पर आरूढ़ होकर पापविनाशिनी श्री गङ्गा के तीर पहुँचे ॥ २०—२३ ॥ मध्याह्न के समय श्री गङ्गा के प्रवाह को देख श्री लक्ष्मण मुक्तकण्ठ होकर

अथार्द्धदिवसं गत्वा भागीरथ्या जलाशयम् ।
निरीक्ष्य लक्ष्मणो दीनः प्ररुरोद महास्वनः ॥ २४ ॥

सीता तु परमायत्ता दृष्ट्वा लक्ष्मणमातुरम् ।
उवाच वाक्यं धर्मज्ञा किमिदं रुद्यते त्वया ॥ २५ ॥

जाह्नवीतीरमासाद्य चिराभिलषितं मम ।
हर्षकाले किमर्थं मां विषादयसि लक्ष्मण ॥ २६ ॥

नित्यं त्वं रामपार्श्वेषु वर्तसे पुरुषर्षभ ।
कच्चिद्विनाकृतस्तेन द्विरात्रं शोकमागतः ॥ २७ ॥

ममापि दयितो रामो जीवितादपि लक्ष्मण ।
न चाहमेवं शोचामि मैवं त्वं बालिशो भव ॥ २८ ॥

तारयस्व च मां गङ्गां दर्शयस्व च तापसान् ।
ततो मुनिभ्यो वासांसि दास्याम्याभरणानि च ॥ २९ ॥

ततः कृत्वा महर्षीणां यथार्हमभिवादनम् ।
तत्र चैकां निशामुष्य यास्यामस्तां पुरीं पुनः ॥ ३० ॥

ममापि पद्मपत्राक्षं सिंहोरस्कं कृशोदरम् ।
त्वरते हि मनो द्रष्टुं रामं रमयतां वरम् ॥ ३१ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा प्रमृज्य नयने शुभे ।
नाविकानाह्वयामास लक्ष्मणः परवीरहा ॥
इयं च सज्जा नौश्चेति दाशाः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ॥ ३२ ॥

भाषा

बड़े उच्च स्वर से रोदन करने लगे ॥ २४ ॥ श्री सीता ने श्री लक्ष्मण को शोकातुर देख कहा कि तुम यहाँ क्या रोदन करते हो ? मुझको तो चिरकाल से यह अभिलाष था कि मैं श्री गङ्गा का पुनः दर्शन करूँ; सो इस हर्ष के समय में क्यौं तुम मुझे विषाद देते हो । तुम श्री राम के पार्श्व भाग में सदा रहते हो, इस दो रात्रि में उनके वियोग से तुमको शोक हो गया क्या ? ॥ २५—२७ ॥

हे लक्ष्मण ! श्री राम, मेरे भी प्राण से अधिक प्रिय हैं, परन्तु मैं ऐसा शोक नहीं करती, तुम भी ऐसी मूर्खता न करो ॥ २८ ॥ मुझे गङ्गा के पार ले चलो, तपस्वियों का दर्शन कराओ, मैं उनको और उनकी पत्नियों को वस्त्र भूषण दूँगी और उनको प्रणाम करूँगी । और एक रात्रि वहाँ वास कर पुनः अयोध्या को आऊँगी, क्योंकि मेरा भी हृदय श्री राम को तुरत ही देखा चाहता है, जिनके नेत्र कमल के तुल्य और वक्षःस्थल सिंह के सदृश तथा उदर अतिकृश हैं ॥ २९—३२ ॥

तितीर्षुर्लक्ष्मणो गङ्गां शुभां नावमुपारुहत् ।
गङ्गां सन्तारयामास लक्ष्मणस्तां समाहितः ॥ ३३ ॥

रामा० उ० का०—अथ नावं सुविस्तीर्णां नैषादीं राघवानुजः ।
सर्ग ४७ आरुरोह समायुक्तां पूर्वमारोप्य मैथिलीम् ॥ १ ॥
सुमन्त्रं चैव सरथं स्थीयतामिति लक्ष्मणः ।
उवाच शोकसन्तप्तः प्रयाहीति च नाविकम् ॥ २ ॥
ततस्तीरमुपागम्य भागीरथ्याः स लक्ष्मणः ।
उवाच मैथिलीं वाक्यं प्राञ्जलिर्बाष्पसंवृतः ॥ ३ ॥
हृद्गतं मे महच्छल्यं यस्मादार्येण धीमता ।
अस्मिन्निमित्ते वैदेहि लोकस्य वचनीकृतः ॥ ४ ॥
श्रेयो हि मरणं मेऽद्य मृत्युर्वा यत्परं भवेत् ।
न चास्मिन्नीदृशे कार्ये नियोज्यो लोकनिन्दिते ॥ ५ ॥
प्रसीद च न मे पापं कर्तुमर्हसि शोभने ।
इत्यञ्जलिकृतो भूमौ निपपात स लक्ष्मणः ॥ ६ ॥
रुदन्तं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा काङ्क्षन्तं मृत्युमात्मनः ।
मैथिली भृशसंविग्ना लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
किमिदं नावगच्छामि ब्रूहि तत्त्वेन लक्ष्मण ।
पश्यामि त्वां न च स्वस्थमपि क्षेमं महीपते ॥ ८ ॥

भाषा

श्री सीता के इस वचन को सुन श्री लक्ष्मण ने अश्रुधारा को मार्जन कर दाशों (मल्लाहों) से उत्तम नौका माँगा और सुमन्त्र को रथ सहित वहीं छोड़ श्री सीता को नौका पर बैठा गङ्गा के उस पार पहुँच गये ॥ ३३—३५ ॥ १ ॥ २ ॥ वहाँ पहुँच कर अश्रुपूर्ण नेत्र श्री लक्ष्मण ने अञ्जलि बाँध कर श्री सीता से कहा कि ॥ ३ ॥

हे वैदेहि ! बुद्धिमान् होकर भी आर्य ने इस लोक में निन्दित क्रूर कार्य में मुझको नियुक्त करने से मेरे हृदय में शल्य (बाण का फल) चुभा दिया है, क्योंकि मैं इस काम के करने से अब निन्दनीय हो गया । बल्कि आज मेरा मरण अथवा उससे भी अधिक अकल्याण होता तो वह मेरे लिये लाभकारी होता परन्तु ऐसे लोकनिन्दित कार्य में मुझे नियुक्त करना, मैं नहीं कह सकता कि मेरे लिये कहाँ तक हानिकारक हुआ । परन्तु मैं क्या करूँ ? क्योंकि राजाज्ञा ऐसी ही थी । हे शोभने ! मुझ पर अनुग्रह करो, अर्थात् मेरा इसमें दोष नहीं है, यह निश्चित करो । ऐसा कहकर अञ्जलि बाँधे श्री लक्ष्मण पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ ४—६ ॥

रोदन करते और अपनी मृत्यु के चाहते श्री लक्ष्मण को देख बहुत ही उद्विग्न सीता ने श्री लक्ष्मण से कहा कि ॥ ७ ॥ हे लक्ष्मण ! मैं नहीं समझती कि यह क्या है ? तुम क्यों रोते हो ? इसका तत्त्व कहो क्योंकि मैं तुमको भी स्वस्थ नहीं देखती और राजा के सुख को भी नहीं देखती ।

शापितोऽसि नरेन्द्रेण यत्त्वं सन्तापमागतः ।
तद्ब्रूयाः सन्निधौ मह्यमहमाज्ञापयामि ते ॥ ९ ॥
वैदेह्या चोद्यमानस्तु लक्ष्मणो दीनचेतनः ।
अवाङ्मुखो बाष्पगलो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १० ॥
श्रुत्वा परिषदो मध्ये ह्यपवादं सुदारुणम् ।
पुरे जनपदे चैव त्वत्कृते जनकात्मजे ॥ ११ ॥
रामः सन्तप्तहृदयो मां निवेद्य गृहं गतः ।
न तानि वचनीयानि मया देवि तवाग्रतः ॥ १२ ॥
यानि राज्ञा हृदि न्यस्तान्यमर्षात्पृष्ठतः कृतः ।
सा त्वं त्यक्ता नृपतिना निर्दोषा मम सन्निधौ ॥ १३ ॥
पौरापवादभीतेन ग्राह्यं देवि न तेऽन्यथा ।
आश्रमान्तेषु च मया त्यक्तव्या त्वं भविष्यसि ॥ १४ ॥
राज्ञः शासनमादाय तथैव किल दौहृदम् ।
तदेतज्जाह्नवीतीरे ब्रह्मर्षीणां तपोवनम् ॥ १५ ॥
पुण्यश्च रमणीयश्च मा विषादं कृथाः शुभे ।
राज्ञो दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥
सखा परमको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशाः ।
पादच्छायामुपागम्य सुखमस्य महात्मनः ॥
उपवासपरैकाग्रा वस त्वं जनकात्मजे ॥ १७ ॥

भाषा

मैं समझती हूँ कि किसी बड़े क्रूर कार्य में तुमको राजा ने शपथपूर्वक नियुक्त किया है, जिससे तुमको यह सन्ताप है, और मैं तुमको आज्ञा देती हूँ कि उस कार्य को मुझसे कहो ॥ ८ ॥ ९ ॥ तदनन्तर धीरचित्त लक्ष्मण ने सीता की पुनः २ प्रेरणा से अधोमुख और अश्रुकण्ठ होकर यह कहा कि॥१०॥

हे जनकात्मजे ! सभा के बीच तुम्हारे विषय में पुर और देश की ओर से महादारुण अपवाद सुनने से सन्तप्त हो श्री राम ने मुझसे कह गृह में प्रविष्ट हो गये । हे देवि ! वे अपवाद तुम्हारे समक्ष मेरे कथनीय नहीं हैं जो कि राजा के हृदय में असह्य शल्य हैं । इसलिये उन अपवादों को मैंने पीठ पीछे कर दिया और यद्यपि मैं और राजा दोनों आपकी निर्दोषता को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं तथापि आप यह निश्चय कीजिये कि केवल लोकापवाद के भय से राजा ने आपका त्याग किया न कि किसी दोषबुद्धि से, इसलिये इन आश्रमों के समीप आप मेरे त्याग के योग्या होंगी । और इसमें दो कारण हैं, एक राजा की आज्ञा जो अवश्य माननीय है । और दूसरा कारण आपकी आश्रम देखने की इच्छा, क्योंकि गर्भिणी कि इच्छा अवश्य पूर्ण करने के योग्य होती है । सो जाह्नवी के तीर में ब्रह्मर्षियों का पुण्य और रमणीय तपोवन यही है। हे शुभे! आप विषाद न करें क्योंकि महायशस्वी वाल्मीकि महर्षि, मेरे पिता महाराजा दशरथ के परम मित्र हैं । एकाग्र और व्रत में तत्पर हो इन

पतिव्रतात्वमास्थाय रामं कृत्वा सदा हृदि ।
श्रेयस्ते परमं देवि तथा कृत्वा भविष्यति ॥ १८ ॥

रा०उ०का० सर्ग ४८—लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दारुणं जनकात्मजा ।
परं विषादमागम्य वैदेही निपपात ह ॥ १ ॥
सा मुहूर्तमिवासंज्ञा बाष्पपर्याकुलेक्षणा ।
लक्ष्मणं दीनया वाचा उवाच जनकात्मजा ॥ २ ॥
मामिकेयं तनूर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण ।
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्तिः प्रदृश्यते ॥ ३ ॥
किं नु पापं कृतं पूर्वं को वा दारैर्वियोजितः ।
याऽहं शुद्धसमाचारा त्यक्ता नृपतिना सती ॥ ४ ॥
पुराऽहमाश्रमे वासं रामपादानुवर्तिनी ।
अनुरुध्यापि सौमित्रे दुःखे च परिवर्तिनी ॥ ५ ॥
सा कथं ह्याश्रमे सौम्य वत्स्यामि विजनीकृता ।
आख्यास्यामि च कस्याऽहं दुःखं दुःखपरायणा ॥ ६ ॥
किं नु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो ।
कस्मिन्वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना ॥ ७ ॥
न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले ।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते ॥ ८ ॥

भाषा

महात्मा के चरणों की छाया में सुख से आप वास करैं और अपने पातिव्रत्य धर्म से श्री राम को सदा हृदय में ध्यान किया करैं । ऐसा करने से आप का परम कल्याण होगा ॥ ११—१८ ॥

लक्ष्मण के इस दारुण वाक्य को सुन बड़े विषाद को प्राप्त हो श्री सीता, पृथ्वी पर बे लाग गिर पड़ीं और मुहूर्त भर मूर्छित रहीं । तदनन्तर चैतन्य को पा अश्रुओं से व्याकुल नेत्र श्री सीता ने श्री लक्ष्मण से यह दीन वचन कहा कि ॥ १ ॥ २ ॥ हे लक्ष्मण ! यह मेरी मूर्ति अवश्य ही केवल दुःख के लिये ब्रह्मा ने बनाया क्योंकि मैं इसको देखती हूँ तो यही देखती हूँ कि यह अस्थि और मांसादि से नहीं बनी है किन्तु दुःखों ही से बनी हुई है ॥ ३ ॥ पूर्व में ऐसा क्या पाप किया था अथवा किसको उसके पत्नी से वियोग करा दिया था कि जिसके कारण शुद्धाचारवाली, सती, पतिव्रता होकर भी मैं पति से त्यागी जाती हूँ । हे सौमित्रे ! इससे प्रथम श्री राम के चरणों में तत्पर हो वनवास दुःख को स्वीकार कर मैंने आश्रमों में वास किया । अब मैं कैसे उस आश्रम में अकेली वास करूँगी और अपने दुःख को किससे कहूँगी ? ॥ ४—६ ॥ मैं ऋषियों से अपना कौन कुकर्म कहूँगी और अपने त्याग का कौन कारण बतलाऊँगी ॥ ७ ॥ हे सौमित्रे ! मैं अपने जीवन को आज ही इसी जाह्नवी जल में त्याग देती परन्तु क्या करूँ मेरे पति का राजवंश, ऐसा करने से उच्छिन्न हो जायगा ॥ ८ ॥

यथाज्ञं कुरु सौमित्रे त्यज्य मां दुःखभागिनीम्।
निदेशे स्थीयतां राज्ञः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९ ॥
श्वश्रूणामविशेषेण प्राञ्जलिप्रग्रहेण च।
शिरसा वन्द्य चरणौ कुशलं ब्रूहि पार्थिवम् ॥ १० ॥
शिरसाऽभिनतो ब्रूयाः सर्वासामेव लक्ष्मण।
वक्तव्यश्चापि नृपतिर्धर्मेषु सुसमाहितः ॥ ११ ॥
जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः ॥ १२ ॥
अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः ॥ १३ ॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः।
वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मेण सुसमाहितः ॥ १४ ॥
यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा ॥ १५ ॥
यत्तु पौरजने राजन्धर्मेण समवाप्नुयात्।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ ॥ १६ ॥
यथाऽपवादः पौराणां तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ॥ १७ ॥
प्राणैः पियतरन्तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः।
इति मद्वचनाद्रामो वक्तव्यो मम संग्रहः ॥ १८ ॥

भाषा

हे सौमित्रे ! जैसी आज्ञा है वैसा करो। मुझ दुःखभागिनी को छोड़ो और मेरे इस सन्देश को राजा से कहो ॥ ९ ॥

अर्थात् मेरी सब सासुओं से हाथ जोड़ पृथ्वी पर शिर स्पर्श कर मेरा प्रणाम और कुशल कहना, और राजा से भी वैसा ही प्रणामपूर्वक मेरा यह वाक्य कहना कि ॥ १० ॥ ११ ॥ हे राघव ! आप जानते हो कि सीता वास्तव में जैसी शुद्ध और आपकी सदा अनुरागिणी और हितैषिणी है, और हे वीर ! केवल अपयश के भय से आपने मेरा त्याग किया तथा आपके लोकापवाद का परिहार करना अवश्य मुझको उचित है क्योंकि आपही मेरी परम गति हैं। और प्रजाओं के विषय में मेरा यह सन्देश कहना कि भाइयों में अपनी वृत्ति जैसी आप रखते हैं वैसी ही सदा प्रजाओं में भी वृत्ति अपनी रखिये क्योंकि आपका यह परम धर्म है और इसीसे उत्तम कीर्ति है। हे राजन् ! मैं अपने शरीर के लिये शोक नहीं करती। जैसे आपको अपवाद न लगैं वैसे आप रहिये क्योंकि स्त्रियों का देवता, बंधु, गुरू, प्रिय, पति ही है। इसलिये पति का कार्य स्त्री के लिये प्राण से भी अधिक विशेष रूप से प्रिय है। श्री राम के लिये मेरे सन्देशों का यही संक्षेप है। और तुम आज मुझे मासिक ऋतु धर्म को

निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतुकालातिवर्तिनीम् ।
एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां लक्ष्मणो दीनचेतनः ॥ १६ ॥
शिरसा वन्द्य धरणीं व्याहर्तुं न शशाक ह ।
प्रदक्षिणं च तां कृत्वा रुदन्नेव महास्वनः ॥ २० ॥
ध्यात्वा मुहूर्तं तामाह किं मां वक्ष्यसि शोभने ।
दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे ॥ २१ ॥
कथमत्र हि पश्यामि रामेण रहितां वने ।
इत्युक्त्वा तां नमस्कृत्य पुनर्नावमुपारुहत् ॥ २२ ॥
आरुरोह पुनर्नावं नाविकं चाभ्यचोदयत् ।
स गत्वा चोत्तरं तीरं शोकभारसमन्वितः ॥ २३ ॥
संमूढ इव दुःखेन रथमध्यारुहद्द्रुतम् ।
मुहुर्मुहुः परावृत्य दृष्ट्वा सीतामनाथवत् ॥ २४ ॥
चेष्टन्तीं परतीरस्थां लक्ष्मणः प्रययावथ ।
दूरस्थं रथमालोक्य लक्ष्मणं च मुहुर्मुहुः ।
निरीक्षमाणां तूद्विग्नां सीतां शोकः समाविशत् ॥ २५ ॥
सा दुःखभारावनता यशस्विनी
यशोधरा नाथमपश्यती सती ।
रुरोद सा बर्हिणनादिते वने
महास्वनं दुःखपरायणा सती ॥ २६ ॥

भाषा

उल्लंघन कर चुकी अर्थात् गर्भिणी देखकर जाव। सीता यों कहती ही रहीं कि लक्ष्मण पृथ्वी पर प्रणाम कर कुछ न कह सके। और उच्च स्वर से रोदन करते श्री सीता की प्रदक्षिणा कर मुहूर्त मात्र ध्यान करने के अनन्तर यह कहा कि हे शोभने! यह आप क्या कह रही हैं कि 'मुझे देखकर जाव' क्योंकि मैंने तो आज तक श्री राम के समीप में भी आपके रूप को कदापि नहीं देखा है किन्तु प्रतिदिन प्रणाम करने के कारण केवल आपके चरणों को देखा है। आज श्री राम के परोक्ष और एकान्त वन में मैं आपको कैसे देख सकता हूँ। ऐसा कह श्री सीता को नमस्कार कर नौका के द्वारा गङ्गा के इस पार आकर श्री लक्ष्मण तुरत ही रथारूढ़ हुये और गंगा के उस तीर पर करुण चेष्टा करती हुई श्री सीता को बार २ अपने शरीर को पलटा २ कर देखते हुये श्री लक्ष्मण आगे को चले। तदनन्तर दूरगामी रथ और श्री लक्ष्मण को उद्विग्न हो पुनः २ देखती हुई श्री सीता पर शोकने बड़े बल से आवेश किया। तदनन्तर दुःख भार से दबी हुई यशस्विनी और गर्भिणी दुःखपरायणा श्री सीता उस मयूर स्वनों से नादित वन में उच्च स्वर से रोने लगीं ॥ १२—२६ ॥

राम०उ०का०सर्ग४६—सीतां तु रुदतीं दृष्ट्वा ते तत्र मुनिदारकाः ।
प्राद्रवन्यत्र भगवानास्ते वाल्मीकिरुग्रधीः ॥ १ ॥
अभिवाद्य मुनेः पादौ मुनिपुत्रा महर्षये ।
सर्वे निवेदयामासुस्तस्यास्तु रुदितस्वनम् ॥ २ ॥
अदृष्टपूर्वा भगवन्कस्याप्येषा महात्मनः ।
पत्नी श्रीरिव संमोहाद्विरौति विकृतानना ॥ ३ ॥
भगवन् साधु पश्येस्त्वं देवतामिव खाच्च्युताम् ।
नद्यास्तु तीरे भगवन्वरस्त्री कापि दुःखिता ॥ ४ ॥
दृष्टाऽस्माभिः प्ररुदिता दृढं शोकपरायणा ।
अनर्हा दुःखशोकाभ्यामेका दीना अनाथवत् ॥ ५ ॥
तां सीतां शोकभारार्तां वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः ।
उवाच मधुरां वाणीं ह्लादयन्निव तेजसा ॥ ६ ॥
स्नुषा दशरथस्य त्वं रामस्य महिषी प्रिया ।
जनकस्य सुता राज्ञः स्वागतं ते पतिव्रते ॥ ७ ॥
आयान्ती चासि विज्ञाता मया धर्मसमाधिना ।
कारणं चैव सर्वं मे हृदयेनोपलक्षितम् ॥ ८ ॥
तव चैव महाभागे विदितं मम तत्त्वतः ।
सर्वं च विदितं मह्यं त्रैलोक्ये यद्धि वर्तते ॥ ९ ॥
अपापां वेद्मि सीते ते तपोलब्धेन चक्षुषा ।
विस्रब्धा भव वैदेहि साम्प्रतं मयि वर्तसे ॥ १० ॥

भाषा

श्री सीता को रोदन करती देख वहाँ के मुनि बालक उग्र बुद्धि श्री वाल्मीकि जी के पास दौड़े ॥ १ ॥ और महर्षि को प्रणाम कर सबने एक स्वर से यह कहा कि भगवन् ! यह किसी महात्मा की पत्नी जैसी की कहीं हम लोगों ने नहीं देखा है, बड़े शोक और स्वर से विकृत हो रोदन कर रही हैं। यह दुःख और शोक के कदापि योग्य नहीं हैं, परन्तु नहीं ज्ञात होता कि किस कारण से इस समय अकेली और दीना अनाथ सी नदी के तीर पर अति दुःखित हो रो रही हैं । भगवन् ! आकाश से गिरी हुई देवता के ऐसी इस स्त्री को आप देखें और अनुग्रह करें ॥ २—५ ॥

मुनिपुत्रों से सुन वहाँ आकर मुनिपुङ्गव वाल्मीकि ने अपने तेज ही से श्री सीता को हर्ष देते हुये यह मधुर वाणी कहा कि ॥ ६ ॥ हे पतिव्रते ! तू दशरथ की स्नुषा तथा राम की प्रिया महिषी और राजा जनक की कन्या हो । तुम्हारा स्वागत है । तुम्हारा आना तथा आने का कारण और तुम्हारी निर्दोषता ये सब धर्म समाधि से मुझको विदित हैं और ये ही नहीं किन्तु त्रैलोक्य में जो कुछ है सब विदित है ॥ ७—९ ॥

हे वैदेहि ! मैं समाधि नेत्र से तुमको पापरहित जानता हूँ, उद्वेग न करो, चिन्ता छोड़ो, क्योंकि

आश्रमस्याविदूरे मे तापस्यस्तपसि स्थिताः ।
तास्त्वां वत्से यथा वत्सं पालयिष्यन्ति नित्यशः ॥ ११ ॥
इदमर्घ्यं प्रतीच्छ त्वं विस्रब्धा विगतज्वरा ।
यथा स्वगृहमभ्येत्य विषादं चैव मा कृथाः ॥ १२ ॥
श्रुत्वा तु भाषितं सीता मुनेः परममद्भुतम् ।
शिरसा वन्द्य चरणौ तथेत्याह कृताञ्जलिः ॥ १३ ॥
तं प्रयान्तं मुनिं सीता प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
तं दृष्ट्वा मुनिमायान्तं वैदेह्या मुनिपत्नयः ॥
उपाजग्मुर्मुदा युक्ता वचनं चेदमब्रुवन् ॥ १४ ॥
स्वागतं ते मुनिश्रेष्ठ चिरस्यागमनं च ते ।
अभिवादयामस्त्वां सर्वा उच्यतां किञ्च कुर्महे ॥ १५ ॥
तासां तद्वचनं श्रुत्वा वाल्मीकिरिदमब्रवीत् ।
सीतेयं समनुप्राप्ता पत्नीरामस्य धीमतः ॥ १६ ॥
स्नुषा दशरथस्यैषा जनकस्य सुता सती ।
अपापा पतिना त्यक्ता परिपाल्या मया सदा ॥ १७ ॥
इमां भवत्यः पश्यन्तु स्नेहेन परमेण हि ।
गौरवान्मम वाक्याच्च पूज्या वोऽस्तु विशेषतः ॥ १८ ॥
मुहुर्मुहुश्च वैदेहीं परिदाय महायशाः ।
स्वमाश्रमं शिष्यवृत्तः पुनरायान्महातपाः ॥ १९ ॥

भाषा

अब मेरे समीप वास करोगी ॥ १० ॥ हे पुत्रि ! मेरे आश्रम के समीप ही तपस्विनी स्त्रियाँ तप करती हैं, उनकी कुटी में वास करो । वे तुमको अपनी पुत्री के समान पालेंगी । यह अर्घ्य जल तुम ग्रहण करो और निःशङ्क तथा गतशोक हो जाव, समझो कि तुम अपने गृह में आयी हो, विषाद न करो ॥ ११ ॥ १२ ॥ मुनि के इस परम अद्भुत वाक्य को सुन, शिर से उनके चरणों में प्रणाम कर हाथ बाँध श्रीसीता ने कहा कि 'तथा' । तदनन्तर आगे ऋषि और पश्चात् बद्धाञ्जलि श्री सीता तपस्विनियों के आश्रम को चले और श्रीसीता सहित मुनि को आते देख मुनिपत्नियों ने मार्ग ही में आकर बड़े हर्ष से यह कहा कि हे मुनिश्रेष्ठ ! आपका स्वागत है और बहुत दिनों पर आपका आगमन भी हुआ है, हम सब आपको प्रणाम करती हैं, और आज्ञा हो कि हम क्या करें। तापसियों का यह वचन सुन वाल्मीकि ने कहा कि बड़े बुद्धिमान् श्रीराम की पत्नी, दशरथ की स्नुषा, जनक की कन्या और पतिव्रता यह सीता यहाँ आयी हैं । यह निष्पापा हैं, परन्तु किसी कारण से पति ने इनका त्याग किया है, इससे आवश्यक है कि मैं इनका सदा पालन करूँ । आप सब इनके गौरव और मेरे वाक्य से इनको बड़ी स्नेह दृष्टि से देखें, और यह विशेष रूप से आपकी पूजनीया हों । इस रीति से श्री सीता को पुनः २ उन तापसियों के हाँथ देकर अपने शिष्यों के सहित महातपस्वी मुनि अपने आश्रम को आये ॥१५–१९॥

२८—अथ भृत्यभरणम् । तथा च—

रामा०अ०का०स०१००—जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥
कथञ्चिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् ।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना ॥ २ ॥
आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवम् ।
अङ्के भरतमारोप्य पर्य्यपृच्छत सादरम् ॥ ३ ॥
क्व नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः ।
न हि त्वं जीवितस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥
चिरस्य बत पश्यामि दूराद्भरतमागतम् ।
दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन्किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥
कच्चित्तु धरते तात राजा यत्वमिहागतः ।
कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥
कच्चित्सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् ।
कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितुः सत्यपराक्रम ॥ ७ ॥
कच्चिद्दशरथो राजा कुशली सत्यसङ्गरः ।
राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चितः ॥ ८ ॥

भाषा

२८—भृत्यभरण का निरूपण

जटा और चीर धारण किये, हाथ बाँधे, प्रलय समय के सूर्य के तुल्य, पृथ्वी पर गिरे हुये और दर्शन के अयोग्य भरत को श्री राम ने देखा। अति क्षीण और विवर्ण होने के कारण परिचय के अयोग्य श्री भरत भाई को किसी रीति से परिचित कर श्री राम ने हाथों से पकड़ शिर सूँघकर परिष्वंग दे, गोद में बैठाल, बड़े आदर से यह पूछा कि ॥ १—३ ॥

हे तात ! तुम्हारे पिता क्या हुये कि जो तुम वन को आये ? क्योंकि जीवित पिता को छोड़ तुम्हारा वन में आना उचित नहीं है। आज मैं बहुत दिनों के पश्चात् मातामह के देश से आये भरत को देखता हूँ। इसका मुझे हर्ष है। हे तात ! इस सिंह व्याघ्र युक्त अरण्य में तुम क्यों आये! और तुम्हारे शरीर की यह क्या दशा है ? ॥ ४ ॥ ५ ॥ हे तात ! क्या राजा हैं, और उनकी आज्ञा से तुम यहाँ आये हो, अथवा शोकग्रस्त हो वह तुरत ही लोकान्तर को चले गये, इससे तुम यहाँ आये हो ? क्या राजा के पश्चात् बाल्य के कारण तुम्हारा पुराना राज्य भ्रष्ट हो गया ? अथवा हे सत्यपराक्रम ! राजा हैं और तुम उनकी शुश्रूषा करते हो। क्या राजसूयों और अश्वमेधों के कर्ता, धर्मतत्पर, सत्य-प्रतिज्ञ राजा दशरथ कुशल से हैं ? हे तात ! क्या विद्वान् धर्म में तत्पर, बड़ा तेजस्वी और इक्ष्वाकु

स कच्चिद्ब्राह्मणो विद्वान्धर्मनित्यो महाद्युतिः ।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते ॥ ९ ॥
तात कच्चिच्च कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती ।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥ १० ॥
कच्चिद्विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुद्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ११ ॥
कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ १२ ॥
कच्चिद्देवान्पितॄन्भृत्यान्गुरून्पितृसमानपि ।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥ १३ ॥
इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम् ।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्वं तात मन्यसे ॥ १४ ॥
कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः ।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥ १५ ॥
मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव ।
सुसंवृतो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ॥ १६ ॥
कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित्कालेऽवबुध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम् ॥ १७ ॥

भाषा

वंश के उपाध्याय वह ब्राह्मण (वसिष्ठ) जैसा चाहिये वैसा पूजे जाते हैं ? ॥ ६–९ ॥

हे तात ! क्या कौसल्या और सुमित्रा सुखिनी हैं ? और देवी कैकेयी आनन्द से हैं ? (मेरे वनवास और तुम्हारे राज्यलाभ से उनको आनन्द है) ॥ १० ॥ क्या विनय से युक्त बड़े कुल में उत्पन्न, बहुश्रुत और अनिन्दक, तुम्हारा पुरोहित (वसिष्ठ का पुत्र) तुमसे सत्कार पाता है ? ॥ ११ ॥ क्या विधान का जानने वाला बुद्धिमान् और शुद्ध तुम्हारे अग्निहोत्रशाला पर नियुक्त ब्राह्मण समय २ पर हवन किये हुए और किये जाने वाले अग्नि का तुमसे सदा निवेदन करता रहता है ? ॥ १२ ॥ क्या देवता, पितर, भृत्य, गुरु के समान वृद्धों और विद्यावान् ब्राह्मणों को बहुत मानते हो ? ॥ १३ ॥

हे तात ! मन्त्र से रहित और सहित, बाणों से सम्पन्न और राजनीति शास्त्र के महापण्डित सुधन्वा नामक धनुर्वेदाचार्य को मानते हो ? ॥ १४ ॥ हे तात ! जिन मन्त्रियों को तुम नियुक्त किये हो वे तुम्हारे तुल्य शूर हैं तथा पण्डित, जितेन्द्रिय, कुलीन और मन के भाव को जानने वाले हैं ? क्योंकि हे राघव ! नीति शास्त्रज्ञ बड़े २ मन्त्रियों से सुरक्षित ही मन्त्र विजय का मूल है ॥ १५ ॥ १६ ॥ और क्या निद्रा के वश होकर अधिक शयन तो नहीं करते ? क्या समय पर जग जाते हो ? और क्या रात्रि के पिछले पहर में अपने अर्थवृद्धि की चिन्ता करते हो ॥ १७ ॥ क्या अकेले अपने

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ १८ ॥
कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम् ।
क्षिप्रमारभसे कर्म न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥
कच्चिन्नु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः ॥ २० ॥
कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः ।
त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥ २१ ॥
कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥ २२ ॥
सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।
अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥
एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥
कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः ॥ २५ ॥

भाषा

ही मन में तो मन्त्रणा नहीं कर लेते, क्योंकि कार्य लोभ के कारण ऐसा करने में गुणदोष निश्चित नहीं होता और क्या बहुतों के साथ तो मन्त्रणा नहीं करते ? क्योंकि ऐसा करने में एक मति नहीं होती और मन्त्रभेद भी हो जाता है। और क्या तुम्हारा किया हुआ मन्त्र, लोगों को विदित तो नहीं हो जाता ? हे राघव ! क्या अल्प यत्न से साध्य और महाफल देने वाले काम में विलम्ब तो नहीं करते हो ? ॥ १८ ॥ १९ ॥ क्या तुम्हारे सीमा वाले राजा, तुम्हारे मन्त्रित सब कार्यों को सिद्ध ही होने पर जानते हैं और भावी कार्यों को नहीं जानते ? ॥ २० ॥ क्या तुम्हारे और तुम्हारे मन्त्रियों के न कहने पर भी तुम्हारे मन्त्रित कार्यों को, तर्क वा अनुमान से अन्य लोग तो नहीं जानते ? और तुम तो दूसरों के मन्त्रित कार्यों को कहे बिना, तर्कों और अनुमानों से जान लेते हो ॥ २१ ॥ क्या सहस्रों मूर्खों को निकाल कर एक पण्डित को रखना चाहते हो ? क्योंकि अर्थ-संकट के समय में उसके वारण के उपाय का पण्डित ही उपदेश करता है ॥ २२ ॥ राजा यदि हजारों अथवा दस हजार मूर्खों को भी रखे तो वे उसकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकते, और एक मन्त्री भी यदि बुद्धिमान्, शूर, क्षिप्रकारी और नीतिशास्त्र का पण्डित हो तो वह राजा वा राज-पुत्र को बड़ी समृद्धि पर पहुँचा सकता है ॥ २३ ॥ २४ ॥

हे तात ! क्या तुम उत्तम कामों में उत्तमों को, मध्यम में मध्यमों को और क्षुद्रों में क्षुद्रों को नियुक्त किये हो ? क्या तुम बड़े कामों में उत्कोच (घूस) न लेने वालों पिता पितामह के समय के श्रेष्ठ पुरुषों को नियोग करते हो ? क्या तुम्हारे किये उग्र दण्ड से उद्विग्न होकर तुम्हारी प्रजा और

अमात्यानुपधाऽतीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि राघव ॥ २६ ॥
कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः ।
राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः केकयीसुत ॥ २७ ॥
कच्चित्त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥
उपायकुशलं वैद्यं भृत्यं सन्दूषणे रतम् ।
शूरमैश्वर्यकामं च यो न हन्ति स हन्यते ॥ २९ ॥
कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान्मतिमाञ्छुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥
बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः ।
दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ३१ ॥
कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥
कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुरप्यति कुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् कृतः ॥ ३३ ॥
कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु सन्त्यजन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥

भाषा

तुम्हारे मन्त्री तुम्हारा अनादर तो नहीं करते? ॥२५—२७॥ अर्थात् जैसे याजक ब्राह्मण, पतितों का और वध वन्ध आदि उग्र उपायों के प्रयोग करने वाले कामी पुरुषों का, स्त्रियाँ अनादर करती हैं वैसे तुम्हारी प्रजा और मन्त्री, उग्र दण्ड के कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करते? ॥ २८ ॥ जो राजा अपने अर्थ के लिये व्याधि बढ़ाने वाले वैद्य, परोक्ष में निन्दा करने वाला भृत्य और अपने से छीनकर राज चाहने वाले शूर सेवक, इन सबको नहीं मारता वह स्वयम् मारा जाता है । (किसी के वध के लिये प्रेरणा को अपने मुख से कहना अनुचित समझ कर यह गुप्त रूप से श्रीराम का प्रश्न है। इसका यह तात्पर्य्य है कि क्या ऐसों को छोड़ तो नहीं देते हो) ॥ २९ ॥

क्या तुमने जिसको सेनापति बनाया है वह हर्षयुक्त, शूर, धीर, बुद्धिमान, पवित्र, कुलीन, अनुरक्त और क्षिप्रकारी भी है ? ॥ ३० ॥ क्या जिनका पराक्रम युद्धों में अनेक बार देखा गया है ऐसे बलवान् शूरवीरों को सत्कारपूर्वक मानते हो ? ॥ ३१ ॥ अपने सैन्यों को दैनिक और मासिक यथोचित अन्नादि और वेतन उचित समय पर देने में तुम विलम्ब तो नहीं करते ? क्योंकि अन्न और वेतन के समयातिक्रम से वे भृत्य स्वामी के ऊपर बड़ा कोप किया करते हैं इससे बड़ा अनर्थ होता है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ क्या तुम्हारे कुल के प्रधान २ पुरुष तुममें अनुरक्त होकर तुम्हारे काम के लिये अपने प्राणों को भी सदा तुच्छ समझते हैं ॥३४॥ हे भरत ! तुमने जिसको दूत नियुक्त किया वह

कच्चिज्ज्ञानपदो विद्वान्दक्षिणः प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥
कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दशपञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारणैः ॥ ३६ ॥
कच्चिद्व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा ।
दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥
कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे ।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः ।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥
वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः ।
सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसङ्कुलाम् ॥ ४० ॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा ।
जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥ ४१ ॥

भाषा

क्या तुम्हारा स्वदेशीय विद्वान् (शास्त्रों को पढ़ा) प्रतिभाशाली उचित सन्देश और प्रतिसन्देश का वक्ता, क्रोधादि दोष से रहित और पण्डित (विचार में निपुण) है ? ॥ ३५ ॥

क्या तुम अन्य राजाओं के १८, और अपने पक्ष में १५, तीर्थों के प्रत्येक विषयों में नियुक्त तीन गूढ़चरों के द्वारा उनके कार्याकार्य का ठीक विवेक करते हो ? अर्थात् अन्य राजाओं के (१) मंत्री, (२) पुरोहित, (३) युवराज, (४) सेनापति, (५) दौवारिक, (६) अन्तःपुराधिकृत, (७) कारागाराधिकृत, (८) धनाध्यक्ष, (९) राजाज्ञा के अनुसार योग्य पुरुषों को आज्ञा देनेवाला, (१०) प्राड्विवाक (अभियोगों का पूछनेवाला), (११) शासन का अधिष्ठाता (धर्मासनाऽधिकृत) (१२) सभ्यः (जूरी), (१३) सेना की जीविका का अध्यक्ष, (१४) कर्म के अन्त में वेतनग्राही, (१५) नगराध्यक्ष, (१६) सीमारक्षक, (१७) दुष्ट दंडनाधिकारी, (१८) जलपाल, गिरिपाल, वनपाल, स्थलपाल, और दुर्गपाल । और ये ही स्वपक्ष में मंत्री, पुरोहित, युवराज इन तीनों को छोड़कर शेष १५ हैं ॥ ३६ ॥

क्या राज्य से निकाल दिये जाने पर पुनः आये हुए दुर्बलों को "यह दुर्बल है मेरा क्या करेगा" इस उपेक्षा से तो नहीं रखते ? ॥ ३७ ॥ क्या प्रत्यक्ष मात्र को प्रमाण मानने वाले और शुष्क तर्क के वकवादियों चार्वाक मतवालों को ब्राह्मण समझ तुम मानते तो नहीं ? क्योंकि वे मूर्ख अपने को पंडित मानने वाले अनेक अनर्थों के मूल होते हैं और उनमें बहुत से ऐसे होते हैं कि जो वेदादि मुख्य धर्मशास्त्रों के रहने पर भी उनके विरुद्ध केवल अपने मन से बहुतसा व्यर्थ वकवाद करते हैं ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ हे तात ! क्या हमारे पूर्व वीरों का वासस्थान, दृढ़द्वार (जिसके वाह्यद्वार अत्यन्त दृढ़ हैं) हस्ती, अश्व, रथ से सङ्कुल, जितेन्द्रिय, महोत्साह, सदा अपने कर्म में तत्पर लाखों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि से पूर्ण अनेक आकार के प्रासादों से युक्त विद्यावालों से भरी अति समृद्धा और यथार्थ

प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम् ।
कच्चित्समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे ॥ ४२ ॥
कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः ।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तडागैश्चोपशोभितः ॥ ४३ ॥
प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः ।
सुकृष्टसीमा पशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः ॥ ४४ ॥
अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः ।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥ ४५ ॥
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः ।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥
कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्ष्यजीविनः ।
वार्तायां साम्प्रतं तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ४७ ॥
तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम् ।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥ ४८ ॥
कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसे कच्चित्तास्ते सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्धास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥ ४९ ॥
कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः ।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां न तृप्यसि ॥ ५० ॥

भाषा

नामवाली अर्थात् युद्ध करने के लिये अन्य राजाओं के अशक्य अयोध्या की सब प्रकार से रक्षा करते हो ॥४०–४२॥ क्या स्थान २ पर सैकड़ों यज्ञशालाओं से शोभित, सुरीति से बसाये हुये प्रतिष्ठित जनों से सुगठित देवस्थानों, पौसलों और तड़ागों से अलंकृत हर्षयुक्त नर और नारीवाला सामाजिक उत्सवों से सुहावन कृष्टक्षेत्र और सीमा तथा पशुओं से रमणीय, हिंसा आदि से वर्जित अदेवमातृक अर्थात् नदी मातृक (देवकृत जलवृष्टि की अपेक्षा न करनेवाला अर्थात् कूला, नहर, नदी, नाला, ताल आदि जलाशयों से पालित) वृकादि हिंसक पशुओं से शून्य, सुवर्णादि के सब खानियों से युक्त, पापी पुरुषों से वर्जित मेरे पूर्व पुरुषों का सुरक्षित और अति समृद्ध कोशल देश सुख से बसता है, और सब भयों से शून्य है ? ॥ ४३–४७ ॥ क्या तुम्हारे प्रिय कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य से जीने वाले सब वैश्यगण अपनी वार्ता (क्रयविक्रयादि व्यवहार) को सुख से करते हैं ? और उनके इष्टप्राप्ति और अनिष्ट परिहार के उपायों को अपने राजभटों के द्वारा तुम करते हो ? क्योंकि राजा के लिये सब देशवासी रक्षणीय हैं ॥ ४८ ॥ क्या स्त्रियों को सान्त्वना देते हो ? क्या तुम्हारी स्त्रियाँ सुरक्षित हैं ? क्या उनके वाक्यों पर तुम अधिक विश्वास तो नहीं करते ? क्या अपने अति गोप्य कार्यों को उनसे प्रकाश तो नहीं करते ? ॥ ४९ ॥ क्या तुम्हारा नागवन (जिसमें हाथी पकड़े जाते हैं) सुरक्षित है ? क्या गौएँ और हथिनी तुम्हारे वश में अधिक हैं ? क्या हथिनी, घोड़ा, हाथियों के बढ़ाने में तुम प्रमाद तो नहीं करते ? ॥ ५० ॥

कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मानुषाणाम् विभूषितम् ।
उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे ॥ ५१ ॥
कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमे वात्र कारणम् ॥ ५२ ॥
कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ५३ ॥
आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः ।
अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव ॥ ५४ ॥
देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च ।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः ॥ ५५ ॥
कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा ।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥ ५६ ॥
गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥ ५७ ॥
व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव ।
अर्थे विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥ ५८ ॥
यानि मिथ्याऽभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव ।
तानि पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रत्यर्थमनुशासतः ॥ ५९ ॥

भाषा

क्या प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर अपने को भूषित कर दिन के प्रथम प्रहर में सभा और महापथों में लोगों को अपना दर्शन देते हो ? ॥ ५१ ॥ क्या सब कर्मचारी निर्भय होने से तुम्हारे प्रत्यक्ष नहीं हैं ? अथवा तुम्हारा दर्शन नहीं करते ? क्योंकि मध्य रीति से इनका दर्शन और अदर्शन करना कार्यसिद्धि का कारण है ॥ ५२ ॥ क्या तुम्हारे सब दुर्ग (किला), धन, धान्य, आयुध, जल, यन्त्र (कल), शिल्पी (कारीगर) और धनुर्द्धर शूरवीरों से अति पूर्ण हैं ? ॥ ५३ ॥

हे राघव ! क्या तुम्हारा आय (धनागम), व्यय की अपेक्षा अधिक है ? क्या तुम्हारा व्यय (सैन्यादि का खर्च) तुम्हारे आय की अपेक्षा न्यून है ? तुम्हारा धन नट, गायन आदि अपात्रों में तो नहीं जाता ? ॥५४॥ क्या तुम्हारा धन देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, शूरवीर और मित्रवर्ग में व्यय होता है ? क्या निरपराध का दण्ड और सापराध का मोक्षण, तुम्हारे कर्मचारियों के लोभ से तो नहीं होता ? ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ क्या पकड़ा चोर, चिह्न से युक्त और पूछा गया चोर तुम्हारे कर्मचारियों के धन लोभ से छूट तो नहीं जाता ? ॥ ५७ ॥ क्या तुम्हारे कर्मचारी लोभ और राग से शून्य होकर धनवान् और दरिद्र के राजकीय व्यवहारों को ठीक देखते हैं ? ॥ ५८ ॥ क्योंकि मिथ्याभियोगों से पीड़ित होने पर राजा से उपेक्षित प्रजाओं के जो अश्रु गिरते हैं वे केवल अपने ही सुख के लिये राज्य करनेवाले राजा के पुत्र, पशु आदि का नाश कर देते हैं ॥ ५९ ॥ क्या वृद्धों,

कच्चिद्वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यान्मुख्यांश्च राघव।
दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥ ६० ॥
कच्चिद्गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान्देवतातिथीन्।
चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्थान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥ ६१ ॥
कच्चिदर्थेन वाधर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥ ६२ ॥
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे ॥ ६३ ॥
कच्चित्ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदाः।
आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥
नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ ६५ ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम्।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ६६ ॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ॥ ६७ ॥

भाषा

वालों, वैद्यों और प्रजा के मुखियों को अभिमत वस्तु के दान, स्नेहयुक्त मन और सान्त्वनायुक्त वचन से अपने वश में करने की इच्छा रखते हो ? ॥ ६० ॥ क्या गुरु, वृद्ध, तपस्वी, देवता (प्रतिमा) अतिथि, चैत्य (वे वृक्ष जिनमें देवता का वास है) और विद्यावान् सदाचारी तपोयुक्त ब्राह्मणों को नमस्कार करते हो ? ॥ ६१ ॥ क्या अर्थ से धर्म की बाधा तो तुम नहीं करते ? (जैसे प्रातःकाल देवपूजादि छोड़ अर्थकार्य करना इत्यादि) अथवा धर्म से अर्थ की बाधा तो नहीं करते ? (जैसे मध्याह्न में अर्थकार्य को छोड़ देवपूजा आदि) अथवा काम के वेग से धर्म अर्थ दोनों की बाधा तो नहीं करते ? ॥ ६२ ॥

हे कालज्ञ ! अर्थ, काम और धर्म को उचित २ काल में सेवन करते हो ? अर्थात् पूर्वाह्न में धर्म का, उसके अनन्तर डेढ़ प्रहर रात्रि पर्यन्त अर्थ का और तदनन्तर अरुणोदय से पहले काम का सेवन करते हो ॥ ६३ ॥ हे महाप्राज्ञ ! क्या सब शास्त्रों के अर्थ में प्रवीण ब्राह्मण नगरवासी और देशवासी तुम्हारे सुख के लिये परमेश्वर से प्रार्थना किया करते हैं ? ॥ ६४ ॥ क्या नास्तिक्य (परलोक को नहीं मानना) (१), अनृत (मिथ्या भाषण) (२), क्रोध (३), प्रमाद (असावधानी) (४), दीर्घसूत्रता (आवश्यक कार्य में विलम्ब करना) (५), बुद्धिमानों से न मिलना (६), नित्य कृत्यों में आलस्य (७), पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होना (८), केवल अपने विचार से काम करना (९), विपरीतदर्शियों के साथ कार्य का विचार करना (१०), मन्त्रणा से निश्चत कार्य के करने में विलम्ब करना (११), मन्त्र को गुप्त न रखना (१२), प्रातःकाल गौ, हिरण्य, अग्नि, दर्पण आदि माङ्गलिक वस्तुओं को कार्य में न लाना (१३), अयोग्य पुरुषों को भी देखकर आसन से उठ जाना (१४), इन चौदह राजदोषों को वर्जन करते हो ? ॥ ६५—६७ ॥

दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥ ६८ ॥
इन्द्रियाणाम् जयं बुद्ध्या षाड्गुण्यं दैवमानुषम् ।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥ ६९ ॥

भाषा

क्या दश वर्ग अर्थात् मृगया (१), द्यूत (२), दिवाशयन (३), परिवाद (लोकापवाद) (४), स्त्रियाँ (५), मादक वस्तु (६), नृत्य (७), गीत (८), वाद्य (९), वृथा भ्रमण (१०) में यह विवेक ठीक करते हो कि किसमें कितना त्याग और कितना ग्रहण के योग्य है ? और पञ्च वर्ग (दुर्ग पञ्चक अर्थात् १ जल दुर्ग, २ पर्वत दुर्ग, ३ वृक्ष दुर्ग, ४ इरिण दुर्ग अर्थात् उषर देश में दुर्ग, ५ धन्व दुर्ग अर्थात् निर्जल देश का दुर्ग, तुम्हारा ठीक है ? तथा क्या चतुर्वर्ग (१ साम, २ दान, ३ दंड, ४ भेद) का प्रयोग ठीक करते हो ? तथा क्या सप्त वर्ग (स्वामी १, अमात्य २, राष्ट्र ३, दुर्ग ४, कोष ५, सैन्य ६, मित्र ये सात राज्याङ्ग) तुम्हारे दृढ़ हैं और क्या अष्ट वर्ग—पैशुन्य (चुगली), साहस, डाका आदि, द्रोह (द्वेष), ईर्ष्या (अक्षमा), असूया (गुण में दोष निकालना), अर्थ दूषण (किसी के कार्य को नष्ट करना), वचन की कटुता और दंड की तीक्ष्णता को वर्जन करते हो ? और त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) और तीन शक्ति (प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति) तथा तीन विद्या अर्थात् तीनों वेद और वार्ता अर्थात् कृषि वाणिज्यादि का शास्त्र और दंडनीति अर्थात् नीतिशास्त्र का तत्त्व विचार करते हो ॥ ६८ ॥

क्या इन्द्रियों के जयार्थ योगाभ्यास कुछ करते हो ? क्या षड्गुण—सन्धि, विग्रह, यान (चढ़ाई), आसन (अवसर देखते चुप बैठना), द्वैध (शत्रुओं का भेद) अर्थात् शत्रुओं के साथ प्रच्छन्न होकर मिलना और आश्रय (प्रबल पुरुष के निग्रहार्थ किसी अन्य प्रबल का आश्रय ग्रहण) का अवसर के अनुसार उचित प्रयोग करते हो ? क्या दैव व्यसन, (अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और 'मरक' अर्थात् महामारी आदि से विपत्ति तथा मनुष्य व्यसन (अपने अधिकारियों, चोरों, शत्रुओं, राजा के मुहल्लों और राजा के लोभ से आयी विपत्ति) के परिहार का उपाय करते हो ? और क्या राज्यकृत्य (शत्रु-पक्ष में वेतन न पाये हुए लोभी, अपमान किये हुए मानी, कोप कराए हुए क्रोधी और डरपाये हुए डरपोक पुरुषों को अपनी ओर मिलाना) को ठीक जानते हो ? तथा विंशति वर्ग (सन्धि करने के अयोग्य और विग्रह के योग्य बीस प्रकार के शत्रु जो कि आगे गिनाये जाते हैं) अर्थात् (१) बाल, (२) वृद्ध, (३) दीर्घरोगी, (४) बन्धु बहिष्कृत, (५) भीरु, (६) भीरु का पुत्र, (७) लोभी, (८) अधिकारियों का स्वामी, (९) विरक्तप्रकृति (जिसमें प्रजा का अनुराग नहीं है), (१०) स्त्री आदि विषयों में अतिलम्पट, (११) जिसका मन्त्र व्यवस्थित नहीं है, (१२) देवता और ब्राह्मणों का निन्दक, (१३) भाग्यहीन, (१४) केवल भाग्य पर भरोसा करनेवाला, (१५) जिसका देश दुर्भिक्ष से विह्वल है, (१६) जिसका सैन्य व्याधि आदि विपत्तियों से ग्रस्त है, (१७) जो अपने देश को छोड़कर देशान्तर में गया है, (१८) जिसके बहुत से शत्रु हैं, (१९) ज्योतिषशास्त्र के अनुसार जिसका जीवन थोड़ा ही अवशिष्ट है, (२०) और जो राज्य के कार्य को छोड़ सदा धर्म ही में लीन है, इनके साथ सन्धि तो

यात्रा दण्डविधानं च द्वियोनी संधिविग्रहौ ।
कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥ ७० ॥
मन्त्रिभिस्त्वं यथादिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।
कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे बुध ॥ ७१ ॥
कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः ।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥ ७२ ॥
कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥ ७३ ॥
यां वृत्तिं वर्त्तते तातो यां च नः प्रपितामहः ।
तां वृत्तिं वर्त्तसे कच्चिद्या च सत्पथगा शुभा ॥ ७४ ॥

भाषा

नहीं करते ? और क्या प्रकृति वर्ग (अमात्य, राष्ट्र, दुर्गकोष, दण्ड) पर सदा ध्यान रखते हो ? तथा द्वादश राजमण्डल (चढ़ाई करनेवाला तथा उसका अग्रगामी अर्थात् उसका शत्रु १, उसका मित्र २, उसके शत्रु का मित्र ३, उसके मित्र का मित्र ४, उसके शत्रु के मित्र का मित्र ५, उसका पार्ष्णिग्राह १ अर्थात् पीछे चलनेवाला, पार्ष्णिग्राह का आसार २ अर्थात् उससे पीछे रहनेवाला उसका मित्र आक्रन्द ३ उससे पीछे रहनेवाला उसका मित्र आक्रन्दासार ४ अर्थात् आक्रन्द के पीछे रहने वाला आक्रन्द का मित्र भूम्यन्तर ५ अर्थात् चढ़नेवाले और उसके शत्रु के राज्यों के मध्य में जिसका राज्य है और वह उन दोनों में से एक २ को पृथक् २ मार सकता है। उदासीन ६ अर्थात् उक्त पुरुषों से प्रबल तथा पृथक् २ एक २ के वध में समर्थ और जिसका राज्य उक्त सब राजाओं के राज्यों से बाह्य है ये सम्मिलित होकर बारह प्रकार के राजा हैं। इन बारह राजाओं का मण्डल अर्थात् राज्य का पूर्ण विवेक रखते हो ? तथा पञ्चयान (१) विग्रहयान अर्थात् अपनी प्रबलता के कारण उक्त पार्ष्णिग्राहादि से बिगड़ कर अकेले चढ़ाई करना, (२) सन्धापयान अर्थात् उनके साथ चढ़ाई करना, (३) सम्भूययान अर्थात् अपने सीमाओं के राजा के साथ चढ़ाई, (४) असङ्गयान अर्थात् किसी अन्य शत्रु के ऊपर चढ़ाई का प्रसङ्ग दिखलाने से शत्रु को वञ्चित कर चढ़ाई, (५) उपेक्षयान अर्थात शत्रु की प्रबलता के कारण उसको छोड़कर उसके मित्रों पर चढ़ाई का यथायोग्य अनुष्ठान करते हो ? क्या सैन्यों की व्यूह रचना जानते हो और क्या यह जानते हो कि सन्धि, द्वैध और समाश्रय का कारण है। तथा विग्रह, यान और आसन का कारण है ॥ ६९ ॥ ७० ॥

हे बुध ! क्या तुम चार या तीन मन्त्रियों के साथ या एक-एक से पृथक् २ नीतिशास्त्र के अनुसार कार्यों का विचार करते हो ? ॥ ७१ ॥ क्या तुम्हारे वेद सफल हैं ? अर्थात् वेदविहित कर्मों को करते हो, क्या तुम्हारी क्रियाएँ (राजकार्य) तुमको फल देती हैं ? क्या तुम्हारी स्त्रियाँ धर्म, रति और पुत्र से सफल हैं ? क्या तुम्हारा पढ़ना सफल है ? अर्थात् तुम विनययुक्त हो ॥ ७२ ॥

हे राघव ! क्या उक्त मेरी बुद्धि की नाईं तुम्हारी बुद्धि भी आयु और यश को देनेवाली तथा धर्म, अर्थ, काम में लीन है ? ॥ ७३ ॥ क्या जिस वृत्ति (चालचलन) से मेरे पिता रहते हैं और

कच्चित्स्वादु कृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव ।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥ ७५ ॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा, महीपतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथावदितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥ इति

२६—अथ संविभागः

तथा च श्रूयते "मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्" इति । समीचीनश्चासौ विभागः ज्येष्ठोद्धारशून्यत्वात् विशेषे ह्यनुपादीयमाने साम्यमेवौत्सर्गिकत्त्वात्पर्यवस्यति । अतएव "विभजेरन् सुताः पित्रोरूर्ध्वमृक्थमृणं समम्" इत्यत्र याज्ञवल्क्येन सममित्युक्तम् । असंविभागे च दोषः श्रूयते—"यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयते अथ पुत्रम् अथ पौत्रम्" इति। अत्र 'चयते' इत्यस्य नाशयतीत्यर्थः । संविभागस्य प्रकारा अधिकारिणश्च धर्मशास्त्रेषु तदुदाहरणानि चेतिहासपुराणलोकव्यवहारेष्वसंख्येयानि सन्त्येवेति किमिह विविच्य तदुपन्यासेन।

भाषा

मेरे प्रपितामह रघु रहते थे उस वृत्ति से तुम भी रहते हो ? ॥ ७४ ॥ क्या उत्तम बने हुए भोज्य को तुम अकेले तो नहीं खाते ? और इन वस्तुओं के चाहने वाले अपने मित्रों को आदरपूर्वक देते हो ॥ ७५ ॥ मैंने इन बातों को इससे पूछा कि इन रीतियों से धर्मपूर्वक प्रजाओं का पालन और दंड करने से विद्वान् राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का यथोचित भोग करता है तथा इस शरीर के छूटने के अनन्तर स्वर्गलोक को जाता है ॥ ७६ ॥

२९—संविभाग का निरूपण

वेदशास्त्र के अनुसार दाय (वह धन जो कि स्वामी के कारण स्वामी के सम्बंधी का होता है) का उचित विभाग करना सम विभाग है । *"मनुः पुत्रेभ्यो"* मनु अपने पुत्रों के लिये दाय का विभाग करता है । उद्धार (जेठांश) के न होने से यह विभाग उचित है क्योंकि इसमें वैषम्य नहीं है । इस वेदवाक्य में भागों के न्यूनाधिक न कहने से स्वाभाविक समता इससे निकलती है इसी से वह विभाग संविभाग है । याज्ञवल्क्य महर्षि ने भी *"विभजेरन्"* पिता और माता के पश्चात् पुत्र, धन और ऋण को सम विभाग कर लें । इस वाक्य में स्पष्ट रूप से सम शब्द कहा है । अनुचित विभाग अथवा विभाग को अनुचित रीति से रोकने में दोष भी वेद में कहा है कि *"यो वै भागिनम्"* जो जिस भागी पुरुष को भाग लेने से अनुचित रीति पर वारण करता है उसका वह वारण किया हुआ भागी पुरुष उस वारण करने वाले का नाश कर देता है यदि उसका नाश नहीं करता तो उसके पुत्र का नाश कर देता है । और यदि उसका भी नाश नहीं करता तो उसके पौत्र का नाश कर देता है । संविभाग के प्रकार और उसके अधिकारियों का निर्णय, प्रचलित धर्मशास्त्रों में किया हुआ है और उसके उदाहरण भी इतिहास, पुराण और लोक व्यवहारों में प्रसिद्ध हैं कि जिनकी गणना नहीं हो सकती इसलिये यहाँ उनके दिखलाने की आवश्यकता नहीं है ।

३०—अथाध्ययनम्

तच्च स्वस्वाधिकारानुसारेण यस्य यदध्येयं वेदो धर्मशास्त्रमितिहासः पुराणं तदर्थानुवादकमन्यद्वा तदनुसारि तस्यैव तेनेति यथायथमर्थापनीयम् । उदाहरणानि पूर्ववत् ।

३१—अथ योगेनात्मदर्शनम्

अस्य सामान्यधर्मत्वं च पूर्वोपन्यस्ते वीरमित्रोदये सूपपादितमेव । योगशब्देनेह सस्पर्शासस्पर्शयोरुभयोर्योगयोर्ग्रहणम् । तथा च गीतायाम् ६ अध्याये—

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः" ॥ २९ ॥

इति श्लोकव्याख्यानावसरे मधुसूदनः—

यो योगयुक्तात्मा यो वा सर्वत्र समदर्शनः स आत्मनमीक्षत इति योगिसमदर्शिनावात्मेक्षणाधिकारिणावुक्तौ । यथा हि चित्तवृत्तिनिरोधः साक्षिसाक्षात्कारहेतुः तथा जड़विवेकेन सर्वानुस्यूतचैतन्यपृथक्करणमपि । नावश्यं योग एवापेक्षितः । अत एवाह—

भाषा

३०—अध्ययन का निरूपण

अपने २ शास्त्रीय अधिकार के अनुसार जिस २ को जो २ (वेद वा धर्मशास्त्र वा इतिहास और पुराण अथवा अन्यान्य भाषा में उनके अर्थों का अनुवाद) पढ़ना चाहिये उसके लिये उस ग्रन्थ का अध्ययन यहाँ "अध्ययन" शब्द से कहा गया है इसका विवेक शास्त्रों में किया है और इस ग्रन्थ के विशेष काण्ड में भी किया जायगा कि किसको क्या अध्ययन करना चाहिये तथा इसके उदाहरण भी सम्विभाग के उदाहरण ऐसे प्रसिद्ध ही हैं ।

३१—योग से आत्मदर्शन का निरूपण

इसके अधिकारियों के लिये विशेष रीति का निरूपण "सामान्यधर्मसंग्रह" नामक प्रकरण में पूर्व ही हो चुका है । और "योग" शब्द से यहाँ स्पर्श योग और अस्पर्श योग दोनों का ग्रहण है । स्पर्श योग उसको कहते हैं जो कि पातञ्जल योग दर्शन में कहा है क्योंकि उसमें स्पर्श क्रिया की आवश्यकता होती है और ब्रह्म से आत्मा के अभेद का ज्ञान, अस्पर्श योग है जो कि वेदान्त दर्शन में निरूपित है । इसी से *"सर्वभूतस्थमात्मानम्"* (गीता अध्याय ६, श्लोक २९) इस भगवद्वाक्य के व्याख्यान में स्वामी मधुसूदन सरस्वती ने यह कहा है कि जो योगयुक्त अथवा सर्वत्र समदृष्टि हैं वे दोनों इस श्लोक से आत्मदर्शन के अधिकारी कहे गये हैं । क्योंकि जैसे अन्तःकरण की वृत्तियों का निरोध, साक्षी के साक्षात्कार में कारण है वैसे सर्वव्यापी चैतन्य का जड़ पदार्थों से विवेक के द्वारा पृथक् करना भी आत्मदर्शन का स्वतन्त्र कारण है। यह कुछ नियम नहीं है कि क्रिया योग के बिना आत्मदर्शन नहीं होता इसी से योगवासिष्ठ में वसिष्ठ महर्षि ने कहा है कि "द्वौ क्रमौ"

वसिष्ठः

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः ।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥ इति ॥

चित्तनाशस्य साक्षिणः सकाशात्तदुपाधिभूतचित्तस्य पृथक्करणात्तददर्शनस्य। तस्योपायद्वयम्—एकोऽसम्प्रज्ञातसमाधिः सम्प्रज्ञातसमाधौ हि आत्मैकाकारवृत्तिप्रवाहयुक्तमन्तःकरणसत्वं साक्षिणाऽनुभूयते निरुद्धसर्ववृत्तिकन्तूपशान्तत्वान्नानुभूयत इति विशेषः। द्वितीयस्तु साक्षिणि कल्पितं साक्ष्यमनृतत्वान्नास्त्येव, साक्ष्येव तु परमार्थसत्यः केवलो विद्यत इति विचारः। तत्र प्रथममुपायं प्रपञ्चपरमार्थतावादिनो हैरण्यगर्भादयः प्रपेदिरे। तेषां परमार्थस्य चित्तस्यादर्शनेन साक्षिदर्शने च निरोधातिरिक्तोपायासम्भवात् । श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादमतोपजीविनस्त्वौपनिषदाः प्रपञ्चानृतत्ववादिनो द्वितीयमेवोपायमुपेयुः। तेषां ह्यधिष्ठानदार्ढ्ये सति तत्र कल्पितस्य बाधितस्य चित्तस्य तद्दृश्यस्य चादर्शनमनायासेनैवोपपद्यते। अत एव भगवत्पूज्यपादाः कुत्रापि ब्रह्मविदां योगापेक्षां न व्युत्पादयाम्बभूवुः । अत एव चौपनिषदाः परमहंसाः श्रौते वेदान्तवाक्यविचार एव गुरूनुपसृत्य प्रवर्तन्ते ब्रह्मसाक्षात्काराय न तु योगे, विचारेणैव चित्तदोषनिराकरणेन एतस्यान्यथा सिद्धत्त्वादिति ।

भाषा

हे राघव! चित्तनाश (उपाधि रूपी चित्त को साक्षी से पृथक् करने के द्वारा चित्त का लोप) के दो उपाय हैं, एक योग है जिसको "असम्प्रज्ञात समाधि" कहते हैं और दूसरा तत्वज्ञान अर्थात् साक्षी परब्रह्म में सब जगत् के मिथ्याकल्पित होने का विचार। किसी के लिये योग असाध्य होता है और किसी के लिये तत्वज्ञान, और उद्धार सबका होना चाहिये, इसलिये सर्वहितैषी परम शिव देव ने दोनों प्रकारों को कहा इति ।

इनमें से प्रथम उपाय को हिरण्यगर्भ के मतानुसारी योगियों ने ग्रहण किया क्योंकि उनके मत में जगत् वास्तविक सत्य है इससे वे दूसरे उपाय के योग्य नहीं थे और उपनिषद् के अनुयायी स्वामी शङ्कराचार्य के मतावलम्बी लोगों ने दूसरे उपाय को स्वीकृत किया क्योंकि जैसे रस्सी के निश्चय से उसमें भ्रमकल्पित सर्प का नाश होता है वैसे ही साक्षी के निश्चय से उसमें मायाकल्पित चित्त का सहज ही में नाश हो जाता है। इसीसे पूज्यपाद भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ने ब्रह्मज्ञानी के लिये योग की अपेक्षा को कहीं नहीं कहा है। और औपनिषद् परमहंस भी गुरू के समीप में जाकर वेदान्तवाक्यों के विचार ही में ब्रह्म साक्षात्कार के लिये प्रवृत्त होते हैं न कि स्पर्शयोग में, क्योंकि उस विचार ही से जब अन्तःकरण के दोष निवृत्त हो जाते हैं तब योग का कोई काम ही नहीं रहता क्योंकि वह भी चित्तदोष ही के निवारणार्थ है ।

३२—अथ देवपूजनम्

(१) देवसंख्या (२) देवविग्रहः (३) देवावताराः (४) देवप्रतिमाः कण्टकोद्धारश्चेति पञ्च विषयाः । तत्र—

देवसंख्या—१

देवश्च प्रथमः सच्चिदानन्दरूपं परं ब्रह्म ।

तथा च श्वेताश्वतरोपनिषदि—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ (अ० ६, श्रुति० ११)
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ (अ० ३, श्रु० ४)
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (अ० ६, श्रु० १८)

एवं "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादयो बहवो वेदान्ताः पुरुषसूक्तवाक्यानि च एतमेव देवं प्रतिपादयन्ति सर्ववेदप्रकृतिभूतश्च प्रणवोऽप्यनुच्चारणीयार्द्धमात्रारूपेण समुदायशक्तिं

भाषा

३२—देवपूजन का निरूपण

इस प्रकरण में पाँच विषयों का पृथक् २ निरूपण होने से पाँच प्रकरण हैं और वे पाँच विषय ये हैं—(१) देवता की संख्या (२) देवता का शरीर (३) देवता का अवतार (४) देवता की प्रतिमा (५) कण्टकोद्धार (स्वामी के मत का खण्डन) ।

देवता की संख्या का निरूपण (१)

सच्चिदानन्द रूपी परब्रह्म प्रथम देवता हैं, और उनके विषय के प्रमाण अब कहे जाते हैं कि "एको देवः" सब प्राणियों में गुप्त रूप से स्थित, सबका स्वरूप भूत, सब प्राणियों के किये हुये विचित्र कर्मों का फलदाता, सब प्राणियों का निवासस्थान, सबका साक्षी, चैतन्यरूप, उपाधिशून्य और निर्गुण एक देव हैं । "यो देवानां०" जो इन्द्रादि देवों का कारण, और उनके ऐश्वर्य का मूल, सब जगत् का पालनकर्ता तथा जो आदि सृष्टि में हिरण्यगर्भ (ब्रह्मदेव) को प्रथम उत्पन्न करता है, वह मुझे अच्छी बुद्धि दे । "यो ब्रह्माणं०" आदि सृष्टि में जो प्रथम हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करता है तथा हिरण्यगर्भ के हृदय में वेदों को प्रेषित करता है। अन्य फल की इच्छा छोड़ केवल मोक्ष की इच्छा करने वाला मैं, उस स्वतः प्रकाशमान देव ही की शरण लेता हूँ ।

ऐसे ही "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि सहस्रों वेदान्तवाक्य तथा पुरुषसूक्त आदि के बहुत से वाक्य इन एक देव का प्रतिपादन करते हैं तथा प्रणव (ओं) भी पूर्ण रूप से इन-हीं एक देव का बोधन करता है जैसा कि योगदर्शन में पतञ्जलि महर्षि ने कहा है कि "तस्य वाचकः प्रणवः" अर्थात् ओंकार परब्रह्म का वाचक है ।

पुरस्कृत्यैतमेव देवं बोधयति। तथा च भगवान् पतञ्जलिः "तस्य वाचकः प्रणवः" इति।

अस्य च तिस्रस्तनवस्त्रयो देवाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।

तथा च मैत्रेयशाखायां श्रूयते—

तस्य प्रोक्ता अग्र्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरिति। अथ ह यो वै खलु वा वास्य राजसोंऽशोऽसौ स योऽयं ब्रह्मा। यथा ह खलु वा वास्य तामसोंऽशो स योऽयं रुद्रः यथा ह खलु वा वास्य सात्विकोंशोऽसौ स योऽयं विष्णुः स एव एककस्त्रिधाभूत इति।

तथा मायां प्रकृत्य 'उत्तरतापनीये' श्रूयते—

सैषा चित्रा सुदृढा बह्वङ्कुरा स्वयं गुणभिन्नाङ्कुरेष्वपि गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता। तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र इति।

कैवल्योपनिषदि—

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवस्सोऽक्षरः स परमः स्वराट् इति।

स्कान्देऽपि—एक एव शिवः साक्षात्सृष्टिस्थित्यन्तसिद्धये।
ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिः कलानाभिर्विभज्यते॥

तथा च विष्णुपुराणे—सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः॥

एवम्—ब्रह्मा देवानां प्रथमं संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता॥ (मुण्डकोप० १)
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्॥ (यजु० अ० १३, मं० १८)

भाषा

उन्हीं परब्रह्म के तीन शरीर तीन देवता हैं अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर।

"तस्य प्रोक्ता०" उस ब्रह्म के उत्तम तीन शरीर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र कहे जाते हैं जो उनका अंश अधिक रजोगुणी है वह ब्रह्मा, और जिस अंश में तमोगुण प्रधान है वह रुद्र, तथा जिस अंश में सत्वगुण प्रधान है वह विष्णु हैं। इस रीति से वह एक ही परब्रह्म तीन हो गया है।

"सैषा०" वह यह माया, विचित्र, अति दृढ़, अनेक अंकुर वाली, और अनेक गुणरूपी, पृथ्वी, जल आदि अङ्कुररूपी यावत्पदार्थों में गुणों की अधिकता और न्यूनता के अनुसार भिन्न २ होकर सबमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, होकर परब्रह्म रूप चैतन्य से प्रकाशित है इसलिये सब पदार्थों में परब्रह्म ही के तीन प्रकार व्याप्त हैं।

"स ब्रह्मा०" वह ब्रह्म, ब्रह्मारूपी, रुद्ररूपी और शिवरूपी है।

"एक एव०" एक ही शिव (परब्रह्म) सृष्टि, पालन और संहार के लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामक शरीरों से साक्षात् प्रकाशमान हैं।

"सृष्टि०" जगत की रचना, पालन और संहार करने के कारण एक ही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम को प्राप्त करते हैं।

"ब्रह्मा देवानां०" देवों में प्रथम, जगत् का कर्ता और स्वामी ब्रह्मा होते हैं।

"हिरण्यगर्भः०" सृष्टि के प्रथम हिरण्यगर्भ होते हैं और वह होते ही सब प्राणियों के स्वामी होते हैं।

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाꣳसि। (यजु० अ०५मं० १८) इति
एवं तृतीयेंऽशे याजुषः पूर्णो रुद्राध्यायो 'नमस्त' इत्यादिमन्त्रघटितो द्रष्टव्यः।
एवं चतुर्थ्यप्येका मूर्तिर्या परमशिव इत्याचक्षते। तथा च श्रुतिः–

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् इति। (कैवल्योपनिषदि)
अत्र हि पश्चार्द्धस्य प्रतिपाद्यम्परं ब्रह्म निराकारम्। पूर्वार्द्धस्य तु चतुर्थी मूर्तिः। इत्येवमाद्याः श्रुतयस्तदनुसारीणि स्मृतीतिहासपुराणवाक्यानि सहस्रशोऽस्मिन्नर्थे प्रमाणानि।

प्रणवात्रयवाश्चाकारोकारमकाराः एतेषां हरिहरब्रह्मरूपाणां त्रयाणां देवानां वाचकास्सन्धिवशेन प्रणवभावमापन्नाः प्रतिस्वं प्रणवाभेदं निदर्शयन्तो ब्रह्माभेदमेषु स्वरूपतोऽप्यभिप्रयन्ति।

भाषा

"विष्णोर्नुकं०" में विष्णु ही के कामों को अधिक कहता हूँ जो कि विष्णु तीन रजों (लोकों) को बनाते हैं। ऐसे ही यजुःसंहिता में सोलहवें अध्याय में 'नमस्ते' इत्यादि सभी मन्त्र रुद्ररूपी देवता में प्रमाण हैं। और इस रीति से परब्रह्म के तीन शरीर अर्थात् तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर सिद्ध हैं। और इन तीन देवताओं से अन्य एक चौथी भी परब्रह्म की मूर्ति है जिसको परम शिव कहते हैं जिसके लिये यह श्रुति है कि–

"उमा सहायं०" पार्वती के सहित, तीन नेत्र वाले, श्यामकण्ठ वाले, प्रभु परमेश्वर के ध्यान से मुनि (ध्यान करने वाला पुरुष) सबके साक्षी, अज्ञान से परे सब जगत् के मूल कारण को प्राप्त अर्थात् संसार दुःख से मुक्त होता है।

इस एक ही श्रुति के पूर्वार्द्ध में सगुण ब्रह्म (चौथी मूर्ति) और उत्तरार्द्ध में निर्गुण परब्रह्म का वर्णन है। यहाँ तक जो श्रुतियाँ उद्धृत की गई हैं उनके अनुसारी धर्मशास्त्र, पुराण इतिहास के सहस्रों वाक्य पूर्वोक्त अर्थों में प्रसिद्ध प्रमाण हैं जिनका लिखना यहाँ विस्तरकारी होगा।

"ओम्" यह शब्द भी अपने तीन अक्षरों से उक्त तीन देवताओं का बोधन करता है। क्योंकि इसमें अ, उ, म्, तीन अक्षर हैं जिनका व्याकरण के अनुसार "ओम्" यह स्वरूप होता है। उन अक्षरों में से 'अ' विष्णु का 'उ' शिव का 'म' ब्रह्मा का वाचक है "ओम्" शब्द परब्रह्म का वाचक है इस रीति से ओंकार का भी इसी दृष्टान्त में तात्पर्य है कि जैसे अ, उ, म् वे तीन अक्षर ओम् इस शब्द में आजाते हैं परन्तु अन्योन्य में भिन्न हैं ऐसे ही उक्त तीन अक्षरों के अर्थ ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर भी "ओम्" के अर्थ परब्रह्म से वास्तविक में भिन्न नहीं हैं परन्तु सृष्टि स्थिति संहार के लिये रजोगुणादि रूपी मायाशक्ति के अनुसार अन्योन्य में पृथक् पृथक् प्रकाशमान हैं। इसी अभिप्राय से श्रीशिव जी के महिमस्तोत्र में गन्धर्वराज पुष्पदन्त ने कहा है कि "त्रयीं तिस्रो" हे शरण्द! (श्री शिव) ओं यह पद अपने अकारादि अक्षरों से पृथक् २ तीन वेदों और सत्व आदि तीन गुणों तथा तीन लोकों और ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर रूपी तीन देवों को कहता हुआ अपने पूर्णरूप (जिसके आदि और अन्त में आधी मात्रा काल वाला एक ऐसा अक्षर है जिसका उच्चारण

तथा च महिम्नस्तोत्रे पुष्पदन्तः—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान्
अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धामध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥ इति

इमे एव हि मायोपाधिकचैतन्यरूपादेव ईश्वरशब्देन व्यपदिश्यन्ते एवमन्तः करणावच्छिन्नचैतन्यरूपा जीवपदव्यपदेश्यास्तदधिकारानुकूलशक्तिविशेषोपबृंहिता इन्द्राग्निसूर्यवाय्वादयोऽपि चैतन्यविशेषरूपत्वात्परब्रह्माभिन्ना बहवो देवाः ।

तथा च श्रूयते—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० ४६) इति

(अत्रैकोऽग्निशब्दः परब्रह्मवाची)

तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येवमेकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः
(बृ० उ० अ० ४ ब्रा० ४) इति च ।

भाषा

बाह्य नहीं हो सकता किन्तु हृदय ही में अति सूक्ष्म उच्चारण होता है) से आप (परम शिव) के उस चतुर्थ निर्गुण और निराकार परब्रह्म रूपी स्थान को कहता है । केवल चैतन्य ही को परब्रह्म कहते हैं, और मायारूपी उपाधि सहित उस चैतन्य को ईश्वर कहते हैं, जैसे विष्णु आदि उक्त देव और अन्तःकरण रूपी छोटे उपाधि से परिमित उस चैतन्य को जीव कहते हैं, इस रीति से परब्रह्म रूपी सामान्य का भेद ईश्वर और जीवों में नहीं है क्योंकि विशेष सामान्य से अभिन्न ही होता है जैसे कि पिप्पल रूपी विशेष, बृक्ष रूपी सामान्य से । तात्पर्य यह है कि जैसे पिप्पल बृक्ष से अन्य नहीं है वैसे ईश्वर और जीव भी परब्रह्म से अन्य नहीं हैं । और अपने २ कार्य विशेषों के अनुसारी अधिकार विशेष के अनुकूल शक्ति विशेष से सम्पन्न होने के कारण समय विशेष में जीव ही इन्द्र, अग्नि, सूर्य वायु आदि शब्दों से कहे जाते हैं और वे भी अपने समय पर देवता हैं और चैतन्य विशेष रूपी होने के कारण ये इन्द्रादि देवता परब्रह्म से अन्य नहीं हैं जैसा कि यह मन्त्र है कि 'इन्द्रं मित्रं' इन ही अग्नि अर्थात् परमेश्वर को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम और वायु कहते हैं तथा ये ही सुपर्ण (गरुड़) हैं और इन्हीं एक देव को देवता के तत्व जाननेवाले ब्राह्मण उन उन अधिकारों की अपेक्षा इन्द्र, मित्र आदि शब्दों को लेकर अनेक प्रकार से कहते हैं ।

"तद्यदिद०" उन २ कर्मों के प्रकरण में याग करने के समय शुष्कयाज्ञिक लोग जो वचन कहते हैं कि 'अमुक देव की पूजा करो, अमुक देव की पूजा करो' अर्थात् "इन्द्र की पूजा करो, वायु की पूजा करो इत्यादि निदान इन्द्रादि को परमेश्वर से अत्यन्त भिन्न २ देव समझ कर याज्ञिक लोग जो ऐसी बातें कहते हैं, उन बातों को ठीक नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वे सब देव परमेश्वर में ही

स्मर्यते च—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं सर्वधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

(मनु० अ० १२, श्लो०१२२।१२३)

भाषा

अन्तर्गत और उन्हीं के विशेष हैं। "प्रशासितारं०" जो परमेश्वर, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त चेतन और अचेतन को शासन करता है अर्थात् अग्नि आदि में उष्णता आदि का और सूर्य आदि में भ्रमण आदि का और प्रत्येक क्रियाओं से उन २ फल विशेषों का नियम, जिसके आज्ञानुसार ही होता है जैसा कि *"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः"* (हे गार्गि! इसी अक्षर अर्थात् नित्य परमेश्वर की आज्ञा पर यह लोक और स्वर्ग लोक बँधे खड़े हैं)।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

"इसी परमेश्वर के भय से अग्नि दाह करते हैं, सूर्य तपते हैं, इन्द्र वर्षा करते हैं, वायु सदा चलते रहते हैं और पाँचवाँ मृत्यु, दौड़ते रहते हैं" इत्यादि अनेक श्रुतियों में कहा है, और जो अति सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है अर्थात् जिसको प्रत्यक्ष करना बहुत ही कठिन है तथा जिसका रूप कोई यद्यपि नहीं है तथापि उपासना के लिए उसके शुद्ध सुवर्ण ऐसे रूप का ध्यान किया जाता है जैसा कि— *"एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः"* (जो यह सूर्यमण्डल में सुवर्णमय पुरुष है) इत्यादि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है तथा जो स्वप्न बुद्धि के ऐसी बुद्धि से ग्रहण के योग्य है अर्थात् जैसे नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियों के निवृत्त होने पर केवल यह भाव से स्वप्न बुद्धि होती है वैसे ही केवल मन मात्र से ग्रहण के योग्य है, जैसा कि व्यास ने कहा है—

"नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः"।
"मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः"।

यह परमेश्वर नेत्र से नहीं ग्रहण किये जाते और न अन्य इन्द्रियों से, योगाभ्यास वा तत्वज्ञान से शुद्ध किये हुए मन के द्वारा सूक्ष्मदर्शियों (योगियों वा तत्वज्ञानियों) से ग्रहण किये जाते हैं। उन परमेश्वर का चिन्तन सदा करै॥ १२२॥ "एतमग्निं" इन्हीं परमेश्वर को याज्ञिक लोग अग्नि मानकर पूजते हैं, तथा कतिपय लोग इन्हीं को मनु कहते हैं और उपासक लोग प्रजापति (ब्रह्मदेव) मानकर इनकी उपासना करते हैं, और कतिपय उपासक ऐश्वर्य के कारण इन्हीं को इन्द्र रूप से ध्यान करते हैं, और कतिपय उपासक प्राण रूप से इनकी भावना करते हैं, और संन्यासी लोग इन्हीं को सच्चिदानन्द, निर्गुण, निराकार, परब्रह्म समझकर इनकी भावना करते हैं। और ये सब उपासनाएँ वेद में स्पष्ट रूप से कही हुई हैं॥ १२३॥

सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः।
अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या माया विभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः॥
(भाग० स्कं० २ अ० ७ श्लो० ३९)

देवताभेदाश्च वेदे दर्शिताः । तथा हि—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवताऽऽदित्यो देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता (य० अ० १४ मं० २०)

निरुक्ते अ० ७ पा० २—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्योद्युस्थानः स्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्त्यपि वा कर्मपृथक्त्वाद्यथा होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति। तथाऽभिधानानि यथो एतत्कर्म पृथक्त्वादिति बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युस्तत्र सस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वञ्चोपेक्षितव्यम् यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति। स्थानैकत्वञ्च सम्भोगैकत्वञ्च दृश्यते--यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां सम्भोगोऽग्निना चेतरस्य लोकस्य तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव ॥ १ ॥

अत्र दुर्गः—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः" इति उपोद्घातः "सैषा देवतोपपरीक्षा" इत्यधिकारे वर्तमाने "यत्काम ऋषिर्यस्याम्" इत्येवमादिलक्षणदेवतात्वमुक्तम्। तत्पुनरदेवतालादश्वादीनाम् "आनो मित्रो वरुणो अर्यमा" इत्येवमादिषु व्याहन्यमानमपेक्ष्य "स न मन्येत"-इत्येवमादिनाक्षिप्ते "माहाभाग्यात् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयंते" इत्येवमादिना "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' इति ऋ० सं० ८, ४, १७, २,) एवमादिभ्यो मन्त्रवाक्येभ्यः

भाषा

"सर्गे तपो" ब्रह्मदेव ने कहा कि सृष्टि के लिये मैं तप और दक्षादि ९ प्रजापति, परमेश्वर की माया विभूति रूपी उत्पन्न होते हैं और पालन के लिये विष्णु, धर्म, यज्ञ, मन, इन्द्रादि देवता और अन्यान्य राजा परमेश्वर की विभूति रूपी उत्पन्न होते हैं। तथा प्रलय के लियें रूद्र और तपोगुणी सर्प आदि तथा राक्षसादि, परमेश्वर की विभूति रूपी उत्पन्न होते हैं। *"अग्निर्देवता वातो देवता"* इस मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है।

"तिस्र एव०" इस निरुक्त ग्रन्थ का दुर्गाचार्य ने यह व्याख्यान किया है यद्यपि परमार्थ दशा में एक परब्रह्म ही देवता हैं अर्थात् देवतारूपी वृक्ष का मूल परमेश्वर ही हैं और उन्हीं की विभूतिरूपी अन्य सब देवताओं की अनेक प्रकारों से पूजा और उपासना याज्ञिक और उपासक आदि लोग व्यवहार दशा में अपने २ उद्देश्य फल के अनुसार करते हैं तथापि उनसे भी बँचा बँचाया हुआ एक यह भी प्रकार है जिसको निरुक्तवाले कहते हैं कि तीन ही देवता हैं। अग्नि, वायु और इन्द्र अर्थात् पृथिवी में अग्नि देवता, आकाश में वायु अथवा इन्द्र और स्वर्ग लोक में सूर्य देवता हैं। तात्पर्य यह है कि अग्नि कोई एक ही देवता नहीं हैं किन्तु इस लोक के जितने देवता हैं उन

"अथातो विभूतयोऽस्य पुरुषस्य" इत्येवमादिभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यः 'एष इन्द्र एष प्रजापतिः' एवमादिभ्यश्चैकात्म्ये सामर्थ्यमुन्नीयात्मवित्पक्षेण आत्मैवेदं सर्वम् इत्यैकात्म्यमुक्तम्। आत्मविदां ह्यात्मन्युपजातविशिष्टभावनानामात्मशरीरस्थानामात्ममयमेवेदं सर्वमनुपश्यतामात्मार्थः सर्वो वेदोऽन्या च सर्वा वाक् न ह्यात्मनोऽन्यद् व्यतिरिक्तमभिधेयमस्ति, स त्वशेषाद् यदभिधानमभिदध्यात्। अथ पुनरुपक्रमः पुरुषार्थस्य, प्रथममनिश्रेणी फलकस्थानीयेन केवलेनाधियज्ञेन तत्र चावधाने अधिदैवताध्यात्मज्ञानं किञ्चित् विदुषः पृथगात्मनो देवताः पश्यतः, परिच्छिन्नफलाभिप्रायस्याधियज्ञं प्रयुयुक्षमाणस्य पूर्वजन्माविद्यावासितान्तःकरणस्याभिधानस्तुतिभेदाभ्यां विधिमन्त्रार्थवादविद्यारसेन यथा ग्रहं पृथगिव देवताः प्रकाशन्ते।

तदुक्तम्—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' इति। तदाहुः 'आत्मयाजी श्रेयान् देवयाजी वा इति, आत्मयाजीति ह ब्रूयात्' इति। तदेवं ब्रह्म देवतावृक्षस्य मूलम् ऐकात्म्यमात्मविदः प्रत्यवभासते, यावदभिधानन्तु याज्ञिकाः, प्रतिविधिमन्त्रप्रधानात्। यच्चावशिष्यते, तन्नैरुक्तात् प्रत्यवभासते। अत इदमुच्यते—'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः' तिस्र इति संख्या, एवेत्यवधारणमितरौ पक्षौ अपेक्ष्य॥

कतमास्ता इति, 'अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुः वा इन्द्रः वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यः द्युस्थानः'। कयोपपत्त्या त्रित्वं परिजगृहुः स्थानभेदात् प्रत्यक्षलिङ्गादन्यार्थदर्शनाच्च। लिङ्गं त्रिधा हि भवति, विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिर्गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः। तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा (ऋ० सं० प० वा० सं० १७, ३२) इत्यत्र, 'अजस्य नाभावध्येकमर्पितम्' इति (ऋ० सं० ८, ३, १७, ६) अन्यार्थदर्शनाच्च "प्रजापतिर्वै त्रीन्माहिम्नोऽसृताग्निं वायुं सूर्यम्" इति "प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यो रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षात् सूर्यं दिवः" इति 'अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः" इति। 'तिस्रः' इति प्रकृतेः स्वरूपग्रहणात् स्थानभेदं त्रित्वे हेतुमुपसंसूचयति। कुतो नियमः अग्न्यादीनां पृथिव्यादिषु निगमेभ्यः, 'पृथिव्यसि जन्मना वशासाग्निं गर्भमधत्थाः, अन्तरिक्षमसि जन्मना वशासावायुं गर्भमधत्थाः, द्यौरसि जन्मना वशासाऽदित्यं गर्भमधत्थाः, इत्येवमादिभ्यो निगमेभ्यः॥

"वायुर्वेन्द्रो वा" इति किमेकस्य पर्यायवचनावेतौ शब्दौ, उताभिधेयौ भिद्येते इति। कुतः सन्देहः? उभयथा हि प्रसिद्धिः, प्रत्यभिधानं चार्थभेदो दृष्टः, गौः अश्वः इति। यथाऽभिधानभेदेऽपि चैकार्थता दृष्टा, हस्तः करः पाणिरिति यथा। अतो युक्तः संशय

भाषा

सबको पृथिवी रूपी स्थान की अपेक्षा से 'अग्नि' नाम से कहा जाता है। ऐसे ही वायु और सूर्य भी किसी एक देवता का नाम नहीं है किन्तु आकाश और स्वर्गरूपी स्थानों के अनुसार सहस्रों देवताओं के समूहों का वायु और सूर्य नाम है। और इसी विभाग के अनुसार सब वेद मन्त्रों में अग्नि, वायु, इन्द्र आदि शब्दों का व्यवहार है और वरुण, कुबेर आदि देवता भी यद्यपि इन्हीं तीन विभागों

इति । याज्ञिकपक्षे तावददोषः। अर्थभेदेऽपि चैतेषां यावन्त्यभिधानानि तावत्यो देवताः, अस्य पुनराचार्यस्य स्वसिद्धान्तावलम्बिनः 'तिस्र एव देवताः' इति प्रतिज्ञाततः। कुतः ? वाय्विन्द्रशब्दयोरर्थभेदे हि प्रतिज्ञाहानिः स्यात्, अपि च भेदेऽभिप्रेते नैकवचनेन निर्देक्ष्यदन्तरिक्षस्थान इति, अभिधानमात्रभिन्नोऽप्यभिधेयस्य चाभेदे अन्तरिक्षमस्य स्थानमित्युपपत्तेः। एकवचनो विशेष्योऽन्तरिक्षस्थानशब्देन विशिष्यते, इतरथा ह्यन्तरिक्षस्थानौ इत्यवक्ष्यत् द्वयोर्विशेष्ययोः। अपि च 'वायवायाहि दर्शत' इति (ऋ० सं० १, १, ३, १) वायोः प्राधान्यस्तुतिमुदाहृत्य तां निरुच्य तस्यां सोमपानसम्बन्धमुपलक्ष्य,—ऐन्द्रत्वं च सोमस्यावेत्य 'अंशुं श्रुष्टे' इत्येतस्मिन्, 'अत्वमिन्द्राय प्यायस्व' 'तुभ्यमिन्द्रः प्यायताम्' इति नान्यत्रेन्द्रशब्दात्, मुख्याभिसम्बन्धिनो मध्यमात् सोमपानं सम्भवतीति प्रतीत्य वायुशब्दस्येन्द्रशब्दस्यासमानार्थतां दृढमवधार्य अपश्यमाणो वायुशब्दस्य मध्यमादर्थान्तरे वृत्तिमपर्यायशब्दवादिनमाक्षिपन्नाह 'कमन्यं मध्यामादेवमवक्ष्यत्' इति। उत्तरमपि च यमुदाजहार निगमं 'तस्यैषा परा भवति' इत्युपोद्धत्यैतदैन्द्राद्देवसूक्तात् 'अस्येन्द्रस्य वायोर्यथा भक्षो न विदस्येत्, तथा अन्नमेवमाभिभवेयुः', इति वायुशब्दस्येन्द्रविशेषणत्वं प्रतीत्य इन्द्रप्रधानत्वात् सूक्तस्य चेन्द्र उपात्तः। तस्मादाचार्यस्य मध्यमपर्यायवचनावेतौ शब्दाविति ।

सत्यपि तु पर्यायवचनत्वे मुख्यतरः सम्बन्धो मध्यमस्येन्द्रशब्देन, तथा वायुवरुणेन्द्रादिभिः। तत्कुतः तथा निगमे दर्शनात्, "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः। स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वांस्तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा" इति। सा प्रथमा संस्कृतिरित्येतस्मिंच्छुक्रामन्थिनोर्हवनमन्त्रे यो मध्यमो वरुणोऽपि मित्रोऽग्निः तस्मै इन्द्राय सुतम् आजुहोत इति वरुणादीननुक्रम्य विशेषतश्चतुर्थ्यन्तेन इन्द्रशब्देन सम्प्रदानेन सम्बध्नाति तस्मै मध्यमायेन्द्रायेति, तस्मात् सम्प्रदानेन सामानाधिकरण्यात् मन्त्रान्ते मध्यमशब्देन्द्रशब्दयोर्मुख्यतरः सम्बन्ध इति गम्यते, तथा मध्यमस्य ज्योतिषो मुख्यः सम्बन्ध इन्द्रशब्देन, तथेतरयोरपि पार्थिवोत्तमयोरग्निसूर्यशब्दाभ्याम्, प्रसिद्धतरत्वात्सम्बन्धस्य, न चेतरैर्जातवेदःप्रभृतिभिः। सति च गौणमुख्यत्वे युक्तं यदग्न्यभिधानेन प्रसिद्धतरसम्बन्धेन पार्थिवस्य ज्योतिष उपदेशः क्रियते, न जातवेदःप्रभृतिभिः, तथोत्तमस्य सूर्यशब्देनोपदेशः क्रियते, न सवितृप्रभृतिभिरिति ॥

कस्मात्पुनर्मध्यमस्य शब्दद्वयेनोपदेशः क्रियते, पार्थिवोत्तमयोरेकैकेन इति। मध्यमस्य हि द्वौ कर्मात्मानौ विद्युद्वाय्वाख्यौ। तयोरनित्यदर्शन एको विद्युदाख्यः, नित्यदर्शनस्तु वाय्वा-

भाषा

में अन्तर्गत हैं तथापि उनके विशेष नामों से भी मन्त्रों में व्यवहार होता है तथा एक देवता व्यक्ति के भी उन २ कार्य विशेषों के अनुसार अनेक नामों का व्यवहार मन्त्रों में होता है जैसे एक ही अग्निदेव का अग्नि, जातवेदा, वैश्वानर आदि नामों से और इस विषय में निरुक्तकार जो "नरराष्ट्र" का दृष्टान्त देते हैं उसका यह तात्पर्य है कि जैसे मध्यदेश कहने से मध्यदेश में रहनेवाले सब मनुष्यों

ख्यः त्वगिन्द्रियप्रत्यक्षः। तत्कथं नाम त्रिष्वपि स्थानेष्वभिमानिन्यो देवताः कर्मात्मभि-वैषम्येण प्रत्यक्षत एवोपदिष्टाः स्युः इत्यतः "वायुर्वै मध्यमस्थानः" इति वाय्वाख्येन कर्मा-त्मना मध्यमस्थानमुद्दिश्यामुख्यत्वाद् वाय्वभिधानस्य 'इन्द्रो वा' इत्याह। एवमुभयं कृतं भविष्यति, अनुपरतक्रिया व्यापारता च मध्यमस्य वाय्वाख्येन कर्मात्मना इतरज्योतिर्विद-र्शिता भविष्यति, मुख्येन चेन्द्रशब्देन मुख्यः सम्बन्धोऽपरिहापितो भविष्यतीत्युभयमुक्तम् 'वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः' इति। न तु पार्थिवोत्तमयोर्द्वौ द्वौ कर्मात्मानौ स्तो यथा मध्यम-स्थानस्य। तस्माददोषो मध्यमस्याभिधानद्वयोक्ताविति॥

आह—यदिदमभिधानं बहुत्वं जातवेदो वैश्वानर इत्यादि, त्रित्वे सत्येतत् किं कृतम्—इति। उच्यते—'तासां माहाभाग्यात् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति' तासामेव तिसृणामग्न्यादीनां माहाभाग्यात् ऐश्वर्ययोगात् एकात्मानमनेकधा कुर्वतीनाम् एकैकस्याः प्रति-विकारं जातवेदः, वैश्वानरः, वरुणः, रुद्रः, अश्विनौ उषा इत्येवमादीनि बहूनि नामधेयानि भवन्ति, प्रतिस्थानं स्वप्रकृत्यभेदादैकात्म्यवदेवैकत्वं न जहाति सा सा देवतेति। "अपि वा कर्म पृथक्त्वात्" अपि चैवं विकरणधर्मित्वादभिन्नप्रकृतीनां बहुनामता। अपि वा स्वं स्वमात्मानम-विकुर्वतीनामेव वा कर्मयोगात् पृथक् कर्महेतुको नामधेयलाभः स्यात्। को दृष्टान्तः? 'यथा होता, अध्वर्युः, ब्रह्मा, उद्गाता, इति अपि एकस्य सतः' कुण्डपायिनामयने। तत्र हि सप्त दीक्षन्ते, त एव च स्वयं कर्म कुर्वते तेषां षट्, षोडशानां पर्यायेण कर्म कुर्वते, तत् कर्मकुर्वाणास्तदाख्या भवन्ति, यथा लोके कारकलावकपाचकादयः। तदेतत्प्रदर्शितं भवति—न किञ्चिदप्यत्र गौणमभिधानम्, संविज्ञानपदत्वे त्वग्न्यादीनां संज्ञाशब्दानां तेषां कारकादिशब्दैरेष विशेषो यदग्रनयनादिगुणयोगेऽप्यसति नाम्यादीन् जहति, कारकादिशब्दास्तु करणादिसमनन्तर-मेव कारकादीन् जहति। एवमेतदगौणत्वमभिधानानामपेक्ष्योक्तम्—"अपि वा कर्म पृथक्त्वात्' इति। अपि वैश्वर्यादुभयथापि शक्यप्रतीघात उपपद्यत एकैकस्या अपि बहुनामतेति॥

"अपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति"। अपि चैवं यथोक्तमेकैकस्या माहा-भाग्यात् कर्म पृथक्त्वाद्वा बहुनामता। अपि वा पृथक् पृथक् अत्यन्तभिन्ना एवौत्पत्तिकेन भेदेन स्युरिति याज्ञिका आहुः, "पृथक् हिं स्तुतयो भवन्ति" इति। कुत एतत् याज्ञिका आहुरिति। अधियज्ञं हि स्तुतिनियमो भवत्यभिधाननियमश्चेति। अधियज्ञमिति व्याख्ये-यम् "पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति" इति। हीति हेतौ। यस्मात्पृथक् २ अग्न्यादीनाम् स्तुतयो भवन्ति। पृथगग्नेः 'अग्निमीले' इत्येवमाद्या इति (ऋ० सं० १, १, १, १,) पृथक् जात-वेदसः—अग्निलिङ्गं सूक्तम् 'प्रनूनं जातवेदसम्' (ऋ० सं० ८, ८, ४६, १,) पृथगिन्द्रस्य 'हरिभ्याम्' पृथक् वायोः 'नियुद्भिः' पृथक् सूर्यस्य 'हरिद्भिः', पूष्णोऽजाभिः, अरुणीभिर्गो-

भाषा

का एक संग्रह होता है परन्तु धर्मदेश में बहुत से मनुष्य और उनके पृथक् २ अनेक नाम होते हैं वैसे ही अग्नि, वायु आदि शब्द से पृथिवी आदि प्रत्येक लोकों के सब देवताओं का पृथक् २ एक एक संग्रह होता है परन्तु पृथिवी आदि के अनेक सहस्रों देवता और उनके अनेक सहस्रों नाम भी

भिरुषसाम् । स्तुतिव्यवहारे च प्रायश्चित्तम्, तदनुपपन्नश्च पर्यायवचनत्वे तेषाम् । ते वयं स्तुतिनियमात् । पश्यामः पृथक् पृथगग्निवैश्वानरप्रभृतय इति । 'तथाभिधानानि' यथैव हि स्तुतिभेदात् स्तुत्यभेदः, एवमेवाभिधानभेदादभिधेयभेदोऽपि भवितुमर्हति । प्रसिद्धतरं चेदं लोके प्रत्यभिधानमर्थभेद इति, न तथैकस्यानेकाभिधानता । तस्मात् पृथक् पृथगग्निजातवेदोवैश्वानरादिशब्दानामभिधेया इति स्थितिः । स्तुतिष्वेव हि अभिधानभेदत इति समानार्थता हेतोः इति चेत्—नः विधावप्यभिधाननियमदर्शनात्, 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्' इति येनैवाभिधानेन चोद्यते, तेनैव निर्वपणादारभ्य समाप्यते, तस्मादसमानार्थतेति ॥

'यथा एतत्' यत्पुनरेतदुक्तम् 'कर्मपृथक्त्वात्' इति । अनैकान्तिक एष दृष्टान्तः, दृष्टो हि प्रकृतिभेदात् प्रकृतिकर्मभेदः, या च पृथक्त्वादिव्यवस्था माहाभाग्यादित्याचार्येणात्र पृथक्त्वे हेतुर्न प्रयुक्तः, दृष्ट एव हि याज्ञिकपक्षे प्रत्यभिधानमर्थभेद इति । तत्किमेकत्वमास्त्येव तन्नास्ति गुणतः । कथम् "तत्र सस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं उपेक्षितव्यम्" तत्र तस्मिन् पृथक्त्वे सति सस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च उपपत्तित ईक्षितव्यम् । तत्र दृष्टान्तः "यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति सस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च दृश्यते" । सहस्थानतया एकत्वं सस्थानैकत्वम् । पृथिवीत्युक्ते यावता सहभावेन समानं स्थानम्, ते सर्वे तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते, एवमुत्तरयोरपि स्थानयोः । एवं प्रकारमेकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम् । सम्भोगहेतुकमेकत्वं सम्भोगैकत्वम् । सम्भोगो नाम इतरेतरोपकारित्वम्, समानकार्यतेत्यर्थः । तच्च पुनरभिन्नस्थानानामपि भवति, किमङ्ग पुनः समानाख्यानानामिति । 'यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च, वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगः' । कथम् पृथिव्योषध्युत्पत्तौ स्वकार्यारम्भे पर्जन्यवाय्वादित्यकृतमुपकारमपेक्षते । तदुक्तम् "त्रयस्तपति पृथिवीमनूपा" इति (ऋ० सं० ७, ७, १८, ३) "अग्निना च इतरस्य लोकस्य" । तदप्युक्तम्, 'अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरति, दिवं जिन्वत्यग्नयः' इति च (ऋ० सं० २, ३, २३, ५) तदेवम्प्रकारमेकत्वं कार्यैकत्वात् स्थानैकत्वाद्वा भक्तं न प्रतिषिध्यते, लोकेऽपि समानकार्यता भवति तेषां तेषामैक्यमित्युच्यते ॥

कः पुनरत्राविरोधी भेदाभेदे दृष्टान्त इति । उभये हि प्रमाणं भेदाभेदवादिनः आत्मविन्नैरुक्तयाज्ञिकाः, नहि तेष्वमनीषिकया भेदाभेदौ प्रकल्पयन्ति, किन्तर्हि ? मन्त्रार्थमुद्दिश्य । तस्माद् वक्तव्यः समञ्जसो दृष्टान्तः । उच्यते—'तत्र एतत् नरराष्ट्रमिव' यथा राष्ट्रनित्यभेदः, नराः इति भेदः, एवं पृथिव्यग्निरित्यभेदः, जातवेदा वैश्वानर इति भेदः । एवमुत्तरयोरपि स्थानयोः । तथा आत्मेत्यभेदः लोकाश्च लौकिनश्चेति भेदः । सर्वत्रैव सामान्यविशेषधर्मो द्रष्टव्यः । पुरुषबुद्ध्यपेक्षातश्च गुणप्रधानतोऽपेक्षापुरुषानुरागविशेषतः ।

तत्रैवं सति आत्मविद आत्मनि त्रित्वनानात्वे गुणीकृत्य तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन कल्पयित्वैकमात्मानं पश्यन्ति । तथा नानात्वैकत्वे नैरुक्ता इति त्रित्वे, तथा त्रित्वैकत्वे याज्ञिका

भाषा

हैं और याज्ञिकों के साथ निरुक्तवालों का इस विषय में कोई विरोध नहीं है क्योंकि एक ही वस्तु का अपनी २ इच्छानुसार लोग अनेक प्रकार का विभाग कर सकते हैं जैसे किसी ने यह विभाग

नानात्वे। एवमेषामविरोधः। अस्ति हि शब्दार्थयोर्वक्तृप्रवक्तृवशेन तद्बुद्ध्यपेक्षया अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां वर्तितुं शक्तिः, न तु स्वाभाविकमभिधानाभिधेयसम्बन्धमकृतकमप्रच्यव-मानावभिधानाभिधेयौ जहीताम्, न ह्यग्नेरवभास्यं प्रत्यवभासनशक्तिः, अवभास्यस्य चाव-भास्यमानता शक्तिर्व्यवधानमन्तरेण विहन्यते, न ह्यकृतकं स्वयमप्यधीतको विकल्पते। वैदि-कानां पदवाक्यप्रमाणानामात्मभावानुशयवशेनात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिका वेदस्याविपर्यासिनीम-प्यध्यात्माधिदैवाधियज्ञविषयनियतामर्थाभिधानशक्तिं विपर्यासिनीमिव मन्यमानाः परस्परतो विपर्यस्यन्ते। तदेतत् सर्वथापि भेदाभेदवर्तिदेवतासतत्त्वं यथाग्रहं वक्तृप्रतिवक्तृवशेन प्रख्यातिमु-पनयत् स्तुतिरूपकेणात्मनोऽर्थसतत्त्वं तथाभूतं मन्त्रैराविष्क्रियते। तदुक्तं 'तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति' इति। दर्शितं चैतन्मन्त्रेण—'न त्वं युयुत्ससे' इति। निष्ठितरूपत्वेन स्वे स्वे विषयेऽध्या-त्मादौ परमार्थतया ऐकात्म्ये निष्ठा, तदन्तत्वाद्वाचः। तदुक्तम् "यतो वाचो निवर्तन्ते" इति ॥१॥

एवं आचारकाण्डे "षट् कर्माभिरतो नित्यं देवताऽतिथिपूजकः" इति ३८ श्लोक-व्याख्याने माधवपाराशरे। देवतास्वरूपं च वाजसनेयिब्राह्मणे (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ५ ब्रा० ६) शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादे विचार्य निर्णीतम्। तत्र शाकल्यः प्रष्टा, याज्ञवल्क्यो वक्ता, देवताविस्तारसङ्क्षेपौ स्वरूपं च प्रष्टव्योऽर्थः। तत्र चैषा श्रुतिः—

'अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ, कति देवा याज्ञवल्क्येति। सहैतयैव निविदा

भाषा

किया कि ब्राह्मण दो हैं एक गौड़, जो कि विन्ध्यपर्वत से उत्तर रहते हैं, और दूसरे द्रविड़, जो उसके दक्षिण रहते हैं तथा दूसरे ने यह विभाग किया कि ब्राह्मण दश प्रकार के होते हैं—सारस्वत, कान्यकुब्ज और गौड़ आदि। परन्तु इन विभागों के अन्योन्य में कोई विरोध नहीं है इति।

"अथ हैनं" इसके अर्थ से प्रथम इस पर ध्यान देना चाहिये कि किसी एक विषय पर मध्यस्थ के दिये अथवा अपने मनमाना दो पक्ष (पक्ष प्रतिपक्ष) लेकर वादी और प्रतिवादी तत्व निश्चय अथवा विजय के लिये प्रमाणों से गढ़े हुए जिन प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि वाक्यों को बोलते हैं उन वाक्यों के समुदाय का नाम कथा है। वह कथा दो प्रकार की होती है, एक वाद और दूसरा विवाद। जिस कथा में वादी और प्रतिवादी को जय वा पराजय की इच्छा नहीं रहती किन्तु केवल तत्व निश्चय ही की इच्छा रहती है वह वाद है। इसी से इस कथा में दोनों वादी अपने २ समझ से जिन प्रमाणों को सच्चा और निर्दोष समझते हैं उन्हीं को कहते हैं क्योंकि तत्व निर्णय ऐसे ही प्रमाणों से होता है। और विवाद उस कथा को कहते हैं कि जिसमें दोनों वादी अपने २ समझ से सच्चे और झूठे सब प्रकार के प्रमाणों को काम में ले आते हैं क्योंकि तत्व निर्णय से उनको कुछ प्रयोजन नहीं रहता किन्तु अपने विजय मात्र से वे प्रयोजन रखते हैं और विजय तो एक वादी के कहे हुए झूठे प्रमाण से भी हो सकता है यदि उस प्रमाण का झूठा होना दूसरा वादी सिद्ध न कर सके। और विवाद कथा में प्रायः अपना पाण्डित्य दिखलाने के लिये अर्थात् मैं इतना बड़ा पण्डित हूँ कि "सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा कर सकता हूँ" इस इच्छा से दोनों वादी विचार करते हैं और इसी के अनुसार एक जय दूसरा पराजय को प्राप्त होता है और इसी से इस कथा में जो अपने को

प्रतिपेदे, यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते, त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति। ओमिति होवाच, कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति, षडिति। ओमिति होवाच, कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इति। ओमिति होवाच कत्येव तु देवा याज्ञवल्क्येति, द्वाविति। ओमिति होवाच, कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति, अध्यर्ध इति। ओमिति होवाच, कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति, एक इति। ओमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्रीसहस्रेति, सहोवाच, महिमान एवैषामेते त्रयश्च त्रिंशत्येव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदष्टौ वसव एकादशरुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशा इति। कतमे ते वसव इति, अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं वसुनिहितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति। कतमे ते रुद्रा इति दशैव पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति।

भाषा

बड़ा पण्डित समझता है वह दुर्बल झूठे प्रश्न को भी इसलिये स्वीकार करता है कि जिसमें सभा के लोग यह समझें कि ऐसे दुर्बल पक्ष को भी इसने प्रबल प्रमाणों से सिद्ध किया इससे यह बड़ा पण्डित है। और इसी विवाद कथा को जल्प भी कहते हैं। और इसी जल्प कथा की आधी एक तीसरी भी कथा होती है जिसको (वितण्डा) कहते हैं अर्थात् उसमें एक वादी प्रश्न करता है और दूसरा उत्तर देता है किन्तु वह वादी के पक्ष का खण्डन मात्र करता है ऐसी दशा में यदि अन्त में उत्तर ही हो गया तो प्रतिवादी का, और यदि उत्तर नहीं हो सका तो वादी का विजय होता है। कथा के ये तीन विभाग न्याय दर्शन में कहे हुए हैं और यह किसी दर्शन के विरुद्ध नहीं है, इसलिये यह सब दर्शनों का सिद्धान्त है। अब श्रुति के अर्थ को देखना चाहिये जो कि पराशर माधव नामक ग्रन्थ में सायणाचार्य का (पराशर स्मृति आचार काण्ड "षट् *कर्माभिरतो नित्यम्*" इस ३८ श्लोक के व्याख्यान में) किया हुआ है कि शाकल्य महर्षि के साथ याज्ञवल्क्य महर्षि की वितण्डा (कथा) राजा जनक की सभा में हो रही है। शाकल्य वादी और याज्ञवल्क्य प्रतिवादी हैं।

शाकल्य का प्रश्न—हे याज्ञवल्क्य! देवता कितने उपास्य हैं? याज्ञवल्क्य का उत्तर—वैश्वदेव निविद में जितने कहे हैं उतने देवता उपास्य हैं। अर्थात् "त्रयश्च त्री च शता" इत्यादि मन्त्र में जितने कहे हैं उतने उपास्य देवता हैं उससे अधिक नहीं हैं। निदान तैंतीस सहस्र तैंतीस सौ देवता हैं। शाक०—हे याज्ञवल्क्य! इन देवताओं की संख्या का संक्षेप क्या है? याज्ञ०—तैंतीस। शाक०—इसमें भी संक्षेप क्या है? याज्ञ०—छः देवता। शाक०—इसका भी क्या संक्षेप है? याज्ञ०—तीन ही देवता हैं। शाक०—इसका भी क्या संक्षेप है? याज्ञ०—दो देवता हैं। शाक०—इसका क्या संक्षेप है? अध्यर्द्ध (डेढ़) देवता हैं। शाक०—इसका क्या संक्षेप है? याज्ञ०—एक ही देवता हैं। शाक०—वे तैंतीस सहस्र तैंतीस सौ देवता कौन २ हैं? याज्ञ०—ये सब तैंतीस देवताओं के विशेष भेद हैं। और सामान्य से तैंतीस ही देवता हैं। शाक०—कौन तैंतीस? याज्ञ०—वसु आठ, रुद्र ग्यारह, आदित्य बारह ये एकतीस तथा इन्द्र और प्रजापति ये तैंतीस हैं। शाक०—वसु कौन २ हैं? याज्ञ०—अग्नि, पृथिवी, वायु, आकाश, सूर्य, स्वर्ग, चन्द्रमा और नक्षत्र ये ही वसु हैं।

कतम आदित्या इति, द्वादश एव मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति। कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति, स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति। कतमस्तनयित्नुरित्यशनिरिति, कतमो यज्ञ इति पशव इति। कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदं सर्वं षडिति। कतमे ते त्रयो देवा इति, इम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति। कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति। कतमोऽध्यर्द्ध इति योऽयं पवत इति यदाहुर्यदयमेक एव पवते स कथमध्यर्द्ध इति। यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्त्तेनाध्यर्द्ध इति। कतम एको देव इति, प्राण इति "स ब्रह्मेत्याचक्षते" इति। अस्याः श्रुतेरयमर्थः-

उपासनार्हाणां देवानां सङ्ख्यादिविस्तारे पृष्टः शाकल्येन याज्ञवल्क्यो विजिगीषुकथायां प्रवृत्तत्वात् परबुद्धिव्यामोहाय निविदा प्रत्युत्तरं प्रतिपेदे। निविच्छब्दो वैश्वदेवनामके शास्त्रविशेषे स्थितानां सङ्ख्यावाचिनां पदानां समुदायमाचष्टे इति वैदिकप्रसिद्धिः। ततो यावन्तो देवा वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते, तावन्त उपास्याः, इत्युक्तं भवति। तानि च पदानि त्रयश्च त्री चेत्यादीनि। शतत्रयं सहस्रत्रयं षट्कञ्च देवविस्तारः। कत्येवेत्येवकारेण तत्र तत्र देवान्तरशङ्का व्युदस्यते। य एव देवाः पूर्वं विस्तृताः, त एव सङ्क्षेपेण क्रियन्त इति तत्र तत्र प्रश्नार्थः।

भाषा

क्योंकि ये ही अपने में सबका वास कराते हैं। तात्पर्य यह है कि व्याघ्र शब्द का केवल अक्षरार्थ लगाकर कोई चींटी अर्थ करै क्योंकि चीटियाँ विशेष से आघ्राण करती हैं अर्थात् गंध को सूँघती फिरती हैं वैसे वसु शब्द का मैं यह अर्थ करता हूँ। यदि तुम (शाकल्य) अपने पांडित्य के बल से इसका खण्डन कर सको तो करो। और ऐसे ही तात्पर्य अग्रिम उत्तरों के हैं। शाक०—वे रुद्र कौन २ हैं ? याज्ञ०—पुरुष के शरीर में प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कृकल, कूर्म, देवदत्त, धनञ्जय ये दश वायु हैं एक आत्मा ये ही ग्यारह रुद्र हैं। क्योंकि अन्त काल में जब ये निकलने लगते हैं तो सबको रुलाते हैं।

शाक०—वे बारह आदित्य कौन २ हैं ? याज्ञ०—ये चैत्र, वैशाख आदि बारह महीना बारह आदित्य हैं क्योंकि ये ही सब पदार्थों को आदान (ग्रहण) करते जाते हैं। शाक०—कौन इन्द्र ? और कौन प्रजापति हैं ? स्तनायित्नु, इन्द्र और यज्ञ, प्रजापति हैं। शाक०—स्तनयित्नु और यज्ञ कौन हैं ? याज्ञ०—स्तनयित्नु, बिजुली है और यज्ञ, ये ही आदि पशु हैं। शाक०—वे छः देवता कौन २ हैं ? याज्ञ०—अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य, और स्वर्ग ये ही षट् (छः) देवता हैं। क्योंकि ये ही सबको सहन करते हैं। शाक०—वे तीन देवता कौन २ हैं ? याज्ञ०—ये तीन लोक ही तीन देवता हैं, क्योंकि सब देवता इन्हीं में हैं। शाक०—वे दो देवता कौन २ हैं ? याज्ञ०—अन्न और उसका भोजन करने वाला ये ही दो देवता हैं। शाक०—वे अध्यर्द्ध कौन देवता हैं ? शाक०—यह जो सबको पवित्र करता हुआ वायु सदा भ्रमण करता है वही अध्यर्द्ध है। शाक०—यह एक ही है तो अध्यर्द्ध कैसे ? याज्ञ० 'अध्यर्द्ध' शब्द का यहाँ लोक प्रसिद्ध डेढ़ अर्थ नहीं है किन्तु अधिक ऋद्धि अर्थात् वृद्धि वाले को अध्यर्द्ध कहते हैं, वायु भी अधिक वृद्धि वाला है क्योंकि अन्धड़ चलता है। शाक०—वह एक देवता कौन है ? याज्ञ०—जो वेद में "प्राण" शब्द और 'ब्रह्म' शब्द से कहा हुआ है वही सब देवताओं का मूल मुख्य एक देवता है।

कतीति संख्याप्रश्नः, कतमे त इति स्वरूपविशेषप्रश्नः। तत्र तत्र शतसहस्रसङ्ख्या ये देवा उक्तास्ते सर्वे प्रधानभूता न भवन्ति, किं तर्हि ? प्राधान्येन हविर्भुजां त्रयस्त्रिंशद्देवानां योगमहिम्ना स्वीकृतेच्छिकविग्रहा एव, ततो न तेषां स्वरूपविशेषः पृथक् निरूपणीय इति। त्रयस्त्रिंशद्देवेषु श्रुता वस्वादयः पुराणप्रसिद्धेभ्योऽन्ये, तेषु शब्दप्रवृत्तिर्यौगिकी। प्राणा वाह्येन्द्रियाणि, आत्माऽन्तःकरणम्। इन्द्रप्रजापतिशब्दौ लक्षणया स्तनयित्नुयज्ञयोर्वर्तेते, लक्षितलक्षणया त्वशनिपश्वोः अन्नप्राणौ भोग्यभोक्त्रभिमानिनौ। अध्यर्द्धशब्दो रूढ्या सङ्ख्यावाची, योगेन तु समृद्धं वायुं वक्ति। वायुः सूत्रात्मा "वायुर्वै गौतमसूत्रम्" इति श्रुतेः। अन्ते प्राणशब्दः परमात्मवाचकः। तदेव स्पष्टयितुं स ब्रह्मेत्युक्तम्। तच्छब्दः परोक्षवाची। अकृतब्रह्मविचारं पुरुषं प्रति ब्रह्मणः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात् परोक्षत्वम् इति। तत्र प्राणशब्दवाच्यः परमात्मैवैको मुख्यो देव इति।

तत्रैवाग्रे—ननु इन्द्रमित्रवरुणादयः शब्दा भिन्नदेववाचिनो न त्वेकं देवमभिदधति। अन्यथा वारुणयागे ऐन्द्रो मन्त्रः प्रयुज्येत। नायं दोषः। एकत्वेऽपि देवस्य मूर्तिभेदेन मन्त्रव्यवस्थोपपत्तेः। यथा शैवागमेषु शिवस्यैकत्वेऽपि प्रतिमाभेदेन दक्षिणामूर्तिचिन्तामणिमृत्युञ्जयादयो मन्त्रा मूर्तिविशेषेषु व्यवस्थिताः। यथा वा वैष्णवयागेषु गोपालवामनादयो मन्त्राः तथा देवेऽपि किं न स्यात्।

भाषा

प्र०—इन्द्र, मित्र, वरुण, आदि शब्द भिन्न २ देवताओं के वाचक हैं, न कि एक ही देवता के, क्योंकि यदि ऐसा हो तो वरुणयाग में इन्द्र का, इन्द्रयाग में वरुण का मन्त्र पढ़ा जाने लगेगा। जैसे कि नहीं होता अर्थात् जो याग जिस देवता का है उसमें उसी का मन्त्र पढ़ा जाता है तो अनन्तरोक्त वैदिक आख्यायिका में याज्ञवल्क्य के नाम से यह सिद्धान्त कैसे किया जाता है कि एक ही देवता है!

उ०—यद्यपि देवता एक ही है तथापि उसकी मूर्तियाँ इन्द्रादि नामक देवतारूपी बहुत सी हैं, उन्हीं मूर्तियों के अनुसार यह व्यवस्था ठीक है कि जिस देवता का जो याग हो उसमें उसी के मन्त्र को पढ़ना चाहिये। जैसे शैव शास्त्र के सिद्धान्त में शिव एक ही हैं परन्तु उनकी प्रतिमाभेद के अनुसार दक्षिणामूर्ति, चिन्तामणि और मृत्युञ्जय आदि नामक मन्त्र दक्षिणामूर्ति आदि प्रतिमा विशेष ही की पूजा में पढ़े जाते हैं अर्थात् दक्षिणामूर्ति की पूजा में दक्षिणामूर्ति नामक ही मन्त्र पढ़े जाते हैं न कि चिन्तामणि आदि मन्त्र; और वैष्णवशास्त्र में गोपाल, वामन आदि मन्त्रों के विषय में भी यही व्यवस्था है, ऐसे ही वैदिक मंत्रों के विषय में भी समझना चाहिये।

प्र०—द्रव्य और देवता, याग का स्वरूप है और मीमांसा दर्शन के द्वितीय अध्याय में यह सिद्धान्त किया हुआ है कि स्वरूप के भेद से याग का भेद होता है तो जब एक ही देवता है तो अनेक याग क्यों कहते हैं।

उ०—इसका उत्तर पूर्ववत् है, अर्थात् इन्द्रादि रूपी मूर्तिभेद के अनुसार अनेक याग होते हैं। इसी से बृहदारण्यकोपनिषद् में "*तद्यदिदमाहुरमुं यजाऽमुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः*" (इसका अर्थ इसी प्रकरण में हो चुका है) कहा है।

ननु द्रव्यदेवते यागस्य स्वरूपम् स्वरूपभेदाच्च कर्मभेदः प्रतिपादितः, 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्, इत्यत्र यथाऽऽमिक्षावाजिनयोर्द्रव्ययोर्भेदस्तथा विश्वेषां देवानां वाजिभ्यो देवेभ्यो भेदोऽभ्युपगन्तव्यः इति। बाढम्, अभ्युपगम्यते ह्येकस्यैव वासवस्य देवस्य कर्मानुष्ठानदशायामौपाधिको भेदः। अत एव वाजसनेयि ब्राह्मणे इष्टिप्रकरणे कर्मानुष्ठातृप्रसिद्धं देवभेदमनूद्य तदपवादेन वास्तवं देवैकत्वमवधारितम्, "तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येवमेकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः"। न चैकस्माद्देवात् फलभेदो दुःसम्पादः, इति शङ्कनीयम् उपास्तिप्रकारभेदेन तदुपपत्तेः। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः। यथैकोऽपि राजा छत्रचामरादिसेवाप्रकारभेदेन फलभेदे हेतुस्तद्वत् इति।

माधवोदाहृतायामस्यां श्रौताख्यायिकायां विजिगीषुकथैव प्रस्तुतेति तत्पूर्वजनकयज्ञवृत्तान्तप्रतिपादकश्रौतप्रकरणपर्यालोचनादेव निश्चीयते।

तथा च बृहदारण्यकोपनिषदि इतः पूर्वम्—

जनको वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपाञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेताः बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवा ँ सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

भाषा

प्र०—जब एक ही देवता है तब उसके पूजने वालों को पृथक् २ अनेक प्रकार के फल कैसे होते हैं?

उ०—इन्द्र आदि उन २ देवता रूपी मूर्ति विशेषों के द्वारा अनेक प्रकार की उपासना से अनेक प्रकार के फल होते हैं जैसे छत्र के द्वारा सेवा से छत्रग्राही को और चामर के द्वारा उसी राजा की सेवा से चामरग्राही को अन्योन्य में फल विशेष होते हैं जैसा कि "*तं यथायथोपासते तदेव भवति*" उस परमेश्वर की जैसी २ उपासना करते हैं वह वैसा २ हो जाता है, इस श्रुति में कहा है इति।

सायणाचार्य की उद्धृत इस वैदिक आख्यायिका में पूर्व प्रकरण के देखने से यह निश्चित होता है कि याज्ञवल्क्य के पराजय के लिये वितंडा कथा ही का प्रस्ताव है क्योंकि इसके पूर्व की श्रुति यह है कि "जनको०" विदेह (तिरहुत) का राजा जनक अश्वमेध करता है उसकी यज्ञशाला में कुरु और पाञ्चाल देश के विद्वान् एकत्रित होने हैं। जनक को यह जिज्ञासा होती है कि इनमें से कौन बड़ा वेदान्ती और वक्ता है? और इसी के लिये एक २ गौ के दोनों शृङ्गों में पाँच २ स्वर्ण का पण (अशरफी) बँधाकर एक सहस्र गौ एकत्रित कर वह उन ब्राह्मणों से कहता है कि हे भगवन्तः! आप में जो बड़ा विद्वान् हो वह इन गौओं को अपने गृह ले जाय। तदनन्तर जब किसी ब्राह्मण ने गौओं के लेने में उत्साह नहीं किया तब याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से उच्च स्वर में यह कहा कि हे सामश्रवा! इन गौओं को मेरे घर ले जा। (इस सामश्रवा नाम से यह सूचित होता है कि याज्ञवल्क्य एक यजुर्वेद ही के विद्वान् नहीं हैं जैसा कि प्रसिद्ध है किन्तु चारो वेदों के विद्वान् हैं क्योंकि 'सामश्रवा' के नाम से यह स्पष्ट है कि वह सामवेद का विद्यार्थी था और साम किसी अक्षर का नाम नहीं है किन्तु स्वर ही का नाम है सो भी ऋग्वेद के मंत्रों में गाया जाता है और अथर्व वेद इन्हीं तीनों वेद से निकला हुआ

तान्होवाच ब्राह्मणा भवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गाः उदजतामिति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वयमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सौम्योदज सामश्रवा ३। इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताश्वलो बभूव सहैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी ३ इति सहोवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्म्मो गोकामा एव वयꣳस्म इति तꣳह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताश्वलः ॥२॥

विजिगीषायां च प्रतिस्वं प्रमाणत्वेनानिर्णीयमानैः प्रमाणाभासत्वेन निर्णीयमानैश्चोत्तरप्रत्युत्तरैर्वादिप्रतिवादिनोर्व्यवहारो न दुष्यति जल्पकथावदिति न कथकानां तिरोहितम्। एवञ्च "श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धानामिन्द्रादिदेवानां तात्त्विकमपि देवत्वं स्ववैदुष्यप्रौढेरुद्धो-

भाषा

है, वास्तविक वह इन्हीं के अन्तर्गत है। ये सब बातें पूर्व ही वेद दुर्ग सज्जन में बड़े समारोह से कही गई हैं) और अपने गुरू की आज्ञानुसार सामश्रवा उन गौओं को लेकर चला। इतने में अन्य सब ब्राह्मण अपना अपमान समझकर कि हम सबसे अपने को बड़ा पंडित प्रसिद्ध करने के लिये कैसे याज्ञवल्क्य ने गौओं के ले जाने की आज्ञा भरी सभा में दी, क्रोध किया और उनमें से जनक का होता (होम करने वाला) अश्वल नामक ऋषि, याज्ञवल्क्य से व्यङ्ग्योक्ति कहता है कि हे याज्ञवल्क्य! हम सबसे बड़े वेदान्ती विद्वान् और वक्ता तुम्हीं न हौ ३ (यहाँ हौ के उकार में जो लम्बा प्लुत स्वर है, उससे भर्त्सना निकलती है कि यदि तुम बड़े विद्वान् हो तो मैं तुमसे प्रश्न करता हूँ उसका उत्तर दो) तदनन्तर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मैं बड़े विद्वान् को नमस्कार करने वाला हूँ परन्तु मुझको गौओं से प्रयोजन है। तदनन्तर प्रथम अश्वल प्रश्न करता है इति। (ऐसे ही क्रम से अनेक ऋषियों के नाम से प्रश्न और याज्ञवल्क्य के नाम से उत्तर की आख्यायिकायें इसी उपनिषद् के पाँचवें अध्याय में हैं जिनमें से शाकल्य और याज्ञवल्क्य के नाम से प्रश्नोत्तररूपी आख्यायिका को सायणाचार्य ने उद्धृत किया है) और यह पूर्व में कहा जा चुका है कि ऐसी वितण्डा कथा में वादी लोग असत्य को भी सत्य सिद्ध करते हैं। इससे यह स्पष्ट निश्चित हो गया कि श्रुति, स्मृति इतिहास, पुराण आदि में प्रसिद्ध इन्द्र, वरुण आदि का देवता होना वास्तविक है परन्तु याज्ञवल्क्य अपने पाण्डित्य के बल से इन्द्रादि शब्दों का दूसरा ही अर्थ लगाकर केवल शाकल्य के पराजय के लिए उसका खण्डन करते हैं और सभा को यह दिखलाते हैं कि ऐसे प्रसिद्ध और वास्तविक अर्थ का भी मैं खण्डन करता हूँ जिसका उत्तरदाता इस सभा में कोई नहीं है, मैं ऐसा पण्डित हूँ। और ऐसी दशा में इस आख्यायिका का यही तात्पर्य निश्चित होता है कि वसु आदि जिन २ देवता के देवता होने का खण्डन याज्ञवल्क्य करते हैं वे ही वास्तविक देवता हैं और इस तात्पर्य के अनुसार पूर्वोक्त अनेक देवताओं की सिद्धि होती है तथा यह भी है, यदि गौ किसको कहते हैं? इस प्रश्न का यह उत्तर दिया जाय कि भैंस को, क्योंकि जो गमन करै उसको गौ कहते हैं और भैंस गमन करती है और गम् धातु से "गौ" बनता है। तो इस उत्तर को लोग उन्मत्त का उत्तर कहेंगे क्योंकि यदि गमन करने से गौ है तो बैठी और सोई गौ, गौ न कहलावेगी। इस कारण गौ बैठी है, गौ सोती है, यह व्यवहार न होगा क्योंकि चलती को गौ कहते हैं और बैठना, सोना चलने के विरुद्ध है तथा यह भी व्यवहार पुनरुक्ति

पणायापह्नुत्य वस्वादिशब्दानां रूढिशक्तीस्तिरस्कृत्य योगशक्तिमात्रपुरस्कारेण पृथिव्यादीनामेव वस्वादिपदार्थत्वं प्रौढिवादेनैव प्रतिपादितं याज्ञवल्क्येनेत्यपि निर्णीतमेव । विजिगीषैकायनस्य व्याज्ञवल्क्यस्य देवेष्वपि देवत्वं मया प्रतिपाद्यमानं नास्मिन्महर्षिमण्डले कोऽपि निराकर्तुं क्षमतीदृशं मद्वैदुष्यमित्यभिप्रायः एवञ्च यत्र यत्र देवत्वमपलपितं याज्ञवल्क्येन तत्रैव परमार्थिकं देवत्वमित्येव गूढतरमियमाख्यायिकाऽभिप्रैति तया चाभिप्रेयमाणमिन्द्रादीनां देवत्वं तत्तद्देवभेदे पर्यवस्यति ।

अत एव 'माधवेनविजिगीषुकथायाम् प्रवृत्तत्वाद्' इति, त्रयस्त्रिंशद्देवेषु श्रुता वस्वादयः पुराणप्रसिद्धेभ्योऽन्ये तेषु शब्दप्रवृत्तिर्यौगिकीति चोक्तम् । अङ्गत्वं चेश्वरस्य परब्रह्मप्रतिमायोपाधिकत्वेन विशेषरूपत्वादेव । तदङ्गत्वं चेन्द्रादीनामन्तःकरणरूपमायापरिणामविशेषावच्छिन्नत्वेन विशेषरूपत्वाज्जीवान्तरवत् । तेषु मिथस्तारतम्यं चोपपबृंहकब्रह्मशक्तिविशेषापूरतारतम्यनिबन्धनम् । प्रत्यङ्गत्वमप्यङ्गोपबृंहकब्रह्मशक्तिरूपसामान्यापेक्षया विशेषभूतया तादृशशक्त्योपबृंहितत्वमेव । अयमेवचाङ्गप्रत्यङ्गभावः—"एतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः" इति श्रुतौ पूर्वोपन्यस्तायां विसृष्टिशब्देनोच्यते एतदेव चाभिप्रयता भगवता यास्केन स्ववाक्यपर्यवसाने निगमय्य 'तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव' इति निदर्शनमुपन्यस्तम् विवृतश्चैतयैव रीत्या दुर्गेण तद् स्वयमपि च 'तदेवं ब्रह्म, देवतावृक्षमूलमिति' निगमितं दुर्गेण । विशेषाणाञ्च सामान्याभिन्नत्वेऽपि सामान्यानां स्वविशेषाभिन्नत्वमेवेति' भेदाभेदयोरपि नरराष्ट्रनिदर्शनतात्पर्यम् । एतच्चास्मिन्नेव काण्डे भगवद्भक्तिवर्णने विशेषतो निरूपयिष्यते । एतेन माधवोदाहृतां देवताभेदप्रतिपादिकां श्रुतिमुपन्यस्य पृथिव्यादीनामेव देवतात्वं न तु तदतिरिक्ता काचिदिन्द्रादिदेवतास्तीति अर्थापयतां "विद्वांसो हि देवाः" (३, ७, ३, १०,) इति शतपथश्रुत्या मनुष्याणामेव विदुषां देवतात्वमिति व्यवस्थापयतां देवतानास्तिकानां पामरनरप्रतारणापि प्रत्याख्याता ।

भाषा

दोष के कारण न होगा कि गौ गमन करती है क्योंकि जब गौ कहने से गमन का बोध हो गया तब गमन करती है (चलती है) यह कथन व्यर्थ ही है । इन दोषों के वारणार्थ दर्शन और लोकानुभवों से सिद्ध तथा प्रसिद्ध यही सिद्धान्त है कि गौ आदि शब्द गोत्वादि जाति में रूढ़ अर्थात् उन जातियों के संज्ञा शब्द हैं । ये अपने अक्षरार्थ का बोध नहीं करते किन्तु गोत्वादि जाति रूपी अपने समुदायार्थ ही का बोध करते हैं । ऐसे ही वसु रुद्र आदि शब्द भी देवताओं के वसुत्व आदि जाति विशेष में रूढ़ और उन जातियों के संज्ञा शब्द श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और लोक में प्रसिद्ध ही हैं । तो ऐसी दशा में आठ वसु कौन हैं, इत्यादि प्रश्नों का "पृथ्वी, वायु आदि आठ वसु हैं क्योंकि ये अपने में सब का वास कराते हैं । यह उत्तर देना याज्ञवल्क्य का उन्मत्त प्रलाप ही के तुल्य है और याज्ञवल्क्य का यह अभिमान स्पष्ट ही टपकता है कि मेरे उन्मत्त प्रलाप का भी कोई उत्तर नही दे सकता । और पूर्वोक्त रीति से मायोपाधिक चैतन्यरूपी ब्रह्मदेव आदि ईश्वररूपी देवता, शुद्ध चैतन्यरूपी परब्रह्म के अङ्ग हैं अर्थात् उनके विशेष हैं । ऐसे ही मायारूपी उपाधि के परिणाम अन्तःकरणरूपी विशेष उपाधि से परिमित चैतन्यरूपी जीव, ईश्वररूपी चैतन्य के अङ्ग हैं अर्थात् उसके विशेष हैं तथा

माधवोदाहृतश्रुतेः तथा व्याख्याने "अग्निर्देवता वातो देवते' त्यादिभिः पूर्वोपन्यस्त-श्रुतिस्मृतिनिरुक्तैः पूर्वं निपुणतरं प्रमाणतया निर्णीतैश्च देवविग्रहप्रतिपादकैः सह विरोधानां सुरगुरुणाऽपि दुरुद्धरत्वात्। किञ्च तैरुपन्यस्ता शातपथश्रुतिरपि "विद्वांसो हि देवास्तस्मादा-होशिजो वह्नितमानिति" इत्याकारा 'देवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्' (य० अ० ६ मं० ७) इतीमं मन्त्रभागं सप्रतीकं स्पष्टमेव व्याचष्टे। 'उशिज' इत्यस्य हि व्याख्या 'विद्वांसो देवा' इति। तत्र मन्त्रे च देवशब्देनाग्न्यादय एव गृह्यन्ते मनुष्याणां तत्र प्रसंगासंभवात्॥ वष्टेश्च ज्ञानार्थत्वं प्रकृते विद्वांस इत्यनेन प्रकाश्यते तथा चाग्न्यादीनामेव वैदुष्येण प्रशंसेति। अत्राधि-कन्तु श्राद्धप्रकरणे वक्ष्यते अत्र बालबोधकः प्रपञ्चस्तु भाषामयेषु ग्रन्थेषु विलोकनीय इति।

एवं देवतानां सर्वशक्तिमत्त्वमपि श्रूयते।

"रूपं रूपं मघवा बोभवीति कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम्। त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रै रनृतुपा ऋतावा"॥ इति। (ऋ० मं० ३ अ० ४ सू० ५३ मं० ८) व्याख्यातं च ब्राह्मणेन-

भाषा

शुद्ध चैतन्यरूपी प्रथम देवता के अङ्ग के अङ्ग होने से उसके प्रत्यङ्ग हैं और इन्द्रादि देवता भी ब्रह्मशक्ति विशेष के कारण जीवों में बड़े हैं परन्तु जीव से भिन्न नहीं हैं और यही अङ्ग प्रत्यङ्ग का सम्बन्ध *'एतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः'* इस पूर्वोक्त बृहदारण्यक श्रुति में 'विसृष्टि' शब्द का अर्थ है अर्थात् सब देवता ब्रह्म ही के विसृष्टि (उसके अङ्गरूपी ईश्वर के अङ्ग होने से उसके प्रत्यङ्ग) हैं। तो जैसे करोड़ों जीव करोड़ों अन्तःकरण रूपी उपाधि से भिन्न २ जगत् में हैं वैसे ही इन्द्रादि देवतारूपी अनेक जीव अन्योन्य में भिन्न २ ही हैं। और इसी अभिप्राय से पूर्वोक्त निरुक्त के अन्त में भगवान् यास्क महर्षि ने सबका सारभूत नरराष्ट्र का दृष्टान्त दिया है और दुर्गाचार्य ने भी इसी रीति से उस दृष्टान्त का आशय वर्णन किया है और यह भी कहा है कि "देवतारूपी वृक्ष का ब्रह्म ही मूल है" और यह दुर्गाचार्य का ग्रन्थ अभी उद्धृत हो चुका है। तथा नरराष्ट्र दृष्टान्त का यह भी तात्पर्य है कि विशेषरूपी देवता, यद्यपि सामान्यरूपी देवता से भिन्न नहीं हैं तथापि सामान्यरूपी देवता, विशेषरूपी देवता से भिन्न ही हैं। और इस तात्पर्य का विशेषरूप से वर्णन इसी काण्ड में आगे भगवद्भक्ति के प्रकरण में किया जायगा। ऐसा ही देवताओं का सर्वशक्तियुक्त होना भी वेद की ऋक्संहिता में तथा यास्कमहर्षि के उद्धृत ब्राह्मण भाग में भी कहा है जो यह है कि—

"रूपं रूपं" धनवान् इन्द्र जिस २ रूप को चाहते हैं धारण करते हैं अर्थात् अनेक रूपों के ग्रहण करने की शक्तियाँ इन्द्र में हैं, इसी से वह अपने शरीर से अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण करते हैं। इसी से अपने स्तुतिमन्त्रों से वह अनेक स्थानों पर अनेक यज्ञों में बुलाये जाते हैं तब एक ही समय में वह इन्द्र उन अपने निर्मित शरीरों के द्वारा उन अनेक स्थानों पर आते हैं।

"यद्यद्रूपं" यास्क महर्षि ने कहा है कि यह ब्राह्मणभाग का वाक्य है कि "यद्यद्रूपं" (देवता जिस २ शरीर को चाहते हैं धारण करते हैं) और अन्य स्थल में भी यास्क ने कहा है कि "आत्मैषाम्" इन प्रत्येक देवताओं के शरीर ही से रथ और शस्त्र आदि सब पदार्थ उनके लिये उनकी इच्छामात्र से उत्पन्न होते रहते हैं। तथा इतिहासों और पुराणों में सहस्रों स्थानों पर

यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति। रूपं रूपं मघवा बोभवीतीत्यपि निगमो भवति (नि० अ० १० खं० १७) इति यास्केनोक्तत्वात्। एवं स्थलान्तरेऽपि तेनैवायं मन्त्र उद्धृतः।

भाषा

देवताओं के प्रभावों का विस्तार अत्यन्त प्रसिद्ध ही है जिसको विशेषरूप से लिखने की आवश्यकता यहाँ नहीं है। स्वामी ने तो अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका की ६६ पृष्ठ में "अथ हैनं" इस पूर्वोक्त सायणाचार्य की उद्धृत देवता भेद के प्रतिपादक बृहदारण्यक उपनिषद् में पूँछ के ऐसा "सहोवाच" यहां से आगे का भाग केवल लिख कर उसका अर्थ लगाया कि ब्रह्म ही एक देवता हैं और ब्रह्मादि सब देवता मिथ्या हैं। तथा सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ९९ पंक्ति २९ में "*विद्वांसो हि देवाः*" इस श्रुति को लिखकर यह कहा कि पंडित मनुष्य ही देवता हैं सो सब इस अनन्तरोक्त व्याख्यान से परास्त हो गया क्योंकि उक्त बृहदारण्यक श्रुति का जो व्याख्यान स्वामी जी का है उसमें *अग्निर्देवता* वातो देवता इत्यादि पूर्वोक्त मंत्र का विरोध दुर्वार ही है तथा पूर्व ही बड़े समारोह से विशेषतः पुराण प्रामाण्य निरूपण में इतिहास पुराणों का प्रामाण्य अटल निरूपित हो चुका है तो ऐसी दशा में इन्द्रादि देवता के स्वरूप और प्रभाव के प्रतिपादक इतिहासों और पुराणों के सहस्रों वाक्यों से विरोध, स्वामी के व्याख्यान में ऐसा पड़ता है कि जिसका औषधि ही नहीं है। और स्वामी ने देवता के स्वरूप का निर्णय न कर उसके खंडन ही में प्रवृत्त हुए। इससे यह स्पष्ट ही है कि वह यह कुछ भी नहीं जानते थे कि देवता किस चिड़िये का नाम है तथा उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद् के पूर्वोद्धृत उस पूर्व आख्यायिका को नहीं देखा था जिसमें याज्ञवल्क्य के साथ अश्वलादि ऋषियों का क्रोध के कारण वितण्डा रूप से प्रश्न करना लिखा है। यदि देखा भी हो तो अनपढ़ मनुष्यों की वञ्चना करने के लिये उसको छोड़ दिया तथा शाकल्य की आख्यायिका में भी 'सहोवाच' से पूर्वभाग को छोड़ दिया।

देवता स्वरूप का निर्णय अभी दोबारा हो चुका है तो जब सब जीव और स्वयं स्वामी भी अन्तःकरण रूपी उपाधि से परिमित चैतन्य रूपी हैं और अन्तःकरण उपाधि, शरीर के बिना होती ही नहीं। इसी से जब जीवों का और स्वामी का भी शरीर है तो क्या कारण है कि इन्द्रादि देवताओं का स्वरूप न हो क्योंकि वे भी तो शक्तिविशेष के कारण, अधिकार विशेष और इन्द्रादि नाम विशेष को प्राड्विवाक (जज) आदि की नाईं पाये हैं। परन्तु वास्तविक में अन्तःकरण रूपी उपाधि सहित चैतन्य रूपी जीव ही तो हैं। और उनका हमको प्रत्यक्ष न होना तो उनके अन्तर्धान शक्तिरूपी प्रभाव के कारण उचित ही है। और उनका प्रभाव 'रूपं रूपं' 'आत्मैषाम्' इस पूर्वोक्त मंत्र और यास्काचार्य के उद्धृत 'यद्यद्रूपं' इस ब्राह्मण वाक्य तथा इतिहास और पुराण के सहस्रों वाक्यों से सिद्ध ही है। और यदि उक्त बृहदारण्यक उपनिषद् की आख्यायिका का थोड़े समय के लिए वही झूठा तात्पर्यार्थ मान लिया जाय जिसको कि स्वामी ने कहा है तब भी सर्वसाधारण के लिए स्वामी का यह कथन कि "एक ही देवता है, दूसरा देवता नहीं है" केवल लोकवञ्चना ही है क्योंकि उक्त उपनिषद् अद्वैत ब्रह्म के तत्वज्ञानी जीवन्मुक्तों और विदेहमुक्तों की दृष्टि से इन्द्रादि देवताओं को मिथ्या बतलाती है। और वह ठीक ही है क्योंकि उस दशा में सब जगत् ही मिथ्या है और उसके साथ स्वामी भी मिथ्या हैं और उनका कथन भी बहुत ही मिथ्या है। और यदि लोक व्यवहार की

आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुध आत्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य (नि० अ० ७ खं० ४ दैवतकां)। एवमितिहासपुराणेष्वपि देवतानां प्रभावप्रपञ्चो द्रष्टव्य इति ॥

अथ देवताविग्रहः २

देवता विग्रहवती नवेति विचार्यते। तत्र न विग्रहवतीति जैमिनीयः सिद्धान्त एव पूर्वपक्षः। तथा हि— देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्।

पू० मी० ९ अध्याये १ पादे० अ० ४ सू० ६।

भाषा

दशा में सब जगत् और स्वामी भी सत्य हैं तो वैसे ही इन्द्रादि देवता भी सत्य ही हैं क्योंकि वह भी जीव ही हैं। और उक्त उपनिषद् से देवता ही का विचार है इसी से तत्वज्ञान की दशा में देवता की असत्यता कही है। पृथ्वी आदि की असत्यता तो '*नेह नानास्ति किञ्चन*' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होती है। ऐसे ही '*विद्वांसो हि देवाः*' इसे शतपथ श्रुति का अर्थ भी स्वामी को नहीं समझ पड़ा और यदि समझ पड़ा तो स्वामी ने लोकवञ्चना ही के लिए उसको उलटे लिख दिया। क्योंकि '*देवान् दैवीं-विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्* (य० अ० ६ मं० ७) यह यजुः संहिता का मंत्र है और शतपथ ब्राह्मण में '*विद्वान्सो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति*' इन्द्रादि देवता तो विद्वान् होते ही हैं। इसी से कहता है कि '*उशिजो वह्नितमान्*' यह वाक्य है अब ध्यान देना चाहिये कि उक्त मंत्र के '*उशिजो वह्नितमान्*' इतने भाग की व्याख्या उस भाग को स्पष्ट बोलकर ब्राह्मण भाग करता है कि '*विद्वान्सो देवाः*, और उक्त मन्त्र में मनुष्यों का कोई प्रसङ्ग नहीं है किन्तु अग्न्यादि देवताओं का प्रसङ्ग है। तथा 'उशिज' शब्द का ज्ञानी अर्थ है जो कि 'विद्वान्' शब्द से कहा गया है। इस रीति से ज्ञानी होने से अग्न्यादि देवों की प्रशंसा इस मन्त्र और ब्राह्मण में की है। तो इससे यह अर्थ कदापि नहीं निकल सकता जो कि स्वामी ने किया है और स्वामी के इस अर्थ का खण्डन श्राद्ध प्रकरण में कहे जानेवाले संख्या ६ और १३ खण्डन से भी स्पष्ट होता है। तथा इस विषय में स्वामी का अधिक खंडन यहाँ इसलिए नहीं किया जाता है कि इस समय प्रचलित कतिपय भाषा ग्रन्थों में उसका खंडन भलीभाँति हो चुका है।

२—अथ देवता के विग्रह (शरीर) का निरूपण

यद्यपि पूर्वोक्त रीति से अन्तःकरणरूपी उपाधि सहित और शक्तिविशेष से विशिष्ट जीवरूपी इन्द्रादि देवताओं का शरीर अन्यान्य जीवों की नाईं आप से आप सिद्ध ही है क्योंकि अन्तःकरण शरीर के बिना नहीं रहता, तथापि देवताओं का शरीर मनुष्यों को प्रायः प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए अन्यान्य प्रमाणों से भी उसको सिद्ध करना कुछ आवश्यक है। और इसी कारण देवता के शरीर के विषय में जैमिनि महर्षि ने पूर्वमीमांसा दर्शन के अध्याय ९ में और भगवान् श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ने भी उत्तर मीमांसा दर्शन (वेदान्त दर्शन) के प्रथम ही अध्याय में विचार किया है इसलिए उक्त दर्शनों के अनुसार यहाँ भी यह विचार किया जाता है कि देवताओं का विग्रह (शरीर) नहीं होता। अथवा होता है!

यहाँ पूर्वपक्ष वही है जो कि जैमिनीय महर्षि का सिद्धान्त है अर्थात् देवताओं का शरीर नहीं होता। अब उस पूर्वपक्ष के लिए यहाँ पूर्वमीमांसा-दर्शन अध्याय ९ पाद १ के अधिकरण ४ का ज्यों का त्यों दिखलाना अत्यावश्यक है। क्योंकि उसके दिखलाने से जैमिनि महर्षि का सिद्धान्त स्पष्ट

अत्र शाबरम्

नैतदस्ति, अग्न्यादयोऽप्रयोजका इति, सर्वा देवताः सर्वेषां धर्माणां प्रयोजिका भवितुमर्हन्ति। कुतः? भोजनस्य तदर्थत्वात्। भोजनं हि इदं देवतायाः यागो नाम, भोज्यं द्रव्यं देवतायै प्रदीयते, सा भोक्ष्यते इति, देवतासंप्रदानको ह्ययं यागः श्रूयते, संप्रदानं च नाम कर्मणोऽपि ईप्सिततमादभिप्रेततरम्। तस्मात् न गुणभूता देवता, देवतां प्रति गुणभूते द्रव्य-कर्मणी। अपि च यागो नाम देवतापूजा। पूजा च पूजनीयं प्रति गुणभूता लोके दृश्यते, तदेतत् अतिथिवद्द्रष्टव्यम्, यथा यावत् किञ्चिदतिथेः परिचरणं सर्वं तत् अतिथिप्रयुक्तम् एव-मिदमपीति।

आह, नन्वेवं ब्रुवता विग्रहवती देवता भुङ्क्ते च इत्यभ्युपगतं भवति। उच्यते—बाढं विग्रहवती देवता भुङ्क्ते च। कुतः? स्मृतेः, उपचारात्, अन्यार्थदर्शनाच्च। एवं हि स्मरन्ति, विग्रहवती देवता इति। स्मृतिश्च नः प्रमाणम्। तथा हि विग्रहवतीं देवतां उपचरन्ति, यमं दण्ड-हस्तमालिखन्ति कथयन्ति च तथा वरुणम् पाशहस्तम् इन्द्रम् वज्रहस्तम्। उपचारादपि स्मृते-

भाषा

हो जायगा जो कि यहाँ पूर्वपक्ष है। इसलिए शाबर भाष्य सहित वे सूत्र क्रम से उद्धृत किये जाते हैं जो कि उक्त अधिकरण में हैं और उसमें भी सूत्र, जैसे के तैसे संस्कृत में लिखे जाते हैं और शाबर भाष्य का तात्पर्य, भाषा में लिखा जाता है।

"*देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्*" (पू० प० सू० ६) अर्थ—इसके पूर्व अधिकरण में जो यह कहा गया कि मंत्र के द्वारा देवता का स्मरण करना व्यर्थ है अर्थात् देवता अकिंचित्कर हैं, वह ठीक नहीं है। किन्तु इन्द्रादि देवता यज्ञरूपी सब कर्मों के प्रयोजक हैं। अर्थात् उन्हीं के प्रसन्नतार्थ यज्ञ किया जाता है और यज्ञ देवता का भोजन है तथा यज्ञ में भोज्य द्रव्य देवता को भोजन करने के लिए दिया जाता है और जब कि भोज्य द्रव्य देवता का प्रिय होने से यजमान का भी प्रिय होता है तब इसमें क्या सन्देह कि भोज्य की अपेक्षा देवता, यजमान का प्रियतम है। इसलिए देवता ही प्रधान वस्तु है, द्रव्य और क्रिया तो देवता के प्रति गौण हैं। तथा यह भी है कि याग देवता का पूजन है। और पूजन के प्रति पूजनीय प्रधान होता है। इन दोनों रीतियों का दृष्टान्त अतिथि है अर्थात् अतिथि का जो कुछ भोजन अथवा सेवा आदि होता है उसका प्रयोजक और उसके प्रतिप्रधान भी अतिथि ही होता है। क्योंकि अतिथि ही की प्रसन्नता के लिए वह सब सत्कार किया जाता है। ऐसा ही देवता के विषय में भी समझना चाहिये।

प्रश्न—तब क्या देवता शरीरधारी है? और खाता भी है?

उ०—हां, ऐसा ही है।

प्र०—इसमें प्रमाण क्या है?

उ०—इसमें तीन प्रमाण हैं, एक स्मृति प्रमाण है अर्थात् धर्मशास्त्र इतिहास, पुराण में देवता शरीरधारी कहे हैं। दूसरा उपचार अर्थात् यमराज की मूर्ति दण्डधारी, वरुण की मूर्ति पाशधारी,

द्रढिमानम् कल्पयामः। तथा चान्यार्थवचनं, विग्रहवतीं देवतां दर्शयति 'जगृम्भाते दक्षिणम् इन्द्रहस्तमिति, पुरुषविग्रहस्य हि दक्षिणः सव्यश्च हस्तो भवति। तथा—'इमे चित् इन्द्ररोदसि अपारे यत् संगृम्भा मघवन् काशिरिते' इति, काशिर्मुष्टिः, सोऽपि पुरुषविग्रहस्यैव उपपद्यते तथा 'तुविग्रीवो यवोदरः सुबाहु रन्धसो मदे। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते' इति, ग्रीवा उदरं बाहू इति पुरुषविग्रहदर्शनं भवति।

तस्मात् विग्रहवती देवता इति भुङ्क्ते च। कथमवगम्यते? स्मृतेः उपचारात् अन्यार्थदर्शनाच्च। एवं स्मरन्ति—भुङ्क्ते देवता इति। तथा च एनां भुञ्जानां इव उपचरन्ति यदस्यै विविधान् उपचारान् उपहरन्ति। तथा च अन्यार्थवचनम् भुञ्जानां देवतां गमयति—'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य' इति, तथा च विश्वासनानि जठरेषु धत्ते इति एकया प्रतिधा पिबत्साकं सरांशि त्रिंशतम् इति। आह न देवता भुङ्क्ते यदि च भुञ्जीत देवतायै हविः प्रत्तं क्षीयते। उच्यते, अन्नरसभोजिनी देवता मधुकरीवदवगम्यते। कथम् न? देवतायै हविः प्रत्तं नीरसं भवति, तस्मात् अन्नरसं भुङ्क्ते देवता इति गम्यते इति ॥

आर्थपत्याच्च। पूर्व० मी० ६ अध्या० १ पा० अधि० ४ सू० ७—

भाषा

अनादि काल से सब लोग बनाते, लिखते और कहते चले आते हैं। तीसरा अन्यार्थ वचन (देवता के शरीर का क्रिया से उपयोग) जैसे *'जगृम्भाते दक्षिणं इन्द्रहस्तं'* हे इन्द्र! आपके दाहिने हाथ को हम पकड़ते हैं इत्यादि अनेक मंत्रों में हस्त मुष्टि आदि इन्द्र के कहे हुए हैं। ये देवता के शरीर होने में प्रमाण हैं। अर्थात् स्मृतियों में कहा है कि देवता भोजन करता है। जैसे भोजन करनेवाले के समीप अन्न जलादि परिवेषण किये जाते हैं वैसे ही अनादि काल से देवता के समीप वे पदार्थ परोसे जाते हैं। तथा *'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य'* हे इन्द्र आप खाइए पीजिए, इत्यादि मंत्र रूपी अन्यार्थ वचन भी हैं।

प्र०—यदि देवता भोजन करते तो भोजन किए पदार्थ अवश्य कुछ न्यून हो जाते। परन्तु देवता के दिए हुए पदार्थ कुछ न्यून नहीं होते तो कैसे कहा जा सकता है कि देवता भोजन करते हैं!

उत्तर—जैसे भ्रमर पुष्पों के रस और गंध का किंचित् ग्रहण करते हैं ऐसे ही देवता भी दिए वस्तु के रस को किंचित् ग्रहण करते हैं। क्योंकि देवता हम लोगों की भाँति भुक्खड़ नहीं हैं कि जो सामग्री को एक ही बार हड़प जायँ और यजमान के लिए प्रसाद भी न छोड़ें।

प्र०—यदि देवता किसी पदार्थ का स्वामी होता और अपनी सेवा से प्रसन्न होता तो यह कह सकते कि उस पदार्थ की प्राप्ति के लिये देवता की प्रसन्नता और उसकी प्रसन्नता के लिए उसकी सेवारूपी पूजा आवश्यक है। परन्तु जब देवता की स्वामिता और प्रसन्नता में कोई प्रमाण नहीं है तब कैसे ऐसा कह सकते हैं?

उ०—*'आर्थपत्याच्च'* (पू० सू० ७) देवता के स्वामिता में तीन प्रमाण हैं, एक स्मृति अर्थात् स्मृतियों में लिखा है कि देवता पदार्थों के स्वामी हैं। दूसरा उपचार, अर्थात् अनादि काल से यह व्यवहार चला आता है कि यह ग्राम देवता पर चढ़ा हुआ है, यह क्षेत्र देवता को अर्पण

शाबरम्—यदि कस्यचिदस्य ईशाना देवता उपचर्यमाणा च प्रसीदेत्, ततः तदाराधनार्थमियं देवतापूजा अभिनिर्वर्त्येत, न चैतदुभयमप्यस्ति इति। तत् उच्यते, अर्थपतिर्देवता इति कथमवगम्यते। स्मृतेः उपचारात् अन्यार्थदर्शनाच्च। हि स्मरन्ति अर्थानां ईष्टे देवता इति। तथा देवग्रामो देवक्षेत्रम् इत्युपचारस्तामेव स्मृतिं द्रढयति। तथा अन्यार्थवचनम् ईशानां देवतां दर्शयति—"इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याम् इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानां, इन्द्रो वृधाम् इन्द्र इन्मेधिराणाम् इन्द्रः क्षेमे योगे हव्ये इन्द्र" इति। तथा—"ईशानमस्य जगतः स्वं ईशम् ईशानम् इन्द्र तस्थुषे" इति।

तथा, स्मृत्युपचाराभ्यां प्रसीदति इत्युपगच्छामः। एवं हि स्मरन्ति—प्रसीदति देवता इति। तथा उपचरन्ति, प्रसन्नोऽस्य पशुपतिः, पुत्रोऽस्य जातः। प्रसन्नोऽस्य वैश्रवणो धनमनेन लब्धम् इति। तथा अन्यार्थदर्शनं भवति—"आहुतिभिरिव हुतादो देवान् प्रीणाति इति तस्मै प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति" इति।

ततश्च तेन सम्बन्धः

पू० मी० ६ अध्याय० १ पा० अधि० ४ (पू० सू० ८)

शाबरम्—ततो देवतायाः तेन फलेन सम्बन्धः परिचरितुर्भवति, यो देवतामिज्यया परिचरति, तं सा फलेन सम्बध्नाति। कथम् एतदवगम्यते? स्मृत्युपचाराभ्याम्। स्मरन्ति हि देवता यष्टुः फलं ददाति इति। तामेवोपचारेण स्मृतिं द्रढयति, पशुपतिरनेन उपचरितः पुत्रोऽनेन लब्धः इति। तथा अन्यार्थदर्शनम् इममेव अर्थं दर्शयति—"स इत् जनेन स विषा स जन्मना स पुत्रैर्वाजम्भरते धना नृभिः। देवानां यः पतिरमा विवासति श्रद्धासना हविषा

भाषा

है इत्यादि। तीसरा अन्यार्थ वचन अर्थात् 'इन्द्रोदिव इन्द्र ईशे पृथिव्याम् इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम्' (इन्द्र स्वर्ग के स्वामी हैं, इन्द्र पृथ्वी के स्वामी हैं, इन्द्र जल के स्वामी हैं, इन्द्र पर्वतों के स्वामी हैं) इत्यादि अनेक मंत्र देवता के स्वामिता में प्रमाण हैं। तथा देवता के प्रसन्नता में ये ही तीन प्रमाण हैं। अर्थात् स्मृतियों में कहा है कि देवता प्रसन्न होते हैं। तथा अनादि काल से ऐसा कथनरूपी व्यवहार चला आता है कि "अमुक पर पशुपति प्रसन्न हुए इससे उसको पुत्र हुआ" "अमुक पर कुबेर प्रसन्न हुए इससे उसको धन मिला" इत्यादि, तथा "*आहुतिभिरिव हुतादो देवान् प्रीणाति इति तस्मै प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति*" (यजमान होम किए हुए द्रव्यों के खानेवाले देवताओं को आहुतियों से तृप्त करता है इस कारण देवता प्रसन्न होकर यजमान को इष्ट फल और बल अवश्य देते हैं) इत्यादि वेद वाक्य भी देवता की प्रसन्नता में प्रमाण हैं।

"*ततश्च तेन संबन्धः*" पू० सू० ८।

जो पुरुष यज्ञ से जिस देवता को प्रसन्न करता है वह देवता उस मनुष्य को वह सब फल देता है जिसके लिए वह मनुष्य यज्ञ करता है। इस विषय में भी पूर्वोक्त ही तीन प्रमाण हैं अर्थात् स्मृतियों में यह कहा है कि देवता, यजमान को फल देते हैं तथा अनादि काल से यह वचन व्यवहार चला आता है कि अमुक की की हुई सेवा से पशुपति ने उसको पुत्र दिया "तृप्त एवैनं

ब्रह्मणस्पतिम्" इति। तथा-"तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिः तर्पयति" इति। तस्मात् हविर्दानेन गुणवचनैश्च देवता आराध्यते, सा प्रीता सती फलं प्रयच्छति येन कर्मणा आराधितः तस्य फलस्य ईष्टे तत्कर्त्रे प्रयच्छति न तत्सूर्यः प्रदातुमर्हति वचनादेतदवगम्यते, कः किं प्रयच्छति इति, यथा अग्नौ वचनं न तत् सूर्ये।

अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्म प्रधानं स्याद्गुणत्वे देवता श्रुतिः।
पू० मी० ६ अध्या० १ पा० (सि०) सू० ६।

शाबरम्—अपि वा इति पक्षो व्यावर्तते। न चैतदस्ति, यदुक्तं देवता प्रयोजिका इति। यज्ञकर्म प्रधानं स्यात्, यजतेर्जातम् अपूर्वम्। कुतः? शब्दपूर्वत्वात्, यद्धि फलं ददाति तत् प्रयोजकं इदं फलं ददाति इत्येतत् ज्ञानं शब्दपूर्वकम् न प्रत्यक्षादिभिरत्रगम्यते। शब्दश्च यजति वाच्यात् फलमाह, न देवतायाः। कथमवगम्यते? दर्शपूर्णमासयोः करणत्वेन निर्देशः-"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इति। तथा-"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इति यजत्यर्थस्य हि स्वर्गकामेन समभिव्याहारो न देवतायाः। ननु द्रव्यदेवताक्रियं यजत्यर्थः। सत्यमेवं,

भाषा

इन्द्रः प्रजया पशुभिः, तर्पयति" (तृप्त होकर इन्द्र ही इस यजमान को पुत्र और पशु से तृप्त करते हैं) इत्यादि मंत्र भी उक्त विषय में प्रमाण हैं। और यह बात तो वेदवाक्यों ही से ज्ञात होती है कि कैसे मनुष्य के किये हुए यज्ञ से तृप्त होकर कौन देवता किस फल को देता है। उक्त अधिकरण में ये तीन सूत्र पूर्व पक्ष के हैं जो कि कहे गये। बात तो यह है कि ये सूत्र वास्तविक में सिद्धान्त ही के हैं क्योंकि आगे चलकर वेदान्त दर्शन के अधिकरण में श्री व्यासदेव का यही सिद्धान्त दिखलाया जायगा जो कि इन तीन सूत्रों से कहा गया है तथापि जैमिनि महर्षि के इस अधिकरण में ये सूत्र पूर्व पक्ष ही के हैं क्योंकि उनका सिद्धान्तसूत्र यह है कि "*अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्म प्रधानम् स्याद्गुणत्वे देवता श्रुतिः*" (सि० सू० ६)। देवता ही द्रव्य और क्रिया के प्रति प्रधान है, यह पक्ष ठीक नहीं है किन्तु यज्ञकर्म ही प्रधान है अर्थात् यज्ञ से आत्मा में जो अपूर्व (जिसका निरूपण वेददुर्गसज्जन में हो चुका है) उत्पन्न होता है वही प्रयोजक और प्रधान है क्योंकि जो फल देता है वही प्रयोजक और प्रधान होता है और 'अमुक फल देता है' यह निश्चय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं हो सकता किन्तु वेद ही से हो सकता है जैसा कि वेददुर्गसज्जन में पूर्व ही कहा जा चुका है तथा यह भी वहीं कहा हुआ है कि वेद के उपनिषद् भाग से अन्य सब वेद भागों में विधिभाग ही प्रधान होता है और मंत्रादि भाग उसके अङ्ग होते हैं। ऐसी दशा में यही निश्चय होने के योग्य है कि वैदिक विधि वाक्यों से जिसका फलदाता होना अर्थात् फल के प्रति कारण होना निकले वही प्रयोजक और प्रधान है। अब यह देखना चाहियें कि वैदिक विधि वाक्यों के अनुसार कौन फलदाता सिद्ध होता है। तो ऐसे विचार में यही निश्चय है कि यज्ञकर्म से यजमान के आत्मा में जो अपूर्व उत्पन्न होता है वही फलदाता है क्योंकि "*ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत*" स्वर्ग चाहने वाला मनुष्य ज्योतिष्टोम नामक याग से स्वर्ग का लाभ करे इत्यादि वैदिक विधि वाक्यों से स्पष्ट ही निकलता है कि यज्ञकर्म ही स्वर्गादि फल का दाता है परन्तु यज्ञकर्म क्रियारूपी होने से भोजनादि क्रिया की नाईं तत्काल

किन्तु गुणत्वे देवता श्रुतिः, द्रव्यदेवतं हि भूतं, भावयितव्यो हि यजत्यर्थः। भूतभव्य-समुच्चारेण च भूतं भव्याय उपदिश्यते। तस्मात् न देवता प्रयोजिका। अथ यदुक्तं कर्मण ईप्सितादभिप्रेततरम् इति, नास्याभिप्रेततामपह्नुमहे। तद्धितशब्देन चतुर्थ्या वा संयुक्तस्य देवतार्थस्य वाक्यादभिप्रेतता अवगम्यते, फलसंयोगस्तु वाक्यादेव यजत्यर्थस्य, तस्य च श्रुत्या करणता अवगम्यते न देवतायाः। तत्र यद्यपि देवतार्थता यागस्य गम्यते, फलार्थतापि तेन न प्रतिषिध्यते। फलं च पुरुषार्थः, पुरुषार्थाय च नः प्रवृत्तिः, न चासौ देवतायाः, तस्मात् न देवताप्रयुक्ताः प्रवर्तिष्यामहे। या तु संप्रदानस्य अभिप्रेतता सा फलवतो यजेः साधनत्वे सत्युपपद्यते।

भाषा

नष्ट हो जाता है इससे कालान्तर भावी स्वर्गादि फल का वह साक्षात् दाता नहीं हो सकता क्योंकि फल देने के समय वह रहता ही नहीं। इसलिए वैदिक विधि वाक्यों का यह तात्पर्य है कि यज्ञकर्म अपने समय में यजमान के आत्मा में एक शक्ति उत्पन्न करता है और वह शक्ति चिरस्थायिनी है अर्थात् कालान्तर में यजमान के आत्मा को वही शक्ति स्वर्गादिरूपी फल देती है और उस फल के भोग पर्यन्त रहकर नष्ट हो जाती है, उसी शक्ति को अपूर्व कहते हैं और इसके अनुसार वैदिक विधि वाक्यों के उक्त अर्थ में 'अपूर्व' बढ़ाया जाता है। अर्थात् उन वाक्यों का यह अर्थ है कि 'स्वर्ग चाहने वाला मनुष्य ज्योतिष्टोम आदि नामक यज्ञ से उत्पन्न अपूर्व के द्वारा स्वर्गादि फल का लाभ करे' इसलिए अपूर्व ही फलदाता है और वही प्रयोजक तथा प्रधान भी है।

देवता और द्रव्य तो उस अपूर्व के प्रति गौण हैं न कि प्रधान क्योंकि जैसे 'देवदत्त के लिये तण्डुल पकाओ' इस लौकिक वाक्य में प्रधान रूप से पाक रूपी क्रिया ही का बोध होता है। उस बोध में पाकक्रिया के प्रति तण्डुल, द्रव्य और देवदत्त गौण ही होकर भासित होते हैं। क्योंकि यह भाषा वाक्य केवल इसी के लिए कहा जाता है कि पाक करने में किसी पुरुष की प्रवृत्ति हो अर्थात् कोई पुरुष पाक करे और क्रिया वही पदार्थ जाता है जो पहले नहीं रहता जैसे उक्त वाक्य बोलने के समय पाक क्रिया नहीं रहती। इसी से पाक ही के लिए उक्त वाक्य बोला जाता है, इससे उक्त वाक्य में पाक ही प्रधान है। तण्डुल और देवदत्त तो इस वाक्य के प्रथम सिद्ध ही रहते हैं। इसी से उनके सिद्ध करने के लिये यह वाक्य नहीं है क्योंकि सिद्ध पदार्थ को कोई नहीं करता तो सिद्ध को सिद्ध करने के लिये कैसे कोई वाक्य कहा जा सकता है? इस रीति से तण्डुल और देवदत्त उक्त वाक्य में पाक क्रिया के प्रति गौण ही हैं और पाक क्रिया ही प्रयोजक और प्रधान है।

यह रीति, लौकिक विधि वाक्यों में प्रधान और गौण के विवेक की है अर्थात् पाकादि रूपी साध्य (क्रिया) ही ऐसे वाक्यों में प्रधान होती है और तण्डुल तथा देवदत्तादि सिद्ध पदार्थ, गौण अर्थात् उस क्रिया के अङ्ग होते हैं। ऐसे ही पूर्वोक्त वैदिक विधि वाक्यों में यज्ञ रूपी क्रिया ही प्रधान है और द्रव्य तथा देवता उसके अङ्ग हैं, इससे यह सिद्ध हो गया कि देवता, प्रयोजक वा प्रधान नहीं हैं किन्तु यज्ञ ही प्रधान है जो कि अपूर्व को उत्पन्न कर उसके द्वारा फल देता है। और पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया कि "कर्म की अपेक्षा यजमान को देवता अति प्रिय होता है" इसमें हमारा विवाद

यच्च, यजिर्देवतापूजा सा पूज्यमानप्रधाना लोके लक्ष्यत इति। न लोकवदिह भवितव्यम्, इह पूज्यमानपूजा प्रधानम्। यद्धि फलवत् तत् प्रयोजकम्, तस्मात् यज्ञकर्म प्रयोजकम्। अपि च एतस्मिन् पक्षे विग्रहवती देवता भुङ्क्ते च इति अध्यवसानीयं भवति, न हि अविग्रहायै अभुञ्जानायै च दानं भोजनं वा सम्भवति इति॥

यच्चोक्तम्, स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्विग्रहवती, भुङ्क्ते च इति। तन्न; स्मृतेर्मन्त्रार्थवादमूलत्वात्, मन्त्रेभ्यश्च अर्थवादेभ्यश्च स्मृतिमूलं विज्ञानमुत्पद्यत इति प्रत्यक्षमवगम्यते, ते च मन्त्रार्थवादा नैवंपरा इत्येतत् वक्ष्यामः। आह—यदि नैवंपरा न तर्हि मन्त्रार्थवादमूलं तद्विज्ञानम् इति, उच्यते—ये आलोचनामात्रेण मन्त्रार्थवादान् पश्यन्ति तेषां तत् स्मृतिमूलम् ये पुनर्निपुणतः पश्यन्ति, तेषां तत् बाधितम्, अपि च कस्यचित् स्मृतिर्मूलं भवति। तस्मात् तत एव स्मृतिः उपचारोऽपि स्मृतिमूल एव। यत्तु अन्यार्थदर्शनमुक्तम् "जगृम्भा ते दक्षिणम् इन्द्र हस्तम्" इति। नैतदेवम्परम्—इन्द्रस्य हस्तो विद्यते इति। यः तस्य दक्षिणो हस्तस्तम् वयं गृहीतवन्त इति। तस्मात् वाक्यादिन्द्रस्य हस्तसत्ता न प्रतीयते।

आह—यदि त्वसौ नास्ति, वयं ते हस्तं गृहीतवन्त इत्येवं न अवकल्पते इति हस्तसत्ता अध्यवसीयते, अस्त्यसौ हस्तः, वयं यं गृहीतवन्त इति। तन्नोपपद्यते—यद्यप्यस्य हस्तो भवेत्, तथापि न तमुपगृहीतवन्त इति प्रत्यक्षमेतत् तथाप्येतन्नावकल्पत एव, तत्र एतत् असंबन्धं वा अवकल्पयितव्यं, स्तुतिर्वा, यच्च प्रत्यक्षेऽपि तुल्यम्। अथ एवमुच्यते—तस्य एतद्वचनं यो गृहीतवान् तस्य हस्तम् इति। उच्यते—नैतदध्यवसेयम्, आदिमत्तादोषो वेदस्य प्रसज्येत। न च, गृहीतवान् आसीत् इत्युच्यते, प्रमाणाभावात्। एतस्मादेव वचनात् अर्थात् कल्प्यते हस्तग्रहीता इति चेत्—न; अयथार्थस्याप्युच्चारणं संभवत्येव यतः। यथा दश दाडिमानि षडपूपा इति। यस्यापि च एष पक्षो विग्रहवान् इन्द्र इति, तस्यापि इन्द्रशब्देन आमन्त्रणं सम्बोधनार्थं, सम्बोधनमनुवचनाय, तत्र सम्बद्ध इत्यवगते अनुवचनं

भाषा

नहीं है। हम तो यही कहते हैं कि फलदाता याग ही है तो यदि याग के प्रति अङ्ग होने से देवता अति प्रिय है तो क्या विरोध है? तथा जो यह कहा गया कि "लोक में पूजनीय प्रधान होता है और पूजा गौण" उसका भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि लोक में वैसा ही है परन्तु वेद में यज्ञ रूपी पूजा ही प्रधान है और यह भी है कि देवता को प्रधान स्वीकार करने में उसका शरीर और भोजन भी स्वीकार करना पड़ता है इससे पूर्व पक्ष में यह गौरव दोष है।

तथा पूर्व पक्ष में देवता के शरीर और भोजन में जो तीन प्रमाण कहे गये वे भी ठीक नहीं हैं क्योंकि स्मृति, मन्त्र और अर्थवाद मूलक ही है, इसी से वह स्वतंत्र प्रमाण नहीं है और जो मंत्र अथवा अर्थवाद देवता के शरीरादि में प्रमाण दिखलाये गये उनका भी देवता के शरीर और भोजन में तात्पर्य नहीं है जैसा कि अभी कहा जायगा। इसलिए वे स्मृति के मूल नहीं हो सकते और व्यवहार भी जो दिखलाया गया वह स्मृति मूलक ही है इससे वह भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। अब रहा अन्यार्थ वचन रूपी तृतीय प्रमाण, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि 'हे इन्द्र! हमने तुम्हारे हस्त को

न्याय्यम्, न चासौ केनचित्प्रकारेण सम्बद्ध इति अवगम्यते, अनवगते सम्बोधनं व्यर्थम्। वचनप्रामाण्यात् सम्बुध्यते, इत्येवम् गम्यते इति चेत्–उक्तमदृष्टकल्पनायां हस्तादिकल्पना-नुपपत्तिरिति। न चासौ सम्बुद्ध इत्यवधार्यते, प्रमाणाभावात्। तस्मात् सम्बोधनवचनं न सम्बोधनाय, निर्देशार्थमेव। अविग्रहपक्षेऽपि तत् निर्देशार्थमेव भविष्यति। तत्र आमन्त्रितवि-भक्तिवचनं स्तुतये, एवं इदं देवताख्यं साधयितृतमं, यच्चेतनादिवत् सम्बुध्य साधयति इति चेत-नवदिव उपचर्यमाणः सम्बुद्धिशब्देन आमन्त्र्यते तथा सम्बोधनशब्देन निर्दिश्य उच्यते, गृहीत-वन्तो वयं तव हस्तं त्वदाश्रया वयमित्यर्थः। अस्माभिः इन्द्रकर्म कर्तव्यमित्येतदनेन स्मार्यते।

तथा–'इमे द्यावापृथिव्यौ दूरे अपारे यत् संगृह्णासि मघवन्नहो ते पूजितो मुष्टिः' इति सन्तमिव मुष्टिं स्तुत्यर्थेन वदति, तस्यापि भावे न प्रमाणमस्ति, नेदं वचनं इत् महान् काशिः अस्ति, किं तर्हि ? यस्तव काशिः, स महान् इति, अन्यार्थः–'तव काशिरस्ति' इति; अन्यः 'तव काशिर्महान्' इति। सत्ता हि स्तुतिरुपपद्यते इति चेत्—नैतत्; नियोगतो यस्यापि पौरुष-विधिकैरङ्गैर्नास्ति संयोगः, पौरुषविधिकैरङ्गैः तस्यापि स्तुतिर्भवति। यथा एते वदन्ति "शतवत् सहस्रवत् अभिक्रन्दन्ति हरितोभिरासभिः विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित् पूर्वे अवि-र्द्यमाशत" इति। तथा, 'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' इति। तस्मात् न श्रुतिवचनात् अर्था-पत्तिर्भवति पुरुषविधत्वे देवतायाः। तथा–"तुविग्रीव इन्द्रः" इति नैतत् युक्तं भवति ग्रीवावान् इन्द्र इति, किं तर्हि ? 'याऽस्य ग्रीवा सा महती। ग्रीवासत्वे नास्ति प्रमाणम्। न च ग्रीवा-स्तुतिः अर्थापत्तिः, अपुरुषविधेऽपि स्तुत्युपपत्तेः।

अपि च "इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते इत्येताभ्यां पदाभ्यां इन्द्रशब्दः सम्बद्धो न शक्नोति तुविग्रीवादिभिः सम्बन्धं यातुम्। द्विरुच्चारणमस्य प्रसज्यते–तुविग्रीवावान् इन्द्रो वेदितव्यः वृत्राणि च इन्द्रो हन्ति इति। तथाहि सति भिद्येत। अभिन्नं च वाक्यमुपलभ्यते, तदेवमव-कल्पते। यदि तु विग्रीवादयोऽस्य न उपदिश्यन्त इति स्तुत्यर्थं सङ्कीर्त्यते तुविग्रीवादिः। "अन्धसो मदे ईदृशो वृत्राणि हन्ति" इति एषा तु वचनव्यक्तिः, वृत्रवधोपदेशपरमिदं वचन-मिति। यदपि वचनम्–"बाहू ते इन्द्र! रोमशौ, अक्षी ते इन्द्र! पिङ्गले" इति, तदपि बाह्वोः रोमशत्वम् अक्ष्णोश्च पैङ्गल्यमाह, न बाहुसत्तामक्षिसत्तां च। यदपि अक्षिसत्तां वदति इति गम्यते, चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि इति तदपि न चक्षुःसम्बन्धार्थम्, चक्षुषमते ब्रवीमि इति वचनसम्बन्धार्थं' तत्सतीमिव चक्षुषमत्तां स्तुत्यर्थमुच्चारयति। कुत एतत् अवगम्यते ? चतुर्थीनिर्देशात्। यदि प्रातिपदिकार्थोऽध्यवसीयते, तथा वाक्यम्भिद्येत, चक्षुष्मान् इत्येवं न उद्दिश्येत, चक्षुषमते ते ब्रवीमि इति च।

भाषा

पकड़ा, इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वास्तविक में इन्द्र का हस्त है क्योंकि यदि हस्त होता भी तो पकड़ना उसका मिथ्या ही है क्योंकि यजमान उसको कब पकड़ सकता था ? इसलिए यही कहना उचित है कि ऐसे अन्यार्थ वचनों का केवल यज्ञकर्मों के स्मरण ही में तात्पर्य है न कि इन्द्र के हस्त में। और जो कहीं २ देवताओं का स्वरूप वा वृत्तान्त वेद में कहा हुआ है वह आख्यायिका मात्र

तस्मात् न किंचित् अन्यार्थदर्शनम् पुरुषविधतां देवतायामिदं ख्यापयति इति। न चेदं भोजनं, न च देवता भुङ्क्ते। तस्मात् "भोजनस्य तदर्थत्वात्" इति तदसद्वचनम्। यदपि स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्भुङ्क्ते इति तत् अविग्रहत्वेन प्रत्युक्तम्। अपि च, भुञ्जानायै देवतायै प्रत्तं हविः क्षीयेत। न च मधुकरीवत् अन्यरसभोजिन्यो देवता इति प्रमाणमस्ति। मधुकरीषु प्रत्यक्षम्, न च तद्वत् देवतायाम्। तस्मात् न भुङ्क्ते देवता इति। यदुक्तं, देवतायै हविः प्रत्तं नीरसं भवतीति। नैष दोषः; वातोपहतं नीरसं भवति इति, शीतीभूतं च। न चासौ कस्यचिदर्थस्य ईष्टे, अनीशा कथं दास्यति इति। यदुक्तं स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैः ईशाना देवता इत्यवगम्यत इति। तन्न; स्मृतेः मन्त्रार्थवादमूलत्वादित्युक्तम्। उपचारोऽपि देवग्रामो देवक्षेत्रं इति उपचारमात्रम्, यो यदभिप्रेतं विनियोक्तुमर्हति, तत्तस्य स्वं, न च ग्रामं क्षेत्रं वा यथाभिप्रायं विनियुङ्क्ते देवता। तस्मात् न सम्प्रयच्छति इति, देवपरिचारकाणां तु ततो भूतिर्भवति देवतामुद्दिश्य यत् त्यक्तम्।

यदुक्तम् अन्यार्थदर्शनं ईशानां देवतां ख्यापयति—"इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे" इत्येवमादीनि। तत्प्रत्यक्षामनीशानां देवतामुपलभ्य अध्यवस्यामः—भाक्त एष शब्द इति। तत्र आह वचनप्रामाण्यादेव अस्य ईशानता अवगम्यते। यद्देवलोका अर्थान् विनियुञ्जते तद्देवाभिप्रायादेव इत्यवध्यास्याम इति। तन्न; प्रत्यक्षात् प्रमाणात् देवतापरिचारकाणां अभिप्राय इत्यवगम्यते। स न शक्यो बाधितुम्, येऽपि देवतां ईशानां वर्णयन्ति, तेऽपि नापह्नुवते परिचारकाणामभिप्रायम्। किं चाहुः—तथा देवता करोति यथा परिचारकाणामभिप्रायो भवति इति। न च स ईशानो भवति यः पराभिप्रायमनुरुध्यते, तस्य न स्वाभिप्रायात् विनियोगो भवति।

भाषा

है। तथा भ्रमर का दृष्टान्त भी अनुचित ही है क्योंकि भ्रमर का रस लेना प्रत्यक्ष है परन्तु देवता के रस लेने में कोई प्रमाण नहीं है। और देवता को दिया हुआ द्रव्य जो थोड़े समय के पश्चात् नीरस और ठंढा हो जाता है उसमें वायु कारण है जो कि उसको शुष्क करता है। और जो कि देवता किसी वस्तु का स्वामी नहीं है तो वह कैसे कोई वस्तु यजमान को दे सकता है। तथा देवता के स्वामिता में जो प्रमाण दिया गया है उसका खण्डन भी पूर्ववत् समझना चाहिये। तथा देवग्राम और देवक्षेत्र का व्यवहार भी गौण ही है क्योंकि जब देवता उस ग्राम वा क्षेत्र को साक्षात् अपने काम में नहीं ले आ सकता अर्थात् बेंच बाँच नहीं सकता तो वह कैसे उसका स्वामी हो सकता है? तथा देवता के स्वामी होने में जो वेदवाक्य प्रमाण दिया गया है वह भी उसमें प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि उसका यही अर्थ है कि "देवताओं के भक्तों ने उनको अपनी श्रद्धा रूपी जड़ता से स्वर्गादि का स्वामी मान लिया है और उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं।" तथा न देवता प्रसन्न होता है, न फल देता है क्योंकि जो वेद वाक्य इस विषय में प्रमाण दिया गया है उसका उक्त विषय में तात्पर्य ही नहीं है क्योंकि वह अर्थवाद है। इसलिए उसका अपने वाक्यार्थ में तात्पर्य नहीं है किन्तु ऐन्द्र नामक हवि के विधान ही में उसका तात्पर्य है जैसा कि अर्थवादाधिकरण में कहा जा चुका है।

अपि च—नैतद्वचनम्, वर्तमानकालोपदेशत्वात्, प्रत्यक्षविरोधात् स्तुतिवादोऽवधार्यते स्तुतिवादे च संभवति न वचनप्रामाण्यात् ईशिष्यत इति गम्यते। न च देवता फलेन सम्बध्नाति, या तदर्थं परिचर्येत ।

यदुक्तं स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्ददाति प्रसीदति च इति। तत्र स्मृत्युपचारयोरुक्तम्—यत् अन्यार्थदर्शनम् तस्मै प्रीता इषमूर्जं प्रयच्छति इति। तन्न; अन्यस्य विधेराम्नानात् दक्षिणतः संपरिहर्तव्या इत्याह इति, यथा "तृप्त एवैनं इन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" इति अत्र ऐन्द्रस्य हविषो विधानम्। तस्मात् देवता न प्रयोजिका इति।

अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रीतिप्रधानत्वात्।

पू० मी० ६ अ० १ (पा० सू० १०)।

यदुक्तम्—अतिथिवत् इति तत् परिहर्तव्यम्। आतिथ्यम् अतिथिप्रयुक्तं स्यात्, आतिथ्ये हि तत्प्रीतिर्विधीयते, अतिथिः परिचरितव्यः यथा प्रीतये तथा कर्तव्यम्? इति, दानं भोजनं वा कार्यमिति, यद्यत् अतिथये रोचते तत् कर्तव्यम्, यत्तस्मै न रोचते न तत् बलात्कारयितव्यम् इति, इह तु कर्मणि अभावः प्रीतिविधानस्य। तस्मात् विषममतिथिना इति।

उत्तरपक्षस्तु—विग्रहवती देवेतेति बादरायणीयसिद्धान्त एव।

तथा च—तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्।

शा० मी० अध्या० १ पा० ३ देवताधिकरणम् २५ सू०।

भाषा

"अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रीतिप्रधानत्वात्" (सि० सू० १०) अतिथि का दृष्टान्त जो पूर्व पक्ष में दिया गया वह भी प्रकृत के तुल्य नहीं है क्योंकि *'अतिथिर्येन सन्तुष्टस्तथा कुर्यात्प्रयत्नतः'* (मनुष्य प्रयत्न से ऐसा काम करे जिसमें अतिथि प्रसन्न हो जाय, इस विधि रूपी स्मृति वाक्य के अनुसार अतिथि की भी प्रसन्नता सिद्ध होती है और प्रकृत में तो "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि पूर्वोक्त वैदिक विधि वाक्यों में देवता की प्रसन्नता के लिए कोई शब्द ही नहीं है तथा देवता के फलदाता होने का भी कोई शब्द इन विधि वाक्यों में नहीं है तो कैसे देवता की प्रसन्नता वा उसका फलदाता होना सिद्ध हो सकता है? इसलिए यह सिद्ध हो गया कि देवता का शरीर नहीं होता।

उत्तरपक्ष—वही है जो कि भगवान् वादरायण (व्यास) का सिद्धान्त है अर्थात् 'देवता का शरीर होता है'। अब इस सिद्धान्त के लिए वेदान्त दर्शन अध्याय १ पाद ३ के देवताऽधिकरण को ज्यों का त्यों दिखलाना यहाँ अत्यावश्यक है क्योंकि उसके दिखलाने से जैमिनि महर्षि के गुरु भगवान् वादरायण महर्षि का सिद्धान्त प्रकट हो जायगा जो कि यहाँ "प्रकृत में सिद्धान्त है और उसी के प्रसङ्ग में दो एक अन्य अधिकरणों का भी दिखलाना यहाँ आवश्यक है, इसलिए शाङ्करभाष्य सहित उक्त अधिकरणों के सूत्र, क्रम से उद्धृत किये जाते हैं। उसमें भी सूत्र, जैसे के तैसे लिखे जाते हैं और शाङ्करभाष्य का तात्पर्य भाषा में लिखा जाता है।

(देवताधिकरण) *"तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्"* (सू० २५) वादरायण आचार्य (हम) यह मानते हैं कि यज्ञादि वैदिक कर्मों में यद्यपि वेद के अनुसार मनुष्यों ही का अधिकार है तथापि

भगवत्पादीयं भाष्यम् ।

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षा मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तं, तत् प्रसङ्गेनेदमुच्यते बाढं मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम् । न तु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽस्ति । तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद्ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो मन्यते । कस्मात् ? संभवात् । संभवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्याधिकारकारणम् । तत्रार्थित्वं तावन्मोक्षविषयं देवतादीनामपि संभवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम् । तथा सामर्थ्यमपि तेषां संभवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात् । न च तेषां कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति । न चोपनयनशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत, उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात् । तेषां च स्वयं प्रतिभातवेदत्वात् । अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति । 'एकशतं हि वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' (छा० ८।११।३) 'भृगुर्वै ह वारुणिः वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्म (तै० ३।१) इत्यादि ।

भाषा

देवतादि भी ब्रह्मज्ञान में अधिकारी हैं अर्थात् उनको भी ब्रह्मज्ञान हो सकता है अर्थात् देवताओं में भी ब्रह्मज्ञान का संभव है क्योंकि अधिकारी होने के लिये अर्थी और समर्थ होना तथा निषेध का न होना आवश्यक है और देवताओं का ऐश्वर्य यद्यपि बहुत बड़ा है तथापि देव शरीर के अनित्य होने से उनका ऐश्वर्य भी अनित्य है, इससे वे मोक्ष रूपी नित्य फल के लिए ब्रह्मज्ञान की प्रार्थना करते हैं। इससे वे ब्रह्मज्ञान के अर्थी हैं तथा जब मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोक से देवताओं का शरीर निश्चित है जैसा कि आगे चलकर सिद्ध किया जायगा तब मन और इन्द्रिय आदि के रहने से मनुष्यों की नाईं देवताओं में ब्रह्मज्ञान करने का सामर्थ्य है इससे वे ब्रह्मज्ञान में समर्थ हैं तथा वेद में देवताओं के लिए ब्रह्मज्ञान का निषेध भी कहीं नहीं है। और यह तो कह नहीं सकते कि उपनयन के बिना, वेदाध्ययन नहीं हो सकता तथा वेदाध्ययन के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता और उपनयन का विधान ब्राह्मणादि तीन ही वर्णों के लिये है तो शूद्रादिकों की नाईं देवताओं का भी उपनयन न होने से वेदाध्ययन न होने के कारण ब्रह्मज्ञान का अधिकार नहीं है क्योंकि यह नियम नहीं है कि गुरुमुख से विधिवत् पढ़ने के समय ही पढ़े जाते हुए वेद से यज्ञादि कर्म और ब्रह्म का तत्क्षण ही बोध होता है किन्तु वेदाध्ययन के अनन्तर व्याकरण निरुक्तादि के द्वारा वेद के अर्थ का स्मरण होने से कर्म और ब्रह्म का बोध होता है । यह व्यवस्था मनुष्यों और देवतादिकों में तुल्य ही है। विशेष इतना ही है कि त्रैवर्णिकों को इसी जन्म में वेद पढ़ना और उसके अर्थ को स्मरण भी करना पड़ता है और देवतादिकों को देव शरीर मिलते ही उसके प्रभाव से, पूर्व जन्मों के पढ़े हुए वेद और उनके अर्थ का तत्क्षण ही आप से आप स्मरण हो जाता है इसी से देव शरीर में वेदाध्ययन और उपनयन की कोई आवश्यकता नहीं है । अर्थात वेदार्थ के स्मरण मात्र से ब्रह्मज्ञान के वे अधिकारी हैं । तथा विद्या पढ़ने के लिए देवतादिकों का ब्रह्मचर्य भी वेद ही में कहा है कि "एक शतं ह०" (प्रजापति गुरु के समीप, इन्द्र एक सौ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हैं) "भृगुर्वै०" 'वरुण के पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के समीप जाकर कहते हैं कि हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मज्ञान कराइए' इत्यादि । इसलिए ब्रह्मज्ञान में देवतादिकों के अधिकार का कोई वारण नहीं कर सकता ।

यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्—'न देवानां देवतान्तराभावात्' इति 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' इति । न तद्विद्यास्वस्ति । नहीन्द्रादीनां विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देशेन किंचित्कृत्यमस्ति । न च भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया । तस्माद्देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते ? देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते ॥२६॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ सू० ॥

भाष्यम्—स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत विग्रहवत्वादृत्विगादीनामपि स्वरूपसन्निधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत । तदा च विरोधः

भाषा

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । (सू० २७)

अर्थ इस सूत्र का प्रश्नोत्तर भाषा में यह है कि—

प्र०—यदि देवतादि के शरीरधारी होने से ब्रह्मविद्या में उनका अधिकार माना जाय तो जैसे ऋत्विज आदि मनुष्य, यज्ञ के स्थान में स्वयं उपस्थित हो ही कर यज्ञ में उपकार करते हैं वैसे ये भी यज्ञस्थान में उपस्थित हो ही कर यज्ञ में उपयोगी होंगे और ऐसा स्वीकार करने में प्रत्यक्ष का विरोध और असंभव भी हैं क्योंकि यज्ञ के स्थान में इन्द्रादि देवता प्रत्यक्ष नहीं देख पड़ते और एक ही इन्द्र एक ही समय में अनेक यज्ञों के अन्योन्य में दूरवर्ती अनेक स्थानों पर उपस्थित नहीं हो सकते तब कैसे इन्द्रादि देवता शरीरधारी हो सकते हैं ?

उ०—देवता के शरीरधारी स्वीकार करने में उक्त दोष नहीं है क्योंकि एक देवता एक ही समय में समानाकारक अनेक शरीरों को धारण कर सकता है ।

प्र०—ऐसे अदृष्ट काम को कैसे स्वीकार किया जाय ?

उ०—यह काम श्रुति और स्मृति से दृष्ट ही है न कि अदृष्ट, क्योंकि इसमें कोई कारण नहीं है कि जो प्रत्यक्षरूपी लौकिक प्रमाण से दृष्ट हो वही दृष्ट है और शब्द प्रमाण से जो दृष्ट हो वह दृष्ट नहीं अर्थात् मिथ्या ही है क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है वैसे शब्द भी, और यदि शब्द से कहा हुआ अर्थ दृष्ट नहीं है तो स्वर्गादि फल के प्रति याग आदि की कारणता भी अदृष्ट ही हो जायगी ।

प्र०—यह नियम है कि मनुष्य शरीर की उत्पत्ति माता पिता के संयोग ही से होती है तब माता पिता के संयोग बिना एक देवता के अनेक शरीरों की उत्पत्ति एक ही समय में क्योंकर हो सकती है ?

उ०—यह नियम ही नहीं है कि सब शरीर की उत्पत्ति माता पिता के संयोग ही से होती है क्योंकि माता पिता के संयोग बिना ही स्वेदज (चीलर, खटमल आदि) और उद्भिज (तृण, लता, वृक्षादि) शरीरों की उत्पत्ति होती है और यदि मनुष्यों के शरीरों में उक्त नियम माना जाय तो देव शरीरों के साथ उक्त नियम का सम्बन्ध ही क्या है ?

प्र०—केवल इच्छा मात्र से शरीर की उत्पत्ति कहाँ देखी गयी है ?

उ०—यह कौन कहता है कि केवल इच्छा मात्र से उन देव शरीरों की उत्पत्ति होती है किन्तु यह कहा जाता है कि पृथिवी जलादि पंचभूत देवताओं के वश में हैं । इच्छा मात्र के अनुसार

कर्मणि स्यात्। नहीन्द्रादीनां स्वरूपसन्निधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते। न च संभवति, बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसन्निधानतानुपपत्तेरिति चेत्—नायमस्ति विरोधः; कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः। एकस्यापि देवात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः संभवति। कथमेतदवगम्यते? दर्शनात्।

तथा हि "कति देवा" "इत्युपक्रम्य त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा" इति निरुच्य "कतमे ते" इत्यस्यां पृच्छायाम् 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' (बृ० ३।९।१,२) इति ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य देवतात्मनो युगपदनेकरूपतां दर्शयति।

तथा स्मृतिरपि–"आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।
योगी कुर्याद्बलम् प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीश्चरेत्॥

भाषा

वे पंचभूत एकत्रित होकर अनेक देव शरीरों को उत्पन्न करते हैं, और यह बात देखी हुई है कि वश्य वस्तु में वशी पुरुष की इच्छा से क्रिया होती है इत्यादि। जैसे विष विद्या वाले की इच्छा से शरीर में निविष्ट विषकणिकाओं में क्रिया होती है इत्यादि।

प्र०— विषविद्या वाले की दृष्टि से संबन्ध होने के कारण यदि विषकणिका में क्रिया होती है तो उसकी तुल्यता प्रकृत में नहीं हो सकती क्योंकि व्यवधान वाले दूरवर्ती पृथिव्यादि भूत के भागों पर देवता की दृष्टि साक्षात् नहीं जा सकती तब कैसे विषविद्या वाले का दृष्टान्त दिया जाता है?

उ०—जैसे काँच और कुआरी मेघ के व्यवधान में भी दूरवर्ती मंगल और शनैश्चरादि ग्रहों तक मनुष्यों की दृष्टि पहुँचती है वैसे ही देवताओं की प्रभावशालिनी स्वाभाविक दृष्टि पर्वतादि रूपी व्यवधानों को भी तुरत भेदन कर सब लक्ष्यों पर पहुँच जाया करती है।

प्र०—मनुष्यों के दृष्टान्त से विरुद्ध होने के कारण देवताओं की ऐसी दृष्टि अनुमान से क्यों नहीं विरुद्ध है?

उ०—ऐसे विषय में वेद प्रमाण के विरोध भय से अनुमान ही नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि स्वर्गादि रूपी विषय, जब अनुमान से नहीं सिद्ध हो सकता तब उसका न होना भी अनुमान से नहीं सिद्ध हो सकता जैसा कि वेददुर्गसज्जन में अनेक बार कहा है।

प्र०—यदि देवता शरीरधारी है और अपने किसी शरीर से यज्ञ में उपस्थित होता है तो याज्ञिक लोगों को देवता का दर्शन क्यों नहीं होता?

उ० १—जब कि अञ्जन विशेषादि उपचारों से मनुष्यों में भी अन्तर्धान शक्ति आजाती है तब इतने प्रभावशालिनी देवता की अन्तर्धान शक्ति में सन्देह ही क्या है? जैसा कि "अथ हैनं" (इसी प्रकरण में पूर्वोक्त बृहदारण्यक उपनिषद् का शाकल्य और याज्ञवल्क्य का संवाद) इत्यादि वैदिक आख्यायिका में 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' (जो तैंतीस सहस्र तैंतीस सौ अर्थात् अनन्त संख्या देवताओं की कही गई है वह देवताओं की महिमा अर्थात् उनकी इच्छा से उत्पन्न देव शरीरों की संख्या है, वास्तविक में तैंतीस ही देवता हैं) इस श्रुति में कहा है और स्मृति में भी "आत्मनो वै०" (हे भरतर्षभ! योगी पुरुष योगबल से अपना बहुत शरीर उत्पन्न कर सकता है। उनमें से कतिपय

प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव'' ॥

इत्येवं जातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति । किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवानाम् । अनेकरूपप्रतिपत्तिसंभवाच्चैकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छति । परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रिया-योगादित्युपपद्यते । अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्यापरा व्याख्या—विग्रहवतामपि कर्माङ्गभाव-चोदनास्वनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते । क्वचिदेकोऽपि विग्रहवान्नानेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद्भोज्यते । क्वचिच्चैकोऽपि विग्रहवानेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते, तद्वदिहोद्देशपरित्यागात्म-कत्वाद्यागस्य विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युगपत् परित्यक्ष्यन्तीति विग्रहवत्वेऽपि देवानां न किंचित्कर्मणि विरुध्यते ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ सू० २८ ॥

भाष्यम्—मा नाम विग्रहवत्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधः प्रसञ्जि। शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत । कथम् ? औत्पत्तिकं हि शब्दस्यार्थेन संबन्धमाश्रित्य 'अनपेक्षत्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम् । इदानीं तु विग्रहवती देवताभ्युपगम्यमाना यद्यप्यैश्वर्य-

भाषा

शरीरों से अनेक विषयों का भोग और कतिपयों से उग्र तपस्या भी तुल्य काल में कर सकता है तथा जैसे सूर्य अपने किरणों को संहार कर लेते हैं ऐसे ही उन शरीरों को संहार भी कर सकता है । तो जब योगबल से योगियों का भी अनेक शरीर धारण होता है तब स्वाभाविक महाशक्ति वाले देवताओं के उक्त शरीर धारण में क्या सन्देह है ? इस रीति से अनेक शरीर के द्वारा अनेक योगों में देवताओं का एक समय में उपस्थित होना कुछ असंभव नहीं है ।

उ० २—यदि यह स्वीकार किया जाय कि यज्ञ में देवता अपने शरीर से साक्षात् नहीं उपस्थित होता तब भी देवता के यज्ञोपयोगी होने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनों प्रकार के व्यवहार लोक में देखे जाते हैं, जैसे कि एक ही शरीरधारी निमंत्रित ब्राह्मण अनेक मनुष्यों के गृह में एक ही समय भोजन व्यवहार में उपयोगी नहीं हो सकता और वही ब्राह्मण एक ही समय सहस्रों पुरुषों के नमस्कार व्यवहार में उपयोगी होता है अर्थात् एक ही समय में वे उस ब्राह्मण को नमस्कार करते हैं । उसी द्वितीय दृष्टान्त के अनुसार एक ही देवता के उद्देश से अनेक स्थानों पर अनेक यजमान एक ही समय में अपने अपने द्रव्यों का त्याग कर सकते हैं और प्रभावशाली देवता उन सब त्यागों को समझ कर सब यजमानों को फल दे सकता है । २७ ।

''शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'' सू० २८ । अर्थ इसका प्रश्नोत्तर रूपी यह है कि—

प्र०—देवता के शरीर के स्वीकार से कर्म में कोई विरोध न पड़े परन्तु वेद में पड़ता है क्योंकि शब्द और अर्थ तथा उन अन्योन्य में सम्बन्ध को नित्य मान कर वेद की स्वतन्त्र प्रमाणता, पूर्व मीमांसा दर्शन से सिद्ध की गई है । इसका प्रकार वेद दुर्ग सज्जन में बड़े समारोह से कहा जा

योगाद्युगपदनेककर्मसंबन्धीनि हवींषि भुञ्जीत; तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवज्जननमरणवत्ता सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये सम्बन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति चेत्—नायमप्यस्ति विरोधः; कस्मात् ? अतः प्रभवात्। अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकं जगत् प्रभवति। ननु 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२)इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितं, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते ? अपि च यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः ? यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येते अर्था अनित्या एवोत्पत्तिमत्वात्। तदनित्यत्वे च तद्वाचकानां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते ?

प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियते इति। तस्माद्विरोध एव शब्द इति चेत्—न; गवादिशब्दार्थसंबन्धनित्यत्वदर्शनात्। नहि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्वं स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते नाकृतयः। आकृतिभिश्च शब्दानां संबन्धो न व्यक्तिभिः। व्यक्तीनामानन्त्यात्सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः। व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते। तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति

भाषा

चुका है, और यदि देवता शरीरधारी है तो जन्म और मरण (जो कि शरीर के स्वभाव हैं) देवता में भी आवश्यक हैं और इनके अनुसार, देवता अनित्य ही है और वैदिक शब्द जब उन देवताओं से सम्बन्ध रखते हैं तब वे भी अनित्य ही हैं क्योंकि वस्तुओं के उत्पन्न होने के अनन्तर उनके नाम और इतिहास की उत्पत्ति होती है इसलिए वेद की नित्यता और स्वतः प्रमाणता कदापि नहीं हो सकती, यदि देवता शरीरधारी हो, इस विरोध का क्या परिहार है ?

गौ आदि शरीरों के उत्पन्न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी गोत्वादि जातियाँ भी उत्पन्न होती हैं क्योंकि द्रव्य गुण और कर्मों की व्यक्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं न कि जातियाँ तथा गौ आदि शब्दों का सम्बन्ध भी गोत्वादि जाति ही के साथ है क्योंकि एक जाति की व्यक्तियाँ करोड़ों होती हैं इससे प्रत्येक व्यक्तियों के साथ शब्दों के सम्बन्ध मानने में गौरव है और यह भी दोष है कि उन सम्बन्धों का पूर्ण रूप से किसी को कदापि नहीं ज्ञान हो सकता और जाति के साथ शब्द का संबन्ध स्वीकार करने में ये दोष नहीं पड़ते इसलिये गोत्वादि जाति (जो कि नित्य है) ही गौ आदि शब्द का अर्थ है। तब ऐसी दशा में जैसे वेद में गौ आदि शब्द के रहने पर भी गोत्वादि जाति के नित्य होने से वेद की नित्यता और स्वतः प्रमाणता होती है वैसे ही वस्तु आदि शब्द के रहते भी वसुत्व आदि जाति की नित्यता से वेद की नित्यता और स्वतः प्रमाणता में कोई विरोध नहीं पड़ सकता और वसुत्व आदि जाति में भी वही मंत्र अर्थवाद आदि प्रमाण हैं जो कि देवता के शरीरधारी होने में प्रमाण हैं। और यह भी है कि इन्द्रादि बहुत से शब्द, व्यास, प्राड्विवाक, सेनापति आदि शब्दों की नाईं स्थान विशेष के वाचक हैं अर्थात् उन उन स्थानों पर जो ही नियुक्त होता है उसी को वे शब्द कहते हैं और वे स्थान अनादि ही हैं तथा जब२ उन स्थानों के अधिकारी देवताओं की सृष्टि होती है तब

द्रष्टव्यम्। आकृतिविशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः। स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत्। ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधिरोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति। न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणाभिप्रायेणोच्यते कथं तर्हि ? स्थिते वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थसम्बन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिरतः प्रभव इत्युच्यते। कथं पुनरवगम्यते शब्दात्प्रभवति जगदिति ? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रति अनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः। "एत इति प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः" इति श्रुतिः। तथाऽन्यत्रापि 'स मनसा वाचा मिथुनं समभवत्' (बृ० १।२।४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते। स्मृतिरपि—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
असौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः' ॥ इति।

उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः अनादिनिधनाया अन्यादृशोत्सर्गस्यासंभवात्। तथा—'नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः'। (मनु० १।२१) इति,
'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' ॥

इति च। अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान्ससर्जेति गम्यते। तथा च श्रुतिः "स भूरिति व्याहरत् स भूमिम-

भाषा

वेद शब्दों ही के अनुसार होती है। यह बात श्रुति और स्मृति से सिद्ध है जैसे कि "एत इति" प्रजापति ने 'एते' इस वैदिक शब्द के अनुसन्धान से देवताओं की 'असिग्रम' इस वैदिक शब्द के अनुसार मनुष्यों की सृष्टि किया 'स मनसा०' प्रजापति ने अपने मन तथा वेदवाक्यों के अनुसार स्त्रियों और पुरुषों की सृष्टि किया इत्यादि श्रुति में तथा "अनादि निधना०" उत्पत्ति और विनाश से रहित नित्य इस वेद रूपी वाक्य के सम्प्रदाय को ब्रह्मदेव ने चलाया जिससे कि सृष्टि आदि सब काम हुए। "नाम रूपञ्च०" वह ब्रह्मदेव, आदि सृष्टि के समय सब प्राणियों के नाम, रूप और कर्मों को वेदशब्दों ही के अनुसार सृष्टि किया 'सर्वेषान्तु०' उन ब्रह्मदेव ने वेदशब्दों के अनुसार पृथक् २ सबके नाम, कर्म और मर्यादा को बनाया इत्यादि, स्मृति में कहा है। और यह हम सबको प्रत्यक्ष है कि जो पुरुष जिस पदार्थ को बनाना चाहता है वह पूर्व में उस पदार्थ के शब्द को स्मरण कर पश्चात् उस अर्थ को बनाता है ऐसे ही आदि सृष्टि के पूर्व, प्रजापति के हृदय में वैदिक शब्दों का प्रादुर्भाव हुआ। पश्चात् उन्हीं शब्दों के अनुसार उन्होंने सृष्टि किया जैसा कि "स भूरिति०" (प्रजापति भूः कहते

सृजत" (तै० ब्रा० २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति इति ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ सू० २९ ॥

भाष्यम्—स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्या 'अतः प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति—अत एव च नित्यत्वमिति । अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद्वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम् । तथा च मन्त्रवर्णः—"यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्" (ऋ० सं० १०। ७१।३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति। वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥ २९ इति ॥

भाषा

हुए भूमि को उत्पन्न करते हैं) इत्यादि श्रुति में कहा है । तो कैसे देवता को शरीरधारी कहने से वेद अनित्य हो सकता है ?

अत एव च नित्यत्वम् (सूत्र २९) वेद का कर्त्ता कोई प्रसिद्ध नहीं है इससे तो वेद की नित्यता (अपौरुषेयता) पूर्वमीमांसा में कही हुई रीति के अनुसार सिद्ध ही होती है परन्तु वैदिक शब्दों ही से देवादि जगत् की सृष्टि जो अभी कही गई इससे भी वेद की नित्यता सिद्ध होती है क्योंकि यदि अनित्य अर्थात् उत्पन्न होता तो उससे जगत् की सृष्टि इस कारण न हो सकती कि वह भी जगत् रूपी कार्य में ही अन्तर्गत हो जाता और वेद का नित्य होना इस मंत्र में भी कहा है 'यज्ञेन०' याज्ञिकों ने वेद मार्ग को अपने पूर्व पुराणों से पाया अर्थात् पूर्व कल्प के ऋषियों के हृदयों में पूर्व ही से प्रविष्ट वेद को याज्ञिकों ने पश्चात् ग्रहण किया और 'युगान्ते' महाप्रलय में अन्तर्धान को प्राप्त हुए इतिहास सहित वेदों को ब्रह्मदेव की आज्ञानुसार तप से महर्षियों ने आदि सृष्टि के समय पाया ।

प्र०—जगत् की सृष्टि और प्रलय स्वीकार करने पर कदापि वेद की नित्यता नहीं हो सकती क्योंकि शब्द और अर्थ का उच्छेद न होने ही से उनका अन्योन्य सम्बन्ध नित्य हो सकता है, और पढ़ने पढ़ाने वालों की परम्परा के विच्छेद न होने ही से वेद नित्य हो सकता है और महाप्रलय में जब सब जगत् का नाश होता है तब शब्द और उनके अर्थ भी सब ही एक ही बार उच्छिन्न हो जाते हैं उस समय में उनका अन्योन्य में सम्बन्ध कैसे अवशिष्ट हो सकता है ? और पढ़ने पढ़ाने वालों की परम्परा के अत्यन्त विच्छेद होने से वेद भी किस आश्रय पर अवशिष्ट रह सकता है ? यह तो कह नहीं सकते कि जीव नित्य है इससे जीवों में संस्काररूप से उस समय वेद रहता है, क्योंकि वेदान्त दर्शन के अनुसार अन्तःकरण रूपी उपाधि सहित चैतन्य ही जीव है, तो अन्तःकरण रूपी उपाधि, माया का परिणाम है, इसलिए जैसे सब जगत् प्रलय में नष्ट हो जाता है वैसे ही अन्तःकरण भी, तब अन्तःकरण के न रहने से जीव भी महाप्रलय के समय में नहीं रहता । तथा यह भी नहीं कह सकते कि उस समय परब्रह्म में संस्कार रूप से वेद रहते हैं, क्योंकि शुद्ध चैतन्य रूपी ब्रह्म में

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ सू० ३० ॥

भाष्यम्—अथापि स्यात् यदि पश्वादिव्यक्तिवद्देवादिव्यक्तयोऽपि सन्तत्यैवोत्पद्येरन्निरुध्येरंश्च, ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात्संबन्धनित्यत्वेन विरोधः परिह्रियेत। यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति, तदा कथमविरोध इति ? तत्रेदमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति। तदापि संसारस्यानादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम्। प्रतिपादयिष्यति चाचार्यः संसारस्यानादित्वम्—"उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" (ब्र० २।१।३६) इति। अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः, एवं कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपीति द्रष्टव्यम्। स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते—"यदा सुप्तः स्वप्नं न कश्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते

भाषा

संस्कारादि कुछ भी नहीं रह सकता। और आदि सृष्टि में परब्रह्म से जिन जीवों का प्रादुर्भाव होता है वे सब नवीन ही हैं, इससे यह भी नहीं कहा जा सकता है कि महाप्रलय के पूर्वकल्प वाले वेद, संस्कार रूप से उन जीवों में आ सकते हैं। इसलिए जगत् की सृष्टि और प्रलय के स्वीकार में वेद की नित्यता का विरोध क्यों नहीं पड़ता ?

उ०—*समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च* (सू० ३०)। यद्यपि महाप्रलय में अन्तःकरण के कोई व्यापार नहीं होते और प्रलय के अवधि को पाकर परमेश्वर की इच्छा के बल से जैसे कच्छप के देह में लीन हुए उसके अंग निकलते हैं अथवा मिट्टी में मिल गये अर्थात् लीन हो गये मेढक के शरीर जैसे वृष्टि के अनन्तर उसी मिट्टी से निकल खड़े होते हैं ऐसे ही अन्तःकरण आदि, पूर्वकृत धर्माधर्म रूपी वासना के अनुसार वैसे ही उत्पन्न होते हैं, जैसे महाप्रलय के पूर्व काल में वे थे अर्थात् उनके नाम और रूप वैसे ही होते हैं, जैसे कि महाप्रलय के पूर्व में थे। तात्पर्य यह है कि यद्यपि संसार मण्डल की उत्पत्ति ईश्वर ही से होती है तथापि प्राणियों के प्रलय के पूर्व किए हुए धर्माधर्म रूपी कर्मों के अनुसार ही से ईश्वर जगत् की सृष्टि करते हैं और यह व्यवस्था तब ही हो सकती है जब कि सृष्टि और प्रलय का प्रवाह अनादि है। इस रीति से जगत् की सृष्टि और प्रलय के स्वीकार से भी वेद की अनादिता में कोई विरोध नहीं है।

प्र०—संसार अनादि हो किन्तु महाप्रलय रूपी इतने बड़े व्यवधान पड़ने पर कैसे आदि सृष्टि में वेदों का स्मरण हो सकता है।

उ०—वेद में शयन का "प्रलय" शब्द से और जागरण का "प्रभव" (सृष्टि) शब्द से व्यवहार है जैसा कि श्रुति में होता है "*तदा सुप्तः*" (सोता हुआ प्राणी जब कोई स्वप्न नहीं देखता अर्थात् निद्रा गाढ़ी होती है। उस समय एक प्राण ही रहता है और उसी प्राण में सब इन्द्रिय और मन भी अपने सब व्यापारों के साथ 'अप्यय' (प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं और जागरण के आरंभ में

यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" (कौ० ३।३)। इति स्यादेतत् स्वापे पुरुषान्तरव्यवहाराविच्छेदात्स्वयं च सुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुसन्धानसंभादविरुद्धम्।

महाप्रलये तु सर्वव्यवहारोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्यानुसन्धातुमशक्यत्वाद्वैषम्यमिति; नैष दोषः, सत्यपि व्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहदीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तेः। यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो

भाषा

जैसे ज्वलित अग्नि से सब दिशाओं में विस्फुलिङ्ग निकलते हैं वैसे मन आदि सब इन्द्रिय उसी प्राण से निकल २ अपने २ स्थानों में प्रतिष्ठित होते हैं) इसी से यह स्पष्ट निकलता है कि जैसे जागे हुए पुरुष को शयन से पूर्व काल में अनुभव किए हुए अर्थों का स्मरण होता है वैसे ही आदि सृष्टि में प्रादुर्भूत ब्रह्मदेवादि ईश्वरों के हृदयों में महाप्रलय से पूर्वकल्प के वेदों का स्मरण होना कुछ भी विरुद्ध नहीं है यद्यपि सुषुप्ति (गाढ़ी नींद) में प्राणमात्र अवशिष्ट रहता है और प्रलय में वह भी नहीं रहता, यह विशेष सुषुप्ति और प्रलय में अन्योन्य है। तथापि माया का रहना दोनों में समान है क्योंकि महाप्रलय भी माया ही का परिणाम है, इससे यदि माया न रहे तो प्रलय ही नहीं हो सकता। इसी तुल्यता के अनुसार शयन और प्रलय वेद में एक ही से गिने जाते हैं।

प्र०—शयनावस्था एक ही बार सब प्राणियों पर नहीं आती अर्थात् जिस समय एक सोता है उस समय दूसरा कोई अवश्य जागता है। जिसके कारण सब व्यवहार चलते रहते हैं और सोया हुआ पुरुष जब जागता है तब उसी व्यवहार के देखने से उसको अपने पूर्व व्यवहारों का स्मरण होता है क्योंकि शयन का समय थोड़ा होता है। इसलिए उसके व्यवधान से सोये हुए पुरुष में वर्तमान पूर्व व्यवहार का संस्कार नष्ट नहीं होता। महाप्रलय तो सब प्राणियों पर एक ही बार आता है। और वह बहुत बड़ा समय भी है, इससे उसके अनन्तर, पूर्वकल्प के अनुभव किए हुए वेदों के स्मरण का संभव नहीं है क्योंकि पूर्व अनुभव के संस्कार का नाश मरण अथवा दीर्घ काल के व्यवधान से होता है जैसा कि लोक में प्रत्यक्ष है अर्थात् कोई अपने पूर्व जन्म का स्मरण नहीं करता क्योंकि पूर्व जन्म का संस्कार मरण से नष्ट हो जाता है और दीर्घ काल के व्यवधान से लोग पहली बातें भूल जाते हैं अर्थात् उस व्यवधान से उस अनुभव का संस्कार नष्ट हो जाता है। अब ध्यान देना चाहिये कि महाप्रलय में सब प्राणियों के मरण और दीर्घ काल का व्यवधान ये दोनों हैं तो कैसे पूर्वकल्प के अनुभव का संस्कार किसी एक में भी बिना नाश हुए रह सकता है और जब संस्कार ही नहीं है तो आदि सृष्टि के समय में पूर्वकल्प के अनुभव किए हुए वेदों का स्मरण कैसे किसी को हो सकता है?

उ०—यद्यपि मरण और दीर्घ काल के व्यवधान से बहुत से संस्कारों का नाश होता है तथापि न सब संस्कारों का, अर्थात् बहुत से संस्कार ऐसे हैं कि जिनका नाश उक्त दो कारणों से नहीं होता क्योंकि जातमात्र बालक को भी भय आदि होते हैं तो जब उसने किसी से अपने दुःख का इस जन्म में अनुभव ही नहीं किया है तो कैसे उसे किसी से भय हो सकता है। इसलिए यह अवश्य कहना

न जन्मान्तरव्यवहारमनुसन्दधाना दृश्यन्त इति, तथापि न प्राकृतवदीश्वराणां भवितव्यम्। यथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान् भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम्। ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तिः। तथा च श्रुतिः—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" (श्वे० ६।१८) इति। स्मरन्ति च शौनकादयः—'मधुच्छन्दःप्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दाशतय्यो दृष्टा' इति।

प्रतिवेदं चैवमेव काण्डार्ष्यादयः स्मर्यन्ते। श्रुतिरप्यृषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा ध्यापयति वा स

भाषा

पड़ता है कि पूर्व जन्म में किसी पदार्थ से उसको दुख का अनुभव हुआ है, उसी के संस्कार से उसको उस दुःख का स्मरण होता है जिससे कि उसको भय होता है। और यद्यपि प्राकृत प्राणियों को जन्मान्तर का स्मरण नहीं होता तथापि ब्रह्मदेवादि ईश्वरों को पूर्व कल्प के अनुभव किए हुए वेद का स्मरण हो सकता है क्योंकि जैसे अन्य सब कार्यों में अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा उन ईश्वरों का सामर्थ्य बहुत अधिक है वैसे ही स्मरण का सामर्थ्य भी, जैसा कि श्रुति स्मृति आदि में सहस्रशः प्रसिद्ध है जैसे "यो ब्रह्माणं०" जो ब्रह्मा को प्रथम बनाता है और उनके हृदय में वेदों का स्मरण कराता है इत्यादि, तथा शौनकादि की स्मृतियों में भी कहा है कि (मधुच्छन्दादि ऋषियों ने दाशतयी (ऋग्संहिता) को स्मरण किया और प्रत्येक वेद में इसी से ऋषि आदि को स्मरण करना स्मृतियों में कहा है और वेद में भी "यो ह वा" (जो, ऋषि को बिना जाने किसी मंत्र से यज्ञ करता है वह पापी होकर स्थावर योनि में जन्म पाता है, इसलिए प्रत्येक मंत्र में ऋषि छन्द देवता और ब्राह्मण वाक्य को जाने) यह कहा है। और यह भी है कि कीट से लेकर ब्रह्मदेव पर्यन्त ज्ञान ऐश्वर्य आदि की वृद्धि ही ऊपर २ देखने में आती है और ऐसी दशा में जब श्रुति स्मृति आदि में पूर्वकल्प के वेद का स्मरण, परमेश्वर के अनुग्रह से ब्रह्मदेव आदि में कहा है तब उसमें सन्देह का अवसर ही नहीं है क्योंकि स्मरण भी तो ज्ञान ही है।

प्र०—ब्रह्मदेवादि पूर्वकल्प के व्यवहारों का अनुसन्धान यदि करते हैं तो किया करें उससे शब्द अर्थ के सम्बन्ध और वेद की नित्यता नहीं हो सकती क्योंकि यह सृष्टि पूर्व कल्प की सृष्टि की अपेक्षा अन्य और नवीन ही है तथा जब सृष्टि ही अपूर्व है तो इस सृष्टि के वेद भी पूर्व वेदों से अन्य ही हैं और उनके अर्थ भी पूर्व वेदों के अर्थ से अन्य हैं और यह भी कह सकते हैं कि 'इस सृष्टि के वर्णाश्रम भी पूर्व वर्णाश्रम से अन्य ही हैं। इस सृष्टि में अधर्म से स्वर्ग और धर्म से नरक होता है तथा नरक ही लोगों को प्रिय है स्वर्ग अप्रिय है' इस रीति से जब पूर्व कल्प के सभी व्यवहार उच्छिन्न हो गये तब ब्रह्मदेव के उक्त स्मरण से क्या काम निकला? क्योंकि वेद तो अनित्य ही हो गया?

स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' इत्युपक्रम्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति। प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते। दृष्टानुश्रविकसुखदुःखविषयौ च रागद्वेषौ भवतो न विलक्षणविषयावित्यतो धर्माधर्मफलभूतोत्तरा सृष्टिर्निष्पाद्यमाना पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते।

स्मृतिश्च भवति—'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते'॥ इति

प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते। शक्तिमूलमेव च प्रभवति। इतरथाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। न चानेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम्। ततश्च विच्छिद्याप्युद्भवतां भूरादिलोकप्रवाहाणां देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनिकायप्रवाहाणां, वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चानादौ संसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसम्बन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम्। नहीन्द्रियविषयसम्बन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्। अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात्कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति। समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां च कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः। समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—

भाषा

उ०—चाहे किसी कल्प की सृष्टि हो परन्तु वह वस्तु के स्वभाव और सामर्थ्य के अनुसार ही हो सकती है अर्थात् वस्तु का स्वभाव और सामर्थ्य किसी सृष्टि में अन्यथा नहीं हो सकता। निदान किसी सृष्टि में सुख के त्यागने और दुख के भोगने की इच्छा नहीं होती तथा धर्म और अधर्म के सामर्थ्य भी किसी सृष्टि में उलटे नहीं हो सकते कि धर्म से दुख और अधर्म से सुख हो जैसे मृत्तिका से पट और तन्तुओं से घट कदापि नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा हो तो सामर्थ्य के नियम न होने से सबसे सब हो जाय अर्थात् प्यासा मनुष्य कदाचित् अग्नि पान से भी अपनी प्यास को शान्त कर दे और शीत से आर्त, जल से अपने दुख को शान्त कर दे, इसलिए यही स्वीकार के योग्य और प्रामाणिक है कि अन्य सृष्टियों में भी ब्रह्महत्या आदि से दुख ही और यज्ञ आदि से सुख ही होता है तथा जो वेद इस कल्प में हैं वे ही पूर्व में थे और आगामी कल्प में रहेंगे। निदान जब प्रत्यक्ष सामर्थ्य से काम चल सकता है तब उसके विरुद्ध सामर्थ्य की कल्पना, अनुमान और श्रुति स्मृति के विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है और जब सब कल्पों में तुल्य ही व्यवहार है और ब्रह्मदेवादि ईश्वर पूर्व कल्प के व्यवहारों को कर सकते हैं तब यही निश्चय है कि प्रत्येक कल्पों में नामों और रूपों से एक से ही वस्तुओं की सृष्टि होती है। इसलिए लाखों महासृष्टि और लाखों महाप्रलय होने पर भी वेद की नित्यता में अणुमात्र विरोध नहीं पड़ता। प्रत्येक कल्पों के सृष्टियों की अन्योन्य तुल्यता श्रुति और स्मृति में भी कही हुई है जैसे कि "सूर्याचन्द्रमसौ०" (ब्रह्मदेव ने पूर्व कल्प के ऐसा सूर्य्य, चन्द्रमा, आकाश,

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चांतरिक्षमथो स्वः" ॥ (ऋ० सं० १०। १९०।३) इति ।

यथापूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत्क्लृप्तं, तथाऽस्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः । तथा "अग्निर्वा अकामयत । अन्नादो देवानां स्यामिति । स एतमग्नये कृतिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्" । (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निवपत् यस्मै वाग्नये निरवपत्तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवंजातीयका श्रुतिरिहोदाहर्तव्या ।

स्मृतिरपि—"ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः ।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥
यथाऽभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते सांप्रतैरिह ।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च" ॥ इत्येवं जातीयका द्रष्टव्या ॥३०॥

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥ सू० ३१ ॥

भाषा

पृथ्वी, स्वर्गादि बनाया) *"अग्निर्वा०"* (अग्नि कामना करता है कि मैं देवताओं के अन्न का खाने वाला हो जाऊँ, इसलिए वह अग्नि देवता वाले अष्टाकपाल पुरोडाश नामक यज्ञ को कृत्तिका नक्षत्रों के लिए करते हैं) अर्थात् जो अग्नि और जिस अग्नि के लिए यज्ञ करता है उन दोनों का 'अग्नि' यह नाम और रूप भी तुल्य ही है तथा *"ऋषीणां०"* । (ऋषियों के जो नाम और वेद का दर्शन, पूर्व कल्प में रहते हैं महाप्रलय रूपी रात्रि के अन्त में ब्रह्मदेव उन्हीं नामों और दर्शन को नवीन ऋषियों के लिए देते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रतिवर्ष वसन्त आदि ऋतुओं में एक ही नाम, और तुल्य ही फल पुष्पादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं अर्थात् जिस नाम और रूप के फल, पुष्प, पत्र आदि एक वसन्त में उत्पन्न होते हैं उसी नाम और रूप के फल आदि, अन्यान्य वसन्तों में भी, ऐसे ही जिन नाम और रूपों के वस्तुओं की सृष्टि एक कल्प में होती है उन्हीं नामों और रूपवाली वस्तुओं की सृष्टि सब कल्पों में होती है ।

इस रीति से सब कल्पों में तुल्य ही नाम और रूप के देवादि वस्तुओं की सृष्टि होती है, आत्मामात्र उनके भिन्न रहते हैं । वेद दुर्ग सज्जन में वेद की अपौरुषेयता (नित्यता) के प्रकरण में वेद की नित्यता को सिद्ध कर दी गयी है और उसी प्रकरण के अन्त में यहाँ के २८, २९, ३०, अर्थात् तीन सूत्रों से सूचित इन उक्तियों की—(जो कि यहाँ तक कही गई हैं) सूचना भी दे दी गयी है।

इस रीति से यह समझना चाहिये कि पूर्व मीमांसा दर्शन और वेदान्त दर्शन अर्थात् इन दोनों वैदिक दर्शनों में जैमिनि महर्षि और भगवान् वादरायण व्यास अर्थात् इन दोनों आचार्यों ने वेद की अपौरुषेयता (नित्यता) को एक मुख होकर सिद्ध किया है।

"मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः" (सू० ३१)

पूर्व में जो यह प्रतिज्ञा की गयी कि ब्रह्मविद्या में देवता आदि का भी अधिकार है उस प्रतिज्ञा

भाष्यम्—इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकारः इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते। देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते। कस्मात्? मध्वादिष्वसंभवात्। ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वधिकारोऽभ्युपगम्येत। न चैवं संभवति। कथम्? "असौ वा आदित्यो देवमधु" (छा० ३।१।१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन्। देवादिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत। पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्चरोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्तीत्युपदिश्य 'स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजानतां वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति। वस्वादयस्तु कानन्यान्वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानीयुः? कं वाऽन्यं वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः? तथा "अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः" (छा० ३।११।१) "वायुर्वाव संवर्गः" (छा० ४।३।१) "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" (छा० ३।११।१) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकारः संभवति। तथा 'इमावेव गौतमभारद्वाजा वयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः' (बृ० २।२।४) इत्यादिष्वप्यृषिसम्बन्धेषूपासनेषु तेषामेवर्षीणामधिकारः संभवति ॥३१॥

भाषा

पर पुनः विचार करने के लिये यह सूत्र है और इसका यह अर्थ है कि जैमिनि आचार्य यह मानते हैं कि ब्रह्मविद्या में देवता आदि को अधिकार नहीं है क्योंकि उनमें मधुविद्या आदि का संभव नहीं है। तात्पर्य यह है कि सब ब्रह्मविद्याओं में सब देवताओं का सामान्य से अधिकार है कि किसी विशेष ब्रह्मविद्या में किसी विशेष देवता का इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि—

"असौ वा आदित्यो देव मधु" (छा० ३।१।१) इस प्रकरण में जो मधुविद्या कही हुई है उसमें भी देवताओं का अधिकार मानना पड़ेगा अर्थात् विद्या कहते हैं ज्ञान को तो जब सब ब्रह्मविद्याओं में सब देवताओं का अधिकार है तब कोई कारण नहीं है कि इस मधुविद्या में देवताओं का अधिकार न हो, तथा सूर्यमण्डल को मधु का छत्ता ध्यान करना अर्थात् 'यह सूर्यमण्डल मधु का छत्ता है' ऐसा ध्यान करना मधुविद्या है और ऐसी दशा में सामान्य रूप से देवताओं का अधिकार मधुविद्या में नहीं हो सकता क्योंकि सूर्य का अधिकार मधुविद्या में कैसे हो सकता है?

प्रसिद्ध है कि उपास्य से उपासक भिन्न होता है तो सूर्य अपना ही उपासना कैसे कर सकते हैं? यथा *"अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद"* (छा० ३।१८।१) इस प्रकरण में अग्नि आदि में आकाश के पाद होने का ध्यान कहा है तो उस उपासना में अग्नि का अधिकार नहीं हो सकता क्योंकि अग्निदेव किसमें आकाश के पाद होने का ध्यान करेंगे दूसरा तो कोई अग्नि है नहीं। निदान जैसे मधुविद्या आदि में सूर्य आदि देवताओं का अधिकार नहीं हो सकता वैसे ब्रह्मविद्या में किसी देवता का अधिकार नहीं है। और इस अवसर पर पूर्वोक्त उन युक्तियों को भी ध्यान करना चाहिये कि जो युक्तियाँ पूर्व पक्ष में कही जा चुकी हैं।

ऐसे ही द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि—

ज्योतिषिभावाच्च ॥ सू० ३२ ॥

भाष्यम्—कुतश्च देवादीनामनधिकारः ? यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति, तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते । लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च । न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयार्थित्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते, मृदादिवदचेतनात्वावगमात् । एतेनाग्न्यादयो व्याख्याताः । स्यादेतत्; मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्वाद्यवगमादयमदोष इति, नेत्युच्यते; नहि तावल्लोको नाम किंचित्—स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति । प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यविचारितविशेषेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिध्यन्नर्थो लोकात्प्रसिद्ध्यतीत्युच्यते । न चात्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं

भाषा

ज्यौतिषि भावाच्च (सू० ३२)

यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् यह स्वीकार किया जाय कि विद्याविशेष में देवताविशेष का यथायोग्य अधिकार है तो उसमें असंभव ही दोष है क्योंकि ये जो तेज के मण्डल, सूर्य्य, अग्नि आदि शब्द से कहे जाते हैं उनमें चैतन्य नहीं हैं किन्तु वे जड़ ही हैं और उनसे अतिरिक्त कोई स्वरूप देवता का प्रत्यक्ष नहीं है तो ऐसी दशा में जड़ देवताओं का ब्रह्मविद्या में अधिकार कैसा ?

प्र०—मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोक से जब सूर्यमण्डल आदि जड़ पदार्थों से अतिरिक्त और उन पदार्थों का अधिष्ठाता चेतन और देहधारी देवता सिद्ध है तब क्यों नहीं उनका अधिकार ब्रह्मविद्या में हो सकता है ?

उ०—देहधारी चेतन देवता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण से पृथक्, लोकव्यवहार कोई वस्तु नहीं है किन्तु जिस लोकव्यवहार का मूल प्रत्यक्षादि प्रमाण होता है वही लोकव्यवहार सत्य कहलाता है, और जिस लोकव्यवहार का प्रत्यक्षादि प्रमाण मूल नहीं होता वह लोकव्यवहार अन्धपरम्परा ही है । अर्थात् उससे कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता, ऐसी दशा में जब देवता के शरीरधारी होने का कोई प्रत्यक्षादि रूपी प्रमाण मूल नहीं है तो देहधारी देवता के विषय में जितने लोकव्यवहार हैं वे सब अज्ञानियों की अन्धपरम्परा ही हैं ।

उनसे कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता । ऐसे ही इतिहास और पुराण भी देवताओं के शरीरधारी होने में मूल नहीं हैं क्योंकि वे सब पूर्वों के रचित हैं और जब प्रत्यक्षादि प्रमाण के बिना ही देवताओं के शरीरधारी होने के विषय में पुरुषों ने उनकी रचना किया तब उन पर सत्य होने का विश्वास ही नहीं हो सकता ।

ऐसे ही वैदिक अर्थवाद भाग भी देवताओं के शरीरधारी होने में प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि पूर्व मीमांसा के अर्थवादाधिकरण में यह सिद्धान्त कर दिया गया है कि अर्थवादों का अपने स्वरार्थ में तात्पर्य ही नहीं होता किन्तु वे इतना ही कहते हैं कि "विधिवाक्यों से विहित यज्ञादि कर्म अच्छे हैं" ऐसे ही मंत्र भाग भी देवताओं के शरीरधारी होने में प्रमाण नहीं हो सकता है । क्योंकि जैसे ब्राह्मण भाग के वाक्य, यव, तण्डुल आदि द्रव्यों को यज्ञादि कर्मों में लगाने की आज्ञा देते हैं वैसे ही मंत्ररूपी शब्द द्रव्य के लगाने की भी । विशेष इतना ही है कि यव, तण्डुल आदि

प्रमाणमस्ति। इतिहासपुराणमपि पौरूषेयत्वात् प्रमाणान्तरमूलमाकाङ्क्षति। अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थगर्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते। मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते। तस्मादभावो देवादीनामधिकारस्य ॥ ३२ ॥

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ सू० ३३ ॥

भाष्यम्—तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति। बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते। यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वसंभवोऽधिकारस्य, तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां संभवः। अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य। न च क्वचिदसंभव इत्येतावता यत्र संभवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत। मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः संभवति।

तत्र यो न्यायः सोऽत्रापि भविष्यति। ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति दर्शनं श्रौतं देवा-

भाषा

से किसी कर्म का बोध नहीं उत्पन्न होता और मंत्रों से यज्ञों में उन कर्मों का स्मरण मात्र होता है कि जिन कर्मों का बोध, ब्राह्मण भाग के प्रधान विधिवाक्यों से हो चुका है। ऐसी दशा में जब किसी अन्य प्रमाण से देवताओं के शरीरधारी होने का बोध पूर्व में नहीं हो चुका है तो मन्त्र कदापि नहीं उसका बोध करा सकते, क्योंकि मन्त्रों का यह स्वभाव है कि वे उसी अर्थ का स्मरण रूपी बोध कराते हैं जिस अर्थ का बोध, दूसरे प्रमाण से पूर्व ही हो चुका है (मन्त्रों का यह तत्व वेद दुर्ग सज्जन में बड़े विशद रूप से पूर्व ही दिखला दिया गया है)। इन पूर्वोक्त उक्तियों से यह सिद्ध हो गया कि जब देवता चेतन वा शरीरधारी ही नहीं हैं तो ब्रह्मविद्या में उनका अधिकार नहीं है।

"भवन्तु बादरायणोऽस्ति हि" सू० ३३ ॥

बादरायणाचार्य "मैं अर्थात् कृष्ण द्वैयायन व्यास" तो ब्रह्मविद्या में देवतादिकों का अधिकार मानते हैं क्योंकि यद्यपि देवता से मिली जुली मधुविद्या आदि ब्रह्मविद्याओं में पूर्वोक्त रीति से सूर्यादि-देवताविशेषों का अधिकार नहीं हो सकता तथापि शुद्ध अर्थात् केवल ब्रह्मविद्या में देवतादिकों का अधिकार अवश्य हो सकता है क्योंकि सब विषयों की अनित्यता देख, देवताओं को विषयों से वैराग्य हो सकता है, इससे वे मोक्ष के अर्थी हैं और मनुष्यों की अपेक्षा देवतादिकों के शरीर इन्द्रिय आदि दृढ़तर होते हैं, इससे वे ब्रह्मविद्या में समर्थ हैं। तथा वेद से यह निषेध भी कहीं नहीं है कि "देवतादिक ब्रह्मविद्या का अभ्यास न करें"। और यह कोई बात नहीं है कि एक काम में असंभव से यदि देवतादिक का अधिकार नहीं है जैसे मधुविद्या आदि में। तो इतने मात्र से जिस काम में देवतादि के अधिकार का संभव है उस काम में भी उनका अधिकार नहीं है जैसे कि ब्रह्मविद्या में, क्योंकि सब यज्ञादि कर्मों में भी ब्राह्मणादि सब वर्णों का अधिकार नहीं होता जैसे कि राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय ही का अधिकार है न कि अन्य वर्ण का। क्या इतने मात्र से कोई यह कह सकता है कि अन्यान्य यज्ञों में भी ब्राह्मण का अधिकार नहीं है, तथा ब्रह्मविद्या में देवतादि के अधिकार की

धिकारस्य सूचकम्—"तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्" बृ० १।४।१० इति। "ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानिति"। "इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्" (छा० ८।७।२) इत्यादि च।

स्मार्तमपि गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि। यदप्युक्तं ज्योतिषिभावाच्चेति। अत्र ब्रूमः— ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात्। अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चावस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। तथा हि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे— "मेधातिथेर्मेषेति मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार" (षड्विंश० ब्रा० १।१) इति। स्मर्यते च—"आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह" इति। मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठितारोऽभ्युपगम्यन्ते, 'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्नि'त्यादि दर्शनात्। ज्योतीरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते। चेतनास्त्वधिष्ठितारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादिष्व-

भाषा

सूचना वेद में है "तद् यो यो०" बृ० १।४।२० (देवताओं, ऋषियों तथा मनुष्यों में जो ही कोई ब्रह्मज्ञानी होता है वही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है) "ते हो चु०" "इन्द्रो हा०" छा० ८।७।२। (वे देवता और असुर प्रथम यह कहते हैं कि उस आत्मा का अन्वेषण हम करें जिसके अन्वेषण से सब लोकों और कामों का लाभ होता है। तदनन्तर ब्रह्मविद्या के लिये देवताओं में इन्द्र और दैत्यों में विरोचन सन्यासाश्रम को ग्रहण करते हैं) इत्यादि। और स्मृतियों में भी गन्धर्व याज्ञवल्क्य संवाद आदि अनेक प्रकरण ऐसे हैं कि जिनसे ब्रह्मविद्या में देवतादिकों के अधिकार की सूचना होती है।

प्र०—"ज्योतिषिभावाच्च" (सू० ३२) इस पूर्व सूत्र मे जब देवता के चैतन्य का अभाव सिद्ध कर दिया गया तब कैसे ब्रह्मविद्या में उनका अधिकार हो सकता है?

उ०—यद्यपि सूर्यादि शब्दों का अर्थ, तेज का मण्डल भी है तथापि वे शब्द, ऐश्वर्य आदि से संयुक्त चेतन देवता रूपी आत्मा को भी कहते हैं क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रों में सूर्यादि रूपी चेतन देवताओं का सहस्रशः वर्णन है जैसे कि "मेधा" (षड्विंश०) ब्रा० १।१। (कण्व के पुत्र मेधा तिथि को इन्द्र भेंड़े का रूप धारण कर हरण करते हैं इसी से मन्त्र में मेधातिथि के मेष (मेड़ा) कहे जाते हैं, इत्यादि। स्मृतियों में भी "आदित्यः" (महाभारत) (आदित्य अर्थात् सूर्य सामान्य पुरुष का रूप धारण कर कुन्ती के समीप गये) इत्यादि। ऐसे ही मृत्तिका आदि अचेतन पदार्थों पर अधिष्ठान करने वाले अर्थात् उनके स्वामी और उनसे अन्य तथा उसी नाम के चेतन देवता होते हैं जैसा कि वेद में कहा है कि "मृद्०" मृत्तिका बोलती है "आपो०" जल बोलते हैं, इत्यादि। अर्थात् मृत्तिका और जल तो जड़ हैं, बोल नहीं सकते। इसलिये यहाँ "मृद्०" तथा "अप्" मृत्तिका और जल के अधिष्ठाता चेतन देवता को कहते हैं और तेज आदि को तो हम भी अचेतन मानते हैं। किन्तु उनके अधिष्ठाता देवता को अनन्तरोक्त प्रमाणों द्वारा चेतन अवश्य मानते हैं।

प्र०—जब यह कह दिया गया कि मन्त्र और अर्थवाद का अक्षरार्थ में तात्पर्य ही नहीं है

हारादित्युक्तम्। यदप्युक्तं मन्त्रार्थवादयोरन्यर्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यमिति। अत्र ब्रूमः—प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावासद्भावयोः कारणम्, नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा। तथाह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येव प्रतिपद्यते। अत्राह—विषम उपन्यासः। तत्र हि तृणपर्णादिविषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते। अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽर्थवादेन पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। न हि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक् प्रत्यायकत्वमस्ति। यथा 'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसंबन्धात् सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते। न पुनः सुरां पिबेदिति पदद्वयसंबन्धात् सुरापानविधिरपीति। अत्रोच्यते—विषम उपन्यासः। युक्तं

भाषा

तब कैसे देवता के शरीरादि विषय में वे प्रमाण हो सकते हैं?

उ०—जब किसी वाक्य से किसी अर्थ का बोध होता है तब वह अर्थ सत्य समझा जाता है, चाहे उस अर्थ में उस वाक्य का तात्पर्य हो वा न हो। जैसे स्नान के तात्पर्य से चलता हुआ पुरुष मार्ग में पड़े हुए तृणादिक को देखकर उसको सत्य समझता है परन्तु उसके चलने का तात्पर्य तृणादिक के लाभ में नहीं है। ऐसे ही मंत्र और अर्थवाद का यद्यपि अपने अक्षरार्थ में तात्पर्य नहीं है, तथापि जब उनके पदों से उस अर्थ का बोध होता हैं अर्थात् देवता के चैतन्य और शरीर का, मंत्र और अर्थवाद के पदों से बोध होता है तब उसकी सत्यता में कोई सन्देह नहीं है।

प्र०—उक्त दृष्टान्त प्रकृत से तुल्य नहीं है। क्योंकि मार्ग में पड़े हुए तृणादि का निश्चय, प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, इससे वे सत्य हैं। और मन्त्र तथा अर्थवाद तो महावाक्य में हैं अर्थात् विधिवाक्यों के साथ मिलकर महावाक्य में पड़ जाने से ये पृथक् वाक्य नहीं हैं किन्तु उस महावाक्य के खण्डवाक्य हैं और महावाक्य से पृथक् खण्डवाक्य का कोई अर्थ नहीं होता। जैसे "*न सुरां पिबेत्०*" (सुरा को न पीवै)। इस वाक्य में (न) शब्द को छोड़ कर '*सुरां पिबेत्*' इस वाक्य का सुरा पीवै, यह अर्थ नहीं होता। हाँ! यदि '*सुरां पिबेत्*' इतना ही पूर्ण वाक्य होता तो वैसा अर्थ भी होता। ऐसे ही मन्त्रवाक्य और विधिवाक्य तथा अर्थवादवाक्य और विधिवाक्य, अन्योन्य में मिल कर महावाक्य होते हैं। उस महावाक्य में केवल मंत्रवाक्य और अर्थवादवाक्य मात्र का पृथक् कोई अर्थ नहीं हो सकता जिससे कि देवता के चैतन्य और शरीर की सिद्धि हो सकै। तो कैसे देवता के शरीर आदि की सिद्धि हो सकती है?

उ०—'*सुरां न पिबेत्*' यह दृष्टान्त भी प्रकृत में घटित नहीं हो सकता क्योंकि लोक में जो वाक्य बोले जाते हैं उनका इतना ही प्रयोजन नहीं है कि उनके प्रत्येक पद के अर्थों का पृथक् २ श्रोता को स्मरण हो जाय किन्तु उन अर्थों के अन्योन्य में संबन्ध से वाक्यार्थ (एक बात) के बोध कराने ही के लिये लोक में वाक्य बोले जाते हैं, और वाक्यार्थ का बोध पदार्थ के स्मरण बिना, वाक्यों से साक्षात् नहीं हो सकता, इसी से पदार्थों का स्मरण भी पदों से माना जाता है और उसी स्मरण के द्वारा, वाक्य से वाक्यार्थ का बोध होता है। जैसे ज्वाला / लौर के द्वारा काष्ठों से पाक होता है। यही रीति एक वाक्य से अर्थ के बोध होने की है। इसी से '*न सुरां पिबेत्*' इस वाक्य में 'न' शब्द नहीं छोड़ा जा

यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वादवान्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम् । विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपाद्यानन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते । यथा हि "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम" इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वायव्यादिपदानां विधिना संबन्धः, नैवं "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भाग-

भाषा

सकता क्योंकि यह वाक्य एक ही है और (न) शब्द को छोड़ने से वाक्य का अर्थ ही लुप्त हो जाता है और महावाक्य से अर्थबोध होने की तो दूसरी रीति है क्योंकि उसके गर्भ में अनेक वाक्य होते हैं। वह रीति यह है कि जहाँ एक वाक्य से दूसरे वाक्य का संबन्ध होता है वहाँ लोकानुभव के अनुसार वह दोनों वाक्य पृथक् २ अपने २ पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध का बोध कराकर अपने २ वाक्यार्थ में समाप्त हो जाते हैं। पश्चात् किसी कारण से किसी प्रयोजन की अपेक्षा होने पर उन वाक्यार्थों के परस्पर अन्वय संबन्ध की कल्पना होती है–जैसे *"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता"* वायु शीघ्रकारी देवता है *"वायव्यं श्वेतमालभेत"* (श्वेत छाग से वायव्य यज्ञ करै), इन दोनों वेदवाक्यों में। क्योंकि यहाँ यदि *"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"* यह विधि इस बात को नहीं बतलाती कि स्वाध्याय (वेदराशी) पुरुषार्थ का साधक है, तो *"वायुर्वै"* इत्यादि अर्थवाद अपने अक्षरार्थ का बोधन कराकर निवृत्त हो जाते तब *"वायव्यम्"* इत्यादि विधिवाक्यों के साथ उनकी एकवाक्यता न होती और जब उक्त अध्ययन विधि ने उक्त बात को बतला दिया तब उक्त अर्थवाद अपने वाच्यार्थ को कह कर उसी के द्वारा वायु यज्ञ रूपी विधेय की प्रशंसा का लक्षणावृत्ति से बोध कराते हैं। और यदि अपने वाच्यार्थ का बोध न करावैं तो उनकी लक्षणा ही न हो सकै क्योंकि वाच्यार्थ के सम्बन्धी ही पदार्थ में लक्षणा होती है, इसी से *"गङ्गायां घोषः"* गङ्गा में अहीर पुरा है, इस वाक्य में गङ्गा शब्द से लक्षणावृत्ति के द्वारा गङ्गा ही के तीर का बोध होता है न कि समुद्र के तीर का, क्योंकि वह गङ्गा का संबन्धी नहीं है। निदान अर्थवादों का अपने वाच्यार्थ में अवश्य ही तात्पर्य है। इसी से जिन अर्थवादों का वाच्यार्थ, अन्य प्रमाणों से विरुद्ध होता है वहाँ *"आदित्यो वै यूपः"* (यज्ञस्तभ ही सूर्य है) *"यजमानः प्रस्तरः"* (कुशों की आटी ही यजमान है) इत्यादि में उक्त प्रमाण विरोध के परिहार, और यूपादि की स्तुति के लिये *"गुणवादस्तु* (मी० अ० १ पा० २ सू० १०) और *"तत्सिद्धिः"* (मी० अ० १ पा० ४ सू० २३) ये दोनों जैमिनि महर्षि के सूत्र हैं। अब ऐसी दशा में जिस अर्थवाद का वाच्यार्थ, प्रमाणान्तर से विरुद्ध होता है वहाँ गुणवाद से, प्रशंसा में उस अर्थवाद की लक्षित लक्षणा होती है, और जिस अर्थवाद का वाच्यार्थ प्रमाणान्तर का अनुसारी होता है वह अर्थवाद और वह प्रमाणान्तर ये दोनों उस वाच्यार्थ को बोध कराते हैं अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करता।

इतना तो अवश्य होता है कि श्रोता के अनुसार अर्थवादवाक्य अनुवादक होते हैं क्योंकि श्रोता प्रथम २ प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से अर्थों को जानता है। पश्चात् जब संस्कृत शब्दों से अर्थ को समझने लगा तब वैदिक अर्थवादों के अर्थ को समझता है। इतने मात्र से अर्थवाद प्रत्यक्ष के अनुवादक हो सकते हैं।

प्र०—जैसे अद्वैत के विषय में, भेद विषयक प्रत्यक्षादिकों का अद्वैत श्रुतियों से बाध होता

धेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" इत्येषामर्थवादगतानां पदानाम्। न हि भवति वायुर्वा अलभेतेति, क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेतेत्यादि। वायुस्वभावसंकीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवं-विशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति। तद्यत्र सोऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति, तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते। यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन। यत्र तु

भाषा

है वैसे ही "आदित्यो यूपः" इत्यादि वैदिक अर्थवादों से यूप और आदित्य के भेदग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही का बाध होना चाहिये, तब अर्थवादों ही को दबाकर गुणवाद की कल्पना क्यों की जाती है? और यदि ऐसे ही कल्पना की जाती है तो प्रत्यक्षादि के विरोध से वेदान्त वाक्यों को दबाकर वहाँ पर भी गुणवाद की कल्पना क्यों नहीं की जाती ?

उ०—लोकानुभव के अनुसार शब्दों के अर्थ दो प्रकार के होते हैं, एक द्वार, दूसरा द्वारी। पदों के वाच्यार्थ पृथक् पृथक् द्वार कहलाते हैं, और वाक्यार्थ द्वारी कहलाता है, क्योंकि उसी में वक्ता का तात्पर्य होता है और यही रीति वहाँ पर भी है जहाँ दो वाक्यों की एक वाक्यता होती है, जैसे "यह देवदत्त की गौ कीनने के योग्य है" यह एक वाक्य है। और "इसमें दूध बहुत है" यह दूसरा वाक्य है। इस दूसरे वाक्य का दूध बहुत होना, द्वार अर्थ है और तात्पर्य इसका पूर्व वाक्य के इस अर्थ में है कि 'अवश्य कीनने के योग्य है' इससे यही अर्थ दूसरे वाक्य का द्वारी अर्थ है।

अब न्याय रीति यह है कि उक्त द्वार रूपी अर्थ में यदि प्रमाणान्तर का विरोध पड़ जाय तो वहाँ उस वाक्य ही को दबाकर गुणवाद की कल्पना होती है जैसे, "इसके घर में भोजन मत करो" यह एक वाक्य है। "बल्कि जहर खाव" यह दूसरा वाक्य है। यहाँ जहर खाना द्वार अर्थ लौकिक विवेक के विरुद्ध है, इसी से दूसरे वाक्य का, गुणवाद की रीति से पूर्व वाक्य ही के अर्थ में तात्पर्य है और वही इसका द्वारी अर्थ है और जब द्वारी अर्थ प्रमाणान्तर विरुद्ध होता है तभी लौकिक वाक्य अप्रमाण होते हैं। ऐसे ही "आदित्यो यूपः" इत्यादि अर्थवादों का द्वार अर्थ, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है इसी से वहाँ गुणवाद माना जाता है, और वेदान्त वाक्य तो अपौरुषेय होने से स्वतः सिद्ध वास्तविक प्रमाण हैं, तथा उपक्रमादि छः प्रमाणों के अनुसार ब्रह्माद्वैत ही उनका द्वारी अर्थ है, इसी से उनसे विरोध के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाण ही को वास्तविक प्रमाण न मान कर व्यवहार दशा ही में उनकी प्रमाणता मानी जाती है। और जिन अर्थवादों के जिन द्वार रूपी अर्थों में प्रमाणान्तर का विरोध नहीं है, वे देवता के शरीर आदि, उन अर्थवादों के द्वार रूपी अर्थ तो सत्य ही हैं, और उन अर्थ-वादों के गुणवाद होने का भी कोई कारण नहीं है क्योंकि जब मुख्य अर्थ में कोई विरोध नहीं है तब गौण अर्थ का आश्रयण क्यों किया जाय ?

प्र०—यदि अर्थवाद का विधि से पृथक्, देवता का शरीर आदि अर्थ है तब तो वह विधि-वाक्य की अपेक्षा अन्य ही वाक्य क्यों न हो ?

उ०—अन्य वाक्य तो वह है ही।

प्र०—यदि ऐसा है तो विधि के तात्पर्य की अपेक्षा अर्थवाद का तात्पर्य भी अन्य ही क्यों न हो?

तदुभयं नास्ति तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद् गुणवादः स्यादाहोस्वित्प्रमाणान्तराविरोधाद्विद्यमानवाद इति प्रतीतिशरणैर्विद्यमानवाद आश्रयणीयो न गुणवादः। एतेन मन्त्रो व्याख्यातः। अपि च विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्। नहि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते। न च चेतस्यनारूढ़ायै तस्यै तस्यै

भाषा

उ०—जब कि अर्थवाद के पदों के अनुसार उसके द्वार रूपी वाक्यार्थ का बोध बिना तात्पर्य ही के हो रहा हैं तब उस अर्थ में अन्य तात्पर्य आवश्यक नहीं है।

प्र०—यदि अर्थवाद का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है तो वह उस अर्थ में प्रमाण कैसे होगा और कैसे उससे देवता के शरीर आदि सिद्ध होंगे?

उ०—यह नियम नहीं है कि जिस वाक्य का जिस अर्थ में तात्पर्य नहीं होता उस अर्थ में वह वाक्य प्रमाण नहीं होता क्योंकि यदि ऐसा हो तो वाक्य से उसके उसी एक अन्तिम विशेष्य रूपी अर्थ का बोध हो जो कि वाक्यार्थ में मुख्य है, क्योंकि तात्पर्य उसी में है और उस अर्थ के विशेषण जो उस वाक्य के अन्य पदों के अर्थ हैं, उनमें वह वाक्य अप्रमाण ही हो जाय। इसका विवरण यह है कि "देवदत्त की काली गौ ले आवो" इस वाक्य के अर्थ में ले आना ही मुख्य है। और देवदत्त आदि उसके विशेषण हैं और तात्पर्य मुख्य ही अर्थ में होता है। यहाँ यदि उक्त नियम माना जाय तो ले आने ही अर्थ में केवल यह वाक्य प्रमाण होगा क्योंकि तात्पर्य उसी में है और देवदत्त आदि अर्थों में यह वाक्य प्रमाण ही न होगा और यदि ऐसा होगा तो पूरे वाक्यार्थ में इसका तात्पर्य ही न होगा क्योंकि विशेषणों में तो इसका तात्पर्य ही नहीं है, इसलिये यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि विशेषणों में तात्पर्य न होने पर भी सब वाक्य विशेषणों का बोध कराते हैं और उनमें प्रमाण भी होते हैं। ऐसे ही यद्यपि अर्थवादों का तात्पर्य यज्ञादि रूपी विधेय की प्रशंसा में है न कि अपने अर्थ में, तथापि जब अर्थवादों से देवता के शरीर आदि अर्थों का बोध उनके पदों के अनुसार होता है तब उन अर्थों का त्याग तब ही हो सकता है कि जब किसी अन्य प्रबल प्रमाण से विरोध पड़े क्योंकि जब उक्त विरोध पड़ता है तब ही "*यजमानः प्रस्तरः*" इत्यादि वाक्य से मुख्य अर्थ को त्याग कर गौण अर्थ का ग्रहण होता है। और यह भी कोई नियम नहीं है कि जिनका बोध अन्य प्रमाणों से हो चुका है, उन्ही अर्थों का बोध अर्थवाद और मंत्र से होता है क्योंकि अर्थवाद और मंत्र भी अपौरुषेय वेदवाक्य होने से विधिवाक्यों की नाईं अपने द्वार वाक्यार्थ में स्वतन्त्र प्रमाण हैं। इसी से ये द्वार रूप अर्थ में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते। इसलिये देवता के चेतन और शरीरधारी होने में वे मंत्र और अर्थवाद अवश्य प्रमाण हैं कि जिनको जैमिनि महर्षि ने अपने देवताधिकरण के पूर्व पक्ष में दिखलाया है। ऐसे ही इन्द्रादि देवता के लिये हवि देने का विधान करने वाले जितने वैदिक विधिवाक्य हैं वे सब देवताओं के चेतन और शरीरधारी होने में अटल प्रमाण हैं क्योंकि यदि इन्द्रादि देवता स्वरूप रहित हैं तो वे कदापि चित्त पर नहीं चढ़ सकते और चित्त पर न चढ़े हुये देवता को कदापि हवि नहीं दिया जा सकता क्योंकि देवता को ध्यान कर उसके उद्देश से हवि का देना ही याग कहलाता है जैसा कि "*यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट् करिष्यन्*" (ऐ० ब्रा० ३।८।१)। जिस

देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। श्रावयति च "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट् करिष्यन्" । (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति। न च शब्दमात्रमर्थस्वरूपं संभवति, शब्दार्थयोर्भेदात्। तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूपमवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण संभवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात्प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति। भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्ति इति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादि-

भाषा

देवता को देने के लिये हवि को हाथ में ले उस देवता का ध्यान करे। यह वेदवाक्य है और चित्त पर चढ़ने ही को ध्यान कहते हैं तो ऐसी दशा में यदि इन्द्रादि देवताओं का स्वरूप न होता तो वे कैसे चित्त पर चढ़ सकते ? और कैसे कोई उनका ध्यान कर सकता ? इससे यह, देवता के ध्यान के विधान का वाक्य व्यर्थ ही हो जाता और इतना ही नहीं किन्तु देवता के ध्यानपूर्वक हवि देने को जब यज्ञ कहते हैं तब यज्ञ के विधान करने वाले सब वेदवाक्य व्यर्थ हो जाते क्योंकि जब इन्द्रादि देवताओं का स्वरूप ही नहीं है तब उनका ध्यान कैसे हो सकता है ? और जब ध्यान के लिये देवताओं का स्वरूप आवश्यक है तब वही स्वरूप वास्तविक है कि जो मन्त्रों और अर्थवादों में कहा हुआ है क्योंकि अन्य प्रकार के स्वरूप में कोई प्रमाण नहीं है।

प्र०—यह कैसे निश्चित होता है कि मंत्र और अर्थवाद में कहा हुआ देवता का स्वरूप वास्तविक ही है क्योंकि ध्यान तो अपने मन से कल्पित जैसे तैसे स्वरूप का भी हो सकता है ?

उ०—अपने मन से स्वरूप की कल्पना वहाँ की जाती है जहाँ कि ध्यान योग्य पदार्थ के स्वरूप में कोई प्रमाण नहीं मिलता, और यहाँ तो इन्द्रादि देवताओं के तत्तत् स्वरूप में मंत्र अर्थवाद रूपी प्रमाण मिलते ही हैं और जब उन प्रमाणों ने उन स्वरूपों का बोध करा दिया तो उसके विरुद्ध स्वरूप की कल्पना अथवा उस स्वरूप में वास्तविक न होने की कल्पना किस प्रमाण के बल पर हो सकती है ? और जब नहीं हो सकती तब क्यों मन्त्र और अर्थवाद में कहे हुये स्वरूपों को वास्तविक न माना जाय ?

प्र०—यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि 'इन्द्र' यह शब्द ही इन्द्र देवता है तो इसमें क्या दोष है ?

उ०—यही दोष है कि शब्द, और वस्तु है, और अर्थ, और। तो अर्थ का स्वरूप शब्द नहीं है, जैसे 'अश्व' यह शब्द अश्व का स्वरूप नहीं है। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि देवता के चेतन और शरीरधारी होने में केवल मंत्र ही और अर्थवाद नहीं प्रमाण हैं किन्तु वैदिक विधि वाक्य भी। और इतना ही नहीं किन्तु मन्त्र अर्थवाद मूलक तथा प्रत्यक्ष मूलक इतिहास और पुराण भी इन्द्रादि देवताओं के चेतन और शरीरधारी होने में प्रमाण हैं क्योंकि उनमें सहस्रों स्थानों पर देवताओं के शरीर और चरित्रादि कहे हुये हैं तथा इन्द्रादि देवताओं के साथ व्यासादि महर्षियों का प्रश्नोत्तरादि रूपी संवाद भी कहे हुये हैं। और यह तो कहने के योग्य नहीं है कि जब इन्द्रादि देवता का स्वरूप हमको प्रत्यक्ष नहीं होता तो व्यासादि महर्षियों को कैसे होगा ?

दानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्। ततश्च राजसूयादिचोदना उपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कल्पान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान्वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीते। ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति–"स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः" (यो० सू० २।४४) इत्यादि। योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति––

भाषा

क्योंकि जो ऐसा कहैं तो संसार की विचित्रता को क्यों न वारण कर दें और यह भी क्यों न कहें कि जैसे उस समय में सातों द्वीपों का राजा अर्थात् सार्वभौम क्षत्रिय कोई नहीं है वैसे ही पहले भी कोई सार्वभौम नहीं था और जब कोई ऐसा कहेगा तब उसको छोटे मुख से यह बड़ी बात भी कहनी पड़ैगी कि वेद में राजसूय यज्ञ का विधान व्यर्थ ही है क्योंकि सार्वभौम क्षत्रिय तो होता ही नहीं और ऐसा कहने पर वेद प्रामाण्य के उन युक्तियों का खण्डन भी इसको करना पड़ैगा कि जो युक्तियाँ पूर्व ही वेद दुर्ग सज्जन में कही जा चुकी हैं और जिनका खण्डन वह सौ जन्म में भी नहीं कर सकता तथा उसको यह भी कहना पड़ैगा कि जैसे इस समय में वर्ण और आश्रम के धर्म बहुत बिगड़े हुये हैं ऐसे ही पूर्व युगों में भी बिगड़े ही थे और जब ऐसा कहैगा तब उसको यह भी कहना पड़ैगा कि वेद में कहे हुये वर्णाश्रम धर्म के विधान सब व्यर्थ ही हैं क्योंकि कभी उसका प्रचार नहीं होता। इसलिये यह अवश्य ही स्वीकार करने के योग्य और युक्ति से सटी हुई बात है कि धर्म के उत्कर्ष वश प्राचीन महर्षियों का देवतादिकों के साथ प्रत्यक्ष संवाद होता था। और इसी से "*स्वाध्यायादिष्टदेवतासमप्रयोगः*" (यो० सू० २।४४)। यह पतञ्जलि महर्षि का सूत्र है जिसका यह अर्थ है कि वेदाध्ययन का अधिक अभ्यास करने से जिस देवता से चाहै, प्रत्यक्ष मेल होता है। मंत्र और ब्राह्मण के प्रत्यक्ष देखने वाले ऋषियों का सामर्थ्य भी हम ऐसों के सामर्थ्य से उपमा देने के योग्य नहीं है।

प्र०—यह जो बार बार कहा जाता है कि देवताओं के साथ व्यासादि प्राचीन महर्षियों का प्रत्यक्ष संवाद पुराणादिकों में कहा है सो सत्य है अर्थात् पुराणों में ऐसा ही कहा है परन्तु उस अंश में इतिहास और पुराण कदापि सत्य नहीं हैं किन्तु झूठे ही हैं। और उनके झूठे होने के साक्षी, उनके बनाने वाले व्यास देव ही हैं क्योंकि इस देवताधिकरण में व्यासदेव ने इतने प्रयत्न से देवता के चेतन और शरीरधारी होने को सिद्ध करने के लिये इतने प्रमाणों के समूह को सूचित किया है, परन्तु उनसे यहाँ इतना भी कहते न बन पड़ा कि "मैंने देवताओं को देखा और उनसे प्रत्यक्ष संवाद किया" यदि देवतादि के शरीर सत्य होते और व्यासदेव उनसे संवाद किये होते तो यह संभव ही नहीं है कि यहाँ वह उसको न कहकर प्राड्विवाक (न्यायाधीश) की नाईं अन्य प्रमाणों से निर्णय करते। तथा यदि व्यासदेव का देवताओं के साथ प्रत्यक्ष संवाद करना सत्य है तो यह भी कहा जा सकता है कि व्यास की नाईं जैमिनि महर्षि ने भी देवताओं के साथ प्रत्यक्ष संवाद किया होगा

"पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्" (श्वे० २।१२) इति।
ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम्। तस्मात् समूलमितिहासपुराणम्। लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाऽध्यवसातुं युक्ता।

भाषा

क्योंकि वह भी प्राचीन महर्षि ही हैं तो अपने इस पवित्र कर्म मीमांसा दर्शन में, अपने प्रत्यक्ष के विरुद्ध ऐसी झूठी बात जैमिनि महर्षि क्यों लिखते कि देवता शरीरधारी नहीं हैं ? इसलिये पूर्वोक्त पौराणिक वार्ता कैसे सत्य हो सकती है ? और भाष्यकार श्री शंकराचार्य स्वामी ने भी इस प्रश्न को क्यों नहीं लिखा ?

उ० १—प्रश्नकर्ता को यह कैसे ज्ञात हुआ कि व्यास देव ने यहाँ देवता के चेतन और देहधारी होने में अपने प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं दिया है ? क्योंकि जब सूत्र का व्याख्यान हो रहा है इसी में व्यासदेव ने "अस्ति हि" कहा है जिसका अर्थ है कि (क्योंकि देवताओं को ब्रह्मविद्या में अधिकार का संभव) है अर्थात् जब वे चेतन और शरीरधारी हैं तब वे ब्रह्मविद्या का लाभ कर सकते हैं। तो इससे क्या व्यासदेव ने अपने प्रत्यक्ष को सूचित नहीं किया ? और सूत्रों की यह रीति है कि वे सामान्य रूप ही से प्रमाणों को सूचित करते हैं तो ऐसी दशा में व्यासदेव ने "अस्ति हि" शब्द से देवता के शरीरधारी होने को सिद्धवत कहकर उसके विषय में जब सब प्रमाणों को सूचित किया तब यह कैसे हो सकता है कि अपने प्रत्यक्ष रूपी प्रमाणों को सूचित नहीं किया। और विशेष रूप से जो ऐसा नहीं कहा कि "मैंने देवताओं को देखा है और प्रत्यक्ष उनसे बातचीत किया है" इसका यह कारण है कि यदि ऐसा कहें तो वे अपने पक्ष के आग्रही और साक्षी हो जाय और ऐसी दशा में उनका किया सिद्धान्त ही अप्रमाणिक हो जाय। और यह इतनी प्रसिद्ध बात है कि अब भी कोई प्राड्विवाक अपने निर्णय पत्र में अपने प्रत्यक्ष को विवाद विषय में प्रमाण नहीं देता क्योंकि यदि ऐसा करें तो दूसरे न्यायालय से उसका निर्णय अनुचित समझ कर व्यर्थ कर दिया जाय और दूसरे न्यायालय से उसके निर्णय में वही दोष दिखलाया जाय कि "जब वह विवाद विषय का साक्षी था तब उसको यही करना उचित था कि उस व्यवहार को अपने यहीं से उठाकर किसी उचित अन्य न्यायालय के अधीन करता और स्वयं वहीं जाकर साक्षी देता, तदनन्तर उस दूसरे न्यायालय से निर्णय होता, परन्तु उसने ऐसा न किया किन्तु, अपने ही न्यायालय में अपने साक्ष्य के बल से अपने ही निर्णय कर दिया। तो जब वह साक्षी होने के कारण निर्णय करने का अधिकारी न था तब उसका किया हुआ निर्णय अनुचित ही है। बल्कि यहाँ तक है कि अर्थी वा प्रत्यर्थी जो कोई अपने व्यवहार को जिस न्यायालय से उठवाना चाहता है वह उस न्यायालय के प्राड्विवाक को अपना साक्षी बना देता है।

उ० २—यह कोई नियम नहीं है कि व्यासदेव में जो सामर्थ्य हो वह उनके शिष्य जैमिनि महर्षि में अवश्य हो क्योंकि व्यासदेव चिरञ्जीवी हैं और जैमिनि महर्षि अब नहीं हैं। ऐसे ही यह भी कह सकते हैं कि व्यासदेव को देवता प्रत्यक्ष थे और जैमिनि को नहीं।

उ० ३—थोड़ा ही सा आगे चल कर यह स्पष्ट प्रतिपादन किया जायगा कि देवताओं के

तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः। ततश्चार्थित्वादिसंभवादुपपन्नो देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः। क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते॥ ३३॥

एवमीश्वरस्य तत्तद्देवान्तर्यामिणो ब्रह्मण एव वा कर्मोपासनादिफलप्रदत्वमित्यपि सिद्धान्तः।

तथा च—फलमत उपपत्तेः।

शा० मी० अध्या० ३ पा० २ फलाधिकरणम्॥ सू० ३८॥

भाषा

चेतन और शरीरधारी न होने में जैमिनि महर्षि का तात्पर्य नहीं है किन्तु धर्म की प्रधानता मात्र से तात्पर्य है तब उनका कहना कैसे असत्य हो सकता है।

उ० ४—भाष्यकार ने यद्यपि उक्त प्रश्नों को स्पष्ट रूप से नहीं कहा तथापि अपने व्याख्यान ही से उन प्रश्नों का उत्तर दे दिया है क्योंकि जब उन्होंने प्रत्यक्ष मूलक इतिहास और पुराणों को देवताओं के चेतन और शरीरधारी होने का प्रमाण कहा है तब पूर्वोक्त उत्तरों को भी वह कह चुके क्योंकि प्रत्यक्ष वही है कि जो व्यासादि प्राचीन महर्षियों ने देवताओं से प्रत्यक्ष बातचीत किया और ऐसे २ तुच्छ प्रश्नों का लिखना ऐसे सर्वज्ञ भाष्यकारों के लिये प्रतिष्ठा में हानिकारी होता है इसलिये उन्होंने इन प्रश्नों को प्रत्यक्ष रूपी से नहीं लिखा। इसलिये इतिहास और पुराण समूल और सत्य ही है। ऐसे ही लोक में भी देवताओं के स्वरूपों की प्रसिद्धि, लेख और प्रतिमा आदि की झूठी नहीं हो सकती क्योंकि वह निर्मूल नहीं है परन्तु मन्त्रवाद अर्थवाद, इतिहास, और पुराण उसके मूल अभी कहे जा चुके हैं और जैसे ये मूल अनादि हैं वैसे ही देवताओं के स्वरूप की उक्त प्रसिद्धि भी अनादि काल से चली आती है अर्थात् विशेष रूप से यह कोई नहीं कह सकता है वा प्रमाणों से सिद्ध कर सकता है कि अमुक समय से यह प्रसिद्धि चली है, तो ऐसी दशा में इस प्रसिद्धि में निर्मूल वा झूठी होने की शंका भी नहीं हो सकती। और जब उक्त रीति से देवताओं का चेतन और स्वरूपधारी होना प्रसिद्ध है तब गुरु आदि की पूजा के तुल्य, देवता के पूजा रूपी यज्ञ, देवता की प्रसन्नता के द्वारा सफल हो सकता है और यदि देवता अचेतन होते तो किसकी प्रसन्नता के द्वारा, आज के किये और क्रिया रूपी होने से तत्क्षण नष्ट हुए यज्ञों का चिरकाल के अनन्तर फल होता? इससे सब यज्ञ व्यर्थ ही हो जाते। तथा जैसे चेतन देवता के न स्वीकार करने में यज्ञों की अपनी शक्ति रूपी अपूर्व के द्वारा स्वर्गादिरूपी फल के प्रति कारणता मानी जाती है वैसे ही देवता के चेतनता पक्ष में भी प्रसन्नता के द्वारा यज्ञों को, फल के प्रति कारण माना जाता है। इसलिये देवता की प्रसन्नता रूपी द्वार, फलवान होने से प्रधान है और देवता के स्वरूप आदि उसके अंग हैं। इस रीति से देवता की अङ्गता जैमिनि महर्षि की कही हुई चेतन देवता पक्ष में भी ठीक ही है। यही वेदान्त दर्शन का देवताऽधिकरण है और इसी का सिद्धान्त परम सिद्धान्त है कि देवता चेतन और शरीरधारी हैं। ऐसे ही वेदान्त दर्शन का यह भी सिद्धान्त है कि पूर्वोक्त विष्णु आदि ईश्वर अथवा सब देवताओं का अन्तर्यामी परब्रह्म ही यज्ञादि कर्म और उपासनादि के फलदाता हैं। और यह सिद्धांत प्रकृत में उपयोगी है इसलिये वेदान्त दर्शन अध्या० ३ पा० २ का फलाधिकरण भी यहाँ दिखलाया जाता है अर्थात् फलाधिकरण के सूत्र संस्कृत में और उनके शङ्करभाष्य का तात्पर्य भाषा में दिखलाया जाता है।

भाष्यम्—तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामयमन्यः स्वभावो वर्ण्यते । यदेतदिष्टानिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां किमेतत्कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा। तत्र तावत्प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वराद्भवितुमर्हति। कुतः ? उपपत्तेः। स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान्विचित्रान् विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयतीत्युपपद्यते। कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः कल्पान्तरभावि फलं भवतीत्यनुपपन्नम्, अभावाद्भावानुपपत्तेः। स्यादेतत्; कर्म विनश्यत्स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जनयित्वा विनश्यति तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत इति। तदपि न परिशुद्ध्यति, प्राग्भोक्तृसम्बन्धात्फलत्वानुपपत्तेः। यत्कालं हि

भाषा

"फलमत उपपत्तेः" (सू० ३८) ?

अर्थ—कर्मों के फल तीन प्रकार के होते हैं—इष्ट (स्वर्ग) (१), अनिष्ट (नरक) (२) व्यामिश्र (३) इष्ट और अनिष्ट मिला हुआ है अर्थात् इस लोक में भोग करने योग्य सुख दुःख। और इस विषय में यहाँ यह विचार है कि इन फलों का मुख्य दाता कर्म ही है अथवा ईश्वर ? और इसी में सिद्धान्त कहने के लिये उक्त सूत्र है जिसका यह अर्थ है कि फल के मुख्य दाता ईश्वर ही हैं क्योंकि उन कर्मों का उचित समय पर उचित फल होना तब ही ठीक हो सकता है। अर्थात् ईश्वर सबके स्वामी और सर्वज्ञ हैं इससे वह अनन्त प्रकार के सृष्टि स्थिति और प्रलयों को जान और कर सकते हैं तथा देश और काल के उचित होने को जानते हैं इससे कर्म करने वाले को उनके अपने अपने कर्मों के अनुरूप फलों को वह ठीक ठीक संपादन कर सकते हैं। और कर्म तो प्रतिक्षण नष्ट होने वाले हैं इसलिये वे कालान्तर में फल नहीं दे सकते क्योंकि उस काल में उनका अभाव है अर्थात् अभाव से भाव नहीं हो सकता।

प्र०—यदि ऐसा माना जाय तो क्या दोष है कि जिस समय कर्म किया जाता है उसी समय वह आत्मा में फल उत्पन्न कर देता है, तदनन्तर नष्ट होता है और उस फल का भोग मात्र कालान्तर में होता है।

उ०—फल उसी का नाम है जिसका भोग (अनुभव) होता है अर्थात् जितने काल तक सुख वा दुःख का अनुभव होता है उतने ही काल तक वे फल कहे जाते हैं तात्पर्य यह है कि जब कर्म से तत्क्षण ही फल उत्पन्न होता है परन्तु उसका भोग नहीं होता, तब फल उसका नाम ही नहीं है अर्थात् वह मिथ्या ही है; निदान स्वर्ग लोक का सुख तो स्वर्गीय अन्य जीवों में वर्तमान ही है तो उसके लिये क्यों मनुष्य यज्ञ करैगा ? किन्तु अपने को उस सुख के भोगार्थ ही मनुष्य यज्ञादि कर्म को करता है और जैसे सुख के लिये यज्ञ करता है वैसे ही सुख को फल समझना चाहिये और जब भोग से संयुक्त सुख के लिये वह कर्म करता है तब भोग से संयुक्त ही सुख फल है अर्थात् भोग न होने की दशा में सुख को फल नहीं कह सकते।

प्र०—यदि पूर्व मीमांसा दर्शन का यह सिद्धान्त यहाँ मान लिया जाय कि कर्म से आत्मा में एक शक्ति तत्क्षण उत्पन्न होती है जिसको अपूर्व कहते हैं और वही कालान्तर में फल देकर पश्चात् नष्ट होती है, तो क्या दोष है ?

यत्सुखं दुखं वात्मना भुज्यते तस्यैव लोके फलत्वं प्रसिद्धम्। न ह्यसम्बद्धस्यात्मना सुखस्य दुःखस्य वा फलत्वं प्रतियन्ति लौकिकाः। अथोच्येत– माभूत् कर्मानन्तरं फलोत्पादः। कर्मकार्यादपूर्वात्फलमुत्पत्स्यते इति। तदपि नोपपद्यते; अपूर्वस्याचेतनस्य काष्ठलोष्टसमस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदस्तित्वे च प्रमाणाभावात्। अर्थापत्तिः प्रमाणमिति चेत्– न; ईश्वरसिद्धेरर्थापत्तिक्षयात् ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ सू० ३९ ॥

भाष्यम्—न केवलमुपपत्तेरेवेश्वरं फलहेतुं कल्पयामः, किन्तर्हि ? श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे। तथा च श्रुतिर्भवति—"स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः" (बृ० ४। ४।२४) इत्येवञ्जातीयका ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ सू० ४० ॥

भाष्यम्—जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते। अत एव हेतोः श्रुतेरुपपत्तेश्च। श्रूयते तावदयमर्थः—"स्वर्गकामो यजेत" इत्येवमादिषु वाक्येषु। तत्र च विधि-

भाषा

उ० १—यह दोष है कि कोई अचेतन पदार्थ, चेतन के अधिष्ठान बिना, किसी व्यापार में प्रवृत्त नहीं हो सकता, जैसे कुलाल के अधिष्ठान बिना, घट बनाने में चक्र दंडादि नहीं प्रवृत्त होते, ऐसे ही अपूर्व भी अचेतन पदार्थ है। वह ईश्वर रूपी चेतन के अधिष्ठान बिना फल नहीं दे सकता।

उ० २–अपूर्व कोई पदार्थ ही नहीं है क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है और वेद में भी यज्ञादि कर्म ही कहे हुये हैं न कि अपूर्व, और यह भी नहीं कह सकते कि यज्ञादि कर्म तत्क्षण विनाशी हैं इससे यदि अपूर्व न माना जाय तो कालान्तर में फल कैसे होगा ? क्योंकि अपूर्व मानने पर भी उसके अचेतन होने के कारण, जिस ईश्वर के बिना फल नहीं हो सकता वही ईश्वर अपूर्व न होने पर भी कालान्तर में पूर्व कर्मों का फल दे सकता है तो ऐसी दशा में अपूर्व का स्वीकार करना व्यर्थ ही है ॥

"श्रुतत्वाच्च" ॥ सू० ३९ ॥

अर्थ–इतना ही नहीं है कि केवल उक्त युक्तियों हीं से ईश्वर का फलदाता होना सिद्ध है किन्तु, "*स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः*" (बृ० ४।४।२४) वही यह महान आत्मा, अन्न का और धन का देने वाला है, इत्यादि अनेक वेदवाक्य भी इस विषय में प्रमाण हैं ॥ ३९ ॥

"*धर्मं जैमिनिरत एव*" ॥ सू० ४० ॥

अर्थ–जैमिनि तो धर्म (यज्ञादि कर्म) ही को फलदाता मानते हैं और उसी के फलदाता होने में वेदवाक्य और युक्ति प्रमाण देते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि "*स्वर्गकामो यजेत*" इत्यादि वेदवाक्यों से यज्ञ का फलदाता होना स्पष्ट ही निकलता है और यज्ञ रूपी क्रिया तत्क्षण विनाशी है तथापि वह आत्मा में तत्क्षण ही अपूर्व को उत्पन्न करती है और उसी के द्वारा कालान्तर में फल देती है और यही बात युक्ति से भी ठीक है। और 'ईश' फलदाता नहीं हो सकते क्योंकि वह एक रूप हैं तो उनसे कैसे फल रूपी विचित्र कार्य हो सकता है ? क्योंकि विचित्र कारणों से विचित्र कार्य की उत्पत्ति होती

श्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते। अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत, तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यं स्यात्। नन्वनुक्षणविनाशिनः कर्मणः फलं नोपपद्यत इति परित्यक्तोऽयं पक्षः। नैष दोषः; श्रुतिप्रामाण्यात्। श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथायं कर्मफलसंबन्धः श्रुत उपपद्यते तथा कल्पयितव्यः। न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोत्यतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते। उपपद्यते चायमर्थ उक्तेन प्रकारेण। ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम्। अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्यानुपपत्तेः वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गादनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च। तस्माद्धर्मादेव फलमिति ॥४०॥

पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—बादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते। केवलात्कर्मणोऽपूर्वाद्वा केवलात्फलमित्ययं पक्षः तुशब्देन व्यावर्त्यते। कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथा तथास्त्वीश्वरात्फलमिति सिद्धान्तः। कुतः? हेतुव्यपदेशात्। धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्यते फलस्य च दातृत्वेन "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" इति। स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—

भाषा

है तथा किसी को सुख किसी को दुःख देने से ईश्वर में वैषम्य दोष पड़ता है और दुःखदाता होने से उनमें निर्दयता की भी आपत्ति होती है तथा जब उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं है तब सुख दुःख देना आदि उनके व्यापार व्यर्थ ही हो जायँगे ॥ ४० ॥

"पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्" ॥ सू० ४१ ॥

अर्थ—बादरायणाचार्य (हम) तो जैमिनि के मत को नहीं मानते किन्तु पूर्वोक्त ही पक्ष को मानते हैं अर्थात् हमारा यह सिद्धान्त है कि कर्म वा अपूर्व के अनुसार ईश्वर ही फलदाता हैं क्योंकि धर्म और अर्थ के कराने वाले और उनके फल को देने वाले भी ईश्वर ही हैं। जैसा कि *"एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवा साधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते"* ॥ (यही परमेश्वर जिसको सुख दिया चाहते हैं उससे धर्म और जिसको दुःख दिया चाहते हैं उससे पाप कराते हैं) इत्यादि वेदवाक्यों में कहा है। तथा गीता में *"यो यो यां यां तनुं०"* (जो जो भक्त श्रद्धा से जिस जिस मूर्ति को पूजना चाहता है मैं उसकी श्रद्धा को उसी मूर्ति में अचल कर देता हूँ। उस श्रद्धा से युक्त वह भक्त उस मूर्ति का आराधन करता है और उसी आराधन से मेरे ही दिये हुये लाभकारी फलों को पाता है) और अधिक क्या कहना है सब वेदान्तवाक्यों में ईश्वर ही से जगत् के सृष्टि आदि कहे हुए हैं। तात्पर्य यह है कि सब कल्पनायें नियम से दृष्टानुसारिणी ही होती हैं क्योंकि कुंभकारादि चेतन के अधिष्ठान बिना मिट्टी दण्डादि घट को बनाते हुये किसी के दृष्ट नहीं हैं औ बिजुली तथा वायु आदि भी कर्मों के फल की नाईं प्रकृत विचार के मध्य ही में हैं अर्थात् वे भी चेतन देवता के अधिष्ठान बिना कुछ नहीं कर सकते। इसी से यह सिद्ध है कि यज्ञादि कर्म वा अपूर्व, चेतन ईश्वर के अधिष्ठान बिना स्वतन्त्र होकर कुछ भी नहीं कर सकता और चैतन्य भी शरीर और ऐश्वर्य, विशेष विज्ञान आदि से शून्य होकर यज्ञादि कर्म अथवा अपूर्व पर अधिष्ठान नहीं कर

"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥" (७।२१) इति ।

सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते । तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजति । विचित्रकार्यानुपपत्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते ॥ ४१ ॥ इति ।

भाषा

सकता जिससे कि यह भी कह सकें कि यज्ञादि कर्म वा अपूर्व का अधिष्ठाता कोई जीव ही है और चेतन के अधिष्ठान से अचेतन के कार्य करने का उदाहरण लोक में गृह आदि सहस्रों पदार्थ मिलते हैं तथा देवताधिकरण में यह स्पष्ट रूप से कहा जा चुका है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और लोक में देवता का चेतन और शरीरधारी होना प्रसिद्ध है इससे वह त्यागने के शक्य नहीं है और यह भी बहुत ही प्रसिद्ध विषय है कि दान, सेवा, प्रणाम, स्तुति आदि श्रद्धा से भरी हुई भक्तियों से आराधन करने पर प्रसन्न होकर राजा आदि लौकिक ईश्वर, उस भक्त को उस सेवा के योग्य फल देता है और अपने विरोध करने वाले अर्थात् राजविद्रोही को अप्रसन्न होकर उचित दण्ड देता है। ऐसी दशा में ईश्वर को छोड़, कर्म को अथवा अपूर्व के फलदाता होने की कल्पना, स्पष्ट ही वेद, शास्त्र और लोक से विरुद्ध हैं तथा यह भी वैसा ही विरुद्ध है कि 'देवता पूजन रूपी याग स्वतन्त्र होकर देवता को प्रसन्न किये बिना ही फल देता है'। क्योंकि राजपूजा रूपी आराधन राजा को प्रसन्न किये बिना कदापि फल नहीं देता। इसलिये उक्त लोकानुभव के अनुसार यागादि कर्म से भी देवताओं की प्रसन्नता ही उत्पन्न होती है, यही स्वीकार करना उचित है और ऐसी दशा में तत्क्षण विनष्ट यज्ञादि रूपी कर्मों का कालान्तर में प्रसन्न हुआ देवता ही फलदाता है यही सिद्धान्त स्वीकार योग्य है, न कि अपूर्व। और यह भी श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध है कि पाप कर्म से देवता क्रुद्ध होते हैं और पापी को पाप रूपी अदृष्ट का फल मिलता है। तथा जैसे पुण्य और पाप का फल देने वाला राजा किसी का पक्षपाती अथवा द्वेषी नहीं होता क्योंकि राजा का कार्य मनुष्यों के पाप और पुण्य के अनुसार होता है वैसे ही ईश्वर भी। और ईश्वर का जीव से पुण्य और पाप का करना भी उसके पूर्व २ जन्मों में किये हुये पुण्य और पाप के अनुसार ही है और पूर्व जन्मों की परम्परा सृष्टि और संहार की परम्परा की नाईं अनादि ही है इसी से यह कोई नहीं पूछ सकता कि सबसे प्रथम, ईश्वर ने जीवों से पाप और पुण्य क्यों करवाया ? तथा जैसे अपने कल्पित अथवा अनादि वेद शास्त्र के अनुसारी नियमों के अनुसार पुण्य और पाप का फल देने वाला लौकिक ईश्वर फल देने में स्वतन्त्र ही है, न कि परतन्त्र, ऐसे ही अलौकिक ईश्वर भी। इस रीति से ईश्वर का फलदाता होना ठीक २ लोकानुभव के अनुकूल है अर्थात् इसमें कहीं से कुछ भी भेद नहीं है और पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति से भी ऐसा ही निश्चित होता है। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर ही फलदाता है, यह फलाधिकरण है।

एवं भगवता यास्केनापि देवानां विग्रहवत्वं विचार्य स्थापितम् । तथा च—

अपि वाऽपुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मन एते स्युर्यथा यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः ।। निरुक्ते ७ अध्या० २ पादे० दैवतकाण्डे सप्तमखण्डे ।। ३७ ।। इति ।

अत्र दुर्गः—"अपि वाऽपुरुषविधानामेव सताम्" पृथिव्यादीनां "कर्मात्मान एते स्युः" अपुरुषविधाः क्षितिजलादयः । परे तु, अधिष्ठातारः पुरुषविग्रहाः एवमुभयोः प्रत्यक्षागमयोरप्यनुग्रहः कृतो भविष्यति । 'यथा'—यज्ञः यजमानस्य' कर्मात्मा, इदमेतेनाङ्गं संस्क्रियते, इदमेतेनाङ्गमुपचीयत इति संस्कृतममुष्मिन् लोके परैति इति च विज्ञायते । 'एष चाख्यानसमयः' । भारते चाख्यानसमय एष एव सिद्धान्त इत्यर्थः। पृथिवी स्त्रीरूपेण भारावतारणाय ब्रह्माणं ययाचे। अग्निश्च ब्राह्मणरूपेण वासुदेवार्जुनौ खाण्डवं ययाचे। अग्निरूपेण च खाण्डवं ददाह । इत्येवमादि ॥

एवं देवानां विग्रहवत्वं महाप्रभावत्वं च श्रीमता भगवता स्वयमेवोक्तम् गीतायाम्।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वो स्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

भाषा

ऐसे ही भगवान् यास्क महर्षि ने भी निरुक्त में बड़े बिचार के अनन्तर अन्त में यही सिद्धान्त किया है कि देवता, चेतन और शरीरधारी हैं जैसा कि यह उनका वाक्य है—"*अपि वाऽपुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मन एते स्युर्यथा यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः*" (निरु० अ० ७ पा० २ दै० कां० खं० ७।३)।

दुर्गाचार्य ने इस वाक्य का यह अर्थ किया है कि देवता पुरुषों के ऐसे चेतन और शरीरधारी हैं और उनके अधिष्ठित (वशवर्ती) पृथिवी, जल आदि भी उनके नामों से कहे जाते हैं। यही सिद्धान्त है क्योंकि इस सिद्धान्त में लोक का प्रत्यक्ष और वेदादि शास्त्र इन दोनों का अनुरोध है और यही आख्यान (भारतादि इतिहास) का भी सिद्धान्त है अर्थात् उन इतिहासों में "पृथिवी ने स्त्री रूप से अपना भार उतारने के लिये ब्रह्मदेव की प्रार्थना किया । अग्निदेव ने ब्राह्मण रूप से कृष्ण भगवान् और अर्जुन से खाण्डव (इन्द्र की वाटिका) खिलाने के लिये प्रार्थना किया और अपने ज्वालामाली अग्नि रूप से खाण्डव को जला दिया" इत्यादि प्राचीन समाचार कहे हुये हैं इति । ऐसे ही देवताओं के शरीरधारी और प्रभावशाली होने को भगवान् कृष्णचन्द्र ने स्पष्ट रूप से स्वयं गीता में कहा है कि "सह यज्ञाः" आदि सृष्टि समय में ब्रह्मदेव ने यज्ञ और यज्ञाधिकारी प्रजाओं की सृष्टि कर प्रजाओं से कहा कि इन यज्ञों से अपनी वृद्धि करते जाव, और यह यज्ञ तुम्हारे सब इष्ट मनोरथों का पूर्ण करने वाला हो । और यह यज्ञ इस रीत से तुम्हारे कामों को पूर्ण करेगा (१० अ० ३)

"देवान्०" तुम यज्ञ के हवि रूपी भाग से इन्द्रादि देवताओं को सन्तुष्ट किया करो और वे सन्तुष्ट देवता प्रसन्न होकर तुमको सब कामों से पूर्ण किया करैं। इसी रीति से तुम और इन्द्रादि देवता अन्योन्य के उपकार से परम कल्याण अर्थात् देवता, तृप्ति और तुम, स्वर्गादि लोक पाया करोगे । और यह

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥ अ० ३ ।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥ अ० ६ ।
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥ अ० ११ ।

नन्वेवमपि देवा न चेतना न वा विग्रहवन्तः, किन्तु मन्त्ररूपा एवेति, ते चेतनाविग्रहवन्तश्चेति च जैमिनीयवैयासिकमतयोर्मिथो वैशसं दुःसमाधानमेव। किं च धर्मस्यैव फलप्रदत्वं

भाषा

न समझना कि यज्ञ से तृप्त होकर इन्द्रादि देवता तुमको केवल स्वर्गादि रूपी पारलौकिक फल दिया करैंगे, किन्तु लौकिक फल भी तुमको वे प्रसन्न होकर दिया करैंगे अर्थात् (११ अध्याय० ३) "इष्टान्०" तुम्हारे किये हुये यज्ञों से तृप्त और प्रसन्न होकर इन्द्रादि देवता तुमको पशु, अन्न, सुवर्ण आदि सब भोग्य वस्तुओं से पूर्ण कर दिया करैंगे। परन्तु उनके दिये हुए भोग्य वस्तुओं के कतिपय भाग को यज्ञ के द्वारा उन इन्द्रादि देवताओं को दिये बिना, उन सब भोग्य वस्तुओं से केवल अपनी ही देह इन्द्रिय को जो पालैगा वह चोर ही समझा जायगा। (१२ अ० ३)

"येऽप्यन्य०" हे कौन्तेय ! श्रद्धा से अन्वित जो भक्त इन्द्रादि अन्य देवताओं को ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के द्वारा पूजते हैं वे भी मुझी को पूजते हैं परन्तु जानते नहीं अर्थात् इन्द्रादि देवता अन्तः करण और शरीर रूपी उपाधि मात्र लगने से मुझसे भिन्न से ज्ञात होते हैं, परन्तु वास्तविक में चैतन्य रूपी मुझसे वे भिन्न नहीं हैं और उनके भक्त उनको मुझसे भिन्न समझ कर पूजते हैं। (२३ अ० ९)

"यान्ति देव०" इन्द्रादि देवताओं के उपासक शरीर के पश्चात् देवताओं के समीप और पितरों के उपासक पितरों के समीप तथा यक्ष, राक्षस आदि के उपासक यक्षादिकों के पास और मेरे उपासक भी मेरे समीप जाते हैं। (२५ अ० ९)

"सुदुर्दर्श०" हे अर्जुन ! तुमने जो यह मेरा विराट् रूप देखा है यह स्वरूप बहुत ही (दुर्दर्श) देखने के अशक्य है, क्योंकि इन्द्रादि देवता भी इसको देखने की इच्छा सदा ही रखते हैं अर्थात् देवताओं ने भी इस रूप को नहीं देखा है और न देखैंगे। (५२ अ० ११)

प्र०—देवताओं का चेतन और शरीरधारी होना तो सिद्ध हो चुका परन्तु जैमिनि महर्षि और व्यासदेव के सिद्धान्तों में अन्योन्य विरोध के वारण का क्या उपाय है ? अर्थात् जैमिनि महर्षि कहते हैं कि देवता चेतन और शरीरधारी नहीं हैं किन्तु शब्द रूपी अर्थात् मन्त्र ही देवता हैं और व्यास भगवान् कहते हैं कि देवता, चेतन और शरीरधारी हैं, न कि मन्त्र रूप, तथा जैमिनि महर्षि कहते हैं कि धर्म (यज्ञादि कर्म) ही फलदाता है न कि ईश्वर, और व्यास भगवान् कहते है कि ईश्वर ही फलदाता है न कि धर्म, क्योंकि धर्म अचेतन और क्षणिक है।

न तु ब्रह्मण इति । ब्रह्मण एवान्तर्यामिणस्तथात्वं, न तु धर्मस्याचेतनस्य क्षणिकस्येति च। जैमिनिव्याससिद्धान्तयोः परस्परविरोधोऽपि दुरुद्धर इति चेन्न; भावानवबोधात् । यथा हि का पचतीति प्रश्ने काष्ठसौष्ठवविवक्षया पचन्तमपि देवदत्तमपह्नुत्य प्रत्युच्यते नान्यः कश्चित्पचति किन्तु काष्ठान्येवेति । न च तत्र प्रतिवक्तुः पक्तृदेवदत्तासत्वे मुख्यं तात्पर्यं, किन्तु काष्ठसौष्ठवमात्रे, तथैव सत्स्वेव चेतनेषु देवेषु यागरूपधर्माङ्गमन्त्रमाहात्म्यमात्रं विवक्षुणा भगवता जैमिनिना चेतना विग्रहवन्तो वस्तुसन्तोऽपि देवा अपह्नूयन्ते न तु ते तथाभूता वस्तुगत्या न सन्तीत्यभिधित्सुनाऽपि। एवं ब्रह्मणो वस्तुतः फलप्रदत्वेऽपि नानाराधितस्याप्रसादितस्य च तस्य तथात्वमिति धर्ममाहात्म्यमात्रविवक्षया ब्रह्मणः फलप्रदत्वमपि तेनापलप्यते न तु न वस्तुतस्तस्य तथात्वमित्यभिप्रेत्यापि। यथा न ह्यसेवितोऽप्रसादितश्च राजा ग्रामादिफलप्रदः, तस्मात् सेवैव नः फलप्रदात्रीति सेवाया माहात्म्यमात्रं विवक्षुभिर्लौकिकैर्वस्तुसदपि राज्ञः फलप्रदत्वं निह्नूयते तद्वत् अनुरूपतरं चैतद्द्वयमपि कर्ममीमांसाचार्यस्य तस्य भगवतः। एवं च

भाषा

उ०—दोनों महर्षियों के वास्तविक गूढ़ भाव के न समझने से उक्त विरोधों की शङ्का होती है, इसलिये उन महर्षियों का तात्विक आशय दिखलाया जाता है कि जैसे "कौन पकाता है"? इस प्रश्न का "दूसरा कोई नहीं पकाता यही लकड़ियाँ पकाती हैं" यह उत्तर होता है, और इस उत्तर का यह मुख्य तात्पर्य नहीं है कि "देवदत्त नहीं पकाता है" क्योंकि देवदत्त का पकाना प्रत्यक्ष ही है किन्तु यही तात्पर्य होता है कि "यद्यपि देखने से यही ज्ञात होता है कि देवदत्त पकाता है तथापि यदि लकड़ियाँ गीली हों तो पकाने को कौन कहे उत्कट धूम के भय से देवदत्त चूल्हा के समीप न जाता, इससे पाक करने में ये सूखी लकड़ियाँ ही प्रधान कर्ता हैं, देवदत्त तो निमित्तमात्र है" अर्थात् उत्तर वाक्य का लकड़ियों के प्रशंसामात्र में तात्पर्य है न कि देवदत्त के न पकाने में (वैसे) जैमिनि महर्षि का यह तात्पर्य नहीं है कि देवता, चेतन और शरीरधारी नहीं हैं। किन्तु यही तात्पर्य है कि यज्ञादि कर्म और मंत्र ही प्रधान हैं । क्योंकि यदि यज्ञादि कर्म विधिवत् न किये जायँ और मंत्र विधिवत् न पढ़े जायँ तो इन्द्रादि देवता कदापि फल नहीं देते । अर्थात् धर्म की प्रधानता मात्र में उनका तात्पर्य है न कि देवताओं के शरीरधारी और चेतन न होने में और ऐसे ही फलदाता होने के विषय में भी जैमिनि महर्षि का यही तात्पर्य है कि "बिना धर्म रूपी आराधना के ईश्वर प्रसन्न नहीं होते और बिना उनकी प्रसन्नता के फल नहीं मिलता तथा यह बात राजसेवा आदि लौकिक कार्यों में प्रसिद्ध ही है इसलिये फल देने में धर्म ही प्रधान है"। अर्थात् धर्म की प्रधानता मात्र में तात्पर्य है जिससे कि धर्म में लोगों की श्रद्धा हो और ईश्वर के फलदाता न होने में कदापि तात्पर्य नहीं है, और ये दोनों जैमिनि महर्षि के आशय ठीक ही हैं क्योंकि कर्म मीमांसा दर्शन में कर्म ही को प्रधान कहना उचित है । और व्यास भगवान् ने तो इस पर दृष्टि नहीं दिया कि कर्मों में पुरुषों की श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये कर्मों की प्रधानता अवश्य ही कही जाय इसलिये उन्होंने वास्तविक बात कह दिया। यहाँ तक यह सिद्ध हो गया कि मंत्र, अर्थवाद, विधि, इतिहास, पुराण, सदाचार, वैदिकों की आत्मतुष्टि, अनुमान, तर्क और लोक व्यवहार से देवताओं का चेतन, शरीरधारी और महा प्रभावशाली होना

विधिमन्त्रार्थवादेतिहासपुराणसदाचारवेदविदात्मतुष्टिन्यायलोकैकमत्यसमूर्जितं देवानां चैतन्यं विग्रहवत्वं महाप्रभावत्वं चेति विश्वव्यापि वेदजयदुंदुभिध्वनिव्याप्तोऽसौ सनातनधर्मघण्टापथः॥

अथ देवावताराः॥ ३॥

एवं कार्यानुकूललीलाकैवल्योपलालनयाऽवतीर्णोऽपि भगवान्भगवानेव न तु तत्र जीवकोटिगन्धोऽपीति सकललेखलेखामौलिमाणिक्यमालामृदुलमसृणमरीचिमञ्जरीनीराजितचरणकमलयुगला मीनादय ईश्वरावतारा अपीश्वरवदेव पूज्या उपास्या मोक्षपर्यन्तसकलफलप्रदातारश्चेत्यत्रापि न कश्चन संशयावकाशः। अथात्रावतारशब्दस्य कोऽर्थः? किश्चावतारस्य प्रयोजनम्? किश्चावतारे प्रमाणमिति चेत्—नः श्रीभगवतैव दत्तोत्तरत्वात्। तथा च भगवद्गीतायाम्। अ० ४।

श्रीभगवानुवाच—"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

अत्र मधुसूदनः—

यद्यपि पूर्वमुपेयत्वेन ज्ञानयोगः तदुपायत्वेन च कर्मयोग इति द्वौ योगौ कथितौ तथापि एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यतीत्यनया दिशा साध्यसाधनयोः फलैक्या-

भाषा

ठीक ही है, और यही सनातन धर्म का राजमार्ग वेद के जय दुंदुभि के महाध्वनियों से व्याप्त और सुहावन है। इति।

देवता के अवतार का निरूपण॥३॥

जैसे विष्णु आदि पूर्वोक्त ईश्वर रूपी देवता हैं ऐसे ही मीन आदि ईश्वर के अवतार भी सब जीवों के लिये पूजनीय और उपासनीय तथा मोक्ष पर्यन्त सब फलों के दाता भी हैं, इसमें भी संदेह करने का अवसर नहीं है।

प्र०—"अवतार" शब्द का क्या अर्थ है, और अवतार का क्या प्रयोजन है, तथा अवतार में क्या प्रमाण है?

उ०—गीता में स्वयं श्री कृष्ण भगवान् ही ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया है। इसलिये गीता के चतुर्थ अध्याय के श्लोक दिखलाये जाते हैं "और गीता गूढार्थ दीपिका भी"—"इमं विवस्वते" श्री कृष्ण भगवान् ने अर्जुन से कहा कि पूर्व अध्यायों में मैंने जो कर्म योग और ज्ञान योग तुमसे कहा है इसको मैंने इस मन्वन्तर के आदि सृष्टि में अपने शिष्य सूर्य्य देवता को कहा था क्योंकि इस योग का मूल अनादि अर्थात् वेद है और फल भी इसका अनन्त अर्थात् मोक्ष है, इसी से इस योग के द्वारा जीवन बहुत बलिष्ठ होता है। और मेरे शिष्य सूर्य्य ने अपने पुत्र श्राद्ध देव मनु से (जिस वैवस्वत मनु का यह वर्तमान मन्वन्तर है) इस योग को कहा तथा श्राद्ध देव मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु नामक आदि राजा से इस योग को कहा, इसी गुरु शिष्य परंपरा के अनुसार निमि आदि राजर्षि इसको जानते थे (यद्यपि प्रत्येक मन्वन्तरों में स्वायम्भुव मनु आदि को भी यह उपदेश

दैक्यमुपचर्य साधनभूतं च ज्ञानयोगं अनेकविधगुणविधानाय स्तौति वंशकथनेन भगवान् 'इमम्' अध्यायद्वयेनोक्तम् 'योगं' ज्ञाननिष्ठालक्षणं कर्मनिष्ठोपायलभ्यं 'विवस्वते' सर्वक्षत्रियवंशबीजभूतायादित्याय "प्रोक्तवान्" प्रकर्षेण सर्वसन्देहोच्छेदादिरूपेणोक्तवान्। 'अहम्' भगवान् वासुदेवः सर्वजगत्परिपालकः, सर्गादिकाले राज्ञां बलाधानेन तदधीनं सर्वं जगत्परिपालयितुम्, कथमनेन बलाधानमिति विशेषणेन दर्शयति 'अव्ययम्' अव्ययवेदमूलत्वादव्ययमोक्षफलत्वाच्च न व्येति स्वफलादित्यव्ययम्, अव्यभिचारिफलम्। तथा चैतादृशेन बलाधानं शक्यमिति भावः। स च मम शिष्यो विवस्वान् 'मनवे' वैवस्वताय स्वपुत्राय प्राह। स च मनुरिक्ष्वाकवे स्वपुत्रायादिराजायाब्रवीत्। यद्यपि प्रतिमन्वन्तरं स्वायंभुवमन्वादिसाधारणोऽयं भगवदुपदेशः, तथापि सांप्रतिकवैवस्वतमन्वन्तराभिप्रायेणादित्यमारभ्य सम्प्रदायो गणितः ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

'एवम्' आदित्यमारभ्य गुरुशिष्यपरम्परया प्राप्तं 'इमम्' योगं राजानश्च ते ऋषयश्चेति 'राजर्षयः' प्रभुत्वे सति सूक्ष्मार्थनिरीक्षणक्षमा निमिप्रमुखाः स्वपित्रादिप्रोक्तं 'विदुः' तस्मादनादिवेदमूलत्वेन अनन्तफलत्वेन अनादिगुरुपरम्पराप्राप्तत्वेन च कृत्रिमत्वशङ्कानास्पदत्वात् महाप्रभावोऽयं योग इति श्रद्धातिशयाय स्तूयते। स एवं महाप्रयोजनोऽपि योगः कालेन 'महता' दीर्घेण धर्महासकरेण 'इह' इदानीं आवयोर्व्यवहारकाले द्वापरान्ते दुर्बलानजितेन्द्रियाननधिकारिणः प्राप्य कामक्रोधादिभिरभिभूयमानो 'नष्टः' विच्छिन्नसंप्रदायो जातः। तं विना पुरुषार्थाप्राप्तेः अहो दौर्भाग्यं लोकस्येति। भगवान् हे 'परन्तप' परं कामक्रोधादिरूपं शत्रुगणं शौर्येण बलवता विवेकेन तपसा च भानुरिव तापयतीति परन्तपः शत्रुतापनो जितेन्द्रिय इत्यर्थः। उर्वश्युपेक्षणाद्यद्भुतकर्मदर्शनात्। तस्मात् त्वं जितेन्द्रियत्वादत्राधिकारीति सूचयति ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

मधुसूदनः—य एवं पूर्वमुपदिष्टोऽप्यधिकार्यभावाद्विच्छिन्नसंप्रदायोऽभूत् यं विना च पुरुषार्थो न लभ्यते स एवायं 'पुरातनः' अनादिगुरुपरम्परागतः 'अद्य' सम्प्रदायविच्छेदकाले 'मया' अतिस्निग्धेन 'ते' तुभ्यं प्रकर्षेणोक्तः न त्वन्यस्मै कस्मैचित् भक्तोऽसि मे सखा चेति। इति-

भाषा

भगवान् से प्राप्त हुआ है तथापि श्वेत वाराह कल्प के इस वर्तमान आठवें अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर के गुरु परंपरा सूर्य्य के द्वारा प्रकाशित हैं, जिसको श्री भगवान् ने यहाँ दिखलाया है) तात्पर्य यह है कि इस योग का वेद रूपी मूल अनादि है और मोक्ष रूपी अवश्य भावी इसका फल भी अनन्त है, तथा यह योग अनादि गुरु परंपरा से प्राप्त है। इसलिये वास्तविक है न कि बनावटी, निदान इस योग का प्रभाव बहुत बड़ा है। परन्तु हे परन्तप! बहुत दीर्घ काल के व्यतीत होने से इस योग का सम्प्रदाय अब उच्छिन्न हो गया है तथा इस समय मनुष्यों के शक्तिशून्य होने से इस योग का कोई

शब्दो हेतौ। यस्माच्वं मम 'भक्तः' शरणागतत्वे सत्यत्यन्तप्रीतिमान् सखा च सवयाः स्निग्ध-सहायः 'असि' सर्वदा भवसि। अतः तुभ्यमुक्त इत्यर्थः। अन्यस्मै कुतो नोच्यते तत्राह—'हि' यस्मात् 'एतत्' ज्ञानं 'उत्तमं' रहस्यं, अति गोप्यम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

मधुसूदनः—या भगवति वासुदेवे मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वानित्यत्वाशङ्का मूर्खाणाम्, तामपनेतुमनुवदन्नर्जुन आशङ्कते—'अपरं' अल्पकालीनं इदानीन्तनवसुदेवगृहे भवतः 'जन्म' शरीरग्रहणं विहीनं च मनुष्यत्वात् 'परं' बहुकालीनं स्वर्गादिभवमुत्कृष्टं च देवत्वात् 'विवस्वतो' जन्म। अत्रात्मनो जन्माभावस्य प्राग्व्युत्पादितत्वाद्देहाभिप्रायेणैवार्जुनस्य प्रश्नः। अतः 'कथमेतद्विजानीयामि'ति विरुद्धार्थतया एतच्छब्दार्थमेव विवृणोति—त्वमादौ प्रोक्तवानिति। 'त्वं' इदानीन्तनो मनुष्योऽसर्वज्ञः सर्गादौ पूर्वतनाय सर्वज्ञाय आदित्याय प्रोक्तवानिति विरुद्धार्थमेतदिति भावः। अत्रायं निर्गलितोऽर्थः—एतद्देहावच्छिन्नस्य तव देहान्तरावच्छेदेन आदित्यं प्रत्युपदेष्टृत्वं, एतद्देहेन वा। नाद्यः; जन्मान्तरानुभूतस्यासर्वज्ञेन स्मर्तुमशक्यत्वात्। अन्यथा ममापि जन्मान्तरानुभूतस्मरणप्रसङ्गः, तव मम च मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वाविशेषात्। तदुक्तमभियुक्तैः—

भाषा

अधिकारी भी नहीं है तथापि आज मैंने तुम्हीं से इस योग को पूर्ण रूप से कहा क्योंकि तुम मेरे शरणागत भक्त हो तथा मेरे सखा भी हो और यदि इस समय कोई इस योग का कुछ भी अधिकारी है तो वह तुम्हीं हो तथा यह योग उत्तम और अति गोप्य है ॥ १, २, ३ ॥

भगवान् वासुदेव में उनके मनुष्य होने के कारण अल्पज्ञत्व और अनित्यत्व की शङ्का प्राकृत मनुष्यों को होती है। उसका निवारण करने के लिये अर्जुन ने शङ्का किया कि "अपरं भवतो०" आपका जन्म अभी थोड़े दिनों का है अर्थात् आधुनिक वसुदेव के गृह में हुआ है और आप मनुष्य योनि में हैं इससे यह जन्महीन भी है और सूर्य्य का जन्म आदि सृष्टि में हुआ तथा देवयोनि होने से वह अति उत्तम है अर्थात् यद्यपि पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का जन्म और मरण नहीं होता तथापि आप के और सूर्य के शरीरों के भेदविषय में यह विवेक है। अब बतलाइये कि मैं इसको कैसे सत्य समझूँ कि आप आधुनिक अल्पज्ञ मनुष्य ने आदि सृष्टि के समय में इतने पुराने सर्वज्ञ सूर्य देवता को इस योग का उपदेश किया? यहाँ अर्जुन के प्रश्न का यह तात्पर्य है कि आप (इस वर्तमान शरीर वाले) ने क्या अन्य देह के द्वारा सूर्य को उपदेश किया अथवा इसी देह के द्वारा? प्रथम पक्ष हो नहीं सकता क्योंकि जैसे मैं मनुष्य हूँ वैसे आप भी अर्थात् आप मनुष्य होने के कारण सर्वज्ञ नहीं हैं और जो सर्वज्ञ नहीं है वह जन्मान्तर के अनुभव किये हुये अपने वा अन्य के कार्यों को स्मरण नहीं कर सकता जैसा कि मैं और बड़ों ने भी कहा है "जन्मान्तर अथवा उसके कार्य का स्मरण नहीं होता"। तो ऐसी दशा में पूर्व जन्म में आदित्य को आप का उपदेश देना यदि कथंचित् मान भी लिया जाय तो उस उपदेश देने का स्मरण आपको इस जन्म में कदापि नहीं हो सकता। मैं आप के इस बात को कैसे सत्य मानूँ कि आपने सूर्य को उपदेश दिया? (यहाँ

'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते' इति। नापि द्वितीयः; सर्गादाविदानीन्तनदेहस्यासद्भावात्। तदेवं देहान्तरेण सर्गादौ सद्भावसंभवेऽपीदानीन्तनस्मरणानुपपत्तिः, अनेन देहेन स्मरणोपपत्तावपि सर्गादौ सद्भावानुपपत्तिरित्यसर्वज्ञत्वानित्यत्वाभ्यां द्वावर्जुनस्य पूर्वपक्षौ ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच—बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मधुसूदनः—तत्र सर्वज्ञत्वेन प्रथमस्य परिहारमाह—'जन्मानि' लीलादेहधारणानि लोकदृष्ट्यभिप्रायेणादित्यस्योदयवत् 'मे' मम 'बहूनि व्यतीतानि' 'तव च' अज्ञानिनः कर्मार्जितानि देहग्रहणानि। तव चेत्युपलक्षणमपरेषामपि जीवानाम् जीवैक्याभिप्रायेण वा। हे अर्जुन! श्लेषेण अर्जुनवृक्षनाम्ना संबोधयन्नावृतज्ञानत्वं सूचयति। 'तानि' जन्मानि 'अहं' सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो 'वेद' जानामि 'सर्वाणि' मदीयानि, त्वदीयानि, अन्यदीयानि च न त्वमज्ञो जीवस्तिरोहित-ज्ञानशक्तिर्वेत्थ न जानासि स्वीयान्यपि, किं पुनः परकीयाणि। हे 'परन्तप' परं शत्रुं भेददृष्ट्या परिकल्प्य हन्तुं प्रवृत्तोऽसीति विपरीतदर्शितत्वात् भ्रान्तोऽसीति सूचयति। तदनेन संबोधन-द्वयेनावरणविक्षेपौ द्वावप्यज्ञानधर्मौ दर्शितौ ॥ ५ ॥

नन्वतीतानेकजन्मत्वमात्मनः स्मरसि चेत्तर्हि जातिस्मरो जीवस्त्वं परजन्मज्ञानमपि योगिनः सर्वात्म्याभिमानेन 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इति न्यायेन संभवति तथा

भाषा

इस बात को ध्यान में रख लेना चाहिये कि कृष्ण भगवान् को अल्पज्ञ मानकर प्रथम पक्ष का और उनके शरीर को अनित्य मानकर द्वितीय पक्ष का खण्डन कर अर्जुन के ये दो प्रश्न हैं) ॥ ४ ॥

कृष्ण भगवान् ने अपनी सर्वज्ञता कह कर प्रथम पक्ष के खण्डन का समाधान किया है कि-"बहूनि मे" हे अर्जुन ! हे परन्तप ! (इन दोनों संबोधनों का यह अभिप्राय है कि जैसे अर्जुन नामक वृक्ष अज्ञान से आवृत रहता है वैसे तुम भी अज्ञान (माया) के आवरण शक्ति रूपी एक हाथ की पुतली हो तथा पर अर्थात् शत्रुओं को अपने से भिन्न समझ कर मारने के लिये प्रवृत्त हो इसलिये अज्ञान के विक्षेप शक्ति रूपी दूसरे हाथ की मुद्रिका भी हो) जैसे लोक दृष्टि में प्रति दिन सूर्य के उदय, उनके जन्म कहलाते हैं वैसे ही अपनी इच्छा और लीला मात्र के अनुसार मेरे देहधारण रूपी बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके और तुम्हारे ऐसे जीवों के भी कर्मों के दुर्वार प्रवाह के परवश होने से बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके परन्तु मैं सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, ईश्वर, उन सब अर्थात् अपने और तुम्हारे तथा अन्यों के जन्मों को विशेष रूप से जानता हूँ और तुम अज्ञानी जीव अपने पूर्व जन्म को भी नहीं जानते और दूसरों के पूर्व जन्म को तो क्या जानोगे ? ॥ ५ ॥

यहाँ अर्जुन के दो प्रश्न और भी हो सकते थे कि क्या आप जीव हैं अथवा परमेश्वर ? यदि जीव हैं और अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करते हैं तो आप जातिस्मर जीव हैं क्योंकि योगी को अपने और दूसरों के जन्म का भी ज्ञान हो सकता है जैसा कि वामदेव नामक जीव के विषय में "अहं

वाह—'वामदेवो जीवोऽपि अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्र' इत्यादि दाशतय्याम्। अत एव न मुख्यं सर्वज्ञत्वं संभवति। तथा च कथमादित्यं सर्वज्ञमुपदिष्टवानस्यनीश्वरस्सन्। न हि जीवस्य मुख्यं सार्वज्ञ्यं सम्भवति, व्यष्ट्युपाधेः परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंबन्धित्वाभावात्। समष्ट्युपाधेरपि विराजः स्थूलभूतोपाधित्वेन सूक्ष्मभूतपरिणामविषयं मायापरिणामविषयं च ज्ञानं न संभवति। एवं सूक्ष्मभूतोपाधेरपि हिरण्यगर्भस्य तत्कारणमायापरिणामाकाशादिसर्गक्रमादिविषयज्ञानाभावः सिद्ध एव। तस्मादीश्वर एव कारणोपाधित्वादतीतानागतवर्त्तमानसर्वार्थविषयज्ञानवान्मुख्यः सर्वज्ञः, अतीतानागतवर्तमानविषयं मायावृत्तित्रयमेकैव वा सर्वविषया मायावृत्तिरित्यन्यत्। तस्य च नित्येश्वरस्य सर्वज्ञस्य धर्माधर्माद्यभावेन जन्मैवानुपपन्नमतीतानेकजन्मवत्वन्तु दूरोत्सारितमेव। तथा च जीवत्वे सार्वज्ञ्यानुपपत्तिरीश्वरत्वे च देहग्रहणानुपपत्तिरिति शङ्काद्वयं परिहरन् अनित्यत्वपक्षस्यापि परिहारमाह। अपूर्वदेहेन्द्रियादिग्रहणं जन्मपूर्वगृहीतदेहेन्द्रियादिवियोगो व्ययः, यदुभयं तार्किकैः प्रेत्यभाव इत्युच्यते। तदुक्तम्—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य चेति'। तदुभयं च धर्माधर्मवशाद्भवति। धर्माधर्मवशत्वं चाज्ञस्य जीवस्य देहाभिमानिनः कर्माधिकारित्वाद्भवति। तत्र यदुच्यते, सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वकारणस्य

भाषा

मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः'' मैं मनु हुआ, मैं सूर्य्य हुआ, मैं कक्षीवान् ऋषि अर्थात् विप्र हूँ। इस मंत्र में अपने को सर्वात्मक मानकर वामदेव का ज्ञान कहा है। तो ऐसी दशा में आप सर्वज्ञ नहीं हो सकते अर्थात् सूर्य देवता का ज्ञान आप से अधिक था क्योंकि जीवों में मुख्य सर्वज्ञता कदापि नहीं होती। यह दूसरी बात है कि कदाचित् योगादि के बल से किसी जीव को कुछ अधिक ज्ञान हो जाता है क्योंकि अन्तःकरण रूपी छोटी सी उपाधि से जीव रूपी चैतन्य नपा रहता है और वह उपाधि छोटी होने के कारण सब पदार्थों से संबन्ध नहीं रखती, इसलिये जीव सर्वज्ञ नहीं होता। और बड़ी उपाधि वाला विराट भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि उसकी उपाधि पृथिवी आदि स्थूल भूत रूपी होने से सूक्ष्म भूत और माया के साक्षात् परिणामों से संबन्ध नहीं रखता। ऐसे ही सूक्ष्म भूत रूपी उपाधि वाले हिरण्यगर्भ भी मुख्य सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि उनको भी सूक्ष्म भूतों के कारण रूपी माया के परिणाम अर्थात् आकाश आदि बड़े पदार्थों की सृष्टि के क्रम का ज्ञान नहीं है। और यदि आप ईश्वर हैं तब तो मुख्य सर्वज्ञ हो सकते हैं क्योंकि सबका कारण रूपी माया आप की उपाधि है और उसके साथ भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब पदार्थों का संबन्ध है किन्तु तब आप का जन्म ही नहीं हो सकता क्योंकि धर्म और अधर्म के अनुसार ही जन्म होता है और आप में वे दोनों नहीं हैं तो ऐसी दशा में आप का एक भी जन्म नहीं हो सकता और बहुत जन्म तो बहुत ही दूर है (इन दो प्रश्नों का यही तात्पर्य है कि यदि आप जीव हैं तो सर्वज्ञ नहीं हो सकते, और यदि आप परमेश्वर हैं तो आप का जन्म ही नहीं हो सकता)।

यद्यपि अर्जुन ने इन दोनों प्रश्नों को नहीं किया तथापि भगवान् ने इन प्रश्नों का और अपने शरीर के अनित्य होने के कारण पूर्वोक्त द्वितीय प्रश्न का भी समाधान एक ही श्लोक से कहा है कि—"अजोऽपि सन्" यह सत्य है कि मेरा जन्म नहीं होता क्योंकि नवीन देह इन्द्रिय आदि को जन्म

ईदृग्देहग्रहणं नोपपद्यत इति तत्तथैव कथम्, यदि तस्य शरीरं स्थूलभूतकार्य्यं स्यात्तदा व्यष्टिरूपत्वे जाग्रदवस्थाऽस्मदादितुल्यत्वम्, समष्टिरूपत्वे विराड्जीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात्। अथ सूक्ष्मभूतकार्य्यं, तदा व्यष्टिरूपत्वे स्वप्नावस्थाऽस्मदादितुल्यत्वम्, समष्टिरूपत्वे च हिरण्यगर्भजीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात्। तथा च भौतिकं शरीरं जीवानाविष्टं परमेश्वरस्य न संभवत्येवेति सिद्धम्। न च जीवाविष्ट एतादृशे शरीरे तस्य भूतावेशवत् प्रवेश इति वाच्यम्, तच्छरीरावच्छेदेन तज्जीवस्य भोगाभ्युपगमेऽन्तर्यामिरूपेण सर्वशरीरप्रवेशस्य विद्यमानत्वेन शरीरविशेषाभ्युपगमवैयर्थ्यात्। भोगाभावे च जीवशरीरत्वानुपपत्तेः। अतो न भौतिकं शरीरमीश्वरस्येति पूर्वार्द्धेनाङ्गीकरोति—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्"। इति अजोऽपि सन्नित्यपूर्वदेहग्रहणे अव्ययात्मापि सन्निति पूर्वदेहविच्छेदं भूतानां भवनधर्मिणां सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामीश्वरोऽपि सन्निति धर्माधर्मवशत्वं निवारयति। कथं तर्हि देहग्रहणमित्युत्तरार्द्धेनाह–

भाषा

कहते हैं और जन्म, धर्म और अधर्म के वश से होता है अर्थात् जीव भी अज्ञानी, देहाभिमानी और कर्माधिकारी होने से धर्म और अधर्म के वशीभूत होकर जन्म पाता है और मैं ईश्वर सर्वज्ञ और सबका कारण और धर्माधर्म से रहित हूँ। इसी से मेरा जन्म नहीं होता और इसका विशेष विवरण यह है कि यदि मेरा शरीर पृथिवी आदि स्थूल भूतों ही से बने, यदि वे स्थूल भूत व्यष्टि (पञ्चभूतों के अन्योन्य मिलित कुछ २ भाग) हों तो मैं जागृत जीवों के तुल्य हो जाऊँ और यदि वे स्थूल भूत समष्टि (पृथक् २ पूर्ण) हों तो मैं विराट जीव के तुल्य हो जाऊँ क्योंकि उस जीव का समष्टि ही उपाधि है। तथा यदि मेरा शरीर सूक्ष्म भूतों से बनै तब भी यदि व्यष्टि रूप हों तो मैं स्वप्नावस्था को प्राप्त जीव के समान हो जाऊँ और यदि वे सूक्ष्म भूत समष्टि रूप हों तो मैं हिरण्यगर्भ जीव के सदृश हो जाऊँ। इससे यह सिद्ध है कि जिसमें जीव का आवेश न हो ऐसा पाञ्चभौतिक शरीर मेरा कदापि नहीं हो सकता। तथा यह भी नहीं हो सकता कि किसी जीव के शरीर में भूत और पिशाचों की नाईं मेरे आवेश से वह शरीर मेरा हो जाय, क्योंकि ऐसी दशा में यदि उस जीव का उस शरीर से सुख और दुःख का भोग माना जाय तब तो मेरा उस शरीर में प्रवेश ही व्यर्थ हो जाय क्योंकि मैं तो अन्तर्यामी रूप से सब जीव और शरीर में प्रविष्ट ही रहता हूँ तो क्या इसके वे जीवशरीर मेरे शरीर होते हैं, और यदि मेरे आवेश किये हुये उस जीवशरीर से उस जीव का सुख दुःख का भोग न माना जाय तब तो वह शरीर जीव का शरीर ही नहीं है क्योंकि जिससे सुख वा दुःख वा दोनों का भोग न हो ऐसे पाञ्चभौतिक पदार्थ को शरीर ही नहीं कह सकते, इसलिये किसी प्रकार का पाञ्चभौतिक शरीर मेरा नहीं हो सकता। इस बात को भगवान् इस श्लोक के पूर्वार्द्ध से स्वीकार करते हैं। और इस पूर्वार्द्ध का अक्षरार्थ यह है कि मैं अज भी हूँ अर्थात् मेरा जन्म नहीं होता, तथा अव्ययात्मा भी हूँ अर्थात् मेरा मरण भी नहीं होता। और उत्पत्ति वाले सब ब्रह्मा से लेकर तृण गुच्छ पर्यन्त पदार्थों का ईश्वर भी हूँ अर्थात् धर्माधर्म का वशीभूत नहीं हूँ। इस पर यह प्रश्न उठता है कि यदि आप ऐसे हैं तो आप का देह धारण कैसे बन सकता है ? इस प्रश्नका समाधान भगवान् ने इस श्लोक के उत्तरार्द्ध से किया है जिसका अक्षरार्थ यह है कि यद्यपि मैं ऐसा ही हूँ तथापि विचित्र

"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवामि" प्रकृतिं, मायाख्यां विचित्रानेकशक्तिं अघटमानघटनापटीयसीं 'स्वां' स्वोपाधिभूतां 'अधिष्ठाय' चिदाभासेन वशीकृत्य संभवामि तत्परिणामविशेषैरेव देहवानिव जात इव च भवामि अनादिमायैव मदुपाधिभूता यावत् कालस्थायित्वेन च नित्या जगत्कारणत्वसंपादिका मदिच्छयैव प्रवर्त्तमाना विशुद्धसत्वमयत्वेन मम मूर्तिः तद्विशिष्टस्य चाजत्वमव्ययत्वमीश्वरत्वञ्चोपपन्नम्। अतोऽनेन नित्येनैव देहेन विवस्वन्तं च त्वां च इमं योगमुपदिष्टवानहमित्युपपन्नम्। तथा च श्रुतिः—"आकाशशरीरं ब्रह्मे"ति। आकाशोऽव्याकृतम् 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं चे' त्यादौ तथा दर्शनात्, 'आकाशस्तल्लिङ्गा'दिति न्यायाच्च। तर्हि भौतिकविग्रहाभावात् तद्धर्ममनुष्यत्वादिप्रतीतिः कथमिति चेत्, तत्राह—आत्ममाययेति मन्माययैव मयि मनुष्यत्वादिप्रतीतिर्लोकानुग्रहाय न वस्तुवृत्त्येति भावः। तथा चोक्तं मोक्षधर्मे—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि" ॥ इति।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं कारणोपाधिं मां चर्मचक्षुषा द्रष्टुं नार्हसीत्यर्थः। उक्तं च भगवता भाष्यकारेण 'स च भगवान् ज्ञानैश्वर्य्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदासम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां

भाषा

अनेक शक्ति वाली और अघटित पदार्थों की घटना करने में निपुण अपनी उपाधि रूपी माया नामक प्रकृति को अपने प्रतिबिम्ब से अपने वश में कर उसी के परिणाम विषयों से मैं शरीरवान् सा और उत्पन्न सा होता हूँ अर्थात् मेरी उपाधि रूपी सब काल में रहने वाली जगत् कारण, मेरी इच्छा ही से काम करने वाली, शुद्ध सत्व गुण रूपी मेरी अनादि माया ही मेरी मूर्ति अर्थात् यह शरीर है और उसके सहित मैं अनादि, अविनाशी और ईश्वर भी हूँ, इसलिये इसी नित्य शरीर से मैने सूर्य्य को और तुमको भी इस योग का उपदेश दिया और कर भी रहा हूँ। और वेद में भी कहा है कि—"*आकाश शरीरं ब्रह्म*" यहाँ आकाश शब्द का माया अर्थ है जैसे कि "*आकाश एव तदोतं च प्रोतं च*" (आकाश अर्थात् माया ही में सब जगत् ओत प्रोत अर्थात् सब प्रकार से अनुस्यूत है) इत्यादि। ऐसे वेदवाक्यों में आकाश शब्द का माया अर्थ होता है तथा "*आकाशस्तल्लिङ्गात्*" इस वेदान्त दर्शन के सूत्र से भी आकाश शब्द के अर्थ का ऐसा ही निर्णय किया गया है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि यदि आप का यह शरीर पाञ्चभौतिक नहीं है तो इस शरीर में मनुष्यत्व, क्षत्रियत्व आदि जाति और जन्म, क्रीडा, भोजन, युद्ध, शयन और भाषण आदि व्यवहारों की प्रतीति लोगों को कैसे होती है?

इसका उत्तर "*आत्ममायया*" इस पद से परमेश्वर ने दिया है जिसका यह तात्पर्य है कि यह मनुष्यत्वादि की प्रतीति भी लोगों की लोगों पर अनुग्रह करने के लिये मेरी माया ही है न कि वास्तविक में। अर्थात् मेरे इस शरीर में तुम लोगों की मनुष्यत्वादि की प्रतीति मिथ्या ही है, इति। ऐसा ही महाभारत शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म में एक यह भी वाक्य है "*माया ह्येषा*" हे नारद! यह मेरी माया की सृष्टि है जो कि तुम मुझे देख रहे हो नहीं तो माया रूपी उपाधि सहित मुझ ईश्वर को तुम अपने चर्मचक्षु से कदापि नहीं देख सकते इति। इस श्लोक के भाष्य में भगवान् भाष्यकार

मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षये'ति ? व्याख्यातृभिश्चोक्तम्—'स्वेच्छाविनिर्मितेन मायामयेन दिव्येन रूपेण संबभूव' इति। नित्यो यः कारणोपाधिमायाख्योऽनेकशक्तिमान् स एव भगवद्देह इति भाष्यकृतां मतम्, अन्ये तु परमेश्वरे देहिभावं न मन्यन्ते, किन्तु यश्च नित्यो विभुः सच्चिदानन्दघनो भगवान्वासुदेवः परिपूर्णो निर्गुणः परमात्मा स एव तद्विग्रहो नान्यः कश्चिद्भौतिको मायिको वेति। अस्मिन् पक्षे योजना 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' "अविनाशी वाऽरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा" इत्यादि श्रुतेः, "असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः" "नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" इत्यादि न्यायाच्च। वस्तुगत्या जन्मविनाशरहितः सर्वभासकः सर्वकारणमायाधिष्ठानत्वेन सर्वेश्वरोऽपि सन्नहं प्रकृतिं स्वभावं सच्चिदानन्दघनैकरसं, मायां व्यावर्तयति। स्वामिति निजस्वरूपामित्यर्थः। "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि" इति श्रुतेः। स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सन् संभवामि देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्व्यवहरामि। कथं तर्ह्यदेहे सच्चिदानन्दघने देहित्वप्रतीतिरत आह—आत्ममाययेति। निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिर्मायामात्रमित्यर्थः। तदुक्तम्—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया' ॥ इति
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्' ॥ इति च।

केचित्तु नित्यस्य निरवयवस्य निर्विकारस्यापि परमानन्दस्यावयवावयविभावं वास्तवमेवेच्छन्ति, ते निर्युक्तिकं कुर्वाणस्तु नास्माभिर्विनिवार्यते इति न्यायेन नापवाद्याः। यदि संभवेत्तथैवास्तु किमिति पल्लवितेनेत्युपरम्यते ॥ ६ ॥

भाषा

(श्री स्वामी शंकराचार्य) ने कहा है कि वह भगवान् अविनाशी, सबके ईश्वर, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त होकर भी अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति रूपी माया को अपने वश में कर अपना प्रयोजन न रहने पर भी केवल लोकानुग्रह के लिये अपने को शरीरधारी सा और उत्पन्न सा लोगों से लखाते हैं इति। और इस भाष्य के व्याख्याकारों ने भी यह कहा है कि अपनी इच्छा मात्र से बनाए हुये मायिक दिव्य रूप से परमेश्वर का प्रादुर्भाव हुआ इति। इसलिये भाष्यकार का यहाँ यही सिद्धान्त है कि अपनी शक्तियों से युक्त कारणरूपी माया नामक नित्य उपाधि जो है वही यह परमेश्वर का शरीर है अर्थात् कृष्णादि शरीर मायिक और नित्य है न कि भौतिक और अनित्य। और अन्य विद्वान् (मधुसूदन स्वामी) तो परमेश्वर का मायिक शरीर भी नहीं मानते। वे यही कहते हैं कि माया से उनके शरीर का भ्रममात्र लोगों को होता है और उसी से व्यवहार चलता है इति। इसकी उपपत्ति भी संस्कृत भाग में है ॥ ६ ॥

प्र०—सच्चिदानन्द रूपी आप में कब और किस प्रयोजन के लिये शरीरी और उत्पन्न होने का व्यवहार होता है ?

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

मधुसूदनः—एवं सच्चिदानन्दघनस्य तव कदा किमर्थं वा देहिवद्व्यवहार इति तत्रोच्यते—'धर्मस्य' वेदविहितस्य प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणस्य वर्णाश्रमतदाचारव्यङ्ग्यस्य यदा यदा 'ग्लानिः' हानिर्भवति हे भारत! भरतवंशोद्भवत्वेन 'भा' ज्ञानं तत्र रतत्वेन वा त्वं न धर्महानिं सोढुं शक्नोषीति संबोधनार्थः। एवं यदा यदा 'अभ्युत्थानं' उद्भवः 'अधर्मस्य' वेदनिषिद्धस्य नानाविधदुःखसाधनस्य धर्मविरोधिनः तदा तदा 'आत्मानं' देहं सृजामि नित्यसिद्धमेव सृष्टमिव दर्शयामि मायया ॥ ७ ॥

तर्किं धर्मस्य हानिरधर्मस्य च वृद्धिस्तव परितोषकारणं येन तस्मिन्नेव काले आविर्भवसीति तथा चानार्थावह एव तवावतारः स्यादिति नेत्याह धर्महान्याहीयमानानां 'साधूनां' पुण्यकारिणां वेदमार्गस्थानां 'परित्राणाय' परितः सर्वतो रक्षणाय तथाऽधर्मवृद्ध्या वर्धमानानां 'दुष्कृतां' पापकारिणां विनाशाय च तदुभयं कथं स्यादिति तदाह 'धर्मसंस्थापनार्थाय' धर्मस्य सम्यगधर्मनिवारणेन स्थापनं वेदमार्गपरिरक्षणं धर्मसंस्थापनं तदर्थं संभवामि पूर्ववत्। युगे युगे इति प्रतियुगम् ॥ ८ ॥

ननु गीताशास्त्रं वैदिकगूढतात्पर्यनिर्णायकम् ब्रह्मसूत्रादिवत् तत्रापि वैदिककर्मकाण्डतात्पर्यनिर्णायकम् प्रथममध्यायषट्कम्। तत्रैव चायं चतुर्थोऽध्यायो यदीया एते श्लोका ये

भाषा

उ०—"*यदा यदा०*" हे भारत! वेदविहित प्राणियों के विषयानन्द और मोक्षानन्द का उपाय, वर्ण, आश्रम और उसके आचार से अभिव्यक्त और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति नामक धर्म की जब २ हानि होती है और वेद निषिद्ध अनेक दुःखों का कारण और धर्मविरोधी अधर्म की वृद्धि होती है तब मैं इस नित्य ही शरीर को उत्पन्न सा अपनी माया से दिखलाता हूँ ॥ ७ ॥

प्र०—तब क्या धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि आपके परितोष का कारण है कि जो आपका उसीके समय में प्रादुर्भाव होता है ? और यदि ऐसा है तो आप का अवतार बड़ा अनर्थ कारण हुआ।

उ०—"*परित्राणाय*" धर्म के हानि से हानि को प्राप्त होते, वेद मार्गानुयायी पुण्यकारियों की सर्वतो भावेन रक्षा और अधर्म वृद्धि से बढ़ते हुए, वेद मार्ग विरोधी पापकारियों के नाश के लिये अधर्म निवारणपूर्वक वैदिक धर्म के स्थापनार्थ, युग २ अर्थात् जब हीं ऐसा समय आया तब हीं मैं इस अपने शरीर को उत्पन्न सा दिखलाता हूँ ॥ ८ ॥

प्र०—गीता शास्त्र, ब्रह्म सूत्रादि की नाईं वेद के गूढ़ तात्पर्य का निर्णय कराता है और उसमें भी प्रथम छः अध्याय वेद के कर्मकाण्ड के तात्पर्यों का निर्णय करते हैं उन्हीं में यह चतुर्थ अध्याय है जिसमें "*बहूनि मे व्यतीतानि*" इत्यादि "*युगे युगे*" यहाँ तक चार श्लोक हैं जो कि मधुसूदन

मधुसूदनेन व्याख्याताः। एवं च किं तद्वेदवाक्यं यस्य तात्पर्यमनेन 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन' इत्यादिना 'युगे युगे' इत्यन्तेन श्लोकचतुष्टयेन विवृतं भगवतेति जिज्ञासायां कर्मकाण्डस्थमेव किंचिन्मन्त्रवाक्यं ब्राह्मणवाक्यं वा प्रकृते निर्णयतात्पर्यकत्वेनावश्यमुपन्यसनीयम्। तस्यैव प्रकृतानुगुण्यात् न त्वितरत्। तच्च नास्त्येवेति चेत्, श्रूयताम्— पूर्वोपन्यस्तस्मृतिप्रामाण्याधिकरणन्यायेन यदा स्मर्तॄणां मन्वादीनां जीवानामपि विच्छिन्नवेदशाखासहस्रदर्शित्वं तदा स्वयमेव श्रीभगवतो वासुदेवस्य तदस्तीति वक्तव्यमेव किम्। एवं च संप्रत्यनुपलभ्यमानमूलवेदवाक्यानां मन्वादिस्मृतिभागानामिव गीताभागस्यास्य श्लोकचतुष्टयस्याप्रामाण्यं न कथमपि शङ्कनीयमिति गीतावाक्यानामेषां प्रलीनवेदशाखामूलत्वेऽपि न किञ्चिदपचीयते। एवं सत्यपि यदि दुराग्रहमात्रवशादेतच्छ्लोकचतुष्टयविव्रियमाणार्थकमुक्तविधं वैदिकवाक्यमेव "श्रुतं हरति पापानि" इति न्यायमनुसरन् कश्चिन्मन्दबुद्धिः शुश्रूषेत, तदा तदपि न दुरुदाहरम् तथाहि—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपमीयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ इति
(ऋ० मं० ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८)

भाषा

सरस्वती के व्याख्यान सहित यहाँ उद्धृत किये गये हैं और ऐसी दशा में यह जिज्ञासा अवश्य होती है कि वह कौन वेदवाक्य है कि जिसके तात्पर्य का इन चार श्लोकों से निर्णय होता है ? और वह वेदवाक्य मंत्र रूपी हो वा ब्राह्मण रूपी, परन्तु कर्मकाण्ड ही का होना चाहिये क्योंकि ये श्लोक कर्मकाण्ड ही के तात्पर्य का निर्णय करते हैं परन्तु ऐसा वाक्य कोई भी नहीं है इसलिये ये चार श्लोक निर्मूल क्यों न कहे जायँ ?

उत्तर १—पूर्व ही परिखा परिष्कार में स्मृति प्रामाण्य के अवसर पर जब यह सिद्ध हो चुका है कि "मनु आदि स्मृतिकार जीव भी वेद की सहस्रों शाखाओं को जानते थे तो यह कहना ही क्या है कि स्वयं भगवान् वासुदेव उन शाखाओं को जानते थे और ऐसी दशा में जैसे मनुस्मृति आदि के उन भागों का प्रामाण्य पूर्व में सिद्ध हो चुका है कि जिनका मूल वेद भाग इस समय लुप्त हो गया है वैसे ही इस गीता भाग अर्थात् इन चार श्लोकों का मूल वेदवाक्य यदि इस समय नहीं मिलता तब भी लुप्त वेद भाग का वाक्य अवश्य ही इनका मूल है। इसलिये इसके प्रामाण्य में कोई संदेह नहीं हो सकता।

उ० २—और यदि कोई मन्द बुद्धि, वैदिक शब्द के श्रवण से अपने पाप को छुड़ाने मात्र के लिये दुराग्रह वश इन चार श्लोकों के मूल वेदवाक्य को सुनना ही चाहै तो उसका सुनाना भी कठिन नहीं है अर्थात् वह वेदवाक्य यह है कि "रूपं रूपं" (वह परमेश्वर अपनी माया शक्तियों से नृसिंह, राम, कृष्ण आदि रूपधारी ज्ञात होते हैं और वे उनके मायिक रूप, भक्तों को दर्शन देने के द्वारा भक्तों के लिये ध्यान में उपयोगी होते हैं। और यद्यपि ध्यान का उपयोग वैकुण्ठवासी भगवद्विग्रह से भी हो सकता है तथापि रावण वधादि रूपी अनेक कार्यों के लिये रामादि मायिक

अस्यार्थः—(इन्द्रः) परमेश्वरो मायाभिः शक्तिभिः (पुरुरूपः) नृसिंहरामकृष्णादिरूपः (ईयते) प्रतीयते प्रादुर्भवति वा। किमर्थं तत्तद्रूपमाविष्क्रियते परमेश्वरेणेत्यत आह 'तदस्य रूपं प्रति च क्षणाय' अस्य परमेश्वरस्य तत् रूपम् मायिकम् 'प्रति च क्षणाय' भक्तेभ्यो दर्शनप्रदान-द्वारा तेषां ध्यानसौकर्याय, ननु ध्यानसौकर्यस्य वैकुण्ठविग्रहेणाप्युपपत्ते रामादिविग्रह-वैयर्थ्यमत आह 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' रावणमारणादिरूपात्तत्कार्यानुकूलानि रामादि-रूपाण्याविष्करोति। ननु कतीदृंशि रूपाणि तान्याह—'युक्ता ह्यस्य हरयः शता' इति। 'अस्य' परमात्मनः—'हरयः' सांसारिकदुःखहारीणि 'शता' अनन्तानि रूपाणि 'युक्ता' बद्धपरि-कराणि सन्ति 'दश' दश तु मीनादीनि 'हि' अतिप्रसिद्धानि रूपाणीति। यद्यपि परमेश्वरस्यां-शावेशकलावेशशक्त्यावेशज्ञानावेशाद्यनन्तमायाशक्तिविशेषकल्पिता विभूतिरूपा अवतारा असंख्येयाः सन्ति, तथापि मुख्यावतारा दशैवेति तु भावः। अत्र च 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायये' त्यनेन 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति। श्रौतोंऽशोविव्रियते। अवशिष्टेन चावशिष्टोंऽश इति विवेकः।

न च प्रकरणानुरोधाच्छतक्रतुपरस्यास्य मन्त्रस्य भगवत्परत्वं कथमुच्यत इति वाच्यम्। "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" (ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० ४६) इत्यादि पूर्वोपन्यस्तश्रुतिभिः—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥ गीता अ० ९ ॥

भाषा

शरीरों का प्रादुर्भाव होता है और परमात्मा के ऐसे प्राणिदुःखहारी शरीर असंख्य हैं जो कि अपने कार्यों में बद्धपरिकर हैं परन्तु उनमें से मत्स्य आदि दश स्वरूप बहुत ही प्रसिद्ध हैं)। यह वाक्य इन उक्त चार श्लोकों का मूल है और वेदवाक्य के तात्पर्य का निर्णय इन चार श्लोकों से होता है। तथा इस वेदवाक्य के तात्पर्य का निचोड़ यह है कि अंशावेश, कलावेश, शक्त्यावेश और ज्ञानावेश आदि नामक अनन्त मायाशक्ति रूपी परमेश्वर के अवतारों की संख्या यद्यपि नहीं हो सकती तथापि मुख्य अवतार दश ही प्रसिद्ध हैं। यहाँ विवेक यह है कि इस वेदवाक्य के *"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"* इतने अंश का अर्थ *"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया"* इस अर्द्ध श्लोक से और इस वेदवाक्य के अवशिष्ट भाग का अर्थ, अवशिष्ट साढ़े तीन श्लोकों से कहा गया है।

प्र०—प्रकरण के अनुरोध से इस वेदवाक्य का इन्द्र के वर्णन में तात्पर्य निश्चित होता है तथा इसमें 'इन्द्र' शब्द स्पष्ट ही कहा है, तब परमेश्वर के अवतारों में इस वेदवाक्य का तात्पर्य कैसे हो सकता है?

उ०—पूर्व ही देवता संख्या में उद्धृत *"इन्द्रं मित्रं"* इत्यादि वेदवाक्यों और देवताविग्रह के प्रमाणों में उद्धृत *'येऽप्यन्यदेवताभक्ताः'* इत्यादि स्मृतिवाक्यों के अनुसार इस वेदवाक्य का ईश्वरावतार में अवश्य ही तात्पर्य है इसमें कोई बाध नहीं है। इसी से सायणाचार्य की अपेक्षा भी प्राचीन मंत्र संहिता के भाष्यकारों ने परमात्मा के विषय में इस मंत्र के तात्पर्य का ऐसा व्याख्यान किया है कि जो मेरे किये हुये व्याख्यान से मिलता है और इसी ऋग् मन्त्र रूपी वेदवाक्य के भाष्य

इत्यादिभिः स्मृतिभिश्च मंत्रस्यास्य भगवत्परत्वे बाधकाभावात्। अत एव सायणादपि प्राचीनैर्ऋङ्मन्त्रसंहिताभाष्यकारैरयं मन्त्रः परमात्मपरत्वेन व्याख्यातः। तथा च एतन्मन्त्रभाष्ये सायणः–

अन्ये मन्यन्ते–'इदि परमैश्वर्ये' इत्यस्य धातोरर्थानुगमादिन्द्रः परमात्मा। स चाकाशवत्सर्वगतः सदानन्दरूपः स एवोपाधिभिरन्तःकरणैः प्रतिशरीरमवच्छिन्नः सन् जीवात्मेति व्यपदिश्यते। स एवादिमायाशक्तिभिः वियदादिजगदात्मना विवर्तते। शब्दादिविषयहरणशीलाः इन्द्रियवृत्तयश्च तेनैव सम्बद्धाः। एतत्सर्वं तस्य परमात्मनो यद्वास्तवं रूपं तद्दर्शनायेति अयमर्थोऽनया प्रतिपाद्यते। रूपं रूपं रूप्यते इति रूपं शरीरादि प्रतिशरीरं चिद्रूपः सर्वगतः परमात्मा प्रतिरूपः प्रतिबिम्बरूपः सन् सर्वाणि शरीराणि बभूव प्राप्नोत् तच्च प्राप्तं प्रतिबिम्बरूपं अस्य परमात्मनः प्रति च चणाय प्रतिनियताकारस्य दर्शनाय भवति। स चेन्द्रः परमेश्वरः मायाभिर्मायाशक्तिभिः पुरुरूपः वियदादिभिर्बहुविधैरुपेतः सन् ईयते चेष्टते। एतदपि अस्य परमात्मनः प्रति च क्षणाय भवति अस्य च दशशता सहस्रसंख्यकाः हरयः इन्द्रियवृत्तयः युक्ताः विषयग्रहणायोद्युक्ताः सन्ति तदपि अस्य वास्तवरूपदर्शनाय भवतीति। एवं स्थूलसूक्ष्मशरीरयोर्वियदादिमहाप्रपञ्चस्य च तत्वज्ञानहेतुत्वमनया प्रत्यपादीति इति।

अत्र हि 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि' मित्याद्यानां श्रुतीनां 'येऽप्यन्यदेवते' त्याद्यानां स्मृतीनां चानुसारेणेन्द्रादिप्रकरणेषु परमात्मनो महाप्रकरणित्वस्य स्पष्टमेव निर्णयात्प्रकरणान्वयः समञ्जस इति प्राचामाशयः। अस्यैव च स्मरता सायणेनात्र व्याख्याने प्रकरणविरोधो नोद्भावितः। न

भाषा

में सायणाचार्य ने *"अन्ये मन्यन्ते"* इत्यादि ग्रन्थ से उस प्राचीन व्याख्यान को उद्धृत भी किया है जो कि यहाँ भी ऊपर संस्कृत भाग में उद्धृत है। और उसमें भी यह कहा है कि "इदि परमैश्वर्ये *इत्यस्य धातोरर्थानुगामादिन्द्रः परमात्मा*" 'इदि' (इस धातु का परम ऐश्वर्य अर्थ है जो कि परमात्मा में है इससे यहाँ इन्द्र शब्द का परमात्मा अर्थ है) इति। और सायणाचार्य ने भी इस व्याख्यान को लिख कर इस कारण खण्डन नहीं किया कि "*इन्द्रं मित्रं*" इत्यादि श्रुति और '*येऽप्यन्यदेवताभक्ताः*' इत्यादि स्मृतियों के अर्थ को (जो कि यथाक्रम पूर्व ही देवता संख्या और देवता शरीर प्रकरण में यहाँ कहा जा चुका है) वह जानते थे इससे उनकी भी सम्मति इस प्राचीन व्याख्यान में ज्ञात होती है और इस प्राचीन व्याख्यान का गूढ़ाशय यही है कि "*रूपं रूपं*" यह उक्त वेदवाक्य जिस प्रकरण में है उसका संबन्ध यद्यपि इन्द्र से भी है तथापि '*इन्द्रं मित्रं*' '*येऽप्यन्यदेवताभक्ताः*' इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियों के अनुसार इन्द्रादि के प्रकरणों का महान् संबन्ध परमात्मा ही से है इति। और इसी से सायणाचार्य ने भी उक्त प्राचीन व्याख्यान में प्रकरण विरोध रूपी दोष को नहीं कहा।

प्र०—उक्त प्राचीन व्याख्यान में '*रूपं रूपं*' इस वेदवाक्य का जब केवल अवतार ही में विशेष रूप से तात्पर्य होना वर्णित नहीं है किन्तु सामान्य रूप से माया और उसके आकाशादि रूपी सब कार्यों का सामान्य रूप से वर्णन है तब कैसे उस व्याख्यान के अनुरोध से केवल अवतारों में '*रूपं रूपं*' इस वेदवाक्य का तात्पर्य कहा जाता है ?

चास्मिन्प्राचीनव्याख्याने मन्त्रस्यास्यावतारपरत्वं न विशिष्यनिर्दिष्टमिति कथं तथा व्याख्या-यत इति वाच्यम्। उक्तभगवद्गीतावाक्यानामनुरोधेनैव तथा व्याख्यानात्। तथाहि "बहूनि मे व्यतीतानि" इत्यत्र 'बहूनि' इति यदा यदा हि धर्मस्य' 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' 'संभवामि युगे युगे' इत्यत्र यदा यदेति युगे युगे इति वीप्से आत्मानमिति द्वितीयान्तं च, श्रौतस्य शत-शब्दस्य भगवदवतारानन्त्यार्थकतां, हरय इति हरिशब्दस्य च 'हरिर्विष्णावहाविन्द्रे' इत्याद्यभि-धानैरनुगतामात्मानमिति शब्दोज्जीवितां प्रसिद्धां नारायणार्थकतां स्फुटमेव क्रोडीकुर्वन्ति। एवं हरय इत्यस्याभेदान्वयि दशेति विशेषणम्। मीनादीनवतारान् पुराणेतिहासलोकप्रसिद्धान्प्रसि-द्धयैव दशत्वसंख्यया हरय इति विष्णुशक्तिविशेष्यपदसमभिव्याहारेण च कण्ठत एवोट्टङ्कयति। हिशब्दोऽपि पुराणेतिहासलोकप्रसिद्धीर्बोधयन् शतादशेतीमे समनुयन् स्पष्टमेव तदुपोद्बलयति। दशेत्यस्य शतेत्येतद्विशेषणत्वं तु न युक्तम्। तथा सति शतेत्यनेनैवासंख्यत्वलाभेन दशशब्दो-पादानवैयर्थ्यप्रसङ्गादित्युक्तव्याख्याने सर्वमेव सुश्लिष्टमिति उक्तं प्राचीनव्याख्यानमपि

भाषा

उ० १—पूर्वोक्त गीता वाक्यों के अनुसार 'रूपं रूपं' इस वाक्य का अवतारों में विशेष रूप से तात्पर्य कहा गया है क्योंकि उक्त गीता श्लोकों में *'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि'* यहाँ 'बहूनि' कहा है और *'यदा यदा हि धर्मस्य'* यहाँ *'यदा यदा'* (जब जब) युगे युगे (प्रत्येक युग में) आत्मानं (अपने को) कहा है। इससे स्पष्ट निश्चित होता है कि 'रूपं रूपं' इस वेदवाक्य में 'शत' शब्द का यही अर्थ है कि भगवान् के अवतार अनन्त होते हैं तथा *'हरयः'* इस वैदिक शब्द में (हरि) शब्द का परमात्मा अर्थ है क्योंकि *'हरिर्विष्णौ'* यह कोष है और उक्त गीतावाक्य में 'आत्मानं' अपने को यह कहा है तथा प्राणियों के दुःखों के हरण करने से परमात्मा के 'हरि' नाम की व्युत्पत्ति भी होती है। और 'रूपं रूपं' इस वेदवाक्य में 'हरयः' इस शब्द का 'दश' यह विशेषण निःसन्देह ही यह बतलाता है कि 'हरि' अर्थात् परमात्मा के अवतार दश हैं और मत्स्य आदि दश अवतार पुराण, इतिहास और लोक में प्रसिद्ध ही हैं। तथा 'रूपं रूपं' इस वेदवाक्य में *"ह्यस्य हि अस्य"* यह 'हि' शब्द कहा है जिसका विवरण (प्रसिद्ध) है अर्थात् 'हि' शब्द का यह तात्पर्य है कि मत्स्यादि दश अवतार लोक में प्रसिद्ध ही होते हैं। और 'दश' यह शत का विशेषण नहीं हो सकता जिससे कि सहस्र अर्थ हो सकै क्योंकि 'शत' इस कहने ही से उक्त गीता श्लोकों से सिद्ध हुए अवतार के अनन्त होने का लाभ जब हो सकता है तब 'दश' यह विशेषण व्यर्थ ही हो जायगा। इसलिये 'रूपं रूपं' इस वाक्य का जो व्याख्यान पूर्व में किया गया है वही सब प्रकार से ठीक है।

उ० २—'रूपं रूपं' इस वाक्य का उक्त प्राचीन व्याख्यान भी हमारे व्याख्यान के अनु-कूल ही है क्योंकि उस व्याख्यान में 'रूपं रूपं' इस उक्त मन्त्र का परमात्मा में तात्पर्य कहा है तथा परमात्मा के स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में भी इस उक्त मंत्र का तात्पर्य कहा है तो ऐसी दशा में उक्त गीतावाक्यों के अनुसार यदि इस वाक्य का परमात्मा के मायिक शरीरों में भी तात्पर्य कहा गया तो क्या हानि है? क्योंकि *'अधिकस्याधिकं फलम्'* इस रीति से जब उक्त गीताश्लोकों 'रूपं रूपं' वेदवाक्य में अपने तात्पर्य के द्वारा, मूर्ति में छाया की नाईं अथवा मरीचिका में नीर की नाईं पूर्ण

अस्मिन्नर्थेऽनुकूलमेव मन्त्रस्यास्य परमात्मपरतायास्तेनानुमोदनात् मन्त्रस्यास्य परमात्मनः स्थूलसूक्ष्मशरीरयोरिव मायिकशरीरस्यापि प्रतिपादकताया उक्तभगवद्वाक्यसमन्वयस्वारस्य समञ्जसाया 'अधिकं तु प्रविष्ट' मिति न्यायेन प्राचीनानुमतत्वसंभवाच्च ।

अत एव भक्तिमीमांसादर्शने २ अध्याये १ आह्निके भगवतः शाण्डिल्यस्य सूत्रद्वयम् तच्च सभाष्यम् ।

यथा—तद्वाक्यशेषात्प्रादुर्भावेऽपि सा ॥ २ ॥

पराशक्तिः प्रादुर्भावात्मविषयापि भवति कस्मादिदं ज्ञाप्यते वाक्यशेषात् "देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि" इति प्रतिज्ञातार्थस्थिरीकरणाय देवतान्तरभक्तनिन्दायां वाक्यशेषो भवति ।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ इति ॥

अत्र यो यो यां यां भक्त इत्येतावतैवोक्तार्थसिद्धौ तनुपर्यन्तनिर्देशाद्भक्तेस्तन्वात्मविषयत्वे तात्पर्यमुन्नीयते प्रकरणं च भक्तेरेवेति ।

जन्मकर्मविदश्चाजन्मने शब्दात् ॥२१॥

जन्म, शरीराविनाभूतवेदप्रणयनदैत्यदमनभक्तदर्शनादिकार्याय शरीरपरिग्रहः । कर्म च वेदप्रणयनादि तत्तत्ववेदिनो जन्याभावफलाय शब्दो भवति ।

भाषा

प्रविष्ट हो जाते हैं तब इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि यही मन्त्र इन श्लोकों का मूल है । इति ।

और भक्तिमीमांसादर्शन अध्याय २ आह्निक १ में भगवान् शाण्डिल्य महर्षि ने भी परमेश्वर के अवतार विषय में दो सूत्रों से इन्हीं बातों को कहा है जो कि पूर्व में कहे गये हैं और वे दो सूत्र भी स्वमेश्वर भाष्य सहित ऊपर संस्कृत भाग में उद्धृत हैं और यहाँ भी उन सूत्रों को उद्धृत कर उनके भाष्य का तात्पर्य कहा जाता है कि—*"तद्वाक्यशेषात्प्रादुर्भावेऽपि सा"* (सू २०) पराभक्ति केवल परमात्मा ही में नहीं होती किन्तु प्रादुर्भाव (अवतार) में भी होती है क्योंकि *'देवान्देवयजो यान्ति' "मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गी०)* (देवताओं के भक्त देवताओं के समीप और मेरे भक्त मेरे समीप जाते हैं) इस प्रतिज्ञा किये हुए विषय को दृढ़ करने मात्र के लिए अन्य देवता के भक्तों की निन्दा के प्रकरणों में यह वाक्य है कि *'यो यो यां यां तनुं भक्तः'* (जो जो भक्त अपनी श्रद्धा से जिस जिस तनु अर्थात् शरीर को पूजना चाहता है उसकी उसी श्रद्धा को मैं अचल कर देता हूं) इस वाक्य में 'तनु' शब्द से स्पष्ट ही अवतारों को कृष्ण भगवान् ने कहा है ।

"जन्मकर्मविदश्चाजन्मने शब्दात्" ॥ सू० २१ ॥

शरीर के बिना वैदिक संप्रदाय का प्रचार और दैत्य दमनादि कार्य नहीं हो सकते, इसलिये परमेश्वर का जन्म होता है और उस जन्म के साथ बहुत से चरित्र रूपी कर्म भी उनके होते हैं और इन जन्मों और कर्मों के तत्वों को जानने वाले पुरुषों के लिये मोक्ष रूपी फल गीता में कहा है। इससे भी यह सिद्ध है कि 'पराभक्ति' अवतारों में भी करना आवश्यक है और वह गीतावाक्य यह

यथा—जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।। इति ।।

न च जन्मकर्मवेदनस्य साक्षादमृतत्वं फलमुपपद्यते, किन्तु उद्धतमनोमालिन्यनिवृत्ति-द्वारा तद्विशिष्टपरमेश्वरगोचरभक्तिं जनयित्वा तद्वेदनं जन्माभावफलाय भवति । तस्मात्प्रादुर्भावभावापन्नगोचरत्वं परभक्तेः शब्दादेवावगम्यते ते च दिव्ये स्वशक्तिमात्रोद्भवत्वात् 'जन्म कर्म च मे दिव्य'मित्यत्र दिव्यत्वं च न धर्मजत्वं तस्मिन्नदृष्टासिद्धेः । नापि दिवि भवत्वम् भूलोकजन्मन्यव्याप्तेः किन्तु जीवशरीरवत् न भूतोपादानकत्वम् अपि तु मायाशक्तिकृतत्वम् । अत एव मोक्षधर्मे नारदं प्रति भगवद्वाक्यम् 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारदे'ति । यथा गीयते—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।। इति ।।

भाषा

है कि *"जन्म कर्म च मे दिव्य०"* अर्थात् हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरे दिव्य जन्म और मेरे दिव्य कर्म को इस तत्व से जानता है वह वर्तमान शरीर के अनन्तर पुनः जन्म नहीं पाता किन्तु मुझी को पाता है । यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि परमेश्वर के जन्म और कर्म के ज्ञान मात्र से तुरत ही मोक्ष फल होता है किन्तु यह तात्पर्य है कि परमेश्वर के जन्म और कर्म के ज्ञान अर्थात् वेद शास्त्र और पुराण के द्वारा श्रवण से परमेश्वर के अवतारों में भक्ति होती है और उस भक्ति से मोक्ष होता है। इस रीति से इसी गीतावाक्य से परमेश्वर के अवतारों में पराभक्ति निकलती है । और वे अवतार और उनके कर्म दिव्य अर्थात् परमेश्वर की माया शक्ति मात्र से प्रत्यक्ष होते हैं न कि जीवों के जन्म और कर्म की नाईं धर्माधर्म से, क्योंकि धर्म और अधर्म परमेश्वर में होते ही नहीं । और यह तो कह नहीं सकते कि 'दिव' अर्थात् स्वर्ग में जो उत्पन्न हो वही दिव्य कहलाता है क्योंकि यदि ऐसा अर्थ किया जाय तो नरसिंह आदि अवतार दिव्य न कहलावेंगे क्योंकि वे इसी लोक में हुए हैं इससे यहाँ दिव्य शब्द का यह अर्थ है कि परमेश्वर के जन्म (अवतार) और कर्म दिव्य अर्थात् मायिक हैं न कि जीव शरीर की नाईं वे अवतार पाञ्चभौतिक वा अनित्य हैं और भगवान् के अवतारों का तत्व भी मायिक होना ही है जिसका फल इस गीतावाक्य में मोक्ष कहा हुआ है । और इसी से महाभारत शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म में नारद के प्रति भगवान् का वाक्य है कि *"माया ह्येषा"* (हे नारद ! यह मेरी माया है जो तुम मुझे देखते हो) तथा गीता में भी *"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा"* इस श्लोक से परमेश्वर के अवतार मायिक शरीर कहे गये हैं ।

प्र०—यदि अवतार मायिक ही है भौतिक नहीं है तो उसको शरीर कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि शरीर तो भौतिक ही का नाम है ?

उ०—यह नियम नहीं है कि भौतिक ही को शरीर कहते हैं किन्तु यही नियम है कि जिससे सुख दुःख का भोग होता है वह शरीर भौतिक ही होता है तो ऐसी दशा में मायिक अवतारों को शरीर कहने में कोई बाधा नहीं है । हाँ ! उनको भौतिक नहीं कह सकते क्योंकि धर्म और अधर्म के

न चाभौतिकत्वे शरीरत्वव्याघातः, भोगायतने भौतिकत्वनियमात् । अथ भोगायतनत्वमेव शरीरत्वमिति चेन्न चेष्टाश्रयस्य तत्वे लाघवात् । चेष्टात्वं तु क्रियागतो जातिविशेषः। न च क्रियैव चेष्टा मृतशरीरक्रियायां तद्व्यवहारापत्तेः । न च साक्षात् प्रयत्नजक्रियात्वमेव चेष्टात्वम् घटादावपि चेष्टत इति व्यवहृतिप्रसङ्गात् । सर्वक्रियाणां साक्षात्परमेश्वरप्रयत्नजन्यत्वात् । एवं च परमेश्वरशरीरे बोध्यमाने तत्तच्छरीरे चेष्टासिद्धिरित्यास्तां तावत्। न च तत्वाधिक्यम् । तच्छरीरस्य ब्रह्माण्डानुपादानतया घटादिवदतत्वभावात् इन्द्रियाप्रकृतित्वाच्च इति ।

किञ्च—यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ गी० अ० १० श्लो० ४१।
अवतारा असंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः ।
(श्रीमद्भा० स्क० १ अ० ३ श्लो० २६)

इत्यादिभिरप्युक्तोऽर्थः समर्थ्यते । एवं भगवदवतारविग्रहाणां न भौतिकत्वं किन्तु मायिकत्वमेवेति भगवान् कमलासनोऽप्युवाच—

भाषा

न रहने से परमेश्वर को सुख दुःख का भोग नहीं होता ।

प्र०—यह नियम क्यों नहीं है कि सुख और दुःख का भोग जिसके द्वारा हो वही शरीर कहलाता है ?

उ०—शरीर उसी को कहते हैं जिसमें चेष्टा हो और 'चेष्टा' नाम क्रिया विशेष का है जो कि अवतारों में भी है ।

प्र०—सब क्रिया को चेष्टा क्यों नहीं कहते ?

उ०—यों नहीं कहते कि ऐसा कहें तो मृतक शरीर की क्रिया भी चेष्टा कहलायेगी जो कि दूसरों की क्रिया से होती है ।

प्र०—आन्तरिक प्रयत्न से जो क्रिया साक्षात् उत्पन्न होती है उसी को क्यों नहीं चेष्टा कहते?

उ०—यों नहीं कहते कि यदि ऐसा कहें तो यह भी कहना पड़ जायगा की 'रथ' चेष्टा करता है क्योंकि यद्यपि रथ की क्रिया सारथी वा अश्वों के प्रयत्न से साक्षात् नहीं होती । किन्तु अश्वों के प्रयत्न से अश्वों में धावन क्रिया होती है और उस क्रिया से रथ में क्रिया होती है तथापि रथ की क्रिया में भी परमेश्वर का प्रयत्न साक्षात् कारण है जैसा कि शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि क्रिया चाहे किसी की हो परन्तु सब क्रियाओं में परमेश्वर का प्रयत्न साक्षात् कारण होता है । इति ।

"यद् यद्०" (जिनका मैंने नाम नहीं लिया है ऐसी भी मेरी अनन्त विभूतियाँ हैं उनका उपलक्षण मात्र तुमसे कहता हूँ कि जो २ प्राणी अधिक ऐश्वर्य वा धन वा शोभा वा बल आदि गुणों से युक्त हैं उन सबको तुम मेरी शक्ति के अंश से उत्पन्न समझो । "अवतारा" (हे ब्राह्मणों ! शुद्ध चैतन्य रूपी परमात्मा के अवतारों की संख्या नहीं हो सकती) इस प्रकार के बहुत से प्रमाणों से परमेश्वर के अवतार प्रसिद्ध हैं । परमेश्वर के अवतार शरीर का भौतिक न होना और मायिक होना भगवान् ब्रह्मा

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य, स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महित्ववसितुं मनसान्तरेण, साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥
(भा० स्क० १० पू० अ० १४ श्लो० २) इति ।

मीनादिष्ववतारविशेषेषु प्रतिपदोक्तानि प्रमाणानि शतशः पुराणेतिहासादिवाक्यानि जाग्रत्येव । तेष्वप्रामाण्यशङ्कायाम् तु विशेषतः पुराणप्रामाण्यनिरूपणं नामास्य ग्रन्थस्य पूर्वप्रकरणमेव निर्वर्णनीयमिति किमिह द्विरभिधानेन ? अथ तेषामितिहासपुराणादिवाक्यानां मूलभूतानि कानिचिद्वेदवाक्यान्यपि सन्ति न वेति चेत् 'अवधीयताम्'—किमनेन प्रश्नेन पुराणेतिहासप्रामाण्यप्रतिपादकानां विशेषतः पुराणप्रामाण्यनिरूपणप्रकरणे दर्शितपूर्वाणां वेदवाक्यानामेव तन्मूलत्वात् प्रत्यक्षादिमूलकत्वस्य लौकिकवाक्येष्विव पुराणेतिहासादिवाक्येष्वपि प्रामाण्यप्रयोजकताया उक्तप्रकरणे दृढतरमुपपादनेन तत्तदवतारविशेषप्रतिपादकपुराणेतिहासवाक्यानां प्रत्यक्षादिमूलकत्वेनापि प्रमाणतया वेदमूलकत्वाभावेऽपि क्षतिविरहाच्च । अन्यथा लौकिकस्यापि वाक्यस्यावेदमूलकस्य प्रामाण्याभावे सर्वव्यवहारविलोपाज्जगदान्ध्यमेव प्रसज्येत । न च केऽपि संस्कृतवाङ्मया अपभ्रंशभाषामयाश्चेतिहासग्रन्थाः प्रामाण्यमश्नुवीरन्निति बालस्य

भाषा

ने भी कहा है कि—"अस्यापि देव०" हे देव ! (वासुदेव) इस समय प्रकाशित इस कृष्णावतार रूपी सुलभ शरीर की भी महिमा को मैं (ब्रह्मा) अथवा कोई, तत्व से जान नहीं सकता क्योंकि यह शरीर हम पर अनुग्रह के लिये है तथापि भौतिक नहीं है किन्तु आप की इच्छा से प्रकाशित और सत्वगुण प्रधान माया रूपी है जिससे दुर्ज्ञेय है और जब इस अवतार शरीर की महिमा को भी कोई नहीं जान सकता तब इस अवतार को धारण करने वाले साक्षात् सच्चिदानन्द रूपी आप की महिमा के विषय में यह कहना ही क्या है कि उसको कोई नहीं जान सकता । इति । ऐसे ही मत्स्यादि प्रत्येक अवतारों में विशेष रूप से पृथक् २ शतशः पुराण और इतिहास के भाग प्रमाण बहुत ही प्रसिद्ध हैं और यदि उस पर अप्रमाण होने की शंका हो तो 'विशेषतः पुराणप्रमाण्यनिरूपण' नामक पूर्व प्रकरण को देखना चाहिए।

प्र०—मत्स्यादि अवतार के विषय में इतिहास और पुराणों के जो भाग प्रमाण कहे जाते हैं उनका मूल कोई वेदवाक्य है अथवा नहीं ?

उ० १—सावधानी से सुनना चाहिये कि इस प्रश्न का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि विशेषतः पुराण प्रमाण्य निरूपण में पुराणों और इतिहासों के प्रमाण होने में जो २ वेदवाक्य प्रमाण दिये गये हैं वे ही अवतार के विषय में इतिहास और पुराण भागों के मूल हैं ।

उ० २—और उसी प्रकरण में जब स्पष्ट यह सिद्ध कर दिया गया है कि "पुराणों और इतिहासों के बहुत से वाक्य ऐसे भी हैं कि अन्य लौकिक वाक्यों की नाईं जिनके मूल लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं" तब यदि उक्त प्रमाण और इतिहास के भागों का वेद मूल न भी हो तो क्या हानि है ? क्योंकि यदि वेद मूल न होने मात्र से कोई वाक्य अप्रमाण हो तो लोक के व्यवहार में जितने वाक्य हैं सब अप्रमाण हो जायँगे । तथा संस्कृत अथवा अन्य भाषाओं में जितने ग्रन्थ आधुनिक बने हैं वे सब

दीपकलिकाक्रीड़या नगरदाह एव स्यादिति दिक्। यदि तु तत्तदवतारप्रतिपादकप्रतिपदोक्त-वैदिकवाक्यानि तादृशपुराणादिवाक्यानां मूलभूतानि सन्ति नवेत्यपि कश्चिद्ग्रहिलो जडबुद्धि-र्बुभुत्सेत, तर्हि तान्यपि न दुरुपन्यसानि। तथा हि—

१—मत्स्यावतारः

(श० कां० १ अ० ८ ब्रा० ३)

मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजह्रुः, यथेदं पाणिभ्यामवनेजनाय आहरन्ति, एवं तस्य अवनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे ॥ १ ॥

स हास्मै वाचमुवाद—बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वा इति, कस्मान्मां पारयिष्यसि इति, औघ इमाः सर्वाः प्रजाः निर्वोढा, ततस्त्वा पारयितास्मि इति, कथं ते भृतिरिति, स ह उवाच—यावद्वै क्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावत् नाष्ट्रा भवति उत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति ॥ २ ॥

भाषा

झूठे हो जायँगे। इस रीति से बालकों की दीप-क्रीड़ा से नगर ही का दाह हो जायगा। और यदि इस पर भी कोई यह प्रश्न कर बैठे कि प्रत्येक अवतारों में पृथक् २ विशेषरूप से वेदवाक्य साक्षात् प्रमाण हैं अथवा नहीं? तो ऐसे वेदवाक्यों का उपन्यास करना भी कठिन नहीं हैं जैसे—

१—मत्स्यावतार में वेद प्रमाण।

"मनवे ह वै०" जैसे प्रातःकाल हाथ मुँह धोने के लिये जल ले आते हैं वैसे मनु के लिये उनके शिष्य जल ले आते हैं। उस जल के साथ मनु के हाथों में कदाचित् एक मत्स्य आता है और वह मनु से कहता है कि मेरा पालन करो, मैं तुम्हें पार करूँगा। मनु०—किससे पार करोगे? मत्स्य०—औघ (जल की बाढ़) इन सब प्रजाओं को बहा ले जायगा मैं तुमको इससे पार कर दूँगा। मनु०—कैसे तुम्हारा पालन करूँ? मत्स्य०—जब तक मैं छोटा हूँ तब तक मेरे नाश करने वाले बहुत हैं यहाँ तक कि मत्स्य ही मत्स्य को निगिल जाता है। इसलिये मुझे प्रथम कुम्भी (गगरी) में जल के साथ रखो, जब मैं बढ़ जाऊँ, उसमें न अटूँ तब एक नाली खोद कर उसमें रखो, और जब उसमें भी न अटूँ तब समुद्र में डाल दो, क्योंकि तब मुझे कोई नहीं निगिल सकेगा। इसके अनन्तर इस वर्ष और तिथि में (औघ) आवेगा। उस समय नौका पर चढ़ कर मेरा ध्यान करना, मैं तुम्हारे नौका के समीप आऊँगा तब तुमको पार करूँगा। मनु उसके वाक्यानुसार उसका पालन कर अन्त में उसको समुद्र में छोड़ता है। तदनन्तर उसके कहे हुए समय पर 'औघ' आता है और मनु नौका पर चढ़ उसका ध्यान करता है और मत्स्य नौका के समीप आता है तथा मनु नौका की लहासी के फन्दे को उस मत्स्य के शृंग में लगाता है और वह मत्स्य उत्तर के पहाड़ की ओर दौड़ता है और पार ले जाकर यह कहता है कि मैं तुमको पार करता हूँ और जब तुम पहाड़ के समीप पहुँचना तब किसी वृक्ष में इस नौका को बांध देना। ज्यों २ जल बढ़ता जायगा त्यों २ मैं आ आकर तुमको ऊपर पहुँचाया करूँगा। तदनन्तर मनु वैसा ही करता है और मत्स्य भी। और वह औघ सब प्रजाओं को

कुंभ्यां मा अग्रे बिभरासि, स यदा तामतिवर्धै अथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि, स यदा तामतिवर्धै अथ मां समुद्रमभ्यवहरासि, तर्हि वा अति नाष्ट्रो भवितास्मि इति ॥ ३॥

शश्वद् ह झष आस, स हि ज्येष्ठं वर्द्धते। अथ इमां तिथीं समां तदा औघ आगन्ता तन्मां नावमुपकल्प्य उपासासै, स औघ उत्थिते नावमापद्यासै ततस्त्वां पारयितास्मि, इति ॥ ४ ॥

तमेवं मत्वा समुद्रमभ्यवजहार स यत्तिथीं तत्समां परिदिदेश तत्तिथीं समां नावमुपकल्प्य उपासांचक्रे, स औघ उत्थिते नावमापेदे, तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे, तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमधिदुद्राव ॥ ५ ॥

स होवाच अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रबध्नीष्व, तं तु त्वामागिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीत्। यावत् यावदुदकं समवायात् तावत्तावदनु अवसर्पासि इति, स ह तावत्तावदेवाऽन्ववससर्प, तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति औघो ह ताः सर्वाः प्रजानिरुवाह, अथेह मनुरेव एकः परिशिशिषे सोर्चंश्छ्राम्यंस्तपः चचार प्रजाकामः ॥ ६ ॥

२—अथ कच्छपावतारः

श० कां० ७ प्र० ४ ब्रा० १

कूर्ममुपदधाति रसो वै कूर्मो रसमेवैतदुपदधाति यो वै एषां लोकानामप्सु प्रवृद्धानाम् पराग्रसोत्पक्षरत्स एव कूर्मस्तमेवैतदुपदधाति यावानु वै रसस्तावानात्मा स एष इम एव लोकाः ॥ १ ॥

तस्य यदधरं कपालं अय ॅ स लोकस्तत्प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित इव हायं लोकोऽथ यदुत्तर ॅ साद्यौस्तव्यवगृहीतान्तमिव भवति व्यवगृहीतान्ते वहि द्यौरथदन्तरादन्तरिक्षं ॅ स एष इम एव लोका इमानेवैतल्लोकानुपदधाति ॥ २ ॥

३—अथ वराहावतारः

शं० १४।१।२।११।

अथ ह वराहविहतम् ईयतीह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तम्मेमूष इति

भाषा

बहाकर नाश कर देता है, केवल एक मनु ही बचता है और वह प्रजा उत्पन्न करने के लिये शान्ति-पूर्वक तप करता है ॥ १ ॥

२—कच्छपावतार में वेद प्रमाण

"कूर्मसुपदधाति" कूर्म (कच्छप की प्रतिमा जिसको कूर्मशिला कहते हैं) रखें क्योंकि जल से उत्पन्न होने के कारण कूर्म जल रूपी है और जितना बड़ा जल है उतना ही बड़ा कूर्म है और यही तीनों लोक है। इस कूर्म का जो नीचे का अस्थिकपाल है वह यह लोक है और जो ऊपर का अस्थिकपाल है वह ऊपर के लोक हैं, इससे जो इस कूर्म को रखता है वह मानो सब लोकों को रखता है ॥२॥

३—वराहावतार में वेद प्रमाण

"अथ ह वराह०" तदनन्तर वराह की खोदी हुई मृत्तिका के पिण्ड को स्थापन करै क्योंकि आदि सृष्टि में यह पृथ्वी दश अंगुल अर्थात् छोटी रहती है और उसको वराह खोद २ कर बढ़ाते हैं इससे

वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस्तेनैवैनमेतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्द्धयति कृत्स्नं करोति इति।

यजु० अ० ३७ मं० ५—इयत्यग्रे आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरोराध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखायत्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ५ ॥

महीधरः—का० (२६, १, ७) इयत्यग्रे इति वराहविहितम्। वराहोत्खातमृदमादाय च तूष्णीं कृष्णाजिने वल्मीकवपोत्तरे निदध्यादिति सूत्रार्थः। वराहविहितमृद्देवतं यजुः ब्राह्मी गायत्री। हे पृथिवि भगवति अग्रे आदौ वराहोद्धरणसमये ईयती प्रादेशमात्राभिनयेन प्रदर्श्यते एतत्प्रमाणा आसीत् 'इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्या स प्रादेशमात्रां तां वराह उज्जघाने'ति श्रुतेः (१४,१,२,१२) ते इति द्वितीयार्थे षष्ठी तां त्वामादाय पृथिव्या देवयजनेऽद्य मखस्य शिरोराध्यासम् मखायेति व्याख्यातमिति ॥ ५ ॥

४—अथ नृसिंहावतारः

अथर्ववेदस्य नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषदाम् ४ उपनिषदि—

ॐ नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि। तन्नः सिंहः प्रचोदयात् इत्येषा वै नृसिंहगायत्री वेदानां देवानां निदानं भवति य एवं वेद स निदानवान्भवति ॥ २ ॥ इति।

भगवत्पादीयमेतदुपनिषद्भाष्यम्

एवं तावन्नृसिंहब्रह्मविद्योपकारिणीं सामाङ्गतृतीयाङ्गविद्यामभिधायाथेदानीं सामाङ्गचतुर्थाङ्गविद्यां नृसिंहगायत्रीमाह। ओं प्रणवो व्याख्यातस्तदङ्गं कवचाख्यं परमेश्वरम् धीमहि 'ध्यायेमहि' किमर्थं वज्रनखाय नृसिंहाय। तादर्थ्ये चतुर्थी। तदर्थं विद्महे जानीमो यतस्तदेवाङ्गं नोऽस्मान् सिंहः प्रचोदयात् इत्युक्तार्थं नरशब्दं विहाय सिंह इति वदंस्तस्यां विद्यायां

भाषा

वराह इस पृथ्वी के स्वामी हैं। "*इयत्यग्रे०*" इस मंत्र के विषय में कात्यायन महर्षि का श्रौत सूत्र यह है "*इयत्यग्र इति वराहविहितम्*" इस सूत्र का यह अर्थ है कि वराह की खोदी हुई मृत्तिका को इस मंत्र से उठाकर बिछे हुए कृष्ण मृगचर्म पर स्थापन करै इति। और इस मंत्र का यह अर्थ है कि हे पृथ्वी! आदि सृष्टि के समय में आप इतनी अर्थात् प्रादेश मात्र (उठे अंगुठे वाली मूठ के तुल्य) रहती हैं उस आपको लेकर मैं यज्ञ के शिर को सिद्ध करता हूँ।

४—नृसिंहावतार में वेद प्रमाण

"*ॐ नृसिंहाय*" इस नृसिंह पूर्व तापनीय उपनिषद् के द्वितीय वाक्य का भाष्यकार (श्री स्वामी शंकराचार्य) ने इस उपनिषद् के भाष्य में यह अर्थ उपपत्तिपूर्वक किया है कि नरसिंह ब्रह्म विद्या के उपयोगी तृतीय अङ्ग विद्या को समाप्त कर अब चौथी अङ्ग विद्यारूपी नृसिंह गायत्री को कहते हैं। प्रणव (ॐ) का व्याख्यान हो चुका है, उसका अङ्ग अर्थात् परमेश्वर कवच को हम ध्यान करैं वज्र ऐसे नखवाले नृसिंह के लिये। और उस कवच के अर्थ को हम जानते हैं और उसी अङ्ग अर्थात् कवच को मेरे हृदय में सिंह प्रेरणा करैं। इस मंत्र में प्रथम 'नृसिंह' कह कर पश्चात् (नृ) शब्द को छोड़ केवल सिंह शब्द जो कहा गया है उसका यह तात्पर्य है कि इस विद्या में सिंह के

सिंहाकारस्य प्राधान्यं दर्शयति इति शब्दो मंत्रसमाप्तिं द्योतयति। एषा वै नृसिंहगायत्री नृसिंहार्थकत्र चप्रतिपादकत्वाद्गायत्री प्रणवान्तर्भावं दर्शयति। कवचाश्रिततदावृतहृदयान्तर्गतानां वेदानां देवानां यथायोग्यतया निदानं मूलकारणं भवति। उपासकस्य फलं निर्दिशति। य एवं वेद स निदानवान्भवतीति। ततश्चायमर्थः—परमेश्वरं कवचाख्यमङ्गहृत्संबन्धि-सर्वदेवनिदानत्वेनोपास्य तत्प्रतिपादकत्वादृक्सम्बन्धि सर्वदेवदेवनिदानं गायत्र्युच्यत इति तत्त्वार्थः ॥ २ ॥ इति।

५—अथ वामनावतारः

शु० यजु० अध्या० ५ मं० १५

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पा ॅं सुरे।

महीधरः—विष्णुः त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इदं विश्वं विचक्रमे विभज्य क्रमते स्म। तदेवाह त्रेधापदं निदधे भूमावेकं पदमन्तरिक्षे द्वितीयं दिवि तृतीयमिति क्रमादग्निवायु-सूर्य्यरूपेणेत्यर्थः। पांसवो भूम्यादिलोकरूपा विद्यन्ते यस्य तत्पांसुरं तस्मिन्पांसुरे अस्य विष्णोः पदे समूढं सम्यगन्तर्भूतं विश्वमिति शेष इति।

६—अथ राघवरामावतारः

अथर्ववेदस्य रामपूर्वतापनीयोपनिषदाम् ४ उपनिषदि—

स्तुतिं चक्रुश्च जगतः पतिं कल्पतरुस्थितम्।
श्यामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥ १२ ॥

भाषा

आकार को प्रधान समझना चाहिये। और 'इति' शब्द मंत्र की समाप्ति को बतलाता है। "यह नृसिंह गायत्री है" इसके कहने का यह भाव है कि उस नृसिंह रूप वाली यह गायत्री ॐकार में अन्तर्गत है और ॐकार में अन्तर्गत वेदों का यथायोग्य यह गायत्री प्रादुर्भाव का कारण है और उपासक के लिये फल है कि उसको परमेश्वर मिलते हैं। इति ॥ ४ ॥

५—वामनावतार में वेद प्रमाण

"*इदं विष्णुर्विचक्रमे०*" इस मंत्र का यह अर्थ है कि वामनावतार धारण कर इस विश्व अर्थात् तीनों लोकों को विष्णु इस रीति से आक्रमण करते हैं कि तीन चरण रखते हैं अर्थात् एक अग्नि रूपी चरण से पृथ्वी को, दूसरे वायु रूपी चरण से अन्तरिक्ष लोक को और तीसरे सूर्य रूपी चरण से स्वर्ग लोक को। इति ॥ ५ ॥

६—राघव रामावतार में वेद प्रमाण

"स्तुतिं चक्रुश्च" कल्पवृक्ष के ऊपर स्थित जगत्पति की देवता लोग यह स्तुति करते हैं कि श्याम रूप राम को नमः, मायिक शरीरधारी राम को नमः, देवादि रूपी राम को नमः, ॐकार रूपी राम को नमः, राम को नमः, जिनमें योगी लोग रमण करते हैं उन राम को नमः, परमात्मा रूपी श्री राम को नमः, जानकी के शरीर को शोभायमान करने वाले राम को नमः, राक्षसों को

नमो वेदादिरूपाय ॐकाराय नमो नमः ।
रामाय रामरामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥ १३ ॥
जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने ।
भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥ १४ ॥
रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम ।
भो दशास्यान्तकास्माकं देहि रक्ष श्रियं च ते ॥ १५ ॥
त्वमैश्वर्यादापयाथ सम्प्रत्याश्वरिमारणम् ।
कुर्विंति स्तुत्यदेवाद्यास्तेन सार्द्धं सुखं स्थिताः ॥ १६ ॥

७—अथ कृष्णावतारः

अथर्ववेदस्य गोपालपूर्वतापनीयोपनिषदि—तदुहोवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम् ॥ १२ ॥

तदिह श्लोका भवन्ति ।
सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥ १ ॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमलताश्रितम् ।
दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥ २ ॥
कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् ।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥ ३ ॥ इति ।

एवं वेदे मत्स्यादीनां कृष्णान्तानां सप्तानामवताराणां प्रतिपादकानि वाक्यानि यथालाभमुदाहृतानि । एवं च 'इन्द्रो मायाभि' रिति पूर्वोक्तमन्त्रे 'अस्य युक्ता हरयो दश हि' इति दशत्वेन परिगणितेषु दशसु भगवदवतारेषु सप्तेमे मीनादयोऽवतारा इवावशिष्टाः

भाषा

मारने वाले राम को नमः, भद्र राम को नमः, रघुबीर राम को नमः, रावण के लिये काल रूपी राम को नमः । हे रामभद्र ! महेष्वास (महाधनुर्धर) ! हे रघुवीर ! हे राजाओं में उत्तम ! हे रावण के यमराज ! हमारी रक्षा करो और हमको लक्ष्मी दो, और अपने ऐश्वर्य से हमारे शत्रुओं को तुरत मारो, ऐसी स्तुति कर देवता आदि श्री राम के साथ सुख से स्थित रहते हैं । इति ॥ ६ ॥

७—कृष्णावतार में वेद प्रमाण

"*तदुहोवाच०*" ब्रह्मा कहते हैं कि अहीर के वेष वाले, नील मेघ से सुहावन, युवा, कल्पवृक्ष पर बैठे कमल तुल्य नयन वाले, बिजुली से चमकीले पीताम्बर को धारण किये, दो भुजावाले, ज्ञान मुद्रा के धनी, गोप, गोपी और गौओं से आवृत, दिव्य अलंकारों से शोभित, कल्पतरु की छाया में बैठे अथवा रत्न कमल के मध्य में स्थित, यमुना के तरङ्गों से शीतल वायु से सेवित, कृष्ण को स्मरण करने से पुरुष संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है । इति ॥ ७ ॥

परशुरामबुद्धकल्कयस्त्रयोऽवतारा अपि वेदेऽवश्यमेव प्रतिपादिता इत्येकदेशानुमत्या स्थालीपुलाकन्यायादध्यवसीयते तत्प्रतिपादकवाक्यानां वेदस्य सम्प्रति दुर्लभासु प्रलीनासु वा शाखासु पठितत्वान्न तानीदानीमुदाह्रियन्ते। अत एव—

भा० स्क० १० पू० अ० २—मत्स्याश्वकच्छपवराहनृसिंहहंस-
राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥ ४० ॥ इति

देवकीगर्भस्तुतौ श्रीमत्कमलासनप्रभृतिभिर्देवैरभिहितम्। अथोक्तानां श्रौतोपाख्यानानामाख्यायिकामात्रत्वे तन्मूलकानां पौराणिकोपाख्यानानामप्यतथ्यतापत्तावुक्तावताराणामप्रामाणिकत्वापत्तिः श्रौतोपाख्यानानामेषां तात्त्विकत्वे तु "आजहु" रित्यादीनां भूतार्थकलकाराणामनुसारेणैषामवताराणां वेदपूर्वकालिकत्वाद्वेदस्य सादित्वापत्तिरित्युभयतः पाशारज्जुरिति चेन्न; वैदिकाख्यायिकागतानामप्यर्थानां विश्वसृष्टिप्रलयपरम्परायामादिविधुरायां दैववशात्कदा-

भाषा

मत्स्यावतार से लेकर कृष्णावतार पर्यन्त सात अवतारों के प्रतिपादक वेदवाक्य जो मिले वे यहाँ तक कहे गये। और इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि जब "रूपं रूपं" इस पूर्वोक्त वेदवाक्य में गिने हुये दश अवतारों में ये सात अवतार प्रचलित वेद भागों में स्पष्ट ही मिल रहे हैं तब अवशिष्ट परशुराम, बुद्ध, कल्कि, ये तीन अवतार भी उन वेद भागों में अवश्य कहे हुए हैं जो कि इस समय लुप्त हो गये हैं। क्योंकि बटुली में दो ही चार चावल पक्व देखकर उस बटुली भर के चावलों का पक्व होना निश्चित किया जाता है। इसी से देवकी गर्भ की स्तुति में श्री ब्रह्मादि देवों ने कहा है कि—

'मत्स्याश्वकच्छप०" हे ईश! जैसे मत्स्य, अश्व (हयग्रीव), वराह, नृसिंह, हंस, राजन्य (रामचन्द्र), विप्र (परशुराम), कल्कि आदि और देवता (वामन) अवतार धारण कर आप हमारा और तीनों लोकों का भी पालन करते हैं वैसे ही हे यदुओं में उत्तम! इस समय पृथ्वी के भार को उतारिये। आपको नमस्कार है।

प्र०—यदि वैदिक उपाख्यान, आख्यायिका मात्र है तो तन्मूलक पौराणिक उपाख्यान भी वैसे ही हैं, तो ऐसी दशा में पौराणिक उपाख्यानों के अनुसार कैसे परमेश्वर के अवतार प्रामाणिक हो सकते हैं? और यदि वैदिक उपाख्यान वास्तविक हैं तो उनमें 'आपेदे' आया 'उवाच' बोला इत्यादि भूतकाल के कहने वाले शब्दों के अनुसार वेद, नित्य नहीं हो सकता क्योंकि उन शब्दों से यही निकलता है कि वेद से पूर्वकाल में वे समाचार प्रगट हुए थे, इसलिये मत्स्यावतार की वैदिक कथा जो पूर्व में उद्धृत है उसको आख्यायिका मात्र स्वीकार करने में मत्स्यावतार वास्तविक कैसे हो सकता है, और उस कथा को सत्य स्वीकार करने में वेद कैसे नित्य हो सकता है?

उ० १—वैदिक कथाओं को यदि आख्यायिका मात्र मान लें तो भी पौराणिक कथाएँ अप्रामाणिक नहीं हो सकतीं अर्थात् मत्स्यावतार अप्रामाणिक नहीं हो सकता। क्योंकि जगत् की सृष्टि

चित्प्रादुर्भावस्य संभवितया तदा तदा च प्रादुर्भूतानां तदातनैः प्रत्यक्षादिरूपप्रमाणान्तर-गोचरीकृतानां पुराणादौ निबन्धनेन पुराणादीनां लौकिकप्रमाणमूलकताया अपि पुराणादि-प्रामाण्यनिरूपणे पूर्वमुपवर्णनेनैषां श्रौतोपाख्यानानामाख्यायिकामात्रत्वेऽपि पौराणिकानां तेषामप्रामाण्यायोगात् । तथा च रामायणे—

कि० का० सर्गे० ६५—तेषां कथयतां तत्र सर्वांस्ताननुमान्य च ।
ततो वृद्धतमस्तेषां जाम्बवान्प्रत्यभाषत ॥ १० ॥
पूर्वमस्माकमप्यासीत् कश्चिद्गतिपराक्रमः ।
ते वयं वयसः पारमनुप्राप्तास्म साम्प्रतम् ॥ ११ ॥
किन्तु नैवं गते कार्यमिदं शक्यमुपेक्षितुम् ।
यदर्थं कपिराजश्च रामश्च कृतनिश्चयौ ॥ १२ ॥
साम्प्रतं कालमस्माकं या गतिस्तां निबोधत ।
नवतिं योजनानां तु गमिष्यामि न संशयः ॥ १३ ॥
तांश्च सर्वान्हरिश्रेष्ठान् जाम्बवानिदमब्रवीत् ।
न खल्वेतावदेवासीद्गमने मे पराक्रमः ॥ १४ ॥
मया वैरोचने यज्ञे प्रभविष्णुः सनातनः ।
प्रदक्षिणीकृतः पूर्वं क्रममाणस्त्रिविक्रमः ॥ १५ ॥

भाषा

और प्रलय की परम्परा अनादि है तो अवश्य यह संभव है कि वेद में कहे हुए अवतारों का कभी न कभी प्रादुर्भाव हो जाय और उस समय के लोग उन अवतारों को प्रत्यक्ष कर लें तथा उसी प्रत्यक्ष के अनुसार पुराणों में उन अवतारों की यथार्थ कथा बाँध ली जाय, इसी से वाल्मीकीय रामायण किष्किधा काण्ड सर्ग ६५ में जाम्बवान् ऋक्षराज ने "वामनावतार" का अपने प्रत्यक्ष होना और अपना प्रदक्षिण करना कहा है जिसके ये श्लोक हैं। "तेषां कथयतां०" दक्षिण समुद्र के तीर में जिस समय श्री सीता के अन्वेषणार्थ समुद्र के उल्लङ्घन का प्रस्ताव हुआ और मुख्य मुख्य वानर अपनी अपनी उल्लङ्घन शक्ति कहने लगे उस समय वानर वाक्यों का अनुमोदन कर वृद्धतम जाम्बवान् ने कहा कि प्रथम अर्थात् अपनी यौवनावस्था में मेरा भी कोई गतिपराक्रम था वह मैं अब अवस्था के पार पहुँचा किन्तु इस अवस्था में भी यह सीतान्वेषणरूपी कार्य उपेक्षा के योग्य नहीं है। क्योंकि इस कार्य के लिए कपिराज "सुग्रीव" और "राम" भी निश्चय किये हैं। इससे इस काल में हमारी जितनी गति है उसको तुम लोग सुनो—इसमें कुछ संशय नहीं है कि ९० योजन अर्थात् ३६० कोश तक मैं कूदूँगा। और यह भी कहता हूँ कि, मेरा गमन में पराक्रम इतना ही नहीं था क्योंकि विरोचन के पुत्र (राजा बलि) के यज्ञ में जिस समय सनातन त्रिविक्रम (वामन भगवान्) तीन लोकों को आक्रमण करते थे इतने ही समय में मैंने उनका प्रदक्षिण कर डाला ऐसे मेरा अद्वितीय बल था परन्तु इस समय वृद्ध होने से मेरा पराक्रम कम हो गया है तब भी इतना कूद सकता हूँ जितना कि मैंने कहा है और इतने कूदने से इस कार्य की सिद्धि न होगी अर्थात् समुद्र के दक्षिण तीर पर न पहुँचूँगा

स इदानीमहं वृद्धः प्लवने मन्दविक्रमः।
यौवने च तदासीन्मे बलमप्रतिमं परम्॥ १६॥
सम्प्रत्येतावदेवाद्य शक्यं मे गमने स्वतः।
नैतावता च संसिद्धिः कार्यस्यास्य भविष्यति॥ १७॥

इति जाम्बवताऽऽत्मनो वामनावतारप्रदक्षिणीकरणमुक्तम्।

किं च एषां श्रौतोपाख्यानानां तात्त्विकत्वेऽपि न वेदे सादित्वापत्तिः, लुङादीनां वेदे 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति' इत्यादाविव कालविशेषार्थकत्वाभावस्य क्षुद्रोपद्रवविद्रावणप्रकरणे विस्तरेण दृढतरमुपपादितत्वात्। अत एव "विष्णोर्नुकं वीर्या०" इत्यादावुक्तमन्त्रे सायणेन 'प्रवोचम्' इत्यस्य "प्रब्रवीमि" इति विवरणं कृतम्। न चैवमपि साद्यर्थवर्णनादेव सादित्वापत्तिः कथं नेति-वाच्यम्? गवादिपदानां साद्यर्थकानां वेदे सत्वेन सादित्वापत्तिपरिहाराय "आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्" (पू० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३३) इति न्यायेन पदानामनादिगोत्वादिवाचिताया अवश्याश्रयणीयतया मत्स्यादिपदानामपि मत्स्यत्वादिजातिवाचित्वेन वेदे साद्यर्थकवर्णनस्यैवा-प्रसिद्धेः। एकैकावतारपरम्पराया अप्यनादितया विनिगमनाविरहेण "यदा यदा हि धर्मस्य" "संभवामि युगे युगे" इत्याद्युक्तभगवद्वाक्यबोध्यवीप्सासिद्धतया रामकृष्णनृसिंहत्वादीनामप्य-नेकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वे बाधकाभावात्। तथा च नोभयथापि दोषगन्ध इति दिक्।

भाषा

क्योंकि दश योजन अर्थात् चालीस क्रोश अवशिष्ट रह जायँगे। इति।

उ० २—अवतार सम्बन्धी वैदिक उपाख्यान वास्तविक ही है न कि आख्यायिका मात्र, और ऐसा स्वीकार करने में वेद की अनादिता और नित्यता में कुछ भी बाधा नहीं हो सकती क्योंकि "क्षुद्रोपद्रवविद्रावण" प्रकरण में यह निश्चय हो चुका है कि वेद में लुङ् लङ् लिट् आदि कोई शब्द भूतकाल को नहीं कहते किन्तु जैसे "*वारिदस्तृप्तिमाप्नोति*" (पौसरा चलाने वाला तृप्ति पाता है) इत्यादि स्मृतिवाक्यों में "ति" आदि लट् लकारों का सामान्यकाल अर्थ है। वैसे ही वेद के लुङ् आदि लकारों का भी सामान्यकाल ही अर्थ होता है। अवतारों के प्रादुर्भाव के अनित्य होने से तो वेद अनित्य नहीं हो सकता क्योंकि जैसे गौ उत्पन्न और विनष्ट हुआ करती है किन्तु गो शब्द उनको नहीं किन्तु उन सब गौवों में रहने वाली "गोत्व" रूपी जाति को ही कहता है इसलिये जाति रूपी नित्य अर्थ का वाचक गो शब्द के रहने से वेद आधुनिक नहीं हो सकता जैसा कि "*आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्*" (पू० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३३) इस सूत्र से सिद्धान्त किया गया है इस सूत्र का अर्थ—क्षुद्रोपद्रव विद्रावण में वेबर साहेब के मत खण्डन में कहा जा चुका है। वैसे ही मत्स्य आदि वैदिक शब्दों का भी मत्स्यत्वादि रूपी नित्य जाति ही अर्थ है तो "मत्स्य" आदि शब्दों के रहने से वेद की नित्यता में कैसे पहुँच सकती है? और विश्व की सृष्टि और प्रलय का प्रवाह जब अनादि है और जब "*यदा यदा हि धर्मस्य*" "*संभवामि युगे युगे*" इन पूर्वोक्त गीतावाक्यों के अनुसार प्रत्येक मत्स्य आदि अवतारों का अनेक बार होना सिद्ध होता है तो ऐसी दशा में प्रत्येक अवतारों के अनेक व्यक्तियों में रामत्वादि जातियों का रहना ठीक ही है॥ इति॥

८—अथ देवप्रतिमा

अत्राऽपि द्वौ भागौ युक्तिखण्डः शब्दखण्डश्च। तत्र "युक्तिखण्डः"—एवमेतावता प्रबन्धेन दृढतरसिद्धानां सविग्रहप्रभाषाणां देवानामवताराणां च पूजनं साधारणो धर्मः। तच्च मानसं वाचिकं कायिकं चेति त्रिधा। तत्राद्यमुपासनोच्यते, सा च विजातीयप्रत्ययानन्तरितो मानसप्रत्ययप्रवाहः। द्वितीयं स्तुतिः, तृतीयन्तु पाद्यार्घाचमनीयस्नानीयचन्दनाक्षतपुष्पधूपदीपनैवेद्यदक्षिणादिद्रव्यसाधना कर्मपूजा—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः" ॥ (गी० अ० ९ श्लो० २६) इति

भगवद्वाक्यादिभ्यः एतच्च। पूजनं देवविग्रहाणामप्रत्यक्षत्वादसन्निहितत्वाच्च तत्प्रतिमासु तद्बुद्ध्यानुष्ठीयते। तेन चाराधिता देवाः प्रसद्य शुभफलानि प्रददति। लोकन्यायसिद्धश्चायमर्थः—लोके हि गुरुनरपतिप्रभृतीनां चित्रे मृदादिमयीषु मूर्तिषु वा सादरमन्वहमुक्तविधिना तद्बुद्ध्या पूज्यमानेषु तादृशपूजनवेदिनो गुरुराजप्रभृतयः पूजकेभ्यस्तदीप्सितानि फलानि प्रसद्य वितरन्ति। एवं तादृशेष्वेव चित्रादिषु तन्नामग्राहं तद्बुद्ध्यैव वाऽनच्चरष्ठीवनताड़नदाहादिभिरनुचितमपचर्यमाणेषु तद्वेदिनस्तेऽपचारिभ्यः क्रुद्धानुरूपानुग्रान्दण्डान्धारयन्ति। किं वा बहुना?

भाषा

८—देवप्रतिमा का निरूपण

इसमें दो खण्ड हैं, एक युक्ति खण्ड और दूसरा शब्द खण्ड।

युक्ति खण्ड—देव संख्या, देव विग्रह और देवावतार, जब इन पूर्व तीन प्रकरणों से सिद्ध हो चुके तब महा प्रभावशाली देवताओं के पूजन मात्र (जो कि साधारण धर्म है) का निरूपण अवशिष्ट है, इससे अब उसका निरूपण किया जाता है। पूजन तीन प्रकार का होता है—(१) मानस, (२) वाचिक, (३) कायिक। मानस पूजन को उपासना कहते हैं। एक विषय (देवता) की अविच्छिन्न ध्यानधारा मानस पूजन है। मुख से स्तुति करना वाचिक पूजन है। पाद्य, अर्घ, आचमनीय, स्नानीय, चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, दक्षिणादि वस्तुओं के समर्पण को कायिक पूजन और कर्म पूजा भी कहते हैं। जैसा कि "पत्रं पुष्पं" इत्यादि गीतावाक्य में स्पष्ट ही कहा है। देवता के शरीर मनुष्य के समीपवर्ती तथा प्रत्यक्ष नहीं होते। इसलिये देवताओं के शरीरों के समानाकार उनकी प्रतिमाओं में "यही देवता हैं" इस बुद्धि से देवता का पूजन किया जाता है। और पूजन से आराधित देवता प्रसन्न होकर पूजक को उत्तम फल देते हैं और यह बात लोक में प्रसिद्ध तथा युक्ति से सिद्ध है। क्योंकि लोक में गुरु और राजा आदि के चित्र वा मृत्तिकादि मूर्ति के प्रतिदिन आदरसहित उक्त विधि से गुरु, राजा आदि का बुद्धिपूर्वक पूजन करने पर उस पूजन को जान उन पूजकों को गुरु, राजा आदि प्रसन्न होकर उनके अभीष्ट फलों को देते हैं तथा उनके चित्र वा प्रतिमा आदि के विषय में उनके नाम को लेकर उनकी बुद्धि से उन चित्रादि पर गाली देने, थूकने, मारने, जलाने आदि अनुचित अपचार करने पर उसके ज्ञाता गुरु, राजा आदि उन दुष्ट अपचार करने वालों को उग्र दण्ड दिया करते हैं। इससे

यत्राधुनातनाः प्रतिमानास्तिका अपि स्वसंप्रदायाभासप्रवर्तयितॄणां चित्रफलकानि स्वास्थानीषु नागदन्तिकायां लम्बितानि तद्बुद्ध्या सादरमवलोकन्ते, पूजयन्ति च माल्यादिभिः, सन्नह्यन्ति च तेषु चित्रेषूक्तरीत्याऽनुचितमपचर्यमाणेषु दुरपचारिभ्यः क्रुद्धाः प्राणपणेनापि योद्धुम्। यत्तु निरर्गलाभी रसनाभिर्देवप्रतिमापूजनमयुक्तमिति ते चापलात्प्रलपन्ति तत्तु तेषामेव दर्शितस्वज्ञानक्रियाविरोधाददतिव्याहतं सर्वथैव मिथ्येति त्वन्यदेतत्। चित्रादिकं च प्रतिमैव प्रतिमाशब्दो ह्युपमानवाची "प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतियातना प्रतिच्छाया। प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्" इत्यादिकोशेषूपमानवाचिमध्ये पाठात्। प्रतिमाभेदाश्च—

"शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता"॥

(भा० स्क० ११ अ० २६ श्लो०)

इति भगवता कृष्णेनैवोक्ताः। तत्रापि "हृदि लिङ्गन्तु योगिनाम्" इति मात्स्यवाक्यान्मनोमयी प्रतिमा संप्रज्ञातसमाधीनां योगिनामेवोपकरोतीति त्वन्यत्। उक्तकोशे च प्रतिकृतिप्रतिमाशब्दौ उपमानसामान्यविशेषोभयवाचिनौ गौडद्राविडादिशब्दवत् तत्कोशस्थप्रतिबिम्ब

भाषा

अधिक क्या कहना है जब कि आधुनिक "प्रतिमानास्तिक" अपने २ आधुनिक कल्पित सम्प्रदायों के आचार्यों के चित्रफलक को अपनी २ अस्थानी (कमरा) की नागदन्तिका (खूँटी) में लटकाये रहते हैं और आदरपूर्वक उसको देखते हैं। और माला आदि से उसको भूषित करते हैं तथा उन चित्रफलकों पर अनुचित अपचार करने वालों के साथ प्राणपण से युद्ध करने को सन्नद्ध होते हैं। और यह तो दूसरी बात है जो कि अपनी अनर्गल जिह्वा से वे प्रतिमानास्तिक "प्रतिमापूजा अनुचित है" ऐसा कहा करते हैं क्योंकि यह कहना उनका उन्हीं के पूर्वोक्त अपने आचार्य की प्रतिमा के आदर रूपी ज्ञान और मालाधारण रूपी क्रिया तथा उसके अपचार करने वालों के साथ गाली प्रदान आदि से अर्थात् उन्हीं के ज्ञान, क्रिया और वचन से विरुद्ध है और चित्रफलक भी प्रतिमा ही है। तुल्यता को उपमा और जिसमें तुल्यता कही जाय वह उपमेय तथा जिसकी तुल्यता कही जाय वह उपमान कहा जाता है। जैसे "चन्द्र इव मुखम्" (मुख चन्द्रमा के तुल्य है)। यहाँ चन्द्रमा उपमान और मुख उपमेय तथा दोनों की तुल्यता उपमा है। ऐसे ही प्रतिमा और उपमा ये दोनों शब्द उपमान को ही कहते हैं। जैसा कि प्रतिमान, प्रतिबिम्ब, प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, अर्च्चा, प्रतिनिधि, उपमा, उपमान ये शब्द उपमान को कहते हैं। इस कोष में कहा है इसी से देवदत्त की पाषाणादि मयी मूर्ति देवदत्त की प्रतिमा कही जाती है क्योंकि उस मूर्ति की तुल्यता देवदत्त में है। इसलिये वह मूर्ति देवदत्त का उपमान है और उपमान ही को प्रतिमा कहते हैं। इस रीति से देवता की मूर्ति भी देवता की प्रतिमा कहलाती है। और प्रतिमा शब्द का उपमान रूपी अर्थ पंडित से लेकर स्त्री, बालक और अहीर आदि ग्रामीण पर्यन्त सब में प्रसिद्ध है। इसलिये इस अर्थ का त्याग कदापि नहीं हो सकता।

देवप्रतिमा आठ प्रकार की होती है जैसा कि शैली दारुमयी इस वाक्य में कृष्ण भगवान ने कहा है कि पाषाण की, काष्ठ की, सुवर्णादि धातुओं की, लिपि की (लिखित चित्र की), लेप की

प्रतियातनाप्रतिच्छायाशब्दवच्च। तयोरपि प्रतिकृतिशब्दः "जीविकार्थे चापण्ये" इति पाणिनीयसूत्रे भाष्ये च सदृशीषु मूर्तिषु प्रसिद्धः। प्रतिमाशब्दस्तु विष्णुप्रतिमा शिवप्रतिमा मृत्प्रतिमा पाषाणप्रतिमेत्यादिभिरनेकैः प्रकारैराविद्धदङ्गनागोपालमतिप्रसिद्धः। अर्चाशब्दस्त्वर्चत्यर्थसमन्वयात्पूज्यास्वेव सदृशीषु मूर्तिषु प्रसिद्ध इति विवेकः। अनुमोदितश्चायमर्थः—

"श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते"॥

इत्यादिना शृङ्गाररसद्वितीयभेदस्य विप्रलम्भस्य चतुर्षु भेदेषु प्रथमं पूर्वरागं लक्षयित्वा "इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम्" इति दर्शनस्य विभागावसरे चित्रस्य तदालम्बनत्वोक्त्या चित्रफलके नायकदर्शनस्य नायिकानुरागप्रौढिकारणतां सार्वलौकिकीमनुवादन्यायेनाभिप्रयद्भिर्लोकमार्मिकै रसविद्याविद्भिरपि। प्रतिमासु च प्रतिमेयसादृश्यबुद्धिरेव तिरोहितभेदायाः आहार्याया उक्तपूजनानुकूलायाः प्रतिमेयाभेदबुद्धे रूपकालङ्कारन्यायेन प्रयोजिका। रूपके सोपमेयधर्मिका, प्रकृते तूपमानधर्मिकेत्येतावानेव तु विशेषः। दृष्टं चैतत्पश्वादिष्वश्वादिषु बडवादिबुद्ध्याताननुद्रवत्सु। अलं बहुना यत्र गुर्वादिषु स्वचित्रमूर्त्यादिपूजामविदत्स्वपि तच्चित्रमूर्त्यादिपूजकानां तच्चित्रमूर्त्याद्यभेदाध्यवसानपूर्विका पूजैव स्वानुष्ठातृभ्य ईप्सितानि फलानि वर्षति—

तथा च भारते आदि०अ०१३—अर्जुनः परमं यत्नमातिष्ठद्गुरुपूजने।
अस्त्रे च परमं योगं प्रियो द्रोणस्य चाभवत्॥ २०॥

भाषा

(अक्स की), मिट्टी की, मन की (मानसी प्रतिमा), मणि की प्रतिमा, अर्थात् आठ प्रकार की होती है। इनमें से मानसी प्रतिमा योगियों के ही लिये है क्योंकि "*हृदि लिङ्गन्तु योगिनाम्*" (हृदय में लिङ्ग तो योगियों को होता है) यह पौराणिक वाक्य है। लोक व्यवहार के अत्यन्त मार्मिक साहित्य शास्त्र के पण्डितों ने भी वियोग शृङ्गार के चार भेदों में से "पूर्वराग" नामक प्रथम भेद का यह लक्षण कहा है कि "अन्योन्य" के श्रवण वा दर्शन से नायक और नायिका में प्रथम प्रथम अनुराग उत्पन्न होता है। तदनन्तर जब तक उनका "अन्योन्य समागम नहीं होता तब तक उस अनुराग को पूर्वराग कहते हैं" और इस लक्षण के अनन्तर उन साहित्य पण्डितों ने यह कहा है कि "नायक और नायिका का अन्योन्य दर्शन चार प्रकार से होता है—इन्द्र जाल में, चित्र में, स्वप्न में और साक्षात्"। इससे यह स्पष्ट है कि जैसे चित्त रूपी प्रतिमा में नायक के दर्शन होने से नायिका का अनुराग उत्पन्न और प्रौढ़ होता है वैसे ही देवता की प्रतिमा में देवता के दर्शन से भक्तों का अनुराग देवताओं में उत्पन्न और प्रौढ़ होता है। और प्रतिमा में प्रतिमेय की ऐक्य बुद्धि ही भक्तों में भक्ति को बढ़ाकर उसके द्वारा भक्तों को इष्ट फल देती है। क्योंकि गुरु आदि प्रतिमेय जब किसी भक्त की की हुई अपनी प्रतिमा पूजा को नहीं जानते तब भी उस भक्त को उस पूजा का उत्तम फल होता है। जैसा कि महाभारत आदि पर्व के अध्याय १३ में कहा है कि—"*अर्जुनः परमं०*" अपने गुरु द्रोणाचार्य के पूजन और अस्त्रों के अभ्यास में अर्जुन ने बड़ा प्रयत्न किया, इससे वह द्रोण के बड़े प्रीतिपात्र हुये॥ २०॥

तं दृष्ट्वा नित्यमुद्युक्तमिष्वस्त्रे प्रतिफाल्गुनम् ।
आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत ॥ २१ ॥
अन्धकारेऽर्जुनायान्नं न देयं ते कदाचन ।
न चाख्येयमिदं चापि मद्वाक्यं विजये त्वया ॥ २२ ॥
ततः कदाचिद्भुञ्जाने प्रववौ वायुरर्जुने ।
तेन तत्र प्रदीपः स दीप्यमानो विलोपितः ॥ २३ ॥
भुङ्क्त एव तु कौन्तेयो नास्यादन्यत्र वर्तते ।
हस्तस्तेजस्विनस्तस्य अन्नग्रहणकारणात् ॥ २४ ॥
तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावपि स पाण्डवः ।
योग्यां चक्रे महाबाहुर्धनुषा पाण्डुनन्दनः ॥ २५ ॥
तस्य ज्यातलनिर्घोषं द्रोणः शुश्राव भारत ।
उपेत्य चैनमुत्थाप्य परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ २६ ॥
द्रोण उ०—प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः ।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥
वैशं० उ०—ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो हयेषु च गजेषु च ।
रथेषु भूमावपि च रणशिक्षामशिक्षयत् ॥ २८ ॥
गदायुद्धेषु चर्यायां तोमरप्रासशक्तिषु ।
द्रोणः सङ्कीर्णयुद्धे च शिक्षयामास कौरवान् ॥ २९ ॥
तस्य तत्कौशलं श्रुत्वा धनुर्वेदजिघृक्षवः ।
राजानो राजपुत्राश्च समाजग्मुः सहस्रशः ॥ ३० ॥

भाषा

अर्जुन को धनु के अभ्यास में सदा उद्योग करते देखकर द्रोण ने सूद को बुलाकर कहा कि ॥२१॥ अर्जुन को अन्धकार में तुम कदापि अन्न न देना और मेरी इस बात को अर्जुन से कदापि न कहना ॥ २२ ॥ तदनन्तर सूद ने वैसा ही किया परन्तु कदाचित् अर्जुन के भोजन समय में वायु से दीपक बुझ गया किन्तु अर्जुन भोजन करते ही रहे और यह विचार किया कि इस गाढ़े अन्धकार में भी अन्नसहित मेरा हाथ जो मुख से अन्यत्र नहीं जाता उसका कारण अभ्यास ही है। और इस विचार से अँधेरी रात्रि में भी अस्त्र का प्रयोग करने लगे। उस समय अर्जुन के धनु का टङ्कार सुन जागकर द्रोण वहाँ पहुँचे और अर्जुन को हृदय से लगाकर यह कहा कि मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि ऐसा प्रयत्न करूँगा कि इस लोक में तुम्हारे ऐसा धनुर्धर अन्य नहीं होगा ॥ २३–२७ ॥ तदनन्तर द्रोण ने अश्वों, हाथियों, रथों और भूमि पर से युद्ध करने की पुनः शिक्षा अर्जुन को दी तथा अन्य कौरवों को भी गदायुद्ध, खड्गयुद्ध, शक्तियुद्ध और बहुतों के साथ अकेले युद्ध करने की शिक्षा कौरवों को दी ॥ २८ ॥ २९ ॥

द्रोण की इस कुशलता को सुनकर धनुर्वेद पढ़ने के लिये सब देशों के राजा और राजपुत्र

ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुषः सुतः।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह ॥ ३१ ॥
न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन्।
शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया ॥ ३२ ॥
स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परन्तपः।
अरण्यमनु सम्प्राप्य कृत्वा द्रोणं महीमयम् ॥ ३३ ॥
तस्मिन्नाचार्यवृत्तिं च परमामास्थितस्तदा।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थितः ॥ ३४ ॥
परया श्रद्धयोपेतो योगेन परमेण च।
विमोक्षादानसन्धाने लघुत्वं परमाप सः ॥ ३५ ॥
अथ द्रोणाभ्यनुज्ञाताः कदाचित्कुरुपाण्डवाः।
रथैर्विनिर्ययुः सर्वे मृगयामरिमर्दन ॥ ३६ ॥
तत्रोपकरणं गृह्य नरः कश्चिद्यदृच्छया।
राजन्ननु जगामैकः श्वानमादाय पाण्डवान् ॥ ३७ ॥
तेषां विचरतां तत्र तत्तत्कर्मचिकीर्षया।
श्वा चरन् स वने गूढो नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ ३८ ॥
स कृष्णमलदिग्धाङ्गं कृष्णाजिनजटाधरम्।
नैषादिं श्वा समालक्ष्य भषँस्तस्थौ तदन्तिके ॥ ३९ ॥

भाषा

सहस्रों उनके पास आये। तदनन्तर हिरण्यधनु नामक निषाद (भील) राज का पुत्र एकलव्य द्रोण के अभिमुख आया। परन्तु द्रोणाचार्य ने उन कौरवों के अनुरोध से और उसको निषाद जानकर धर्म के अनुसार धनुर्वेद पढ़ाने के लिए उसको नहीं लिया ॥३१॥३२॥ तदनन्तर उसने द्रोण के चरणों में शिर से प्रणाम कर वन में पहुँचने के अनन्तर वहाँ द्रोण की मृत्तिका मूर्ति बनायी और उसी मूर्ति को आचार्य मानकर बड़े नियम और बड़ी श्रद्धा तथा बड़े परिश्रम से उसी मूर्ति के समीप में बाण का अभ्यास करने लगा, और थोड़े ही दिन में बाणों के अनुसन्धान, ग्रहण और छोड़ने में वह बड़ा ही निपुण हो गया ॥ ३३–३५ ॥ एक समय द्रोण की आज्ञानुसार कौरव और पाण्डव मृगया के लिए रथों पर चढ़कर निकले और उनके पीछे उनके भोजन और शयन आदि की सामग्री और साथ में एक कुत्ते को लिए हुये एक राजपुरुष भी चला ॥ ३६–३७ ॥

वन में वे लोग मृगया के लिए विचरते थे। इतने ही में वह कुत्ता भूलकर एकलव्य निषाद के समीप जा पड़ा, और काले, मलिन, कृष्ण मृगचर्म और जटा को धारण किये एकलव्य को देखकर अपने स्वभाव के अनुसार भूँकता हुआ वहीं खड़ा हो गया। इतने में अपने अस्त्रलाघव को

तदा तस्याथ भषतः शुनः सप्त शरान्मुखे।
लाघवं दर्शयन्नस्त्रे मुमोच युगपद्यथा ॥ ४० ॥
स तु श्वा शरपूर्णास्यः पाण्डवानाजगाम ह।
तं दृष्ट्वा पाण्डवा वीराः परं विस्मयमागताः ॥ ४१ ॥
लाघवं शब्दवेधित्वं दृष्ट्वा तत्परमं तदा।
प्रेक्ष्य तं व्रीडिताश्चासन् प्रशशंसुश्च सर्वशः ॥ ४२ ॥
तं ततोऽन्वेषमाणास्ते वने वननिवासिनम्।
ददृशुः पाण्डवा राजन्नस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ४३ ॥
न चैनमभिजानँस्ते तदा विकृतदर्शनम्।
अथैनं परिपप्रच्छुः को भवान् कस्य वेत्युत ॥ ४४ ॥
एकलव्य उवाच—निषादाधिपतेर्वीरा हिरण्यधनुषः सुतम्।
द्रोणशिष्यं च मां वित्त धनुर्वेदकृतश्रमम् ॥ ४५ ॥
वैशम्पायन उवाच—ते तमाज्ञाय तत्वेन पुनरागम्य पाण्डवाः।
यथा वृत्तं वने सर्वं द्रोणायाचख्युरद्भुतम् ॥ ४६ ॥
कौन्तेयस्त्वर्जुनो राजन्नेकलव्यमनुस्मरन्।
रहो द्रोणं समासाद्य प्रणयादिदमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

भाषा

दिखलाते हुए एकलव्य ने भूँकते हुए उस कुत्ते के मुख में सात बाण ऐसी शीघ्रता से मारा कि जितने समय में एक बाण मारा जाता है ॥ ३८—४० ॥

तदनन्तर चुभे हुए सात बाणों से पूर्ण, मुख बाये हुए भागता हुआ वह कुत्ता पाण्डवों के समीप आया। उसको देखकर पाण्डव वीरों को बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि ऐसा लाघव और शब्द-वेधित्व उन लोगों ने नहीं देखा था और वे उसको देख लज्जित भी हुए और मारने वाले की प्रशंसा बहुत ही करने लगे। तदनन्तर मारने वाले का अन्वेषण करते करते पाण्डवों ने निरन्तर बाण फेंकते हुए एकलव्य को देखा और यद्यपि द्रोण के समीप में पाण्डवों ने उसको देखा था तथापि जटा धारण आदि के कारण वेष बिगड़े रहने से उस समय उसकी अभिज्ञा (पहिचान) न होने से उससे पूछा कि आप कौन हैं और किसके हैं ॥ ४१—४४ ॥

एकलव्य ने कहा मुझको निषादराज "हिरण्यधनु" का पुत्र और द्रोण का शिष्य तथा धनुर्वेद में कृतश्रम आप समझें ॥ ४५ ॥

वैशंपायन०—पाण्डवों ने उसको समझ कर पुनः द्रोण के समीप आए और उस आश्चर्य को उनसे निवेदन किया। हे राजन् (जनमेजय) ! अर्जुन ने तो एकलव्य को स्मरण करते द्रोण को एकान्त में पाकर बड़े विनय से यह कहा कि ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ आपने उस समय बड़ी प्रीति से

अर्जुन उवाच—तदाऽहं परिरभ्यैकः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ।
भवतोक्तो न मे शिष्यस्त्वद्विशिष्टो भविष्यति ॥ ४८ ॥
अथ कस्मान्मद्विशिष्टो लोकादपि च वीर्यवान् ।
अन्योऽस्ति भवतः शिष्यो निषादाधिपतेः सुतः ॥ ४९ ॥
वैशम्पायन उवाच—मुहूर्तमेव तं द्रोणश्चिन्तयित्वा विनिश्चयम् ।
सव्यसाचिनमादाय नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ ५० ॥
ददर्श मलदिग्धाङ्गं जटिलं चीरवाससम् ।
एकलव्यं धनुष्पाणिमस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ५१ ॥
एकलव्यस्तु तं दृष्ट्वा द्रोणमायान्तमन्तिकात् ।
अभिगम्योपसंगृह्य जगाम शिरसा महीम् ॥ ५२ ॥
पूजयित्वा ततो द्रोणं विधिवत् स निषादजः ।
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५३ ॥
ततो द्रोणोऽब्रवीद्राजन्नेकलव्यमिदं वचः ।
यदि शिष्योऽसि मे वीर वेतनं दीयतामिति ॥
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम् ॥ ५४ ॥
एकलव्य उवाच—किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरुः ।
नहि किञ्चिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम ॥ ५५ ॥
वैश० उ०—तमब्रवीत्त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयतामिति ।
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ॥ ५६ ॥

भाषा

मुझे हृदय से लगा कर कहा था कि मेरे शिष्यों में तुमसे अधिक कोई न होगा तब कैसे मुझसे और सब लोगों से अधिक बड़ा वीर्यवान् आपका शिष्य निषादराज का पुत्र है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

वैशंपायन०—द्रोण मुहूर्त भर के विचार से निश्चय कर अर्जुन को साथ ले एकलव्य के समीप गये और धनुष लेकर बाण फेंकते एकलव्य को देखा तथा एकलव्य द्रोण को समीप आते देख उनकी ओर दौड़कर चरणों को छू शिर के बल पृथिवी पर गिर पड़ा। द्रोण की विधिवत् पूजाकर तथा अपने को उनका शिष्य कह कर उनके आगे बद्धाञ्जलि होकर खड़ा हुआ ॥ ५०—५३ ॥

तदनन्तर द्रोण ने एकलव्य से कहा कि हे वीर ! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मेरा वेतन (गुरुदक्षिणा) दो। एकलव्य यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और कहा कि हे भगवन् (गुरु) ! मुझे आज्ञा दें कि मैं क्या दूँ ? क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसको मैं गुरु के लिये दे न सकूँ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

वैशंपायन—हे नराधिप ! द्रोण ने उससे यह कहा कि अपना दाहिना अँगूठा हमें दो। द्रोण के इस दारुण वचन को सुनकर अपनी प्रतिज्ञा को पालन करता सदा सत्यवादी एकलव्य ने वैसा ही हृष्ट मुख और प्रसन्न मन से विचार कर अपने अंगुष्ठ को काटकर द्रोण को दे दिया और तदनन्तर

प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन्सत्ये च नियतः सदा।
तथैव हृष्टवदनः तथैवादीनमानसः ॥ ५७ ॥
छित्वा विचार्य तं प्रादाद्द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मनः।
ततः शरं तु नैषादिरङ्गुलीभिर्व्यकर्षत।
न तथा च स शीघ्रोऽभूद्यथापूर्वं नराधिप ॥ ५८ ॥
ततोऽर्जुनः प्रीतमना बभूव विगतज्वरः।
दोणश्च सत्यवागासीन्नान्योऽभिभवितार्जुनम् ॥ ५६ ॥

अत एव चाद्यापि "ततः शरन्तु नैषादिरङ्गुलीभिर्व्यकर्षते"तिन्यायेन तद्वंश्या भिल्लाश्चापमङ्गुलीभिरेव विकर्षन्ति। एवं प्रतिमायां प्रतिमेयस्य गुरुनरपतिप्रभृतेः स्वसौसादृश्यज्ञानजनितौ स्वकीयत्वस्वाभेदाहार्याध्यवसायलक्षणौ सन्निधानापरपर्यायौ ममकाराहङ्कारावपि प्रसादान्यथानुपपत्तिबललभ्यौ लौकिकावेव। नहि प्रतिमेयेन स्वकीयत्वस्वाभिन्नत्वाभ्यामनध्यवसीयमानस्य चित्रफलकादेः पूजया तस्य प्रसादो भवितुमर्हति, अन्यपूजयाऽन्यप्रसादादर्शनात्। एवं पूजार्थकेनार्चतिना निष्पन्नस्यानन्तरोदाहृतकोशे प्रतिमापर्यायतया परिगणितस्यार्चा पदस्य प्रतिमापदस्येव प्रतिमायां स्वारसिकोऽनादिः प्रयोगोऽपि प्रतिमेयबुद्ध्या प्रतिमापूजनस्यानादिलोकव्यवहारपरम्परायास्तत्त्वं प्रख्यापयन् जागर्ति। एवं स्रक्चंदनभोजनादिना शरीरेष्वर्च्यमानेषु जीवानां प्रसादसुखादिकमास्तिकमते भ्रमभूतोऽपि शरीरेष्वात्मा-

भाषा

अँगुलियों से बाण खींचने लगा, किन्तु जैसी शीघ्रता उसमें पूर्व थी वैसी न रह गयी। (यह प्रत्यक्ष है कि अब तक एकलव्य के कुलवाले भील आजकल भी बाण चलाने में अँगूठा नहीं लगाते) ॥ ५६–५८ ॥ तदनन्तर अर्जुन का शोक छूट गया और वह प्रसन्न हो गये तथा द्रोण का भी वचन सत्य हो गया कि उनका शिष्य कोई अर्जुन से अधिक धनुर्धारी नहीं हुआ ॥ ५६ ॥ इति।

ऐसे ही प्रतिमा में अपनी तुल्यता देखने से गुरु राजा आदि प्रतिमेयों का उनकी इच्छामात्र से उत्पन्न ममकार "यह प्रतिमा मेरी है यह ज्ञान" और अहङ्कार "यह प्रतिमा मैं हूँ" यह ज्ञान भी लोक सिद्ध ही है क्योंकि इनमें से एक वा दोनों ज्ञान के बिना प्रतिमा की पूजा से प्रतिमेय की प्रसन्नता नहीं हो सकती। प्रसिद्ध है कि अन्योन्य में जिनका संबन्ध नहीं है उनमें से एक की पूजा से अन्य की प्रसन्नता नहीं होती। ऐसे ही उक्त कोश में प्रतिमा का नाम "अर्चा" भी कहा है जिसका अर्थ "पूजित" है। क्योंकि 'अर्च' धातु का पूजन अर्थ है, अतः जिसका पूजा किया जाता है उसको "अर्चा" कहते हैं। प्रतिमा का यह नाम अनादि चला आता है इससे भी यह सिद्ध होता है कि प्रतिमा में प्रतिमेय की पूजा के व्यवहार की परम्परा लोगों में अनादि काल से चली आती है।

ऐसे ही पुष्पमाला चन्दन भोजनादि से शरीर की पूजा होने पर उस शरीर का अधिष्ठाता जीव प्रसन्न होता है। क्योंकि आस्तिक मत में यद्यपि जीव शरीर से अन्य है तथापि शरीर में उसका अहंकार और ममकार अनादि चला आता है। तथा पुत्रादि की पूजा से पिता आदि की प्रसन्नता लोक में

भेदाऽध्यवसायः, पुत्रादिकलेवरेषु च पूज्यमानेषु पित्राद्यात्मनां प्रसादं तथाभूतः स्वकीयत्वाऽध्यवसायश्च प्रसुवानौ निखिललोकयात्रामूलभूतौ गीर्वाणगुरुभिरपि न निगरीतुं शक्येते इतीदृशं ममकाराहङ्कारयोः प्रसादोपधायितामाहात्म्यम् किं वानल्पजल्पनेन यत्राधर्माणां दुःखप्रसादादीन्प्रतीव निखिलानामेव धर्मादीनां प्रसादसुखादीन् प्रति प्रयोजकतायां ममकाराहङ्कारात्मकमेव चरमं गोपुरं नान्यत् अन्यथा विदेहकैवल्यं गतानामपि विषादप्रसादप्रसङ्गस्य वज्रलेपायमानत्वापत्तेः । तथा च न्यायकुसुमाञ्जलौ १ स्तबके—

देवताः संन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा ॥ १२ ॥

प्रतिमादयस्तु तेन तेन विधिना सन्निधापितरुद्रोपेन्द्रमहेन्द्राद्यभिमानिदेवताभेदास्तत्र तत्राराधनीयतामासादयन्ति दष्टमूर्च्छितं राजशरीरमिव विषापनयनविधिनाऽऽपादितचैतन्यम्। संनिधानं च तत्र तत्र तेषामहङ्कारममकारौ, चित्रादाविव स्वसादृश्यदर्शिनो राज्ञ इति नो दर्शनम् । अन्येषां तु पूर्वपूर्वपूजितप्रत्यभिज्ञानविषयस्य प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञानविषयस्य च तथात्वमवसेयम् । एतेनाभिमन्त्रितपयःपल्लवादयो व्याख्याता इति ।

अत्र प्रकाशः—अहङ्कारेति। न च देवतानां विशेषदर्शनान्न भ्रम इति वाच्यम्। अभिमानीत्यनेनाहार्यारोपरूपत्वस्य दर्शितत्वात् । ज्ञानस्य नाशेऽपि तज्जन्यसंस्कारस्य सत्वात् अस्पृश्यस्पर्शादिना च तन्नाशात्। अचेतनदेवतापक्षे त्वाह—अन्येषां त्विति। आद्यपूजायां न पूजितप्रत्यभिज्ञानमित्यत उक्तम्—प्रतिष्ठितेति । अत्राप्यस्पृश्यस्पर्शनादिसंसर्गाभावसहकृतस्येति द्रष्टव्यम्। प्रतिष्ठितं पूजयेदिति विधिबलात् तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वात् अत एव तदभावे पूजानिष्फलैवेति भाव इति ।

भाषा

देखी जाती है। यह भी पुत्रादि में पिता आदि के ममकार बिना बृहस्पति की भी बनायी नहीं बन सकती। प्रसन्नता के उत्पन्न करने में अहङ्कार और ममकार की इतनी बड़ी शक्ति है। अधिक क्या कहना है जितने व्यवहार लोक वा शास्त्र के हैं सभी अहङ्कार और ममकार ही के आश्रय से चल रहे हैं, और इन्हीं के न रहने से मोक्ष भी होता है। तो ऐसी दशा में देवताओं का अपनी प्रतिमा में अहङ्कार और ममकार का होना कोई विशेष बात नहीं है।

इसी से न्यायकुसुमाञ्जलि के प्रथम स्तबक में न्यायाचार्य *उदयन* ने कहा है कि—"*देवतासन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा*" (१२) नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि उन उन प्रतिष्ठा विधियों से प्रतिमा में रुद्र, उपेन्द्र (विष्णु), महेन्द्र आदि देवता अपना सन्निधान करते हैं। इसी से प्रतिमा पूजनीय होती है। जैसे साँप के काटे हुए मूर्च्छित राज शरीर में विष चिकित्सा की विधि से चैतन्य आता है। और प्रतिमाओं में उन देवताओं के अहङ्कार और ममकार ही को उनका सन्निधान कहते हैं न कि देवता आकर प्रतिमा में घुस जाती है। और यह सन्निधान वैसा है जैसा अपने चित्र में अपनी तुल्यता को देखने से राजा आदि का सन्निधान होता है इति। मीमांसकों का तो यह सिद्धान्त है कि—"*यह प्रतिमा प्रतिष्ठित है*" अर्थात् इसकी विधिवत् प्रतिष्ठा हुई है, यह ज्ञान ही प्रतिमा के पूजनीय होने में प्रमाण हैं। इति ॥

उक्ते कारिकार्द्धे देवता इत्यस्यानन्तरम् आराधनीयतामासादयन्तीति शेष इति हरिदासः। न च प्रतिष्ठाविधीनामहङ्कारममकारादिरूपसन्निधानकप्रयोजकता कथं लौकिकीति वाच्यम्? गुरुनरपतिप्रभृतिमानामाहूतविप्रमित्रबन्धुवर्गादिसमाजसमक्षं प्रथमपूजामहोत्सवस्येव प्रतिष्ठाविधानस्यापि लौकिकत्वात्। एतदभिव्यक्तुमेव च चित्रादाविव स्वसादृश्यदर्शिनो राज्ञ इति निदर्शितं न्यायाचार्येण। प्रतिष्ठा हि प्रतिमेयेभ्यो देवेभ्यः प्रतिमासु तदीययोरहङ्कारममकारयोः प्रार्थनैव। सा च नालौकिकी गुरुराजादिभ्यस्तदीयतत्प्रार्थनावत्। गुरुराजादिभ्यः स्वकृततदीयप्रतिमापूजनस्यामात्यादिद्वारा निवेदनवद्वा। न च प्रतिमापूजनस्यालौकिकत्वे प्रत्यक्षस्य मन्त्रलिङ्गानुमितस्य वा प्रतिष्ठितं पूजयेदित्यस्यैतत्प्रकाशोदाहृतस्य विधेः का गतिरिति वाच्यम्। तस्य देवं प्रतिष्ठितमेव पूजयेत् न तु गुरुराजादिवत्प्रतिष्ठितमिति नियमार्थत्वेऽपि प्रतिमापूजनस्य लौकिकत्वे बाधकाभावात्। न हि "व्रीहीन् प्रोक्षती"त्यादिवाक्यानां नियमविधित्वेऽपि प्रोक्षणस्य लौकिकत्वं हीयते। यद्वा प्रतिष्ठितमित्यादेरनुवादकत्वमेवास्तु। न च वैयर्थ्यापत्तिः; देवानां महामहिमतया न ते लौकिकेन न वाक्येनाहङ्कारममकारौ प्रार्थनीयौ, किन्तु वेदोद्गीतमहिम्नान्तेषां वेदमंत्रैरेवाहङ्कारममकारप्रार्थनरूपया प्रतिष्ठया संस्कृतासु प्रतिमासु पूजनं कार्यमिति नियमभङ्ग्यैव सार्थक्यसंभवात्। न ह्येतद्वाक्यं प्रतिष्ठां विदधाति, प्रतिष्ठितमिति द्वितीयया तस्यानुवाद्यकोटिप्रविष्टत्वनिर्णयात्। नापि पूजनम्, तस्य फलरागप्राप्तत्वेन लौकिकत्वात् स्वर्गकाम इत्याद्यलौकिकफलकामनाबोधकपदाध्याहारे तु स्वर्गकामादिवाक्यवदपूर्वविधित्वमेव तस्य। तत्रापि च प्रतिमापूजनादेरुक्तस्यार्थजातस्य लौकिकत्वं न केनापि शक्यमपह्नोतुम्। न

भाषा

प्रतिमा के पूजनीय होने में जो ये सिद्धान्त हैं ये ही सिद्धान्त मंत्र से अभिमंत्रित जल और पल्लवादि में भी हैं। अर्थात् वहाँ भी अभिमन्त्रण से जल आदि में देवता का ममकार होता है, इसी से उन जल आदि के पान और मार्जनादि के द्वारा लोगों को फल लाभ होता है। इति।

प्र०—प्रतिमाओं में प्रतिष्ठा विधि से देवताओं के अहङ्कार और ममकार का होना तो शास्त्र ही से ज्ञात हो सकता है क्योंकि प्रतिष्ठा विधि शास्त्रीय ही है तब कैसे प्रतिमा-पूजन को लोक सिद्ध कहा जाता है?

उ०—जैसे लोक में गुरु राजा आदि की प्रतिमा में पूजा का आरम्भ जिस मुहूर्त में होता है उस समय ब्राह्मण, मित्र और भाई-बन्धुओं को अपने यहाँ बुलाकर लोग उत्सव करते हैं वैसे ही प्रतिमा की पूजा आरम्भ करने के समय प्रतिष्ठा करना भी उत्सव ही है, इससे लौकिक ही है। और प्रतिष्ठा करना भी प्रतिमाओं में देवताओं के अहङ्कार और ममकार के लिये प्रार्थना अथवा अपने किये हुए गुरुप्रतिमा और राजप्रतिमा के पूजन को सचिव आदि के द्वारा गुरु राजा आदि के कान तक पहुँचाना ही है। इसलिए प्रतिष्ठा विधि भी अलौकिक नहीं है। और गुरु राजा आदि मनुष्यों की प्रार्थना रूपी प्रतिष्ठा लौकिक वाक्यों से होती है परन्तु महा प्रभावशाली देवताओं की प्रार्थना रूपी प्रतिष्ठा पवित्र वैदिक वाक्यों से ही होनी चाहिए, यह भी एक लौकिकता ही है।

च न्यायाचार्योक्तं दष्टमूर्च्छितराजशरीरनिदर्शनं प्रकृतविरुद्धं विषमं च। न हि प्रतिमायां मूर्च्छाचैतन्ये कदापि संभवत इति वक्तव्यम्। "पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः" इत्यादौ हारनिर्भरादेरिव प्रकृतेऽपि चेतनाविरहरूपमूर्च्छाऽहङ्काराद्यभावयोरभावत्वेन चैतन्याहङ्काराद्योश्च ज्ञानत्वेन बिम्बप्रतिबिम्बभावात् साधारणधर्मत्वस्य सूपपादतया विरोधवैषम्ययोः सुदूरपराहतत्वात्। एतदभिप्रयतैव च न्यायाचार्येण "सन्निधानं च तत्र तेषामहङ्कारममकारौ इत्युक्तम्"।

एवम् भामत्याम् (अ० ३ पा० २ फलाधिकरणे) आचार्यवाचस्पतिमिश्राः—

तथा देवतापूजनात्मको यागो देवतां न प्रसादयन् फलं प्रसूते इत्यपि दृष्टविरुद्धम्। न हि राजपूजात्मकमाराधनं राजानमप्रसाद्य फलाय कल्पते। तस्माद्दृष्टानुगुण्याय यागादिभिरपि देवताप्रसक्तिरुत्पाद्यते। तथा च देवताप्रसादादेव स्थायिनः फलोत्पत्तेः कृतमपूर्वेण। एवमशुभेनापि कर्मणा देवताविरोधिनं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्।

ततः स्थायिनोऽनिष्टफलप्रसवः। न च शुभाशुभकारिणां तदनुरूपं फलं सुवाना देवता द्वेषपक्षपातवती युज्यते। नहि राजा साधुकारिणमनुगृह्णन् निगृह्णन्वा पापकारिणं द्विष्टो रक्तो वा, तद्वदलौकिकोऽपीश्वरः। यथा च परमापूर्वे कर्त्तव्ये उत्पत्त्यपूर्वाणामङ्गापूर्वाणां चोपयोगः, एवं प्रधानाराधनेऽङ्गाराधनानामुत्पत्त्याराधनानां चोपयोगः, स्वाम्याराधन इव तदमात्यतत्प्रणयिजनाराधनानामिति सर्वं समानमन्यत्राभिनिवेशात् इति।

एवं च देवपूजात्वे ज्योतिष्टोमादीनां देवप्रतिमापूजनस्य च समानेऽपि ज्योतिष्टोमादीनां प्रत्यक्षालम्बनशून्यतया कथञ्चिदलौकिकत्वसंभवेऽपि प्रत्यक्षगम्यप्रतिमाऽऽलम्बनस्य

भाषा

प्र०—न्यायाचार्य ने जो मूर्च्छित राजशरीर का दृष्टान्त दिया है वह कैसे ठीक है? क्योंकि प्रतिमा में मूर्च्छा और चैतन्य का संभव भी नहीं है।

उ०—प्रतिमा में प्रतिष्ठा से पूर्व, अहङ्कारादि के अभाव ही को मूर्च्छा और प्रतिष्ठा के अनन्तर उत्पन्न अहङ्कार ही को चैतन्य समझकर न्यायाचार्य ने दृष्टान्त दिया। और इसी अपने अभिप्राय को सूचित करने के लिये उन्होंने यह भी कहा है कि "प्रतिमाओं में देवताओं का सन्निधान (सामीप्य) यही है कि उनमें उनके अहङ्कार और ममकार होते न कि प्रतिमा में देवता आकर घुस जाते हैं" इति। और अनन्तरोक्त प्रकरण में उद्धृत फलाधिकरण के शङ्करभाष्य में भी देवतापूजन का लौकिक होना कहा जा चुका है। इस रीति से ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और देवप्रतिमा-पूजन इन दोनों का देवपूजन रूपी होना तुल्य ही है। परन्तु विशेष इतना ही है कि ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में प्रायः कोई प्रत्यक्ष आलम्बन नहीं रहता, इसलिये वह चाहे केवल वैदिक हो परन्तु प्रतिमा रूपी प्रत्यक्ष आलम्बन में देवपूजन तो सब अंश में लौकिक ही है और देवता का शरीरधारी होना आदि तो ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और प्रतिमा-पूजन दोनों में शास्त्रीय ही है जो कि अनन्तर प्रकरण में सिद्ध हो चुका है।

ऐसे ही वेदोक्त प्रतीकोपासना की भी रीति प्रतिमा-पूजन से मिलती है अर्थात् वह भी प्रतिमा-

देवपूजनस्य दर्शितदिशा सर्वांशे लौकिकत्वमत्र देवानां विग्रहवत्वादिकन्तूभयत्रागमिकम्। तच्च साधितपूर्वमेव। संवदति च वर्णितामेतां सरणिं प्रतीकोपासनाऽपि। तथा च—

न प्रतीकेन हि सः।

उ० मी० अ० ४ पा० १ अधि ४, ५ सू० ४।

भगवत्पादीयं भाष्यम्—"मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति" (छा० ३।१८।१) तथा "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" (छा० ३, १६, १) "स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते" (छा० ७, १, ५) इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः किं तेष्वप्यात्मग्रहः कर्त्तव्यो न वेति। किं तावत्प्राप्तम् तेष्वप्यात्मग्रह एव युक्तः। कस्मात्? ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात्प्रतीकानामपि ब्रह्मविकारत्वाद्ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात्। न हि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत्। यत्पुनर्ब्रह्मविकारत्वात्प्रतीकानां ब्रह्मत्वं ततश्चात्मत्वमिति। तदसत्; प्रतीकाभावप्रसङ्गात्। विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्मत्वमेवाश्रितं भवति। स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा। न च ब्रह्मण आत्मत्वाद्ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिः कल्प्या कर्तृत्वाद्यनिराकरणात्। कर्तृत्वादिसर्वसंसारधर्मनिराकरणे हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः। तदनिराकरणेन चोपासनविधानम्। अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते। न हि रुचकस्वस्ति-

भाषा

पूजन ही है जैसा कि वेदान्तदर्शन अध्याय ४ पाद १ में दो अधिकरणों से निर्णय किया गया है। इसलिए उन अधिकरणों के दो सूत्र और उनका शंकरभाष्य यहाँ लिखा जाता है।

"न प्रतीके न हि सः" (सू० ४) अर्थ—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (मन ब्रह्म है यह उपासना करे) "आकाशो ब्रह्म" (आकाश ब्रह्म है) यह उपासना करे "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" (सूर्य ब्रह्म है यह उपासना है) इत्यादि वेदवाक्यों में जो प्रतीकों (अङ्ग) की उपासनायें कही हैं उनमें यह संदेह है कि प्रतीकों को अर्थात् मन आदि को आत्मा समझना चाहिये वा नहीं?

पूर्वपक्ष यह है कि प्रतीक सब आत्मा ही हैं क्योंकि वे ब्रह्म के विकार हैं और ब्रह्म वेद में आत्मा कहे जाते हैं। इसलिए प्रतीक भी आत्मा हैं। अर्थात् उपासक को यह उपासना करनी चाहिए कि प्रतीक मैं (आत्मा) हूँ। इस पूर्वपक्ष के अनन्तर उक्त सूत्र से यह सिद्धान्त किया जाता है कि प्रतीकों को आत्मा न समझना चाहिए अर्थात् उपासक पुरुष उन प्रतीकों को पृथक् पृथक् आत्मा न समझे। और जो यह कहा गया है कि ब्रह्म का विकार होने से प्रतीक ब्रह्म हैं तथा ब्रह्म होने से वे आत्मा हैं, वह ठीक नहीं है क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो प्रतीक ही नहीं हो सकता। इसमें कारण यह है कि विकारों के स्वरूप को मिथ्या सिद्ध करने से अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि होती है, तो जब वे मिथ्या ही हैं तो कैसे प्रतीक हो सकते हैं? या आत्मा कहे जा सकते हैं? और यह भी नहीं कह सकते कि ब्रह्म आत्मा हैं और मन आदि प्रतीकों में ब्रह्मबुद्धि करना कहा है, इसलिए उन प्रतीकों में आत्मबुद्धि की कल्पना होती है क्योंकि ब्रह्म को कर्त्ता और भोक्ता न होने से आत्मा कहते हैं, और

कयोरितरेतरात्मत्वमस्ति। सुवर्णात्मत्वेनेव तु ब्रह्मात्मत्वेनैकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम। अतो न प्रतीकेष्वात्मदृष्टिः क्रियते इति।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ सू० ५ ॥

भाष्यम्—तेष्वेवोदाहरणेष्वन्यः संशयः—किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यवसितव्याः किं वा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति। कुतः संशयः—सामानाधिकरण्ये कारणाभावात्। अत्र हि ब्रह्मशब्दस्यादित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते "आदित्यो ब्रह्म विद्युद्ब्रह्मे"त्यादिसमानविभक्तिनिर्देशात्। न चात्राञ्जसं सामानाधिकरण्यमवकल्पते। अर्थान्तरवचनत्वाद्ब्रह्मादित्यादिशब्दानाम्। नहि भवति "गौरश्व" इति सामानाधिकरण्यम्। ननु प्रकृतिविकारभावाद्ब्रह्मादित्यानां मृच्छरावादिवत्सामानाधिकरण्यात्स्यात्। नेत्युच्यते; विकारप्रविलयो ह्येवं प्रकृतिसामानाधिकरण्यात्स्यात्। ततश्च प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम। परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्ततश्चोपासनाधिकारो बाध्येत, परमितिविकारोपादानं च व्यर्थम्। तस्माद्ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानर इत्यादिवदन्यत्रान्यदृष्ट्यध्यासे सति क्वचिद्दृष्टिरध्यस्यतामिति संशयः। तत्रानियमो नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्तम्। अथवादित्यादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्त्तव्या इत्येवं प्राप्तम्। एवम् ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति, ब्रह्मोपासनं च फलवदिति शास्त्रमर्यादा। तस्मान्न ब्रह्म-

भाषा

उपासक जब कर्त्ता और भोक्ता है तब वह आत्मा नहीं हो सकता किन्तु जैसे सब प्रतीक वैसे वह भी है। अर्थात् जैसे कटक और कुण्डल एक ही सुवर्ण के विकार हैं इसलिए सुवर्ण हैं पर अन्योन्य में भिन्न ही हैं। वैसे ही प्रतीक उपासक से भिन्न ही हैं और यदि ब्रह्म रूपी होने से उनको एक किया जाय तो प्रतीक ही नहीं हो सकता। इसलिए उपासक को प्रतीकों में यही उपासना करनी चाहिए कि "यह ब्रह्म है"। और यह उपासना नहीं करनी चाहिए कि "यह मैं हूँ"। इति।

"*ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्*" (सू० ५) अर्थ—उन्हीं वेदवाक्यों में यह दूसरा संशय है कि ब्रह्म में सूर्यादि बुद्धि करनी चाहिए अथवा सूर्यादि प्रतीकों में ब्रह्म बुद्धि, क्योंकि "*आदित्यो ब्रह्म*" इत्यादि वाक्यों में संस्कृत व्याकरण की रीति से दोनों अर्थ निकल सकते हैं। ब्रह्म शब्द का अन्य अर्थ है और सूर्य शब्द का अन्य, इसलिए जब दोनों की एकता नहीं हो सकती तब एक में दूसरे की बुद्धि का विधान होता है और जब कोई विशेष प्रमाण नहीं है तो उक्त संशय होना उचित ही है। और यह तो कह नहीं सकते कि जैसे मृत्तिका और घट की एकता होती है वैसे ब्रह्म और उसके विकार सूर्य की एकता में उक्त वाक्य का तात्पर्य है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो ब्रह्म से पृथक् सूर्य रूपी प्रतीक का अभाव ही हो जाता और तब उपासना ही नहीं हो सकती। उक्त संशय के अनन्तर पूर्व पक्ष यह है कि ब्रह्म ही में सूर्य आदि की बुद्धि करनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने में सूर्यादि की बुद्धि से ब्रह्म की उपासना होगी और शास्त्र की यह मर्यादा है कि ब्रह्म की उपासना फल देने वाली है। और यदि ब्रह्मदृष्टि सूर्यादि में की जाय तो उस दृष्टि से सूर्यादि की उपासना इस वाक्य से निकलेगी जिसका फल इस प्रकरण में कहा ही नहीं है। इति।

दृष्टिरादित्यादिष्विति एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति। कस्मात्? उत्कर्षात्। एवमुत्कर्षेणादित्यादयो दृष्टा भवन्ति। उत्कृष्टदृष्टेस्तेष्वध्यासात्। तथा च लौकिको न्यायोऽनुगतो भवति। उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यवसितव्येति लौकिको न्यायः। यथा राजदृष्टिः क्षत्तरि। स चानुसर्तव्यः, विपर्यये प्रत्यवायप्रसङ्गात्। न हि क्षत्तृदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षं नीयमानः श्रेयसे स्यात्। ननु शास्त्रप्रामाण्यादनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गो न च लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नियन्तुं युक्तेति। अत्रोच्यते—निर्धारिते शास्त्रार्थ एतदेवं स्यात्। सन्दिग्धे तु तस्मिंस्तन्निर्णयं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते। तेन चोत्कृष्टदृष्ट्यध्यासे शास्त्रार्थेऽवधार्यमाणे निकृष्टदृष्टिमध्यवस्यन्प्रत्यवेयादिति श्लिष्यते प्राथम्याच्चा-

भाषा

तदनन्तर उक्त सूत्र से सिद्धान्त किया जाता है कि सूर्यादि ही म ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से सूर्य का उत्कर्ष होता है। जैसे भृत्य में "यह राजा है" इस राजदृष्टि से राजा का उत्कर्ष निकलता है अर्थात् यह ज्ञात होता है कि राजा कोई उत्कृष्ट पदार्थ है, इससे भृत्य के प्रतिष्ठार्थ भृत्य में राजदृष्टि की जाती है। तात्पर्य यह है कि जिसके भृत्य का प्रभाव देखकर भृत्य में राजदृष्टि होती है वह राजा तो बहुत ही उत्कृष्ट होता है। इसी से भृत्य में राजदृष्टि से राजा प्रसन्न होता है और यदि राजा में भृत्यदृष्टि की जाय तो राजा प्रसन्न नहीं होता किन्तु कोप करता है। उक्त संशय में भी इसी लोकदृष्टान्त के अनुसार यही निर्णय करना उचित है कि सूर्यादि प्रतीकों हीं में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए जिससे ब्रह्म का उत्कर्ष निकले और ब्रह्म में सूर्यदृष्टि करने से तो ब्रह्म की अप्रतिष्ठा होगी इससे उपासक को पाप लगैगा।

प्र०—पाप का लगना केवल वेद ही से ज्ञात होता है, और वेद जब ब्रह्म में सूर्यादि दृष्टि करने को कह रहा है तो उसमें पाप कैसे लग सकता है? और लौकिक दृष्टान्त के विरोध से वेदोक्त सूर्यादि दृष्टि का खण्डन करना भी किसी प्रकार से उचित नहीं है।

उ० १—यदि उक्त वेदवाक्यों का यह अर्थ निश्चित हुआ रहता कि ब्रह्म ही में सूर्यादि दृष्टि करनी चाहिए तब उक्त प्रश्न का अवसर होता अर्थात् यह कहा जा सकता कि ऐसी दृष्टि में पाप नहीं हो सकता और लोकदृष्टान्त के विरुद्ध होने से उक्त दृष्टि का बाध नहीं हो सकता परन्तु जब उक्त रीति से उक्त वेदवाक्यों के अर्थ में संशय ही है तो ऐसी दशा में उक्त लोकदृष्टान्त के अनुसार उनके अर्थ का निश्चय करना क्यों नहीं उचित है? और जब इस रीति से उक्त वाक्यों का ब्रह्मदृष्टि में तात्पर्य का निर्णय हो चुका तब सूर्यादि रूपी निकृष्ट प्रतीकों की ब्रह्म में दृष्टि करने वाले उपासक को पाप लगना उचित ही है।

उ० २—प्रतीक के कहने वाले मन, आकाश, सूर्य आदि शब्द उक्त वेदवाक्यों में प्रथम ही कहे गये हैं। इससे उनका अर्थ वही किया जायगा जो कि लोक में प्रसिद्ध है। और ब्रह्म शब्द तो पश्चात् कहा गया है, इसलिए इसके अर्थ का विचार पश्चात् ही होगा और निर्णय भी उसका यही होगा कि जब ब्रह्म शब्द के परमेश्वर रूपी मुख्य अर्थ की एकता सूर्यादि में नहीं हो सकती तब यहाँ

दित्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्वमविरोधाद्ग्रहीतव्यम् । तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यासंभवात् ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवावतिष्ठत इति परत्वादपि ब्रह्मशब्दस्यैष एवार्थो न्याय्यः । तथाहि "ब्रह्मेत्यादेशः" "ब्रह्मेत्युपासीत" "ब्रह्मेत्युपास्ते" इति च सर्वत्रेति परं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति शुद्धांस्त्वादित्यादिशब्दात् । ततश्च यथा शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति न तु तत्र रजतमस्ति । एवमत्राप्यादित्यादीन्ब्रह्मेति प्रतीयादिति गम्यते । वाक्यशेषोऽपि द्वितीयानिर्देशेनादित्यादीनेषोपास्तिक्रियया व्याप्यमानान्दर्शयति—"स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते" (छा० ३, १९, ४) "यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते" (छा० ७, २, २) "यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते" (छा० ७, ४, ३) इति च । यत्तूक्तम् ब्रह्मोपासनमेवात्रादरणीयम् फलवत्त्वायेति, तदयुक्तम्; उक्तेन न्यायेना-

भाषा

ब्रह्म शब्द का परमेश्वर अर्थ नहीं है किन्तु ब्रह्मदृष्टि ही अर्थ है तो इस रीति से उक्त वाक्यों का यही अर्थ होता है कि सूर्यादि में ब्रह्मदृष्टि करै ।

उ० ३—उक्त वाक्यों में सूर्यादि शब्द ही केवल कहे हुए हैं परन्तु प्रत्येक "ब्रह्म" शब्दों के साथ "इति" शब्द लगाया हुआ है कि '*ब्रह्मेत्युपासीत*' इत्यादि और "इति" शब्द का अर्थ "ऐसा" है । जिससे यह अर्थ निकलता है कि 'मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करै' इत्यादि । इससे स्पष्ट हो गया कि इति शब्द के अनुसार ब्रह्मदृष्टि ही प्रतीकों में करनी चाहिए ।

उ० ४—"*स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते*" (छा० ३, १९, ४) जो ऐसा जानने वाला पुरुष आदित्य की "यह ब्रह्म है" ऐसी उपासना करता है, इत्यादि वेदवाक्यों से आदित्यादि प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि करना ही निकलता है ।

और पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि "सूर्यादि में ब्रह्मदृष्टि स्वीकार करने से यह उपासना सूर्यादि ही की हो जायगी जिसका फल उस प्रकरण में नहीं कहा गया है" यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार यह उपासना वास्तविक में सूर्यादिक ही की है और इसका फल भी होता है अर्थात् जैसे अतिथि की उपासना का फल भी ब्रह्म ही देते हैं न कि अतिथि क्योंकि सबके अध्यक्ष ब्रह्म ही हैं । ऐसे ही सूर्यादि की उपासना का फल भी ब्रह्म ही देंगे जैसा कि फलाधिकरण में जो कि (अनन्तरोक्त देवता विग्रह के प्रकरण में उद्धृत हो चुका है) पूर्व ही वर्णन हो चुका है । और एक चाल से यह उपासना ब्रह्म की भी है क्योंकि जैसे प्रतिमा की उपासना में विष्णु आदि की उपासना यह होती है कि प्रतिमा में विष्णु आदि की दृष्टि का आरोप किया जाता है अर्थात् "यह प्रतिमा विष्णु है" ऐसी बुद्धि की जाती है वैसे ही सूर्य आदि प्रतीकों में "यह ब्रह्म है" यह बुद्धि ही ब्रह्म की उपासना है । इति । अब यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि इन अधिकरणों से स्पष्ट निकलता है कि प्रतीकों में ब्रह्म की उपासना और प्रतिमा में देवता की उपासना तुल्य ही है और लोक दृष्टान्त के अनुसार भी दोनों में एकसा ही किया जा सकता है ।

दित्यादीनामेवोपास्यत्वावगमात्। फलं त्वतिथ्याद्युपासन इव आदित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वात्। वर्णितं चैतत् "फलमत उपपत्तेः" (ब्रह्मसूत्र ३, २, २८) इत्यत्र। ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत्प्रतीकेषु तद्दृष्ट्यध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम्॥ ५॥ इति॥

अथ प्रतीको ह्यङ्गम् "अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघन" इत्यभिधानात्। आदित्यादीनां च मुख्यं ब्रह्माङ्गत्वं नोपपद्यते ब्रह्मणः सावयवत्वे कौटस्थ्यप्रतीघातप्रसङ्गात्। अतस्तदप्यारोपितं वाच्यम्। एवं ब्रह्मविकारत्वमपि तथैव सौसादृश्यन्तूपासनोपयोगि न संभवत्येव। अमूर्तसादृश्यस्यापि मूर्ते संभवाभावेन तस्य दूरोत्सारितत्वात्। एवं चैतदधिकरणोक्तं प्रतीकोपासनं वैधं वाचनिकमेव अङ्गत्वविकारत्वयोरारोपावपि तदेकबललभ्यावेव आलम्बनत्वमपि प्रतीकोपासनाया न प्रत्यक्ष-विषयत्वेन नियतम्, मनसः प्रत्यक्षत्वे दार्शनिकानां विवादात्। एवं च प्रतीकोपासनायां लौकि-कत्वगन्धस्याप्यभावात्कथं प्रतिमापूजनसंवाद इति चेन्न उक्ताहार्याभेदारोपप्रकारत्वलक्षणत्व-स्योपास्यत्वस्य ब्रह्मणि सविग्रहदेवान्तरेषु चैकरूपतया तदंशे प्रतीकोपासनाप्रतिमापूजनयोः परस्परसंवादस्य दुरपह्नवत्वात्। इदमेव चाभिप्रयताऽधिकरणद्वयार्थमुपसंहरता भगवत्पादेन

भाषा

प्र०—प्रतीक नाम है अवयव (अङ्ग का) और सूर्यादि यदि ब्रह्म के अवयव हों तो ब्रह्म सावयव हो जायगा, इसलिए यह अवश्य कहना पड़ेगा कि सूर्यादि वास्तविक में ब्रह्म के प्रतीक नहीं हैं किन्तु उनमें प्रतीक होना मान लिया गया है। ऐसे ही सूर्यादि ब्रह्म के विकार भी नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म निर्विकार है और उपासना में उन दोनों की अति तुल्यता अत्यावश्यक है कि जिसमें जिसकी उपासना होती है और प्रकृत में तो ब्रह्म और सूर्यादि की अन्योन्य में अति तुल्यता का असंभव ही है, क्योंकि कहाँ ब्रह्म व्यापक और निराकार है, और कहाँ सूर्यादि परिमित और साकार। इस रीति से उक्त अधिकरणों में निर्णय की हुई उपासना किसी प्रकार से लौकिक नहीं है किन्तु केवल वेद के बल से की जाती है और ऐसी दशा में जब उक्त उपासनाओं में लोकसिद्ध होने का गन्ध भी नहीं है तो कैसे प्रतिमापूजन की तुल्यता उनमें कही जाती है?

उ० १—इतने मात्र से तुल्यता कही जाती है कि जैसे प्रतिमा में देवदृष्टि की जाती है ऐसे ही प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि भी, और इसी के अनन्तरोक्त द्वितीय अधिकरण के अन्त में भाष्यकार ने कहा है कि "एक चाल से यह उपासना ब्रह्म की भी है" क्योंकि जैसे प्रतिमा की उपासना में विष्णु आदि के दृष्टि का आरोप किया जाता है अर्थात् "यह प्रतिमा विष्णु है" ऐसी बुद्धि की जाती है वैसे ही सूर्यादि प्रतीकों में "यह ब्रह्म है" यह बुद्धि ही ब्रह्म की उपासना है।

उ० २—तुल्यता भी सूक्ष्मत्व लेकर मन की, प्रकाशत्व लेकर सूर्य की और व्यापकत्व लेकर आकाश की ब्रह्म में हो सकती है।

उ० ३—वास्तविक में प्रतीक भी परब्रह्म की प्रतिमा ही है और कृष्ण भगवान् ने जो प्रतिमा का आठ विभाग किया है वह शरीरधारी देवताओं की प्रतिमा का विभाग है और यह प्रतीक रूपी प्रतिमा, निराकार परब्रह्म ही की है। प्रतिमा में देवपूजन का पुत्रादि लौकिक फल भी होता ही है। गीता अध्याय ९ के अन्त में कृष्ण भगवान् ने भी "पत्रं पुष्पं" (पत्र, पुष्प, फल, जल जो एकाग्र

"ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत्प्रतीकेषु तद्दृष्ट्याध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्णवादीनामित्युक्तम्" किं च मन आदावपि सूक्ष्मत्वदुर्ग्रहत्वादिना परब्रह्मणः सादृश्यस्य सूपपादत्वात् प्रतीकोऽपि परब्रह्मणः प्रतिमैव। "शैली दारुमयी" त्यादिकः प्रतिमाविभागस्तु देवान्तरसाधारणः। एवं प्रतिमापूजनस्य फलांशोऽपि लौकिकः। पुत्रपश्वादेर्लौकिकत्वात् स्वर्गापवर्गादेश्च स्वर्गत्वादिना लौकिकत्वाभावेऽपि तत्र प्रतिमेयप्रभावलभ्यत्वेन प्रतिमेयप्रसादत्वेन च कार्यकारणभावस्य सार्वलौकिकत्वात् कार्यत्वरूपेण फलत्वेन तेषां लौकिकत्वमेव। एतदभिप्रेत्यैव च गीतायाम् ६ अध्याये—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

इत्यादिना परामृश्य—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

भाषा

हो मुझे भक्ति से देता है उसको उस भक्ति से दी हुई वस्तु को मैं अपने भोग में लाता हूँ) ऐसा उपासना प्रकरण के मध्य में कह कर उसी अध्याय के अन्त में "*मन्मना भव*" इस श्लोक से उपसंहार किया। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में चार वाक्यों से चार विधान हैं जैसे १—"*मन्मना भव*" (हमारी ओर चित्त को एकाग्र किये रहो)। क्या कंस के ऐसा आपकी ओर चित्त को एकाग्र करें ? नहीं। २—"*मद्भक्तो भव*" (भक्ति से मेरी ओर चित्त एकाग्र करो)। यदि भक्ति न हो तो कहाँ से लाऊँ ? ३—"*मद्याजी भव*" (मेरा पूजन करो अर्थात् मेरे पूजन से मुझमें भक्ति होती है)। यदि धन न हो तो पूजन की सामग्री कहाँ से लाऊँ ? ४—"*मां नमस्कुरु*" (यदि धन न हो तो केवल मुझको नमस्कार ही किया करो। मत्परायण होकर ऐसा करने से मुझको पाओगे इति।

यहाँ "*मद्याजी भव*" इस तीसरे वाक्य का फलितार्थ यह है कि "मुझे पाने की तुम्हारी इच्छा हो तो मेरा पूजन करो" इस वाक्य से पूजन का विधान है और पूजन का प्रकार "*पत्रं पुष्पं*" इस पूर्व श्लोक से कहा हुआ है। इससे इस वाक्य के साथ पूर्व श्लोक "*पत्रं पुष्पं*" के सम्बन्ध होने से यह महावाक्य उत्पन्न होता है कि "तुलसी आदि का पत्र, कमलादि पुष्प और गङ्गा आदि का जल इत्यादि वस्तुओं से मेरी पूजा करो, उससे मुझमें तुम्हारी भक्ति होगी जिससे कि मुझे पाओगे अर्थात् संसारदुःख से मुक्त हो जाओगे"। यहाँ प्रतिमापूजन का विधान बहुत स्पष्ट है क्योंकि पत्र पुष्पादि का दान प्रतिमा ही के द्वारा प्रसिद्ध है।

विश्वनाथ आदि नामवाले असंख्य शिवलिङ्ग तो आदि ज्योतिर्लिङ्ग से चलाये हुए संप्रदाय के अनुसार परब्रह्म ही की प्रतिमा हैं क्योंकि जैसे परब्रह्म हस्त, पाद, मुख आदि से रहित हैं वैसे ही ये लिङ्ग भी। और आदि लिङ्ग से "परम शिव" का प्रादुर्भाव हुआ इससे उनकी पूजा भी "लिङ्ग" में होती है तथा उनका शरीर और सामग्री संहार रुद्र से मिलती है। इससे संहार रुद्र की भी लिङ्ग में पूजा होती है। तथा जिसमें सब जगत् अन्त में लय को प्राप्त होता है उस अर्थात् जगत्

इत्युपसंहृतं भगवता। इह हि मद्याजी भवेति विधिः भवेत्यस्य मद्भक्त इत्यत्र मद्याजीत्यत्र चानुषङ्गात् उत्तरार्धं चाधिकारिसमर्पकम्। एवं च मत्प्राप्तिकामस्त्वं मद्याजी भवेति फलितं वाक्यम्। इतिकर्तव्यतांशश्च "पत्रं पुष्पमि"त्यादिना प्रतिपाद्यते, यजेतेत्यादौ "समिधो यजती"त्यादिवत्। इतिकर्त्तव्यता च पत्रपुष्पफलजलादिदानरूपा। पत्रं च तुलसीबिल्वादीनां पुष्पं कमलादीनां जलं गङ्गादीनाम्, एवमन्यदपि पूजासाधनं बोध्यमुपलक्षणत्वादस्य। एवं च पत्रपुष्पादिद्रव्यसाधनायाः प्रतिमापूजाया मत्प्राप्तिरूपा मुक्तिः फलमिति वदता भगवता तत्प्रसादैकफललभ्याया मुक्तेस्तत्प्रतिमापूजनफलत्वं बोधयता यत्प्रतिमेयप्रभावलभ्यं यत् तत् तत्प्रतिमापूजनफलमिति सामान्यमुखी व्याप्तिः स्पष्टमेव वर्णिता। गुरुराजप्रतिमापूजनन्यायसाम्यादिति ध्येयम्। विश्वनाथाद्याख्यान्यसंख्यानि शिवलिङ्गानि त्वादिज्योतिर्लिङ्गप्रादुर्भावप्रवर्तितसम्प्रदायानुसारीणि प्रतिमा एव परब्रह्मणः पाणिचरणादिरहितैस्तैरेव तस्य प्रतिमेयत्वात् परमशिवप्रादुर्भावस्यादिज्योतिर्लिङ्गाधिष्ठानत्वाच्च। तानि परमशिवस्यापि प्रतिमाः तत्सारूप्याच्च भगवतः संहाररुद्रस्यापि तानि प्रतिमा इति तत्वम्। लिङ्गशब्दस्य च लयं गच्छत्यस्मिन्विश्वमिति व्युत्पत्त्या सर्वजगदुपादानमर्थः। आदिज्योतिर्लिङ्गं च तत् यत्र परमशिवः प्रादुर्भूतः। परमशिवस्तु सगुणं ब्रह्मैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेभ्योऽन्या तुरीया मूर्तिः परब्रह्मणः।

या कैवल्योपनिषदि—

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

श्वेताश्वतरोपनिषदि—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुध्या शुभया संयुन ॥

इत्याद्याभिः श्रुतिभिः प्रतिपाद्यते। तथा महारामायणे वसिष्ठोऽपि—

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्वनिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः॥ इति॥

भाषा

के उपादान कारण सर्वज्ञ को 'लिङ्ग' कहते हैं और आदि ज्योतिर्लिङ्ग तो वही है कि जिसमें परम शिव का प्रादुर्भाव हुआ। परम शिव भी परब्रह्म की, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर से अन्य सगुण ब्रह्म अर्थात् चौथी मूर्ति को कहते हैं जो कि वेद में कही हुई है। जैसे "उमासहायं" (पार्वती के सहित तीन नेत्र वाले, श्यामवर्ण के कण्ठ वाले प्रभु परमेश्वर के ध्यान से 'मुनि' अर्थात् ध्यान करने वाला पुरुष, सबके साक्षी, अज्ञान से परे, सब जगत् के मूल कारण को प्राप्त (अर्थात् संसार दुःख से मुक्त) होता है। इस कैवल्योपनिषद् के वाक्य में परमेश्वर शब्द से परम शिव को कहा है। ईश्वर शब्द का ब्रह्मा, विष्णु, शिव रूपी अर्थ पूर्व में कहा जा चुका है। और "ईश्वरः शर्व ईशानः" इस कोष में 'ईश्वर' शब्द शिव जी के नामों में कहा हुआ है। इससे स्पष्ट ही है कि इस श्रुति में परमेश्वर शब्द, परम शिव का बोधक है। तथा 'असाध्यः' (किसी के लिए योग असाध्य है और किसी

यां च भगवतीस्तुतौ आनन्दलहर्यां भगवत्पादाः—

घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमा कैरपि पदै-
विंशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
तथा ते सौन्दर्यं परमशिव दृङ्मात्रविषयः
कथङ्कारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे॥

इति श्लोके परमशिवशब्देन व्यपदिदिशुः परमशिवब्रह्मविष्णुमहेश्वराश्चत्वारोऽपि विग्रहा मीनाद्यवतारा इव 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायये'ति भगवद्वाक्योक्तन्यायान्मायिका एवेति तु न विस्मरणीयम् प्रपञ्चितं चैतल्लिङ्गपुराणे तथा हि—

अ०१७, सूत उवाच—एवं सङ्क्षेपतः प्रोक्तः सद्यादीनां समुद्भवः।
यः पठेच्छृणुयाद्वापि श्रावयेद्वा द्विजोत्तमान्॥
स याति ब्रह्मसायुज्यं प्रसादात्परमेष्ठिनः॥ १॥

ऋषय ऊचुः—कथं लिङ्गमभूल्लिङ्गे समभ्यर्च्यः स शङ्करः।
किं लिङ्गं कस्तथा लिङ्गी सूत वक्तुमिहार्हसि॥ २॥

भाषा

के लिये तत्वज्ञान, और उद्धार सबका होना चाहिये। इसलिये सर्वहितैषी परम शिव देव ने दोनों प्रकारों को कहा है)। इस वाक्य में बसिष्ठ महर्षि ने भी परम शिव को ज्ञान और योग का उपदेशक कहा है। ऐसे ही पूज्यपाद श्री स्वामी शङ्कराचार्य ने भी आनन्द लहरी नामक भगवती स्तोत्र में परम शिव की चर्चा की है कि "घृतक्षीरः" हे सकल निगमागमा गोचर गुणे! (सम्पूर्ण वेद से भी जिसके गुण सब नहीं कहे जा सकते ऐसी भगवती) जैसे घी और दूध, तथा मुनक्का और मधु की अन्योन्य मधुरिमा का विशेष अर्थात् घी की मधुरिमा की अपेक्षा दूध की और दूध की मधुरिमा की अपेक्षा घी की तथा मुनक्के की मधुरिमा की अपेक्षा मधु की और मधु की मधुरिमा की अपेक्षा मुनक्के की मधुरिमा का विशेष जिह्वा ही से ज्ञात होता है तथापि विशेष को विशेष रूप से कहना पड़े तो कोई कैसा भी व्याख्यान करने वाला हो तो उस विशेष को अपने जिह्वा से कदापि वर्णन नहीं कर सकता वैसे ही आपका सौन्दर्य परम शिव मात्र के नेत्र मात्र से ज्ञात हो सकता है अर्थात् परम शिव भी आपके सौन्दर्य का वर्णन नहीं कर सकते, तो ऐसी दशा में हम कैसे आपके सौन्दर्य को कह सकते हैं॥ इति॥

इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि *"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया"* (इस पूर्वोक्त गीतावाक्य के अनुसार मत्स्य आदि अवतारों के ऐसा परम शिव, ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये चार भी परब्रह्म के मायिक शरीर हैं)। ये पूर्वोक्त विषय लिङ्ग पुराण में विस्तार से कहे हुए हैं। इसलिए अब लिङ्ग पुराण के उस भाग को उद्धृत करता हूँ जिसमें कि उक्त विषय कहे हुए हैं।

"एवं संक्षेपतः" सूत (रोमहर्षण नामक पौराणिक) ने ऋषियों से कहा कि उक्त प्रकार से ब्रह्मा आदि का प्रादुर्भाव मैंने कहा। इसको जो पढ़ै वा सुनै या ब्राह्मणों को सुनावै वह परमेश्वर के अनुग्रह से परमेश्वर को पाता है॥ १॥

"ऋषि"—लिङ्ग कैसे हुआ? लिङ्ग में शङ्कर की पूजा कैसे होती है? लिङ्ग वाला कौन है?॥२॥

रोमहर्षण उवाच—एवं देवाश्च ऋषयः प्रणिपत्य पितामहम् ।
अपृच्छन्भगवल्लिङ्गं कथमासीदिति स्वयम् ॥ ३ ॥
लिङ्गे महेश्वरो रुद्रः समभ्यर्च्यः कथन्त्विति ।
किं लिङ्गं कस्तथा लिङ्गी सोऽप्याह च पितामहः ॥ ४ ॥

पितामह उवाच—प्रधानं लिङ्गमाख्यातं लिङ्गी च परमेश्वरः ।
रक्षार्थमम्बुधौ मह्यं विष्णोस्त्वासीत्सुरोत्तमाः ॥ ५ ॥
वैमानिके गते सर्गे जनलोकं महर्षिभिः ।
स्थितिकाले तदापूर्णे ततः प्रत्याहिते तथा ॥ ६ ॥
चतुर्युगसहस्रान्ते सत्यलोकं गते सुराः ।
विनाधिपत्यं समतां गतेऽन्ते ब्रह्मणो मम ॥ ७ ॥
शुष्के च स्थावरे सर्वे त्वनावृष्ट्या च सर्वशः ।
पशवो मानुषा वृक्षाः पिशाचाः पिशिताशनाः ॥ ८ ॥
गन्धर्वाद्याः क्रमेणैव निर्दग्धा भानुभानुभिः ।
एकार्णवे महाघोरे तमोभूते समन्ततः ॥ ९ ॥
सुष्वापाम्भसि योगात्मा निर्मलो निरुपप्लवः ।
सहस्रशीर्षा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ १० ॥
सहस्रबाहुः सर्वज्ञः सर्वदेवभवोद्भवः ।
हिरण्यगर्भो रजसा तमसा शङ्करः स्वयम् ॥ ११ ॥
सत्वेन सर्वगो विष्णुः सर्वात्मत्वे महेश्वरः ।
कालात्मा कालनाभस्तु शुक्लः कृष्णस्तु निर्गुणः ॥ १२ ॥
नारायणो महाबाहुः सर्वात्मा सदसन्मयः ।
तथाभूतमहं दृष्ट्वा शयानं पङ्कजेक्षणम् ॥ १३ ॥
मायया मोहितस्तस्य तमवोचममर्षितः ।
कस्त्वं वदेति हस्तेन समुत्थाप्य सनातनम् ॥ १४ ॥
तदा हस्तप्रहारेण तीव्रेण स दृढेन तु ।
प्रबुद्धोऽहीयशयनात् समासीनः क्षणं वशी ॥ १५ ॥

भाषा

"रोम०"—इन्हीं प्रश्नों को देवता और ऋषियों ने प्रणामपूर्वक पितामह (ब्रह्मा) से पूछा था, इसलिये मैं भी पितामह के कहे हुए उत्तरों को आपसे कहता हूँ॥ ३ ॥ ४ ॥

"पिता०"—हे देवगण ! प्रधान अर्थात् माया को लिङ्ग कहते हैं और लिङ्ग वाले परमेश्वर ही हैं तथा मेरी और विष्णु की रक्षा के लिये प्रलय समुद्र के मध्य में लिङ्ग का प्रादुर्भाव हुआ ॥ ५ ॥ अर्थात् घोर अन्धकार से आवृत केवल जल ही उस समय था, जिसमें शेष शय्या पर नारायण शयन कर रहे थे। मैंने उनकी माया से मोहित होकर हाथ के ठोकर से उनको उठाकर बैठा दिया और पूछा कि तुम कौन हो ? ॥ ६—१५ ॥

दद्दर्श निद्राविक्लिन्ननीरजामललोचनः ।
मामग्रे संस्थितं भासाऽध्यासितो भगवान्हरिः ॥ १६ ॥
आह चोत्थाय भगवान् हसन्मां मधुरं सकृत् ।
स्वागतं स्वागतं वत्स पितामह महाद्युते ॥ १७ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा स्मितपूर्वं सुरर्षभा ।
रजसा बद्धवैरश्च तमवोचं जनार्दनम् ॥ १८ ॥
भाषसे वत्स वत्सेति सर्गसंहारकारणम् ।
मामिहान्तः स्मितं कृत्वा गुरुः शिष्यमिवानघ ॥ १६ ॥
कर्तारं जगतां साक्षात् प्रकृतेश्च प्रवर्तकम् ।
सनातनमजं विष्णुं विरञ्चिं विश्वसंभवम् ॥ २० ॥
विश्वात्मानं विधातारं धातारं पङ्कजेक्षणम् ।
किमर्थं भाषसे मोहात् वक्तुमर्हसि सत्वरम् ॥ २१ ॥
सोऽपि मामाह जगतां कर्ताहमिति लोकप ।
भर्त्ता हर्त्ता भवानङ्गादवतीर्णो ममाव्ययात् ॥ २२ ॥
विस्मृतोऽसि जगन्नाथं नारायणमनामयम् ।
पुरुषं परमात्मानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ॥ २३ ॥
विष्णुमच्युतमीशानं विश्वस्य प्रभवोद्भवम् ।
तवापराधो नास्त्यत्र मम मायाकृतन्त्विदम् ॥ २४ ॥
शृणु सत्यं चतुर्वक्त्र ! सर्वदेवेश्वरो ह्यहम् ।
कर्त्ता नेता च हर्ता च न मयास्ति समो विभुः ॥ २५ ॥
अहमेव परं ब्रह्म परं तत्वं पितामह !
अहमेव परं ज्योतिः परमात्मा त्वहं विभुः ॥ २६ ॥
यद्यद्दृष्टं श्रुतं सर्वं जगत्यस्मिंश्चराचरम् ।
तत्तद्विद्धि चतुर्वक्त्र सर्वं मन्मयमित्यथ ॥ २७ ॥
मया सृष्टं पुरा व्यक्तं चतुर्विंशतिकं स्वयम् ।
नित्यान्ता ह्यणवो बद्धाः सृष्टाः क्रोधोद्भवादयः ॥ २८ ॥

भाषा

उन्होंने हँसकर मुझसे यह कहा कि हे वत्स ! पितामह ! तुम्हारा स्वागत है । मैंने कहा कि जगत् का कर्त्ता और संहर्ता मैं हूँ । सो मुझे जैसे गुरु शिष्य को कहता है वैसे तुम मुसकुराकर वत्स क्यों कहते हो ? इसका तुरत उत्तर दो ॥१६—२१॥

उन्होंने हँसकर मुझसे कहा कि सृष्टि, स्थिति संहार करने वाला मैं ही हूँ । तुम मेरे अङ्ग से उत्पन्न हुए हो किन्तु मुझको भूल गये परन्तु इसमें तुम्हारा कुछ अपराध नहीं है । यह मेरी माया का प्रभाव है ॥ २२—२४ ॥

प्रसादाद्धि भवानण्डान्यनेकानीह लीलया ।
सृष्ट्वा बुद्धिर्मया तस्यामहङ्कारस्त्रिधा ततः ॥ २९ ॥
तन्मात्रापञ्चकं तस्मान्मनः षष्ठेन्द्रियाणि च ।
आकाशादीनि भूतानि भौतिकानि च लीलया ॥ ३० ॥
इत्युक्तवति तस्मिंश्च मयि चापि वचस्तथा ।
आवयोश्चाभवद्युद्धं सुघोरं रोमहर्षणम् ॥ ३१ ॥
प्रलयार्णवमध्ये तु रजसा बद्धवैरयोः ।
एतस्मिन्नन्तरे लिङ्गमभवच्चावयोः पुरः ॥ ३२ ॥
विवादशमनार्थं हि प्रबोधार्थं च भास्करम् ।
ज्वालामालासहस्राढ्यं कालानलशतोपमम् ॥ ३३ ॥
क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
अनौपम्यमनिर्देश्यमव्यक्तं विश्वसंभवम् ॥ ३४ ॥
तस्य ज्वालासहस्रेण मोहितो भगवान्हरिः ।
मोहितं प्राह मामत्र परीक्षस्वाग्निसंभवम् ॥ ३५ ॥
अधो गमिष्याम्यनलस्तम्भस्यानुपमस्य च ।
भवानूर्द्धं प्रयत्नेन गन्तुमर्हति सत्वरम् ॥ ३६ ॥
एवं व्याहृत्य विश्वात्मा स्वरूपमकरोत्तदा ।
वाराहमहमप्याशु हंसत्वं प्राप्तवान् सुराः ॥ ३७ ॥
तदाप्रभृति मामाहुर्हंसहंसो विराडिति ।
हंसहंसेति यो ब्रूयान्मां हंसः स भविष्यति ॥ ३८ ॥
सुश्वेतो ह्यनलाक्षश्च विश्वतः पक्षसंयुतः ।
मनोऽनिलजवो भूत्वा गतोऽहं चोर्ध्वतः सुराः ॥ ३९ ॥
नारायणोऽपि विश्वात्मा नीलाञ्जनचयोपमम् ।
दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ॥ ४० ॥

भाषा

मेरा सत्य वाक्य सुनो । मैं ही परब्रह्म हूँ, और जो कुछ है सब मेरी सृष्टि है ॥ २५–३० ॥ और मैं (ब्रह्मा) ने भी उसके विरुद्ध अपने ही को परब्रह्म कहा । यहाँ तक कि मेरा और नारायण का प्रलयसमुद्र के मध्य में घोर युद्ध आरम्भ हुआ। इतने ही में झगड़ा शान्त करने और हम दोनों को समझाने के लिये हम दोनों के समक्ष अग्निमय स्तम्भ उसी समुद्र से निकल खड़ा हुआ जिसका तेज प्रलय काल के अग्नि से भी सहस्रगुण अधिक था और उसका आदि, मध्य तथा अन्त नहीं था । और वह एक देखने ही की वस्तु थी । उसका वर्णन मैं विशेष रूप से नहीं कर सकता ॥ ३१–३४॥ उसकी ज्वाला को देख हम दोनों मोहित हो गये और नारायण ने मुझसे कहा कि इस अग्नि की परीक्षा करिये कि कहाँ से कहाँ तक है । मैं नीचे जाता हूँ, आप ऊपर तुरत जाइये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

मेरुपर्वतवर्ष्माणं गौरतीक्ष्णाग्रदंष्ट्रिणम् ।
कालादित्यसमाभासं दीर्घघोणं महास्वनम् ॥ ४१ ॥
ह्रस्वपादं विचित्राङ्गं जैत्रं दृढमनौपमम् ।
वराहमसितं रूपमास्थाय गतवानधः ॥ ४२ ॥
एवं वर्षसहस्रं तु त्वरन् विष्णुरधो गतः ।
नापश्यदल्पमप्यस्य मूलं लिङ्गस्य शूकरः ॥ ४३ ॥
तावत्कालं गतो ह्यूर्ध्वमहमप्यरिमर्दनः ।
सत्वरं सर्वयत्नेन तस्यान्तं ज्ञातुमिच्छया ॥ ४४ ॥
श्रान्तो ह्यदृष्ट्वा तस्यान्तमहङ्कारादधोगतः ।
तथैव भगवान् विष्णुः श्रांतः संत्रस्तलोचनः ॥ ४५ ॥
सर्वदेवभवस्तूर्णमुत्थितः स महावपुः ।
समागतो मया सार्द्धं प्रणिपत्य महामनाः ॥ ४६ ॥
मायया मोहितः शंभोस्तस्थौ संविग्नमानसः ।
पृष्ठतः पार्श्वतश्चैव चाग्रतः परमेश्वरम् ॥ ४७ ॥
प्रणिपत्य मया सार्द्धं सस्मार किमिदन्विति ।
तदा समभवत्तत्र नादो वै शब्दलक्षणः ॥ ४८ ॥
ओमोमिति सुरश्रेष्ठाः सुव्यक्तः प्लुतलक्षणः ।
किमिदन्त्विवति संचिन्त्य मया तिष्ठन्महास्वनम् ॥ ४९ ॥
लिङ्गस्य दक्षिणे भागे तदापश्यत्सनातनम् ।
आद्यं वर्णमकारं तु उकारं चोत्तरे ततः ॥ ५० ॥
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्य चोमिति ।
सूर्यमण्डलवद्दृष्ट्वा वर्णमाद्यं तु दक्षिणे ॥ ५१ ॥

भाषा

ऐसा कहकर वराह रूप धारण कर नारायण ने समुद्र में प्रवेश किया । मैं भी हंस रूप धारण कर ऊपर को चला ॥ ३७—४२ ॥

एक सहस्र वर्ष तक नारायण को उस लिंग के मूल का कुछ भी पता न लगा और मुझको भी उतने वर्ष में उस लिंग के अन्त का पता न मिला । थककर नारायण नीचे से ऊपर आये और मैं ऊपर से नीचे आया । श्री शिव की माया से मोहित नारायण ने सब दिशा में परमेश्वर को प्रणाम कर मेरे साथ ध्यान करने लगे कि यह क्या है ? इतने ही में उस अग्निस्तम्भ से 'ॐ' 'ॐ' यह महा गम्भीर शब्द निकला और उस लिंग के दक्षिण भाग में "अ"कार उत्तर भाग में "उ" कार और मध्य भाग में "म" कार रूपधारी देखने में आया अर्थात् अकार का सूर्यमण्डल सा, उकार का अग्नि ऐसा, मकार का चन्द्रमण्डल के ऐसा स्वरूप प्रत्यक्ष हुआ और उन्हीं तीनों के ऊपर शुद्ध स्फटिक मणि के तुल्य प्रभु का दर्शन हुआ जिनको नाद और परब्रह्म कहते हैं, तथा जिनमें बाहर और भीतर

उत्तरे पावकप्रख्यमुकारं पुरुषर्षभ ।
शीतांशुमण्डलप्रख्यं मकारं मध्यमं तथा ॥ ५२ ॥
तस्योपरि तदापश्यच्छुद्धस्फटिकवत्प्रभुम् ।
तुरीयातीतममृतं निष्कलं निरुपप्लवम् ॥ ५३ ॥
निर्द्वन्दं केवलं शून्यं बाह्याभ्यन्तरवर्जितम् ।
स बाह्याभ्यन्तरं चैव स बाह्याभ्यन्तरस्थितम् ॥ ५४ ॥
आदिमध्यान्तरहितमानन्दस्यापि कारणम् ।
मात्रास्तिस्रस्त्वर्धमात्रं नादाख्यं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ ५५ ॥
ऋग्यजुःसामवेदा वै मात्रारूपेण माधवः ।
वेदशब्देभ्य एवेशं विश्वात्मानमचिन्तयत् ॥ ५६ ॥
तदाभवदृषिर्वेद ऋषिः सारतमं शुभम् ।
तेनैव ऋषिणा विष्णुर्ज्ञातवान् परमेश्वरम् ॥ ५७ ॥
देव उवाच—चिन्तया रहितो रुद्रो वाचो यन्मनसा सह ।
अप्राप्य तं निवर्तन्ते वाच्यस्त्वेकाक्षरेण सः ॥ ५८ ॥
एकाक्षरेण तद्वाच्यमृतं परमकारणम् ।
सत्यमानन्दममृतं परंब्रह्म परात्परम् ॥ ५९ ॥
ततो विज्ञाय देवेशं यथावच्छ्रुतिसंभवैः ।
मंत्रैर्महेश्वरं देवं तुष्टाव सुमहोदयम् ॥ ७१ ॥
आवयोः स्तुतिसन्तुष्टो लिङ्गो तस्मिन्निरञ्जनः ।
दिव्ये शब्दमयं रूपमास्थाय प्रहसन्स्थितः ॥ ७२ ॥
अध्याय० १९—यथोवाच महादेवः प्रीतोऽहं सुरसत्तमौ ।
पश्यतां मां महादेवं भयं सर्वं विमुच्यताम् ॥ १ ॥
युवां प्रसूतौ गात्राभ्यां मम पूर्वं महाबलौ ।
अयं मे दक्षिणे पार्श्वे ब्रह्मालोकपितामहः ॥ २ ॥

भाषा

है भी तथा नहीं भी है । ऐसे ही आदि, मध्य, अन्त जिनमें नहीं है ॥ ४३—५५ ॥ नारायण ने वेदशब्दों के द्वारा उनको परमेश्वर निश्चय कर यह कहा कि ॥ ५६॥५७ ॥ यह वह है कि जो मन और वचन के दौड़ से बाह्य सच्चिदानन्द रूपी अर्थात् परब्रह्म हैं ॥५८॥५९॥

तदनन्तर हम दोनों ने वेद मंत्रों से उनकी स्तुति किया और वह भी संतुष्ट हो उसी लिङ्ग पर हँसते हुए स्थिति थे ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ और बोले कि हे दोनों देव ! मैं प्रसन्न हूँ, मुझ महादेव को देखो और सब भयों को छोड़ो । पूर्व में तुम दोनों मेरे ही अङ्ग से अर्थात् मेरे दक्षिण पार्श्व से तुम (ब्रह्मा) और वाम पार्श्व से तुम (विष्णु) उत्पन्न हुए । मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, जो वर माँगो वह दूँ

वामे पार्श्वे च मे विष्णुर्विश्वात्मा हृदयोद्भवः ।
प्रीतोऽहं युवयोः सम्यग्वरं दद्मि यथेप्सितम् ॥ ३ ॥
एवमुक्त्वा तु तं विष्णुं कराभ्यां परमेश्वरः ।
पस्पर्श सुभगाभ्यान्तु कृपया तु कृपानिधिः ॥ ४ ॥
ततः प्रहृष्टमनसा प्रणिपत्य महेश्वरम् ।
प्राह नारायणो नाथं लिङ्गस्थं लिङ्गवर्जितम् ॥ ५ ॥
यदि प्रीतिः समुत्पन्ना यदि देयो वरश्च नौ ।
भक्तिर्भवतु नौ नित्यं त्वयि चाव्यभिचारिणी ॥ ६ ॥
देवः प्रदत्तवान्देवाः स्वात्मन्यव्यभिचारिणीम् ।
ब्रह्मणे विष्णवे चैव श्रद्धां शीतांशुभूषणः ॥ ७ ॥
जानुभ्यामवनीं गत्वा पुनर्नारायणः स्वयम् ।
प्रणिपत्य च विश्वेशं प्राह मन्दतरं वशी ॥ ८ ॥
आवयोर्देवदेवेश ! विवादमतिशोभनम् ।
इहागतो भवान्यस्माद्विवादशमनाय वै ॥ ९ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा पुनः प्राह हरो हरिम् ।
प्रणिपत्य स्थितं मूर्ध्नि कृताञ्जलिपुरः स्मयन् ॥ १० ॥
प्रलयस्थितिसर्गाणां कर्ता त्वं धरणीपते ।
वत्स वत्स हरे विष्णो पालयैतच्चराचरम् ॥ ११ ॥
त्रिधा भिन्नो ह्ययं विष्णो ब्रह्मविष्णुभवाख्यया ।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलः परमेश्वरः ॥ १२ ॥
संमोहं त्यज्य भो विष्णो पालयैनं पितामहम् ।
पाद्मे भविष्यति सुतः कल्पे तव पितामहः ॥ १३ ॥

भाषा

॥ २ ॥ ३ ॥ ऐसा कह कृपानिधि परमेश्वर ने अपने हस्तकमलों से विष्णु को स्पर्श किया । तदनन्तर विष्णु ने लिंग में स्थित और लिंग से वर्जित परमेश्वर को बड़े हर्ष से प्रणाम कर कहा कि ॥ ४ ॥ ५ ॥ यदि आप प्रसन्न हुए और हम दोनों को वर दिया चाहते हैं तो वर यही दीजिए कि आप ही में हम दोनों की अटल भक्ति हो और चन्द्रभूषण परमेश्वर ने भी वही वर दिया ॥ ६ ॥ ७ ॥ तदनन्तर नारायण ने जानु के बल पृथ्वी में गिर धीरे से विश्वेश्वर को यह सुनाया कि हम दोनों का विवाद बहुत ही अच्छा हुआ कि उसके शान्त करने के लिये आपका यहाँ प्रादुर्भाव हुआ । इस वचन को सुन बद्धाञ्जलि होकर सामने खड़े हुए विष्णु से श्री महादेव ने मुस्कराकर यह कहा कि ॥ ८-१० ॥ वत्स वत्स विष्णो ! तुम सृष्टि स्थिति और प्रलय के कर्ता हो, सब जगत् का पालन करो । मैं (परमेश्वर) सृष्टि आदि कार्यों के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, शिव इन तीन नामों से प्रसिद्ध हूँ । तुम अपने सम्मोह (भूल) को छोड़ इस पितामह का पालन करो और पाद्मकल्प में यह पितामह तुम्हारे पुत्र होंगे ।

तदा द्रक्ष्यसि माञ्चैव सोऽपि द्रक्ष्यति पद्मजः ।
एवमुक्त्वा स भगवाँस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १४ ॥
तदाप्रभृति लोकेषु लिङ्गार्चा सुप्रतिष्ठिता ।
लिङ्गवेदी महादेवी लिङ्गं साक्षान्महेश्वरः ॥ १५ ॥
लयनाल्लिङ्गमित्युक्तं तत्रैव निखिलं सुराः ।
यस्तु लैङ्गं पठेन्नित्यमाख्यानं लिङ्गसन्निधौ ॥
स याति शिवतां विप्रो नात्र कार्या विचारणा ॥ १६ ॥ इति

तस्मात्प्रतिमायां देवपूजनं लोकन्यायसिद्धमिति सिद्धम् । एवं च नात्र नास्तिका अपि विप्रतिपत्तुं क्षमन्ते । तथा हि—यः कश्चन नास्तिको देवानां विग्रहवत्तायां विप्रतिपद्येत तं प्रति प्रथमं वेददुर्गसज्जने प्रतिपादितैः प्रमाणैस्तर्कैश्च वेदस्य प्रामाण्यं, तदनु परिखापरिष्कारे दर्शितैस्तैः स्मृतीतिहासपुराणादीनामपि प्रामाण्यमुपपाद्यास्मिन्प्रकरणे दर्शितैस्तैर्देवानां विग्रहादिमत्ता साधनीया । देवतानास्तिकं प्रति तु सन्निहितपूर्वं देवताविग्रहसाधनमेव शिक्षाक्षममिति । देवताविग्रहाद्याक्षेपद्वारेणापि न प्रतिमापूजां प्रति कस्यचिदाक्षेपसूक्ष्मेक्षिकासन्धुक्षितरूक्षकटाक्षप्रक्षेपस्य कथमप्यवकाशः । एवं गतेऽपि विद्वेषमात्रवशान्निर्युक्तिकं विप्रतिपद्यमानस्तून्मत्त

भाषा

और तब तुम दोनों पुनः भी हमारे इस रूप का दर्शन पाओगे । ऐसा कह वह भगवान् उसी स्थान पर गुप्त हो गये ॥ ११—१४ ॥

तब से लोक में लिङ्गपूजा प्रतिष्ठित हुई और जिस वेदी पर लिङ्ग का स्थापन होता है वह "महादेवी" (पार्वती अर्थात् माया) है । तथा लिङ्ग साक्षात् परमेश्वर है । हे देवगण ! लिङ्ग (परमेश्वर) में संसार का लय होता है, इसी से उसको लिङ्ग कहते हैं । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि जो पुरुष शिवलिङ्ग के समीप प्रतिदिन इस लिङ्गोपाख्यान का पाठ करता है वह अन्तकाल में शिवलोक जाता है इति ॥ १५ ॥ १६ ॥

यहाँ तक यह सिद्ध हो गया कि प्रतिमा में देवपूजन करना लोक से प्रसिद्ध तथा युक्तियों से सिद्ध है । और अब इस विषय में वाद करने की रीति संक्षेप से दिखलाई जाती है कि जो कोई नास्तिक देवता के शरीरधारी होने में विवाद करना चाहै उसके प्रति प्रथम "वेददुर्गसज्जन" में कहे हुए लौकिक प्रमाणों और तर्कों से वेद का प्रामाण्य सिद्ध करना चाहिए । तदनन्तर 'परिखा परिष्कार' में दिखलाई हुई युक्तियों से धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणादि का प्रामाण्य सिद्ध करना चाहिए । और जो कोई देवतामात्र का नास्तिक अर्थात् पूर्वोक्त वेदादि को प्रमाण मानकर केवल देवता के शरीरधारी होने में विवाद करता है उसके लिये देवविग्रह और देवप्रतिमा के इन दो प्रकरणों में कहे हुए प्रमाण और तर्क से शिक्षा देनी चाहिए । इस रीति से प्रतिमापूजन में किसी नास्तिक को भी आक्षेप तथा कटाक्ष करने का अवकाश नहीं है । और पूर्वोक्त प्रमाणों तथा तर्कों को सुन तथा समझकर उनका खण्डन किये बिना जो कोई बकवाद करै उसको उन्मत्त समझ उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए । उक्त रीति से जब प्रतिमापूजन से देवता की प्रसन्नता और उनसे इष्ट फल का लाभ आदि विषय लोक

इवोपेक्षणीय एव। लोकसिद्धेऽपि, प्रतिमापूजनादेवानुग्रहस्ततश्चेष्टफललाभ इत्यादावर्थजाते "प्रतिमापूजने का श्रुतिस्मृतिर्वा प्रमाणम्" 'इयमियं श्रुतिः स्मृतिश्च प्रमाणमि'त्यादीनि देवतानास्तिकतदास्तिकयोर्मिथः प्रश्नप्रतिवचनानि त्वकाण्डताण्डवायमानानि प्रतिमापूजनतत्त्वपरिचयवञ्चितचुम्बकजनचञ्चाचातुरीप्रपञ्चमात्रप्रचीयमानानि सर्वथैवोन्मत्तप्रलापकल्पानि न कथञ्चिदपि विद्वद्भिरादरणीयानि, न हि वह्नेर्दाहे पाकाद्भोज्यसिद्धौ भोजनात्क्षुदुपशमे च सर्वलोकविदिते श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणजिज्ञासा श्रुतिस्मृत्याद्यदृष्टार्थकप्रमाणान्वेषणतदुपन्यासादयः प्रेक्षावतां क्वचिदीक्षन्त इति दिक्।

अथ शब्दखण्डः

यदि तु देवविषयकद्वेषविशेषोन्मेषमुषितवैदुष्यः केवलदुराग्रहमहाग्रहग्रस्तहृदयः कश्चिद्देवतानास्तिकः प्रकृते विषये श्रुत्यादिकमपि प्रमाणं शुश्रूषमाणो लौकिकेन केनचिद्धेतुना नोपेक्षितुं युज्येत तदा श्रुत्यादिकमपि "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेनैवमुदाहरणीयम्। तथा हि—

१ श० कां० १० प्रपाठ० ३ ब्रा० ६

तमेतमग्निरित्यध्वर्युं च उपासते यजुरित्येष हीद ँ सर्वं युनक्ति सामेति छन्दोगा एतस्मिन् हीद ँ सर्वं ँ समसुक्थमिति बह्वृचा एष हीद ँ सर्वमुत्थापयति यातुरिति यातुविदः एतेन हीद ँ सर्वं यतं विषमिति सर्पाः सर्प इति सर्पविदः ऊर्गिति देवा रयिरिति

भाषा

सिद्ध हैं तब प्रतिमापूजन में कौन श्रुति प्रमाण है ? और कौन स्मृति प्रमाण है ? इत्यादि देवता नास्तिकों के प्रश्न और "अमुक श्रुति प्रमाण है" "अमुक स्मृति प्रमाण है" इत्यादि सनातनधर्मियों के उत्तर व्यर्थ और अकाण्डताण्डव तथा प्रतिमापूजन के तत्व को न जानने ही के फल हैं। क्योंकि "अग्नि से दाह होता है, पाक से भोजन सिद्ध होता है और भोजन से भूख जाती है" इत्यादि लोकसिद्ध विषयों में श्रुति और स्मृति रूपी प्रमाण का प्रश्न करना और उसका उत्तर देना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं है।

शब्दखण्ड

(इस प्रकरण में प्रतिमापूजन पर संक्षेप से २३३ प्रमाण दिखलाये गये हैं) यदि देवताओं से द्वेषवश, अपनी बुद्धि को पीठ पीछे रख, केवल दुराग्रह के वशीभूत हो, कोई देवतानास्तिक, श्रुति-स्मृति आदि प्रमाणों को भी सुना चाहे और किसी लौकिक कारण से उसकी उपेक्षा न हो सके तो 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से श्रुति आदिक प्रमाणों का भी इस रीति से उपन्यास करना चाहिए।

१—"तमेत०" पूर्वोक्त इस अग्निपुरुष की अध्वर्यु (यजुर्वेदी) "यह अग्नि है" "यह यजु है" ऐसी, छन्दोग (साम वेद) "यह साम है" ऐसी, बह्वृच (ऋग्वेदी) यह उक्थ (साम की योनि विशेष ऋचा) ऐसी, यातुविद् (कालज्ञानी) "यातु (काल) है ऐसी, सर्प 'यह विष है' ऐसी, देवता यह ऊर्क् (सोमलता का रस) है ऐसी, मनुष्य यह धन है ऐसी, असुर 'यह माया है' ऐसी, पितर 'यह स्वधा है' ऐसी, देवजन के ज्ञानी 'यह देव जन है' ऐसी, गन्धर्व 'यह रूप है' ऐसी, और अप्सरा 'यह गन्ध है' ऐसी, उपासना करते हैं। जो २ जिस २ दृष्टि से उसकी उपासना

मनुष्याः मायेत्यसुराः स्वधेति पितरो देवजन इति देवजनविदो रूपमिति गन्धर्वा गन्ध इत्यप्सरसस्तं यथा यथोपासते तदेव भवति तद्धैनान्भूत्वाऽवति तस्मादेतमेवंवित्सर्वैरेवैतै-रुपासीत सर्वं ँ हैतद्भवति सर्वं ँ हैनमेतद्भूत्वावति इति ॥२०॥

अत्र हि तमेतमिति तच्छब्देन 'योऽयं दक्षिणोऽक्षन् पुरुष' इति प्रकृतोऽक्षिपुरुषः परामृश्यते। तत्र 'चाग्निरिती' त्यादीति पराग्न्यादिशब्दोपस्थाप्यानामग्न्यादीनां दृष्टेरध्यारोपः। उपसंहारे च 'तस्मादेनमेवंवित्सर्वैरेवैतैरुपासीत' इति विधीयते। तत्र च तस्मादिति तच्छब्दानुरोधाद्यस्मादिति लभ्यते, स इति च भवतीत्यनुरोधादुपासका इति च 'उपासते' 'एनानि' त्यनयोरनुरोधात्। एवं च 'यस्मात् तं यथा यथोपासते उपासकाः स तदेव भवति तत् ह भूत्वा एतान् अवति तस्मादि'ति योजना। इदं च वाक्यं यच्छब्दघटितत्वादनुवादकम्। अत्रापि च तमित्यक्षिपुरुषनिर्देशः। यथा यथेति वीप्सया च लोकन्यायानुवादिन्या स्वस्वाभिप्रेततत्तत्फलानुकूलानां सर्वेषामेवारोप्याणां संग्रहः। थालः प्रकारवचित्वात् आरोप्याणां च प्रकारत्वाविशेषात्, न तु प्रकृताग्न्यादय एवात्र संग्राह्याः, हेत्यव्ययेन लोकप्रसिद्धिलाभात्। तथा च यतः अक्षिपुरुषे यस्य यस्य दृष्टिरध्यारोप्यते तत्तद्रूप एव सोऽक्षिपुरुषो भवति। भूत्वा च तेन तेन रूपेण स्वोपासकांस्तेन तेन रूपेण प्रदेयस्य फलस्य प्रदानेन भवति तस्मादित्यर्थः न चास्य वाक्यस्यार्थवादतया न स्वार्थे तात्पर्यमिति वाच्यम्। पूर्वोपन्यस्तदेवताधिकरणन्यायेनार्थवादत्वेऽपि स्वार्थे तात्पर्यात् न ह्यत्र लोकविरोधो येन गुणवादता कल्प्येत। एवं चानेन वाक्येन "प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा" इत्युदपनोक्तमेकलव्यकथा च भारतीयेति द्वयमपि पूर्वोपन्यस्तं स्वरसत एव निरवग्रहमनुगृह्यते। यदा च यजुरादीनामचेतनानामप्यध्यारोपिता दृष्टिः फलप्रसोत्रीत्वेनानेन वाक्येनानूद्यते। तदा भगवदादीनां प्रतिमादिष्वारोपिता दृष्टिः फलानि प्रसूत इत्यत्र कैमुत्यन्यायादेव को नामसंशयलेशस्याप्यवकाशः। अत्र हि गुरुराजादीनामिव भगवदादीनामुपास्याना-

भाषा

करते हैं वह उनके लिए उसी रूप को धारण करता है और प्रसिद्ध है कि वह उसी रूप से उनकी रक्षा करता है। इसलिये उक्त रीति को समझने वाला इनमें से चाहे जिस प्रकार की उपासना करै क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि यह सब रूपों को धारण करता है और इन सब उपासकों की रक्षा करता है॥ इति॥

जब कि यहाँ अक्षिपुरुष (आँख की काली पुतरी में पुरुष का प्रतिबिम्ब) में यजु आदि अचेतन पदार्थों की दृष्टि से भी की हुई उपासनाएँ और उनके फल कहे हैं तथा यह भी कहा है कि वह अक्षिपुरुष यजु आदि रूप को धारण करता है तो ऐसी दशा में चित्रफलक में राजा गुरु आदि की नाईं प्रतिमा में परमेश्वर आदि चेतनों की उपासना और उससे फल लाभ में संशय ही क्यों हो सकता है। क्योंकि यहाँ परमेश्वर आदि चेतनों का पूर्वोक्त प्रमाण से सिद्ध अहंकार और ममकार भी प्रतिमा में हो सकते हैं जो कि प्रतिमा की उपासना से फल लाभ होने में मूल सहकारी हैं, और इस वेदवाक्य में दो स्थानों पर 'ह' २ (प्रसिद्ध) कहा हुआ है। जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रतिमा में देवताओं की उपासना सदा से लोक प्रसिद्ध है।

मुक्तरीत्या सार्वलौकिकावहङ्कारममकारावपि फलप्रसोतारौ सहकारिणौ प्रतिपादितौ जागृत एवेति महानेव विशेषः ।

२—यजुर्वेदीयमैत्र्युपनिषदि—

अग्निर्वायुरादित्यः कालः प्राणोऽन्नं ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्येकेऽन्यमभिध्यायन्ति, एकेऽन्यं श्रेयः कतमो, यः सोऽस्माकं ब्रूहि इति, तान्होवाचेति, ब्रह्मणो वा एता अग्र्यास्तनवः परस्यामृतस्याशरीरस्य तस्यैव लोके प्रतिमा उदेति, इह यो यस्यानुषक्त इति एवं हि आब्रह्म खल्विदं वाव सर्वं या वा अस्याग्र्यास्तनवस्ता अभिध्यायेत, अर्चयेत् ।। इति ।।

३—यजुर्वेदीयमैत्रायणीयशाखोपनिषदि—

पाषाणलोहमणिमृन्मयविग्रहेषु
पूजा विभोः पुनर्भवकरी मुमुक्षोः ।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्
बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ।।

अत्र हि यतेः स्वहृदये विभोरर्चनं नियम्यते प्रतिषिध्यते च यतेरेव पाषाणादिप्रतिमासु तत् । एवं च 'हृदि लिङ्गं तु योगिना' मिति मात्स्यवाक्यस्य 'शैली दारुमयी' त्यादि पूर्वोक्तभगवद्वाक्यस्य चानया श्रुत्या सह स्फुरतो मूलमूलिभावस्यानुसारादत्र श्रुतौ सप्तमी मनोमयी प्रतिमा यतिकर्तृकार्चनार्थं 'स्वहृदये' तिशब्देन प्रतिपदोक्तमेवार्चनालम्बनतया नियम्यते । 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मन' इत्यभिधानेन हृदयशब्दस्य मनःपर्यायत्वात्

भाषा

२—"*अग्निर्वायु०*" कोई लोग किसी प्रतिमा में "यह अग्नि है" ऐसी, कोई "यह वायु है" ऐसी, कोई 'यह सूर्य है' ऐसी, कोई 'यह काल है' ऐसी, कोई "यह प्राण है" ऐसी, कोई 'यह अन्न है' ऐसी, कोई 'यह ब्रह्मा है' ऐसी, कोई 'यह रुद्र है' ऐसी, कोई 'यह विष्णु है' ऐसी उपासना करते हैं, और कोई दूसरों ही की उपासना करते हैं । इनमें से कौन सी उपासना अच्छी है ? यह मुझसे कहिए । उनसे कहा कि ये अग्नि आदि, अशरीर और अमृत परब्रह्म ही के उत्तम शरीर हैं क्योंकि परब्रह्म ही की प्रतिमा लोक में प्रादुर्भूत होती है, और जिसकी भक्ति जिसमें होती है वह उसकी उपासना करता है और ऐसे ही ये सब अग्नि आदि परब्रह्म ही हैं । इनका ध्यान करै और इनकी पूजा करै ।। इति ।।

३—"*पाषाणलोह०*" पाषाण, लोह, मणि और मृत्तिका के विग्रहों (प्रतिमा) में परमेश्वर की पूजा, विरक्त पुरुष के लिए पुनर्जन्मकारी है । इसलिए संन्यासी पुरुष मोक्ष के लिए, बाह्य (प्रतिमा) पूजा को त्याग दे और अपने मन ही में पूजा करै इति । इस वेदवाक्य से यह नियम किया जाता है कि "संन्यासी अपने मन ही में परमेश्वर का पूजन करै" और उसी के साथ संन्यासी के लिए पाषाणादि प्रतिमा में परमेश्वर पूजन का निषेध भी किया जाता है । इससे यह स्पष्ट ही प्रगट होता है कि "*हृदि लिङ्गं तु योगिनाम्*", "*शैली दारुमयी*" इत्यादि युक्तिखण्ड में उद्धृत पुराणवाक्यों का यही वेदवाक्य मूल है और इसमें मानसी अर्थात् पूर्वोक्त सातवीं प्रतिमा, मुक्तकण्ठ होकर संन्यासियों

एवं पूर्वेषां त्रयाणामाश्रमिणां पाषाणादिमयीषु सप्तसु प्रतिमासु विभोः पूजा कण्ठत एवानेन श्रुतिवाक्येनाभ्यनुज्ञायते। बाह्यार्चनमितिशब्दस्वारस्यानुरोधेन पाषाणादीनामुपलक्षणमात्रतया निश्चये बाधकाभावात्।

(४) कूर्ममुपदधाति इत्यादि ब्राह्मणवाक्यं कच्छपावतारे प्रमाणतया दर्शितपूर्वम्, इदं हि कूर्मशिलाख्याया इष्टकाया उपधानस्य विधायकम् सा च कच्छपावतारस्य भगवतः प्रतिमा "यद्देव कूर्ममुपदधाति" इत्युत्तरवाक्यबलात्।

(५) अथ पुष्करपर्णमुपदधाति योनिर्वै पुष्करपर्णं योनिमेवैतद्दधाति आपो वै पुष्करं तासामिदं पर्णं यथा वा इदं पुष्करमप्स्वध्याहितमेवमियमप्स्वध्याहिता सेयं योनिरग्नेरिय ँ ह्यग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते इमामेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हिता ँ सत्यादुपदधाति इमां तत्सत्ये प्रतिमापयति तस्मादिय ँ सत्ये प्रतिष्ठिता तस्मादियमेव सत्यमिय ँ ह्येषां लोकानामद्धातमाम् (श० का० ३ प्र० ४ ब्रा० ८) इति।

(६) अथ रुक्ममुपदधाति असौ वा आदित्य एष रुक्म एष हीमाः प्रजा अतिरोचते रोचो हैत ँ रुक्म इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः। अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति, स हिरण्मयो भवति, परिमण्डल एकविंशतिनिर्बाधस्तस्योक्तो बन्धुरधस्तन्निर्बाधमुपदधाति, रश्मयो वा एतस्य निर्बाधा अधस्तादुवा एतस्य रश्मयः ॥१०॥

(७) तं पुष्करपर्ण उपदधाति योनिर्वै पुष्करपर्णं योनावेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति ॥११॥

(८) यदेह पुष्करपर्ण उपदधाति प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णमियं वै पुष्करपर्णमयमुवै प्रतिष्ठा यो वा अस्यामप्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्नप्रतिष्ठित एव स रश्मिभिर्वा एषोऽस्यां प्रतिष्ठितेऽस्यामेवैनमेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ १२ ॥

भाषा

के लिऐ उपासना का आलम्बन नियम से कहा हुआ है और इस नियम से यह वाक्य पाषाणादि प्रतिमाओं का नामोच्चारण पूर्वक, संन्यासियों से अन्य आश्रमी अर्थात् गृहस्थादि के लिए पाषाणादि प्रतिमा में परमेश्वर की पूजा करने की प्रतिपदोक्त अनुज्ञा देता है। यद्यपि इसमें साक्षात् चार ही प्रतिमा कही हैं तथापि "बाह्य पूजा को संन्यासी त्याग दे" इस सामान्य कथन से यह स्पष्ट है कि यहाँ पाषाणादि प्रतिमा का कथन, पूर्वोक्त पुराणोक्त काष्ठादि अन्य चार प्रतिमाओं का उपलक्षण है।

(४) "कूर्ममुप०" (श० ब्रा०) यह वाक्य वराहावतार की प्रतिमा (कूर्मशिला नामक ईंट) के स्थापन का विधान करता है जो कि पूर्व ही कच्छपावतार में प्रमाण दिया गया है।

(५) "अथ पुष्कर०" (श० ब्रा०) पृथ्वी की प्रतिमा कमलपत्र रूपी स्थापन करै।

(६) "अथ रुक्म०" (श० ब्रा०) तदनन्तर सूर्य की सुवर्णमयी प्रतिमा स्थापन करै।

(७) "तं पुष्कर०" (श० ब्रा०) पुनः सूर्य की प्रतिमा को पृथ्वी की प्रतिमा पर स्थापन करै।

(८) "यदेह पुष्कर०" (श० ब्रा०) पृथ्वी पर सूर्य अपनी दीप्ति से प्रतिष्ठित है, इसी से पृथ्वी की प्रतिमा पर सूर्य की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करता है।

(९) अथ पुरुषमुपदधाति। स प्रजापतिः सोऽग्निः स यजमानः हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निः अमृत ७ं हिरण्यं अमृतमग्निः पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः ॥ १५ ॥

(१०) तं रुक्म उपदधाति। असौ वा आदित्य एष रुक्मो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः स एष तमेवैतदुपदधाति ॥ १७ ॥

(११) अथ साम गायति। एतद्वै देवा एतं पुरुषमुपधाय तमेतादृशमेवापश्यन् यथैतत् शुष्कं फलम् ॥ २२ ॥

(१२) तेऽब्रुवन् उपतज्जानीत यथाऽस्मिन् पुरुषे वीर्यं दधामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथाऽस्मिन्पुरुषे वीर्यं दधामीति ॥ २३ ॥

(१३) ते चेतयमाना एतत् सामापश्यँस्तदगायँस्तस्मिन्वीर्यमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति, पुरुषे गायति पुरुषे तद्वीर्यं दधाति चित्रे गायति सर्वाणि हि चित्राण्यग्निस्तमुपधाय न परीयान्नेन माऽयमग्निर्हिं न सदिति ॥ २४ ॥

(१४) अथ सर्पनामैरुपतिष्ठते। इमे वै लोकाः सर्पास्ते ह अनेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च (श० ब्रा० ७।४।१।२२।२४) अत्र पूर्वं कमलपत्रमय्याः पृथिवीप्रतिमायाः स्थापनं विधीयते तस्या उपरि हिरण्मय्याः सकिरणप्रतिकृतेः सूर्यप्रतिमायाः तस्या अप्युपरि हिरण्मय्याः सूर्यमण्डलमध्यवर्तिमहापुरुषमूर्तिप्रतिमायाः ततश्च सामगानं कृत्वा पुरुषप्रतिमायां प्राणप्रतिष्ठा अनन्तरं च सर्पमन्त्रैरुपस्थानं ते च ऋग्रूपा यजुःपठिताः। यथा—

(१५) नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
येऽन्तरिक्षे दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ (य० १३ मं० ६)

भाषा

(९) *"अथ पुरुष०"* (श० ब्रा०) सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष की सुवर्णमयी प्रतिमा स्थापन करै।

(१०) *"तं रुक्म उपदधाति०"* (श०ब्रा०) पुनः उस प्रतिमा को सूर्य की प्रतिमा पर स्थापन करै।

(११) *"अथ साम०"* (श० ब्रा०) तदनन्तर साम मन्त्र का गान करै।

(१२) *"तेऽब्रुवन्०"* (श० ब्रा०) देवता कहते हैं कि इस पुरुष में चैतन्य ले आवै सामगान करै।

(१३) *"ते चेत०"* (श० ब्रा०) और देवता ऐसा ही साम गान से चैतन्य ले आते हैं।

(१४) *"अथ सर्प०"* (श० ब्रा०) तदनन्तर 'सर्प' शब्द वाले मन्त्रों से पुरुष प्रतिमा की स्तुति करै। वे सर्प नाम वाले मन्त्र ये हैं—

"उपतिष्ठते यजमानो नमोऽस्त्विति" (का० ३१)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि यजमान, पुरुष-प्रतिमा को देखता हुआ इतनी ऋचाओं को पढ़े (जो नीचे लिखी जाती हैं)।

(१५) *"नमोऽस्तु०"* (मं०) जो सर्प (लोक) पृथ्वी में हैं उनको नमस्कार, जो सर्प आकाश में हैं उनको नमस्कार और जो स्वर्ग में हैं उन सब सर्पों को नमस्कार।

म० ध०—उपतिष्ठते यजमानो नमोऽस्त्विवति। यजमानो हिरण्यपुरुषं पश्यन्नृचकयं पठेत्। सर्पदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः। ये के च ये केचित् सर्पन्ति सर्पाः लोकाः पृथिवीमनुगताः तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु नमस्कारो भवतु। अन्तरिक्षे लोके ये वर्तमानाः सर्पाः ये च दिवि द्युलोके वर्तमानाः सर्पास्तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोस्तु "इमे वै लोकाः सर्पाः" (७।४।१।२५) इति श्रुतेः सर्पशब्देन लोका उच्यन्ते ॥ ६ ॥

(१६) या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीरनु।
ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु ॥ (य० अ० १३ मं० ७)

म० ध०—यातुं यातनां दुःखं दधति ते यातुधानाः रक्षःप्रभृतयस्तेषां याः सर्पजातय इषवो बाणरूपेण वर्तन्ते, ये चान्ये वनस्पतीन् चन्दनादिवृक्षाननुवेष्ट्य स्थिताः ये वा ये चान्ये अवटेषु बिलेषु शेरते स्वपन्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु ॥ ७ ॥

(१७) ये वाऽमी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमो नमः ॥ (य० अ० १३ मं० ८)

म० ध०—दिवो द्युलोकस्य रोचने दीप्तस्थाने ये वा अमी सर्पा अस्माभिरदृश्यमानास्सन्ति रोचनो ह नामैष लोको "यत्रैष एतत्तपति" इति श्रुतेः तथा सूर्यस्य रश्मिषु किरणेषु ये सर्पा वसन्ति येषां सर्पाणामप्सु जलेषु सदः स्थानं कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु ॥ ८ ॥

(१८) एष वै मृत्युर्य एष संवत्सरः एष वै मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति, अथ म्रियन्ते तस्मादेष एव मृत्युः स यो हैतं मृत्युं संवत्सरं वेद न ह्यस्यैष पुराजरसोऽहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति सर्वं है वायुरेति इति (श० ब्रा० प्र० ३)

(१९) एष एवान्तकः एषोऽहर्मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं गच्छति अथ म्रियन्ते तस्मादेवान्तकः सोऽयं हैतमन्तकं मृत्युं संवत्सरं वेद न हास्यैष पुरा जरसोऽहोरात्राभ्यामा-

भाषा

(१६) "या इषवो०" (मं०) जो सर्प, राक्षस आदि के बाण रूपी हैं और जो सर्प चन्दनादि के वृक्षों में लपटे हैं तथा जो सर्प बिलों में शयन करते हैं और जो सर्प जल में अपना स्थान किये हुए हैं उन सर्पों को नमस्कार।

(१७) "एष वै०" (ब्रा०) जो सर्प स्वर्ग लोक के दीप्त स्थानों में रहते हैं और हम लोगों के प्रत्यक्ष नहीं होते तथा जो सर्प सूर्य की किरणों में रहते हैं और जो सर्प जल में अपना स्थान किये हुए हैं उनको नमस्कार।

(१८) "एष वै०" (मं०) यही संवत्सर मृत्यु है क्योंकि दिन और रात्रि के उलट-फेर से यही जीवन का क्षय करता है जिससे प्राणी मरते हैं।

(१९) "एष एवान्तक०"(मं०) यही अन्तक है क्योंकि दिन और रात्रि के परिवर्तन से यही जीवन का अन्त करता है।

युषोऽन्तं गच्छति सर्वं हि वायुरेति स यदग्निं चिनुते एतमेव तदन्तकं मृत्युं संवत्सरं प्रजापति-मग्निमाप्नोति यं देवा आप्नुवन् ॥ २ ॥

(२०) तद्याः परिश्रितः रात्रिलोकास्ताः रात्रीणामेव साप्तिः क्रियते रात्रीणां प्रतिमाताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि च भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्य रात्रय इति ॥३॥
(श० ब्रा० १० प्र० ३)

(२१) अथ यजुष्मत्य इत्यारभ्य याः षष्टिश्च त्रीणि शतान्यहर्लोकास्ता अह्नामेव साप्तिः क्रियतेऽह्नां प्रतिमाः षष्टिश्च त्रीणि शतानि भवन्ति, षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहान्यथ याः षट्त्रिंशत्पुरीषं तासां षट्त्रिंशी ततो याश्चतुर्विंशतिरर्द्धमासलोकाः ताः अर्धमासानामेव साप्तिः क्रियते अर्द्धमासानां प्रतिमा, अथवा द्वादशमासलोकास्ता मासा-नामेव साप्तिः क्रियते, मासानां प्रतिमा ता द्वे द्वे सहर्तु लोका ऋतूनां शून्यतायै ॥ ४ ॥

(२२) अथ या लोकंपृणाः मुहूर्तलोकास्ता मुहूर्तलोकानां साप्तिः क्रियते, मुहूर्तानां प्रतिमा ताः दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्ति, एतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्ता इति ॥ ५ ॥ (श० ब्रा० १० प्र० ३)

अनेनैव हि वैदिकप्रबन्धेनेष्टकासु प्रतिमासु कालधिष्ठातुर्देवस्य पूजनं प्रतिमेयसौसादृश्योपवर्णनपुरस्सरं विधीयत इति स्पष्टमेव ।

भाषा

(२०) *"तद्या०"* (ब्रा०) इसलिये जो "परीश्रित् नामक ईंटें' हैं वे रात्रियों की प्रतिमा हैं क्योंकि वे ३६० हैं और एक संवत्सर में भी ३६० रात्रियाँ होती हैं ।

(२१) *"अथ यजुष्मत्य०"* (ब्रा०) तदनन्तर ये ३६० "यजुष्मती" नामक ईंटें हैं। ये दिनों की प्रतिमा हैं, क्योंकि १ संवत्सर में ३६० दिन होते हैं ।

(२२) *"अथ या०"* (ब्रा०) तदनन्तर ये जो दश सहस्र आठसौ १०८०० 'लोकं पृण' नामक ईंटें हैं ये मुहूर्तों (दो दण्ड का समय) की प्रतिमा हैं, क्योंकि १ संवत्सर में भी १०८०० मुहूर्त होते हैं ।

ईंट रूपी प्रतिमाओं में काल के अधिष्ठाता देवगण का पूजन, इन पाँच ब्राह्मण-वाक्यों से विधान किया जाता हैं, तथा प्रतिमा और प्रतिमेय की तुल्यता भी इन वाक्यों में प्रश्न रूप से वर्णित है और इन वाक्यों से यह भी प्रत्यक्ष ही निकलता है कि प्रतिमा शब्द का उपमान ही अर्थ है ।

(२३) *"स ऐक्षत०"* (ब्रा०) प्रजापति, पूर्व में अपनी प्रतिमा की सृष्टि किया चाहता है, तद-नन्तर संवत्सर (वर्ष) रूपी अपनी प्रतिमा को उत्पन्न करता है, और वह उसकी प्रतिमा इस कारण है कि उसके नाम (प्रजापति) में चार अक्षर हैं और इसके नाम (संवत्सर) में भी चार ही अक्षर हैं अर्थात् व्यञ्जन को छोड़ चार ही चार स्वर अक्षर दोनों के नामों में हैं, इसी तुल्यता से संवत्सर, प्रजापति की प्रतिमा है ।

(२३) स ऐक्षत प्रजापतिः इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत्संवत्सरमिति तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सरमित्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत यदेव चतुरक्षरः संवत्सरश्चतुरक्षरः प्रजापतिस्तेनो हैवास्यैष प्रतिमा इति (श० ब्रा० ११।१।६।१३)

(२४) अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञं तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत इति (श० ११।१।८।३)

(२५) अथ यदाऽस्यायुक्तानि यानानि प्रवर्तन्ते, देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति खिद्यन्ति उन्मीलन्ति निमीलन्ति तदा इदं विष्णुर्विचक्रमे इति स्थालीपाकं हुत्वा पञ्चभिराहुतिभिर्जुहोति।

(२६) विष्णवे स्वाहा,

(२७) सर्वभूताधिपतये स्वाहा,

(२८) चक्रपाणये स्वाहा,

(२९) ईश्वराय स्वाहा,

(३०) सर्वपापनाशनाय स्वाहा इति व्याहृतिभिर्हुत्वाऽथ साम गायेत् इति (सा० ब्रा० २६ प्र० ५ खं० १०)

(३१) यद्यर्चा दह्येद्वा नश्येद्वा प्रपतेद्वा प्रभज्येद्वा प्रहसेद्वा प्रचलेद्वा इत्यादि (ऐत० ब्रा०)

भाषा

(२४) "अथैत" (ब्रा०) प्रजापति, यज्ञ रूपी अपनी प्रतिमा को उत्पन्न करता है, इससे लोग कहते हैं कि प्रजापति ने अपनी प्रतिमा को उत्पन्न किया।

(२५) "*अथ यदा*" (ब्रा०) जब देवता के मन्दिर कँपने लगैं, और देवता की प्रतिमायें हँसती वा रोती वा नृत्य करती वा फूटती वा पसीजती वा आँखों से ताकती वा आँखों को मूँदती होने लगैं, तब इस उत्पात की शान्ति के लिये "*इदं विष्णुर्विचक्रमे*" इस मन्त्र से स्थालीपाक नामक होम कर पाँच आहुति इन मन्त्रों से दे कि, "*विष्णवे स्वाहा*", "*सर्वभूताधिपतये स्वाहा*", "*चक्रपाणये स्वाहा*", "*ईश्वराय स्वाहा*", "*सर्वपापनाशनाय स्वाहा*", तदनन्तर "भूः" आदि मन्त्रों से होम कर साम मन्त्र का गान करै। इस षट्विंश साम ब्राह्मण के वाक्यानुसार ये पाँच मन्त्र भी प्रतिमा में प्रमाण हैं कि—

(२६) "विष्णवे०" (मं०)

(२७) "सर्वभूताधि०" (मं०)

(२८) "चक्र०" (मं०)

(२९) "सर्व०" (मं०)

(३०) "ईश्वर०" (मं०)

(३१) "*यद्यर्चा*" अर्चा (प्रतिमा) यदि जल जाय वा खो जाय वा गिर पड़े वा टूट जाय वा हँसै वा कँपै इत्यादि।

(३२) अथैकं मनुष्याणामावर्तनं स्त्रिया वा पुंसो वा श्रवणेन व्रतमुपेत्य पूर्वैः प्रोष्ठपदैः पांसुभिः प्रतिकृतिं कृत्वा प्राक्शिरसं पूर्वाह्णे दक्षिणशिरसं मध्याह्ने प्रत्यक् शिरसमपराह्णेऽर्धरात्रे उदक्छिरसं तस्या हृदयदेशमधिष्ठायाद्यन्त इन्द्रसोम इति ब्राह्मणस्य, इदं त इति क्षत्रियस्य, एष प्रकोश इति वैश्यस्य, विभोष्ट इन्द्रराधस इति शूद्रस्य, उद्वयं तमसस्परीति वा सर्वेषां सौवर्णीं प्रतिकृतिं कुर्याद्ब्राह्मणस्य राजतीं वैश्यस्यायसीं शूद्रस्यौदुम्बरीं वा सर्वेषामयमसावितिप्राक् शिरसमग्नौ प्रतिष्ठायौदुम्बरेण स्रुवेणाज्येनाभिजुहुयादच्छाव इति निधनेन गुणी ह्यस्य भवति (सामविधान ब्रा० प्र० २।५) ।

(३३) कृष्णव्रीहीणां नखनिर्भिन्नानां पिष्टमयीं प्रतिकृतिं कृत्वा पिष्टस्वेदं स्वेदयित्वा सर्षपतैलेनाभ्यज्य तस्याः क्षुरेणाङ्गान्यवदायाग्नौ जुहुयात् प्रथमं दिन इत्येतेन शेषं स्वयं प्राश्नीयादितरथाभावे म्रियेत (सामविधान ब्रा० प्रा० २।५) ।

(३४) अथ यः कामयेतावर्तेयमित्येकरात्रं क्षुरसंयुक्तस्तिष्ठेत् सुतासो मधुमत्तमा इति वर्ग एकमनेकं वा सर्वाणि वा प्रयुञ्जान एकरात्रेण कुटुम्बिनमावर्तयति द्विरात्रेण राजोपजीविनं

भाषा

(३२) "*अथैक*" (ब्रा०) एक स्त्री वा पुरुष का वशीकरण यह है कि श्रवण नक्षत्र में व्रत कर पूर्व भाद्रपद नक्षत्र में उस स्त्री वा पुरुष की प्रतिमा बनावै। पहर दिन चढ़ने तक उसका शिर पूर्व दिशा में, तथा मध्याह्न में दक्षिण दिशा में, उसके अनन्तर उसका शिर पश्चिम दिशा में, तथा अर्द्ध रात्रि में उत्तर दिशा में कर शयन करावै और अर्द्ध रात्रि के समय में, उस प्रतिमा के हृदय पर बैठ कर, जिसको वश करना हो, वह यदि ब्राह्मण हो तो "*इन्द्रसोमे*" मन्त्र को, और यदि क्षत्रिय हो तो "*इदं ते*" मन्त्र को, तथा यदि वैश्य हो तो "*यस्यैष प्रकोशे*" इस मन्त्र को, और यदि शूद्र हो तो "*विभोष्ट इन्द्राधसे*" मन्त्र से अथवा जिसको वश करना है वह चाहे कोई वर्ण हो तथापि उसकी प्रतिमा पर बैठ कर "*उद्वयम् तमसस्परि*" इसी मन्त्र को पढ़ कर अग्नि में गूलर की स्रुवा से घृत की आहुति दे। अथवा ब्राह्मण की प्रतिमा सुवर्ण की, क्षत्रिय की प्रतिमा चाँदी की, वैश्य की प्रतिमा गूलर के काठ की और शूद्र की प्रतिमा लोह की अथवा सबकी प्रतिमा लोह ही की बनावै और उसको पूरब शिर कर शयन करावै, और उस पर बैठ पूर्वोक्त मन्त्रों को पढ़कर गूलर की स्रुवा से अग्नि में घृत की आहुति दे और सर्ब मन्त्रों के अन्त में "*अच्छाव:*" पढ़े तब वश होता है।

(३३) "*कृष्णाव्रीही*" (ब्रा०) काले धान (साठी) को भिगा कर नखों से उसकी त्वचा निकाल कर उसके तन्दुल के चूर्ण से, जिसको वश्य करना हो, उसकी प्रतिमा बनाकर उसको अग्नि पर उसिनै और उसमें सर्षप तैल लगाकर छुरा से काट कर '*प्रथमं दिने*' इस मन्त्र से अग्नि में होम कर दे और प्रतिमा बनाने से जो चूर्ण बँचै उसे खा जाय। इससे वह वश्य हो जाय। यदि वह वश नहीं हो तो मर जाय।

(३४) "*अथ यः कामये*" (ब्रा०) जो किसी को वश करना चाहै, वह एक रात्रि छुरा लिये खड़ा रहै और "*सुता सो मधुमत्तमाः*" इस वर्ग में एक वा अनेक अथवा सब मन्त्रों को रात्रि भर पढ़ता रहै, तो एक रात्रि में एक गृहस्थ को वश कर सकता है, और दो रात्रि में राजपुरुष को,

त्रिरात्रेण राजानं चतूरात्रेण ग्रामं पञ्चरात्रेण नगरं षड्रात्रेण जनपदं सप्तरात्रेण सुररक्षांसि अष्टरात्रेण पितृपिशाचान्नवरात्रेण यक्षान्दशरात्रेण गन्धर्वाप्सरसोऽर्द्धमासेनेन्द्रं चतुर्भिः प्रजापतिं संवत्सरेण यत्किञ्च जगत्सर्वं हास्य गुणी भवति (सा० विधान ब्रा० २।५)

(३५) हस्त्यश्वरथपदातीनां पिष्टमयीः प्रतिकृतीः कृत्वा पिष्टस्वेदं स्वेदयित्वा सर्षपतैलेनाभ्यज्य तासां क्षुरेणाङ्गान्यवदायाग्नौ जुहुयादभि त्वा शूर नो नुम इति रहस्येन यत्र हिंशब्दो यावतां जुहोति सर्वे न भवन्ति (प्र० २।६)

(३६) मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि (कृ० यजु० तैत्ति० आ० प्र० ४ अनु० ५)

(३७) तत्र द्वादशादित्या एकादश रुद्रा अष्टौ वसवः सप्त मुनयो ब्रह्मा नारदश्च पञ्च विनायकाः वीरेश्वरो रुद्रेश्वरो अम्बिकेश्वरो गणेश्वरो नीलकण्ठेश्वरो गोपालेश्वरोऽन्यानि लिङ्गानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति ॥ ३२ ॥ (अथर्ववेदीयगोपालोत्तरतापनीयोपनिषदि)

(३८) काऽसीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत् छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ३ ॥

(ऋ० अ० ७ व० १८ मं० १ अ० ११ सू० १३०)

भाषा

तीन रात्रि में राजा को, चार रात्रि में ग्राम को, पाँच रात्रि में नगर को, छः रात्रि में देश को, सात रात्रि में देवताओं और राक्षसों को, आठ रात्रि में पितरों और पिशाचों को, नव रात्रि में यक्षों को, दश रात्रि में गन्धर्वों और अप्सराओं को, एक पक्ष में इन्द्र को, चार मास में प्रजापति को, एक वर्ष में सब जगत् को वश्य कर ले।

(३५) "हस्त्यश्व" (ब्रा०) हाथी, घोड़ा, रथ तथा पदातियों की प्रतिमाओं को पिसान से बनाकर उसिनै, और उन प्रतिमाओं में सर्षप तैल लगाकर "*अभित्वा शूर नो नुमः*" इस मन्त्र के अन्त में "ही" शब्द को लगाकर इसको पढ़ २ जितने वार होम करै उतनों का नाश हो जाय।

(३६) "*मा असि*" (ब्रा०) हे अग्ने ! तुम मा (तुला) हो, प्रमाण हो, प्रतिमा हो।

(३७) "*तत्र द्वादशा*" (ब्रा०) मथुरा पुरी में १२ सूर्य, ११ रुद्र, ८ वसु, ७ मुनि, ब्रह्मा, नारद, पाँच विनायक, रुद्रेश्वर, अम्बिकेश्वर, गणेश्वर, नीलकण्ठेश्वर, गोपालेश्वर और अन्यलिङ्ग भी अर्थात् २४ लिङ्ग हैं।

(३८) "*काऽऽसीत्प्रतिमा*" (ऋ० मं०) जगत् की सृष्टि करने के उपाय रूपी यज्ञ को प्रजापति उत्पन्न करता है और उस यज्ञ को पृथक् २ सब साध्य नामक देवता करते हैं, और उस समय जगत् रहता नहीं, तो यज्ञ के उपयोगी पदार्थ कैसे मिल सकते हैं ? इस अभिप्राय से इस ऋचा में प्रश्न हैं कि जब सब साध्य नामक देवता प्रजापति का यज्ञ करते हैं तब यज्ञ का प्रमाण (नियम कि इतना है) क्या होता है ? और प्रतिमा (जिसमें प्रजापति की पूजा होती है) कौन होती है ? तथा निदान (जिस फल को देखकर देवता यज्ञ करने में प्रवृत्त होते हैं) कौन कहता है ? और उस यज्ञ का हवि (होम द्रव्य) कौन होता है ? तथा उस यज्ञ में परिधि (बाड़ के इतने बड़े

(३९) सहस्रस्य प्रमासि, सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि, साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥ ६५ ॥ (शुक्लयजु० १५ अ० ६३ क०)

अथ काऽसीदिति ऋचि "प्रतिमा का आसीदि"ति प्रश्नः । तस्य अग्नेरिति विराडिति च ऋग्भ्यामग्निसहिता गायत्र्यभवत्, उष्णिक् सहितः संबभूवेत्यादीन्युत्तराणि दत्तानि, तथा च तदुत्तरमेव ऋचौ अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता संबभूव । अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृती वाचमावत् ॥ ४ ॥ विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः ।

विश्वान्देवाञ्जगत्या विवेश तेनाचाक्लृप्र ऋषये मनुष्या इति ॥ ५ ॥ एवञ्च प्रतिमापदस्य देवतापरत्वमन्तरा प्रश्नोत्तरयोर्भिन्नविषयकत्वादसङ्गतिर्मा प्रसाङ्क्षीदिति प्रतिसन्धाय सायणेन प्रतिमा हविः प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयते इति प्रतिमा देवता सा वा तस्य यज्ञस्य "काऽऽसीदि"ति ग्रन्थेन प्रतिमापदं देवतापरत्वेन व्याख्यातम् । विश्वसृजामयने प्रधानदेवता च प्रजापतिरेव । स तु जगत्सृष्टेः प्रागप्यस्त्येव यष्टारो देवाः साध्या अपि तदा वर्तन्त एव । "यद्देवा देवमयजन्त विश्वे" इति प्रकृतायामे ऋच्युक्तत्वात् । तथा चायं प्रश्नो न यजमानं प्रधानदेवतां वा विषयीकरोति । तदुभयभिन्ना अङ्गदेवतैवासौ विषयत्वेनावलम्बत इति सायणाभिप्रायः।

भाषा

पलाश आदि के बने हुए काष्ठ) कौन होते हैं ? तथा गायत्री आदि छन्द उसमें कौन होते हैं ! और "प्रऊग" आदि उक्थ अर्थात् स्तुति करने के लिये मन्त्र उस यज्ञ में कौन होते हैं जिनसे साध्य नामक सब देवता प्रजापति का प्रथम यज्ञ करते हैं ?

(३९) "*सहस्रस्य*" (यजु० मं०) हे अग्ने ! तुम सहस्र (अनन्त परमेश्वर) के प्रमाण हो, सहस्र की प्रतिमा हो, सहस्र का उन्मान (तुला) हो, सहस्र हो, सहस्र (अनन्त) फलों के लिये तुमको प्रोक्षण करता हूँ ।

प्र०—"*काऽऽसीत्*" इस ऋचा में द्वितीय प्रश्न यह कहा है कि "प्रतिमा कौन रहती है"! और उसके अग्रिम "अग्ने" और "विराड्" इन दो ऋचाओं में इस प्रश्न के ये उत्तर कहे हैं कि "अग्नि सहित गायत्री होती है", "उष्णिक् सहित सूर्य होते हैं" । अब ध्यान देना चाहिये कि जब अग्नि आदि देवता की उत्पत्ति से उक्त प्रश्न का उत्तर दिया जाता है, तब अवश्य ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उक्त प्रश्न में (प्रतिमा) शब्द का देवता ही अर्थ है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो प्रश्न अन्य विषय का, और उत्तर अन्य विषय का हो जायगा जिससे कि यह वैदिक उत्तर असङ्गत हो जायगा, और इसी अभिप्राय से सायणाचार्य ने प्रश्न वाली ऋचा के भाष्य में प्रतिमा अर्थात् हवि के प्रतियोगी (दान का उद्देश्य) बनाने के लिये जो "मा" अर्थात् बनाया जाय, वह प्रतिमा अर्थात् देवता कौन उस समय रहता है, कहा है । और उक्त यज्ञ में प्रधान देवता प्रजापति ही हैं, जो कि जगत् की सृष्टि से पहले रहते ही हैं, तथा यज्ञकर्त्ता साध्य नामक देवता भी उस समय रहते हैं तो ऐसी दशा में प्रजापति रूपी प्रधान देवता और यजमान रूपी साध्य देवता से अन्य अग्नि आदि अङ्ग देवता ही के विषय में उक्त प्रश्न का होना निश्चित होता है । यह सायणाचार्य का अभिप्राय है । उस पर यह

स च न सङ्गच्छते, प्रतिमापदस्य निरुक्तादौ देवतावाचकेष्वपठितत्वात्। किञ्च हविः प्रतियोगित्वं हविस्त्यागोद्देश्यत्वम्, तस्य च प्रजापतावप्यक्षतत्वात्तस्यापि प्रश्न इति प्रसज्येतेति "मीयते निर्मीयत इति तेनोक्तम्" नहि प्रजापतिः केनचिन्निर्मीयते स्वयम्भूत्वात् किन्त्वग्न्यादय एव निर्मीयन्ते, ततश्चास्यामृचि प्रतिमाशब्दो देवताविशेषतात्पर्येण प्रयुक्त इति कथं प्रतिमापूजने ऋगेषा प्रमाणतयोपन्यस्यत इति चेन्न "तद्याः परिश्रित" इत्याद्युक्तवेदवाक्यचतुष्टयप्रमाणकस्य पूर्वोक्तकोशोक्तस्य लोकप्रसिद्धस्य च प्रतिमाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य सादृश्यस्य प्रबलतमं बाधकं विना त्यागायोगात्। प्रसिद्धिरपि हि नासौ प्रत्यन्तवासिषु, येन "यवमयश्चरुर्भवति" इत्यादौ यवादिशब्दानां प्रियङ्ग्वादाविव हेया भवेत्। न वा निरुक्तादौ देवतापर्यायेषु प्रतिमाशब्दः क्वचित्पठ्यते, येनासौ प्रसिद्धिरिह बाध्येत। न च प्रश्नोत्तरयोरेकविषयत्वान्यथानुपपत्तिरेवेहोक्तप्रसिद्धार्थे बाधिकेति वाच्यम्। प्रतिमीयत इति प्रतिमेति कर्मणि यगन्तस्य प्रतिकृतिप्रतियोगिकसादृश्यानुयोग्यर्थकस्य प्रतिमाशब्दस्य प्रकृते देवतापरतायां

भाषा

आक्षेप है कि जब "प्रतिमा" शब्द का निरुक्त आदि में देवता अर्थ नहीं कहा है तो कैसे देवता उसका अर्थ हो सकता है? और दूसरा आक्षेप यह है कि हवि तो प्रजापति के लिये भी उस यज्ञ में दिया जाता है, क्योंकि वह उस यज्ञ के प्रधान देवता हैं, इससे उक्त प्रश्न क्यों प्रजापति के विषय में नहीं है? और यदि प्रजापति के विषय में उक्त प्रश्न है तो प्रतिमा शब्द से प्रजापति रूपी देवता कैसे कहे जा सकते हैं? क्योंकि प्रजापति बनाये नहीं जाते किन्तु उनका स्वयं प्रादुर्भाव होता है। इन आक्षेपों के समाधान के लिये यही कहना पड़ेगा कि केवल वैदिक उक्त उत्तरों ही के अनुसार, प्रश्न में प्रतिमा शब्द का अग्नि आदि देवता विशेषों ही में तात्पर्य है, तो ऐसी दशा में उक्त वैदिक प्रश्न का "प्रतिमा" शब्द कैसे लौकिक प्रतिमा में प्रमाण हो सकता है?

उ०—उक्त वैदिक प्रश्न में प्रतिमा शब्द का उपमान ही अर्थ है न कि देवता, क्योंकि १५८, १५९, १६०, १६१ संख्याओं में कहे हुए वेदवाक्यों से यह दृढ़ सिद्ध है कि प्रतिमा शब्द का अर्थ उपमान है तथा युक्ति खण्ड में पूर्व ही कहे हुए कोश से भी प्रतिमा शब्द का उपमान अर्थ है। और लोक में भी उपमान में प्रतिमा शब्द का प्रयोग सदा से होता है, तो ऐसी दशा में किस प्रमाण के बल से प्रतिमा शब्द के उपमान रूपी अर्थ का त्याग हो सकता है? तथा जब निरुक्त आदि ग्रन्थों में देवतावाची शब्दों के प्रकरण में प्रतिमा शब्द नहीं पढ़ा है, तो कैसे उसका देवता अर्थ हो सकता है? और यदि देवता के पर्याय में कहीं प्रतिमा शब्द मिले भी तो अनन्तरोक्त प्रमाणों के अनुसार उसका यही तात्पर्य कहा जायगा कि देवता को लौकिक प्रतिमा से अभिन्न मानकर वह पाठ है, क्योंकि यदि ऐसा न कहा जाय तो अनन्तरोक्त संख्या के वैदिक प्रमाणों के साथ विरोध पड़ने से वह पाठ ही प्रामाणिक हो जायगा।

प्र०—प्रश्नस्थ प्रतिमा शब्द के देवता रूपी अर्थ होने में तथा उपमान रूपी अर्थ के त्याग करने में पूर्वोक्त वैदिक उत्तर क्यों नहीं प्रमाण है? क्योंकि यदि प्रश्नस्थ प्रतिमा शब्द का उपमान अर्थ किया जाय तो अग्न्यादि देवता की उत्पत्ति कहने से उस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता।

प्रसिद्ध्यनुरोधस्येव प्रश्नोत्तरयोरेकविषयत्वस्यापि सहजत एवोपपत्तिसम्भवात्। किञ्च प्रतिकृति-रूपलोकप्रसिद्धप्रतिमाप्रश्नेऽग्न्यादिदेवतोत्पत्तिवर्णनात्मकस्योत्तरस्य दानेन लोकप्रसिद्ध-प्रतिमाप्रतिमेययोरभेदाध्यवसाय एव प्रश्नोत्तरयोरेकविषयतापर्यवसायी ऋच्यस्यामभिप्रेत इति स्पष्टमवगम्यते । अग्न्यादिदेवतानामुत्पत्तिवर्णनेन तदभेदाध्यवसायविषयप्रतिमाकरणक-यागसम्पादनसंभवस्यापि वर्णितप्रायत्वात् प्रजापतिरूपदेवतासन्निधानेऽपि प्रतिमां विना यज्ञासंभवं स्पष्टतरमुद्गिरतश्च 'काऽऽसीत् प्रतिमा यत् (यया) देवा देवमयजन्त विश्वे' इति श्रौतस्यास्य प्रश्नस्यानुसारादेव चासन्निहितानामदृश्यानां च देवानां प्रतिमां विना पूजैव न संभवतीत्यनयर्चा स्फुटमेवोक्तम् । यद्वा देवस्य प्रजापतेर्यज्ञः प्रजापतिप्रतिमां विना न संभवति, अतस्तस्य प्रतिमा काऽऽसीदिति प्रश्नस्याभिप्रायः । अग्न्याद्युत्पत्तिवर्णनरूपस्यो-त्तरस्य तु अग्न्याद्या देवता एव प्रजापतेः प्रतिमाः अग्निसूर्यादिप्रतीकेष्वन्तर्यामिण उपास-नाया वेद एवनिकषो विहितत्वादित्याशयः । अत एव "सहस्रस्य प्रतिमाऽसि" इत्युक्तं यजुर्वाक्यमपि सङ्गच्छते । 'हे अग्ने ! त्वं सहस्रस्य अनन्तस्य प्रतिमा प्रतिनिधिरसी'ति

भाषा

उ० १—जब कि व्याकरण की रीति से प्रतिमा शब्द का प्रतिमेय अर्थात् उपमेय भी अर्थ हो सकता है और पाषाणादि प्रतिमा रूपी उपमान के प्रति, देवता उपमेय है, तब प्रतिमा शब्द का प्रसिद्ध उपमेय रूपी अर्थ ही देवता है जिसके विषय में उक्त वैदिक प्रश्न है और ऐसे प्रश्न का अग्न्यादि देवता की उत्पत्ति से उत्तर देना भी उचित है, इस रीति से जब प्रश्नस्थ प्रतिमा शब्द के लोक प्रसिद्ध उपमेय रूपी अर्थ के अनुसार, वैदिक उत्तरों की उपपत्ति ठीक २ होती है तो ऐसी दशा में प्रश्नस्थ प्रतिमा शब्द का देवता रूपी अप्रसिद्ध अर्थ करना बहुत ही अनुचित है।

उ० २—लोक प्रसिद्ध पाषाणादि प्रतिमा के विषय में यदि उक्त वैदिक प्रश्न हैं, तब भी अग्नि आदि देवता की उत्पत्ति से उत्तर देना उचित ही है। क्योंकि देवता रूपी प्रतिमेय और पाषाणादि रूपी प्रतिमा के अन्योन्य में अभेद का निश्चय लोक सिद्ध ही है क्योंकि "यह प्रतिमा विष्णु है" इत्यादि बुद्धि ही से प्रतिमा में देवपूजन किया जाता है। और उक्त प्रश्न वाली ऋचा का यह तात्पर्य स्पष्ट ही झलकता है कि "प्रजापति देवता यद्यपि रहते हैं तथापि जब प्रतिमा नहीं है, तब कैसे उनकी पूजा हो सकती है ? और इसी से यह भी स्पष्ट होता है कि जब समीपवर्ती देवता के पूजन में भी उसकी प्रतिमा आवश्यक है, तब जो देवता हमारे समीपवर्ती और प्रत्यक्ष नहीं हैं, उन देवताओं की पूजा में तो प्रतिमा बहुत ही आवश्यक है।

उ० ३—अग्नि, सूर्य आदि देवता भी परमेश्वर की प्रतीक रूपी प्रतिमा हैं जैसा कि युक्ति खण्ड में उद्धृत प्रतीकाधिकरण से पूर्व ही सिद्ध हो चुका है और इस रीति से अग्नि आदि देवता प्रजापति की प्रतिमा ही हैं। तथा इसी से १७३ और १७६ संख्या के वैदिक वाक्यों में भी अग्नि, परमेश्वर की प्रतिमा कहे हुए हैं, तो ऐसी दशा में उक्त वैदिक प्रतिमा प्रश्न का अग्न्यादि देवता की उत्पत्ति से उत्तर देना ठीक ही है।

महीधरव्याख्यानात्। "प्रतिमाऽऽसी"त्युक्तारण्यकवाक्यमप्येवमेव स्वरसत उपपद्यते। तथा च श्रौतप्रश्नप्रतिवचनयोरेकविषयत्वं स्वरसत उपपद्यते। न च प्रतिमेयस्य प्रजापतेः सन्निहितत्वाद्देवदृश्यत्वाच्च तत्र प्रतिमायाः प्रयोजनमेव नास्तीति वाच्यम् "विश्वसृजामयनं सहस्रसंवत्सर"मिति श्रुत्या सहस्रसंवत्सरपर्यन्ते विश्वसृजामयनस्य समये यज्ञदेशे प्रधानदेवतायाः प्रजापतेरनन्तकार्यव्यापृतायाः सततसन्निधानस्यासम्भवेन तत्प्रतिनिधिभूतप्रतिमासन्निधानस्यावश्यकत्वात् प्रश्नस्यास्य प्रतिमाद्वारैव देवतानां पूजनं कार्यमिति लोकशिक्षार्थत्वाच्च। एवं च त्रेधापि प्रश्नोत्तरयोः श्रौतयोर्लोकप्रसिद्ध्यनुसारेण विषयैक्यसंभवे वेदकोशलोकप्रसिद्धप्रतिमापदार्थत्यागः सायणस्यान्याय्य एव वस्तुतस्तु प्रतिमाप्रतिमेययोरारोपितमभेदमेवाभिप्रेत्य सायणेन प्रतिमाशब्दस्य देवताऽऽर्थकत्वमुक्तमिति ध्येयम्॥

(४०) "यत्र गङ्गा च यमुना यत्र प्राची सरस्वती।
यत्र सोमेश्वरो देवस्तत्र माममृतं कृधि"॥५॥

(ऋक् संहितायां सप्तमाष्टकस्य ५ अध्या० २० वर्गानन्तरं पञ्चर्चे परिशिष्टे)

अत्र हि प्रयागतीर्थराजप्रतिपादके मन्त्रे सोमेश्वराख्या संप्रति यावत्प्रसिद्धा लिङ्गप्रतिमा श्रूयते—

भाषा

प्र०—जब प्रजापति रूपी प्रधान देवता साध्य देवता रूपी यजमानों के समीपवर्ती और प्रत्यक्ष हैं तब उनका साक्षात् यज्ञ हो सकता है। इस कारण प्रतिमा की यहाँ क्या आवश्यकता है?

उ० १—"*विश्वसृजामयनं सहस्रसंवत्सरम्*" इस श्रुति के अनुसार प्रजापति का "विश्वसृजामयन" नामक यज्ञ सहस्र वर्षों में पूर्ण होता है, और प्रजापति, अनन्त कार्यों के करने के कारण यज्ञ देश में सहस्र वर्ष तक स्थिर होकर बैठे नहीं रह सकते, इसलिये उनकी प्रतिमा की प्रकृत में आवश्यकता है।

उ० २—यदि न आवश्यकता हो तब भी लोक शिक्षा के लिये उक्त ऋचाओं में प्रतिमा का प्रश्न और उत्तर है, अर्थात् इससे प्रतिमापूजन के सम्प्रदाय का प्रचार किया जाता है कि प्रतिमा ही के द्वारा देवताओं का पूजन करना चाहिये। इससे पूर्वोक्त तीन प्रकारों से जब वैदिक उत्तरों की उपपत्ति हो रही है, तब वेद, कोश और लोक में प्रसिद्ध उपमान रूपी प्रतिमा पद के अर्थ को त्याग कर देवता अर्थ करना सायणाचार्य का बहुत ही अनुचित और अप्रामाणिक है। वास्तविक में तो पूर्वोक्त सायणभाष्य में भी देवता और पाषाणादिक प्रतिमा के लोक सिद्ध अभेदारोप ही से प्रतिमा शब्द का देवता अर्थ किया है, इससे वह भी ठीक है।

(४०) "*यत्र गङ्गा*" जहाँ गङ्गा और यमुना हैं और जहाँ पूरवी सरस्वती नदी (गुप्त) हैं तथा जहाँ सोमेश्वर देव (सोमेश्वर नामक शिव लिङ्ग) हैं, वहाँ मुझको मोक्ष दीजिये। प्रयागतीर्थ के प्रतिपादक इस मन्त्र में सोमेश्वर लिङ्ग रूपी प्रतिमा कही है, जो आज तक वहाँ प्रत्यक्ष स्थित और प्रसिद्ध है।

(४१) यत्र देवा महात्मानः सेन्द्राश्च समरुद्गणाः ।
ब्रह्मा च यत्र विष्णुश्च तत्र माममृतं कृधि ॥ ४ ॥ (तत्रैव)

अत्र विष्णुपुष्करतीर्थप्रतिपादके संप्रति वर्तमानप्रतिमाभिमानिनो ब्रह्मप्रमुखा देवाः।

(४२) यत्र तत्परमं पदं विष्णुर्लोके महीयते ।
देवैः सुकृतकर्मभिस्तत्र माममृतं कृधि ॥ १ ॥ (तत्रैव)

अत्र विष्णुपादोपलक्षितगयातीर्थप्रतिपादके विष्णुपदाख्या प्रतिमा ।

(४३) अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम् ।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम् ॥

(ऋ० म० १० अ० ८ व० १३ सू० १५५ ऋ० ३)

भाषा

(४१) "यत्र देवाः" (मं०) जहाँ वायुगण सहित तथा इन्द्र सहित महात्मा देवता तथा जहाँ ब्रह्मा और विष्णु भी हैं, वहाँ मुझे मोक्ष दीजिये । पुष्कर तीर्थ के प्रतिपादक इस मन्त्र से ब्रह्मा आदि देवता स्पष्ट कहे हुए हैं जिनकी प्रतिमा पुष्कर तीर्थ में आज तक प्रत्यक्ष स्थित और प्रसिद्ध हैं।

(४२) "यत्र तत्" (मं०) जहाँ पुण्यात्मा देवताओं से, इस लोक में वह उत्तम विष्णु पद (चरण) उपासित होता है, वहाँ मुझे मोक्ष दीजिये । गया तीर्थ के प्रतिपादक इस मन्त्र से विष्णुपद नामक प्रतिमा कही है जो आज तक प्रत्यक्ष सिद्ध और लोक प्रसिद्ध है ।

(४३) "अदो यत्" (मं०) हे अमर उपासक ! वह जो अपौरुषेय, पुरुषोत्तम नामक, काष्ठमय देवता का शरीर समुद्र के तीर में जल के ऊपर है उसकी उपासना करो, उस काष्ठमय देवता की उपासना से संसार दुःख से उत्तीर्ण होकर सर्वोपरि ब्रह्मलोक को जाओ । इस मन्त्र का अनन्तरोक्त अर्थ कह कर एक दूसरा जलतरण रूपी अर्थ भी दूसरों के मत से सायणाचार्य ने कहा है, जो यह है कि हे दुष्ट हनु (कान के नीचे मुख का अवयव) वाली दरिद्रता देवी ! समुद्र के पार अर्थात् तीर प्रान्तों में, बिना मल्लाह का हमसे दूरवर्ती काष्ठ (नौका) तैरती है, उसको लो और उसी काष्ठ से ब्रह्मणस्पति की आज्ञानुसार उतर कर द्वीपान्तर में चली जाओ इति । इस रीति से यह मन्त्र ऐसा ज्ञात होता है कि दरिद्रता के निकालने के अर्थ में है, वस्तुतः इस मन्त्र का यह अर्थ कदापि नहीं है, क्योंकि-

(क) इसमें यह दोष है कि मन्त्र में "दारु" शब्द कहा है जिसका मुख्य अर्थ काष्ठ है न कि नौका, इससे नौका अर्थ करने में मुख्य अर्थ का त्याग हो जायगा ।

(ख) और यह भी दोष है कि नौका में पुरुष का सम्बन्ध न होना, पार जाने के विरुद्ध है।

(ग) यह भी है कि अपराध के बिना, द्वीपान्तरवासी मनुष्यों पर दरिद्रा देवी का प्रेषण अनुचित है।

(घ) यह लोक की मर्यादा है कि आर का मनुष्य पार जाता है, और उसी नौका से पार जाता है जो पूर्व ही से आर में लगी रहती है । तथा उक्त मन्त्र में समुद्र का आर न कह कर उसके विरुद्ध पार कहा है जिससे यह अर्थ हो जायगा कि "पार की नौका पर चढ़ दरिद्रा देवी आर को आवै", तो ऐसी दशा में यह मन्त्र उलटे दरिद्रा देवी के बुलाने का हो जायगा जो कि मन्त्र पढ़ने वाले के लिये बहुत ही अनिष्ट है, यह दोष इस अर्थ से कदापि नहीं हट सकता ।

सा० भा०—अदो विप्रकृष्टदेशे वर्तमानम्, अपूरुषम् निर्मात्रा पुरुषेण रहितम् यद्दारु दारुमयं पुरुषोत्तमाख्यं देवताशरीरम् सिन्धोः पारे समुद्रतीरे प्लवते जलस्योपरि वर्तन्ते तद्दारु हे दुर्हणो दुःखेनापि हन्तुमशक्य हे स्तोतः आरभस्व आलम्बस्व उपास्वेत्यर्थः। तेन दारुमयेन देवेन उपास्यमानेन परस्तरम् अतिशयेन तरणीयम् उत्कृष्टं वैष्णवं लोकं गच्छेति।

यत्तु हे दुर्हणो! दुःखेन हननीये दुष्टहनुयुक्ते वा हे अलक्ष्मि सिन्धोः पारे समुद्रतीर-प्रान्ते अपूरुषम् पुरुषैः जनैः वियुक्तम् अदः अस्मत्तो दूरदेशे वर्तमानं यद्दारु दारुमयी नौः प्लवते तद्दारु आरभस्व परिगृहाण परिगृह्य च तेन दारुणा परस्तरम् ब्रह्मणस्पतिना प्रेरिता सती द्वीपान्तरं गच्छेत्यर्थ इति। तन्न; दारुपदस्य नौकापरत्वे लक्षणाप्रसङ्गात् पुरुषसंयुक्तत्वसामान्या-भावस्य नौकासु प्रायोऽसंभवादनुपयोगाद्दाशशून्यत्वस्य तरणप्रतिकूलत्वाच्च। अथालक्ष्मीनिर्वा-सनकरणभूतपूर्वोत्तरमन्त्रसंदंशात्सर्वमेवेदं मर्षणीयमिति चेन्न; उक्तदोषेभ्यः पुरुषोत्तमतीर्थमाहा-त्म्यस्य स्मृतिप्रसिद्धिभ्यां च मलवद्वासःसंवादनिषेधवत् प्रकरणादस्मादेतन्मन्त्रोत्कर्षस्यैवो-चितत्वात्।

किञ्च पारं हि तरणप्राप्यं स्थानम्, नौका तु तितीर्षुसलिलयोरन्तरालदेशेनावारेण संश्लिष्टा सती तरणोपयोगिनी भवतीति लोकमर्यादा। तथा चाक्ष्म्यधिष्ठितपुरुषाधिष्ठिताद् द्वीपादलक्ष्म्या द्वीपान्तरगमनं यद्यत्र विवक्षितं स्यात्तदाऽवार इत्येव ब्रूयात् न तु पार इति पारगनौकया तरणस्य त्ववारप्राप्तिरेव फलमिति द्वीपान्तरादलक्ष्म्यात्राहनमेवेदं स्यादिति

भाषा

प्र०—जब कि इस मन्त्र के आगे और पीछे के मन्त्र दरिद्रा देवी के निकालने के लिये हैं, तब इस मन्त्र का भी दरिद्रा का निकालना ही अर्थ होना चाहिये क्योंकि वह इस प्रकरण के अनुसार है, और जगन्नाथ की प्रतिमा तथा जगन्नाथ तीर्थ रूपी अर्थ का जब इस प्रकरण में कोई सम्बन्ध नहीं है तब वह इस मन्त्र का अर्थ कैसे हो सकता है?

उ०—(जैसे) यज्ञ के प्रकरण में प्रथम, "*यस्य व्रत्येऽहन् पत्न्यानालम्बुका भवति तामपरुध्य यजेत*" (जिस यजमान की पत्नी यज्ञ के बीच समय में रजस्वला हो जाय वह यजमान अपनी उस पत्नी को उस गृह से निकाल कर अन्य गृह में रख यज्ञ करै) ऐसा कह कर पुनः उसी प्रकरण में कहा है कि "*मलवद्वाससा न संवदेत*" (यज्ञकर्ता रजस्वला से बात न करै) इससे यद्यपि प्रकरण के अनुसार यह निकलता है कि यह बात करने का निषेध केवल यज्ञ समय ही के लिये है न कि सदा के लिये तथापि जब पूर्व वेदवाक्य के अनुसार यजमान के गृह से रजस्वला निकाल दी गयी तब यज्ञ के समय में उसके साथ यजमान के बात करने का संभव ही नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त निषेध व्यर्थ ही हो जायगा, इस कारण उक्त निषेध वाक्य, यज्ञ के प्रकरण से निकाल कर स्वतन्त्र कर दिया जाता है। अर्थात् उसका यह अर्थ किया जाता है कि "किसी समय में रजस्वला के साथ भाषण न करै। इसी से मनु आदि ने भी "*नोदक्ययाऽभिभाषेत*" (रजस्वला से साक्षात् भाषण न करै) ऐसा सब काल के लिये निषेध किया है। वैसे प्रकृत में भी उक्त दोषों के भय और पुरुषोत्तम तीर्थ के माहात्म्य की पुराण, स्मृति तथा लोक प्रसिद्धि के अनुसार उक्त मन्त्र भी दरिद्रता निर्वासन प्रकरण से

वैपरीत्यम् । अतो नायं मन्त्रो जलतरणस्य प्रतिपादकः किन्तु पुरुषोत्तमदारुप्रतिमायाः तत्स्थानविशेषस्य चेति प्रकरणादवश्योत्क्रष्टव्यः । तदेतत् सकलमभिप्रेत्यैव सायणेन दुष्टतद्व्याख्यानोपक्रम एव "अपर आह" इत्युक्तम् ।

(४४) उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते स ँ सृजेथामयं च इति (य० अ० १५ मं० ५४)।

अत्र हि पूर्त्तशब्देन देवतायतनमपि गृह्यते ।

तथा चात्रिस्मृतिः—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानामुपलम्भनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

(४५) रामतापनीयोपनिषदि श्रीशिवं प्रति रामः—

अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये ।
अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु ॥ इति ।

अथ धर्माख्यमहावीरप्रतिमाविषयाणि ब्राह्मणानि तद्विनियुक्ता यजुर्मन्त्राः कात्यायनश्रौतसूत्राणि च—

(४६) यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यत्त्वरत्स इमे द्यावा पृथिवी अगच्छत् तन्मृदियं तत्

भाषा

निकल कर स्वतन्त्र हो, जगन्नाथ की प्रतिमा और तीर्थ का प्रतिपादन करता है । इन्हीं सब बातों को समझ कर सायणाचार्य ने इस मन्त्र को जगन्नाथ की प्रतिमा और तीर्थ के सम्बन्ध में प्रथम अर्थ को अपनी ओर से कह कर इस दूसरे अर्थ को दूसरों के मत से कहा है ।

(४४) "उद्बुध्य०" (मं०) इस अग्नि के मन्त्र में 'इष्ट' और 'पूर्त' शब्द हैं जिनमें पूर्त शब्द का अर्थ देव-मन्दिर बनाना धर्मशास्त्रों में कहा है । क्योंकि वापी, कूप, बावली, तड़ाग आदि और देवमन्दिर तथा अन्न का सदाव्रत और वाटिका के बनाने को पूर्त कहते हैं इति ।

(४५) "अविमुक्ते०" हे शिव ! आपके अविमुक्त (काशी) क्षेत्र में सब प्राणियों की मुक्ति के लिये वहाँ पाषाण-प्रतिमा आदि में मैं (श्रीराम) संनिधान (अहंकार ममकार) रखता हूँ ।

अब महावीर देवता जिसको धर्म भी कहते हैं उनकी तीन प्रतिमाओं के विषय में शतपथ ब्राह्मण के वाक्य और उन वाक्यों के सम्बन्धी महीधरभाष्योक्त तात्पर्यसहित यजुःसंहिता के मन्त्र और उनके सम्बंधी कात्यायन महर्षि के श्रौतसूत्र भी संख्या ४६ से १८२ तक लिखे जाते हैं और श्रौतसूत्र के सामने और दाहिने उनकी संख्या पृथक् इसलिए लिखी जाती हैं कि जिसमें वेदवाक्यों के अनन्तर वह संख्या, प्रमाण संख्या में जोड़ दी जाय ।

(४६)—"*यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य*" (ब्रा०) यज्ञ के शिर कटने से जो रस चूता है वही वह मृत्तिका और जल है, और इसी मृत्तिका तथा जल से महावीर की मूर्त्तियाँ यज्ञ में बनायी जाती हैं

यदापोऽसौ तद् मृदश्चापां च महावीराः कृता भवन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्द्धयति कृत्स्नं करोति (श० ब्रा० १४।१।२।८)

(४७) अथ मृत्पिण्डम्परिगृह्णाति (श० ब्रा० १४।१।२।८)

(४८) देवी द्यावा पृथिवी मखस्य वामद्यशिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (यजु० अ० ३७ मं० ३)

महीधरः—द्यावापृथिवी दैवतं यजुः ब्राह्मी गायत्री।

का० (२६।१।४) मृदमादत्ते पिण्डवत् देवी द्यावा पृथिवी इति। (१)

अध्वर्युः देवीति मन्त्रेण विघनं मृत्पिण्डमादत्ते 'पिण्डव' दिति पाणिभ्यां गृह्णाति 'दक्षिणः साभ्रि'ति लभ्यत इति सूत्रार्थः। मन्त्रार्थस्तु हे देवीदेव्यौ दीप्यमाने द्यावापृथिव्यौ अद्य अस्मिन्दिने पृथिव्याः देवयजने देवा इज्यन्ते। अत्रेति देवयजनस्थाने मखस्य यज्ञस्य शिरो राध्यासम् साधयेयम् "राधसाधसंसिद्धौ" महावीरो यज्ञशिरः। किं कृत्वा? वां युवां द्यावापृथिव्यौ आदायेति शेषः। दिवोंऽशं जलं पृथिव्यंशं मृदमादायेत्यर्थः। एवं द्यावापृथिव्यौ प्रार्थ्य मृदमाह मखाय हे मृत् यज्ञाय त्वां गृह्णामि। एवं सामान्येनोक्त्वा विशेषमाह मखस्य यज्ञस्य शीर्ष्णे शिरसे महावीराय त्वां गृह्णामीति शेषः। तं मृत्पिण्डमुत्तर-स्थापिते कृष्णाजिने निदध्यात् इति ॥ ३ ॥

(४९) अथ वल्मीकवपाम् देव्यो वम्र इति एता वा एतदकुर्वत यथायथैतद्यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ताभिरेवैनमेतत्समर्द्धयति कृत्स्नं करोतीति (श० ब्रा० १४।१।२।१०)

भाषा

जिससे कि यह यज्ञ अपने रस से बनी हुई महावीर मूर्ति रूपी अपने शिर से पुनः संयुक्त होकर पूर्ण हो जाय। यहाँ महावीर मूर्त्तियों की यज्ञ में बड़े उपयोग के द्वारा प्रशंसा के लिये यज्ञ के शिर कटने की आख्यायिका कल्पित है और मृत्तिका से महावीर की तीन प्रतिमाओं की रचना कण्ठोक्त है।

(४७) "*अथ मृत्पिण्डम्०*" तदनन्तर मृत्तिका के पिण्ड को हाथ से ग्रहण करे।

(४८) "*देवी द्यावा०*" (मन्त्र) "*मृदमादत्ते०*" (कात्यायन सूत्र) (१)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि '*देवीद्यावा*' इस मन्त्र से अध्वर्यु (यजुर्वेदी ऋत्विज्) मृत्तिका पिण्ड को ग्रहण करता है। और '*देवीद्यावा*' इस मन्त्र का यह अर्थ है कि हे 'द्यौ' (आकाश) और पृथिवी देवी! "आज इस देवयज्ञ के स्थान में आप अर्थात् आकाश के भाग—जल और पृथ्वी को लेकर मैं यज्ञ के शिर महावीर को बनाऊँ" इस इच्छा से यज्ञ के शिर बनाने के लिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। इस रीति से मृत्पिण्ड को ग्रहण कर अध्वर्यु उत्तर ओर बिछे हुए मृगचर्म पर रख देता है।

(४९) "*अथ वल्मीक०*" (ब्रा०) तदनन्तर बिम्बौट की मिट्टी को "*देव्यो वम्र्यः*" इस मन्त्र से ग्रहण करे। क्योंकि यही वम्रियाँ (दीमक) यज्ञ के शिर को काटने वाली हैं, इसलिए इन्हीं की बनायी हुई बिम्बौट की मृत्तिका से यज्ञ के शिर महावीर को बनावे।

(५०) देव्यो वम्र्यो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (यजु० अ० ३७ मं० ४)

म० ध० का०—उत्तरतो देव्यो वम्र इति वल्मीकवपाम् (२)

उपदी कृतो मृत्सञ्चयो वल्मीकः तस्य वपेव वपा तां मध्यस्थं लोष्टमादाय कृष्णाजिने मृत्पिण्डादुत्तरे तूष्णीं निदध्यात् इति सूत्रार्थः ।

वल्मीकवपा देवता आर्षी पङ्क्तिः । हे देव्यो दीप्यमानाः वम्रः उपजिह्विकाः ! वो युष्मानादाय पृथिव्याः देवयजने मखस्य शिरो महावीरमद्य राध्यासं सम्पादयेयम् । मखाय त्वामाददे मखस्य शीर्ष्णे त्वामाददे इति व्याख्यातम् । किम्भूता वम्रः ? भूतस्य प्राणिजातस्य प्रथमजाः प्रथमोत्पन्नाः पृथिवी जन्तूनां प्रथमजा तत्सम्बन्धात् वम्र्योऽपि प्रथमजा उच्यन्ते ॥ ४ ॥

(५१) अथ वराहविहतम् इयतीह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामे मूष इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः तेनैनमेतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्द्धयति कृत्स्नं करोतीति (श० का० १४।१।२।११)

(५२) इयत्यग्रे आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (यजु० अ० ३७ मं० ५)

म० ध० का०—(२६।१।७) इयत्यग्र इति वराहविहतम् ।(३)

वराहोत्खातमृदमादाय तूष्णीं कृष्णाजिने वल्मीकवपोत्तरे निदध्यादिति सूत्रार्थः। वराह-

भाषा

(५०) "देव्यो वम्र०" (मं०)

"उत्तरतो देव्यो० " (का०) (२)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि "देव्यो वम्रः" इस मन्त्र से बिम्बौट की मिट्टी ले और उसको चुपके से उसी कृष्ण मृगचर्म पर मृत्पिण्ड से उत्तर ओर रख दे । और "देव्यो वम्रः" इस मन्त्र का यह अर्थ है कि हे प्रकाशयुक्त वम्रियाँ ! (उपजिह्विका अर्थात् दीमक) 'तुमको अर्थात् तुम्हारी मृत्तिका को लेकर यज्ञ के शिर महावीर को बनाऊँ' इस इच्छा से यज्ञ शिर के लिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ और तुम, पञ्चभूतों में प्रथम पृथ्वी के सम्बन्ध से सब प्राणियों में प्रथम हो ।

(५१) "अथ वराह०" (ब्रा०)

(५२) "इयत्यग्रे०" (मं०) इस मन्त्र से वराह की खोदी हुई मृत्तिका को ग्रहण करै क्योंकि वराहावतार के समय में यह पृथ्वी प्रादेश (खड़े अङ्गुष्ठवाली मूठ) के तुल्य रहती है और वराह उसको खोद कर बढ़ाते हैं । वराह इसके स्वामी और प्रजा के स्वामी हैं इस कारण वराह की खोदी हुई मृत्तिका से यज्ञ का शिर बनाकर यज्ञ को पूर्ण करै ।

"इयत्यग्र इति वराहविहतम्" (का०) (३)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि वराह की खोदी मृत्तिका को "इयत्यग्रे" इस मन्त्र से ग्रहण कर बिम्बौट की मिट्टी के उत्तर मृगचर्म पर चुपके से रख दे । और मन्त्र का यह अर्थ है कि

विहतमृद्देवतं यजुः ब्राह्मी गायत्री। हे पृथिवि भवती अग्रे आदौ वराहोद्धरणसमये इयती प्रादेशमात्राभिनयेन प्रदर्श्यते एतत्प्रमाणा आसीत्। इयतीह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेश-मात्रीत्यादि वराहं उज्जघानेति श्रुतेः (१४।१।२।११) ते इति द्वितीयार्थे षष्ठी तां त्वामादाय पृथिव्याः देवयजनेऽद्य मखस्य शिरो राध्यासम्। मखायेति व्याख्यातम् ॥ ५ ॥

(५३) अथ यत्पूयन्निवाशेत तस्मात्पूतीकास्तस्मादग्नावाहुतिरिवाभ्याहिता ज्वलन्ति तस्मात्सुरभयो यज्ञस्य रसात्सम्भूता अथ यदेनं तदिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात् (श०ब्रा०१४।१।२।१२)

(५४–५६) इन्द्रस्यौजः स्थ मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ (यजु०अ० ३७ मं० ६)

म० ध० का०—(२६।१।८) इन्द्रस्यौजस्थेति पूतीकान्। (४)

पूतीकान् रोहिषतृणान्यादाय तूर्ष्णीं कृष्णाजिने वराहविहतोत्तरे निदध्यादिति सूत्रार्थः। आदारदेवत्यम् आर्क्त्रिष्टुप्। हे पूतीकाः यूयमिन्द्रस्य ओजः तेजोरूपाः स्थ भवथ वो युष्मा-नादाय पृथिव्याः देवयजने अद्य मखस्य शिरो राध्यासम् मखाय वो गृह्णामि मखस्य शीर्ष्णे महावीराय च गृह्णामीत्युक्तम्।

का०—(२६।१।६) मखायेति पयः। (५)

पय आदाय तूर्ष्णीं कृष्णाजिने पूतीकोत्तरे निदध्यादिति सूत्रार्थः। पयोदेवत्यम् हे पयः मखाय मखशीर्ष्णे त्वां गृह्णामि। तूर्ष्णीं गवेधुका अपि ग्राह्याः।

भाषा

हे पृथ्वी! वराहावतार के समय में तुम इतनी अर्थात् खड़े अङ्गुष्ठवाली मूठ के तुल्य रहती हो और वराह तुमको खोदकर बढ़ाते हैं। आज इस यज्ञ में महावीर रूपी यज्ञशिर को मैं बनाता हूँ, इस इच्छा से यज्ञशिर के लिए मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

(५३) "*अथ यत्पूयन्*" (ब्रा०) जिस कारण पवित्र करता ऐसा, पृथ्वी पर शयन करता है इससे 'पूतीक' कहा जाता है। सोमलता के सदृश रोहिष नामक तृणविशेष पूतीक है और जिस कारण अग्नि में छोड़ा हुआ पूतीक घी के ऐसा जलता है इसीसे सुगन्ध और यज्ञ के रस से उत्पन्न है और इसीसे यह इन्द्र का ओजस् अर्थात् तेज है।

(५४–५६) "*इन्द्रस्यौज०*" (मं०)

"*इन्द्रस्यौजस्थेति पूतीकान्*" (का०) (४)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि "*इन्द्रौजस्थ०*" इस मन्त्र से पूतीकों को ग्रहण कर कृष्ण मृगचर्म पर वराहमृत्तिका के उत्तर ओर चुपके से रख दे। और मन्त्र का यह अर्थ है कि हे पूतीकाः! तुम इन्द्र के ओज हृदयस्थ अमृत हो। इसलिए तुम्हारे द्वारा मैं महावीर रूपी यज्ञशिर को बनाऊँ। इस इच्छा से मैं यज्ञशिर के लिए तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

"*मखाय त्वा०*" (यजु० अ० ३७ मं० ६)

"*मखायेति पयः*" (का०) (५)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि "*मखाय त्वा*" मन्त्र से दूध उठाकर पूतीक के उत्तर कृष्णाजिन

का०—(२६।१।११) संभृतानभिमृशति मखायेति । (६)

संभृतान्संभारान्करेण स्पृशेदित्यर्थः । सम्भारदेवत्यम् । हे सम्भाराः मखाय तच्छीर्ष्णे च वः स्पृशामि ॥ ६ ॥

(५७) यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शुगुदक्रामत्ततोऽजा समभवत् तयैवैनमेतच्छुचा समर्द्धयति कृत्स्नं करोतीति (श० ब्रा० १४।१।२।१३) ।

(५८) तन्मन्त्रः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (यजु० अ० ३७ मं० ७ सप्तमस्य भागः) ।

म० ध०—का० (२६।१।१५) संभारैः संसृजति मखायेति । (७)

गवेधुकाजापयसी पृथक्कृत्य वल्मीकवपादित्रिसम्भारैर्मृत्पिण्डं मिश्रयतीत्यर्थः । हे सम्भाराः युष्मान् मखाय मृत्पिण्डेन संसृजामि ॥ ७ ॥

(५९) सर्वानेवास्मा एतद्देवानभिगोप्तॄन् करोतीति (श० ब्रा० १४।१।२।१५)

(६०) अस्य मन्त्रः । प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता । अच्छा वीरं नर्यम्पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः (यजु० अ० ३७ मं० ७)

म० ध० का०—(२६।१।१२) कृष्णाजिनं परिगृह्योत्तरतः परिवृतं गच्छन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति । (८)

भाषा

पर चुपके से रख दे । और मन्त्र का यह अर्थ है कि हे दुग्ध ! महावीर रूपी यज्ञशिर के लिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ।

"मखाय त्वा" (मं०)

"संभृतानभिमृशति मखायेति" (का०) (६)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि "मखाय" इस मन्त्र से यज्ञ की सामग्री अर्थात् अन्यान्य वस्तुओं को हाथ से स्पर्श करै । और मन्त्र का यह अर्थ है कि हे अमुक २ वस्तु ! महावीर रूपी यज्ञशिर के लिये मैं तुमको स्पर्श करता हूँ ।

(५७) *"यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शुक्०"* (ब्रा०) शिरकटे यज्ञ का तेज निकलता है उससे बकरी उत्पन्न होती है उसी तेज रूपी बकरी के दूध से महावीर रूपी यज्ञशिर को पूर्ण करै ।

(५८) *"मखाय त्वा०"*

"सम्भारैः संसृजति" (का०) (७)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि दुग्ध आदि उक्त वस्तुओं से उक्त मृत्तिका पिण्ड को मिलावै । और मन्त्र का यह अर्थ है कि हे दुग्ध आदि वस्तुओं ! महावीर रूपी यज्ञशिर के लिये मृत्तिका पिण्ड से मैं तुमको मिलाता हूँ ।

(५९) *"सर्वानेवास्मा०"* (ब्रा०) इस यज्ञ के लिये सब देवताओं को रक्षक बनावै ।

(६०) *"प्रैतु ब्रह्म०"* (मं०)

"कृष्णाजिनं परिगृह्योत्तरतः परिवृतं गच्छन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति" (का०) (८)

अध्वर्युप्रति प्रस्थात्रादयः कृष्णाजिनं समन्तादादाय प्रत्वेति जपन्तोऽन्तःपात्यादुत्तरे परिवृतं प्रतिगच्छन्ति पञ्चारत्निमितः समचतुरस्रः प्राग्द्वारः सिकतोपकीर्णः पूर्वमेव कृतः सप्त-भूसंस्कारसंस्कृतः छादितप्रदेशः परिवृत उच्यत इति सूत्रार्थः। बृहती व्याख्याता (३३ अ० ८९ मं०) तथा हि कण्वस्य दृष्टा वैश्वदेवी। ब्रह्मणो वेदस्य पतिः हिरण्यगर्भः नोऽस्माकं यज्ञम् अच्छ 'यज्ञाभिमुखं प्रैतु प्रकर्षेणागच्छतु 'ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मणः पाता पालयिता वेति। (निरु० १०।१२) यास्कः। तथा देवी देवताऽऽत्मा सूनृता प्रियसत्यस्वरूपा तस्यैव वाक् त्रयीरूपा यज्ञं प्रैतु। किं च देवा यष्टव्या नोऽस्मान् यज्ञं नयन्तु प्रापयन्तु यज्ञं कारयन्त्वित्यर्थः। कीदृशं यज्ञम्? विशेषेणेरयतीति वीरः तम् शत्रूणां विशेषेणोन्मूलयितारम् "वीरो वीरयत्यमित्रान्" इति (निरुः ।१।७) यास्कः। नर्यं नृभ्यो मनुष्येभ्यो हितं (उगवादिभ्य इति यत्) पङ्क्तिराधसम् इन्द्रस्य पुरोडाशः हर्योर्धानाः पूष्णः करम्भः सरस्वत्यै दधिमित्रावरुणयोः पयस्या एषा हविःपङ्क्तिः। द्विनाराशंसं प्रातः सवनं द्विनाराशंसं माध्यन्दिनं सवनं सकृन्नाराशंसं तृतीयं सवनं एषा नाराशंसपङ्क्तिः। त्रीणि सवनानि पशुरूपवसथ्यः पशुरनुबन्ध्यः एषा सवनपङ्क्तिः। एताभिः पङ्क्तिभिः राधः समृद्धिर्यस्य पङ्क्त्यो राध्यन्ते साध्यन्ते यत्रेति वा पङ्क्तिराधाः तम्। ब्रह्मणस्पत्यादयः ईदृशं यज्ञमस्माभिः कारयन्त्वित सर्वार्थः॥ ७॥

(६१) अथ मृत्पिण्डमादाय महावीरं करोति प्रादेशमात्रं हि शिरोमध्ये सङ्गृहीत-मथास्योपरिष्टात्त्र्यङ्गुलं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मैतद्दधातीति (श० ब्रा० १४।१।२।१७)

(६२) यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत्त एता ओषधयो जज्ञिरे, तेनैतमेतद्रसेन समर्द्धयति कृत्स्नं करोतीति (श० ब्रा० १४।१।२।१८)।

भाषा

इस सूत्र का यह अर्थ है कि अध्वर्यु आदि ऋत्विज् उस मृगचर्म को चारों ओर से पकड़ कर और उसको लेकर "प्रैतु" इस मन्त्र को जपते हुए उससे उत्तर ओर (परिवृत पाँच हाथ लम्बा, चौड़ा, चौकोन, पूर्वमुख, समीकृत, बालुका बिछा हुआ, पाँच भूसंस्कारों से संस्कृत और ऊपर से छाया किया हुआ प्रदेश) को जाते हैं।

और इस मन्त्र का यह अर्थ है कि वेद के पालनकर्ता अर्थात् ब्रह्मा, मेरे यज्ञ के अभिमुख अच्छी रीति से जायँ। तथा देवता रूपी उनकी प्रिय सत्य वाणी अर्थात् तीन वेद रूपी वाणी, यज्ञ के अभिमुख अच्छी चाल से जाय। और जिन देवताओं का इस यज्ञ में पूजन होगा वे देवता इस यज्ञ को करावैं। और यह यज्ञ शत्रुओं का उन्मूलन करने वाला है और यह यज्ञ दधि आदि भोज्य वस्तुओं की पङ्क्तियों से समृद्ध है।

(६१) "*अथ मृत्पिण्ड०*" तदनन्तर उस मृत्तिका पिण्ड से महावीर को बनावै। महावीर को बनाने के लिए खड़े अङ्गूठे वाली मूठी के तुल्य मृत्तिका ले, उसमें ऊपर के भाग में तीन अङ्गुल का मुख बनावै और उसमें नासिका आदि बनावै।

(६२) "*यज्ञस्य०*" (ब्रा०) शिर कटे यज्ञ का रस चूता है उससे औषधियाँ उत्पन्न होती हैं इसलिये औषधियों के रस से यज्ञ का शिर बनाकर यज्ञ को पूर्ण करें।

(६३-७१) अस्य मन्त्रः—मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। (यजु० अ० ३७ मं० ८)

म० ध० का०—(२६।१।१७) निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिर इति। (९) निष्पन्नं महावीरं वामकरस्थं दक्षिणेन स्पृशतीत्यर्थः। हे महावीर! त्वं मखस्य शिरो मूर्द्धा असि भवसि।

का०—(२६।१।१९) एवमितरौ प्रतिमन्त्रम्। (१०)

इतरौ महावीरौ प्रतिमन्त्रमेवमेव करोति अभिमृशति चेत्यर्थः। मखाय द्वितीयं महावीरं करोमि मखस्येति निष्पन्नं स्पृशामि मखाय तृतीयं महावीरं करोमि मखस्येति निष्पन्नं स्पृशामि।

का०—(२६।१।२२) गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयति मखायेति प्रतिमन्त्रम्। (११)

भाषा

(६३-७१) *"मखस्य०"* (मं०)

"निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिर इति" (का०) (९)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि महावीर को बनाकर वाम हस्त पर रख *"मखस्य शिरो"* इस मन्त्र को बोल दाहिने हाथ से उनको स्पर्श करै। मन्त्र का यह अर्थ है कि हे महावीर! तुम यज्ञ के शिर हो तुमको स्पर्श करता हूँ।

"मखाय त्वा०" (मं०) हे महावीर! यज्ञ को, शिर से पूर्ण करने के लिए मैं तुमको बनाता हूँ।

"मखाय त्वा०" (म०)

"एवमितरौ प्रतिमंत्रम्" (का०) (१०)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि जैसे महावीर की एक मूर्ति बनायी और स्पर्श की गयी ऐसे उनकी दो और मूर्तियाँ बनावे और स्पर्श करै।

मन्त्र का यह अर्थ है कि हे द्वितीय महावीर! यज्ञ को शिर से पूर्ण करने के लिये मैं तुमको बनाता हूँ।

"मखस्य०" (मं०) हे द्वितीय महावीर! तुम यज्ञ के शिर हो। मैं तुमको स्पर्श करता हूँ।

"मखाय त्वा०" (मं०) हे तृतीय महावीर! यज्ञ को पूर्ण करने के लिये तुमको बनाता हूँ।

"मखस्य०" (मं०) हे तृतीय महावीर! तुम यज्ञ के शिर हो। मैं तुमको स्पर्श करता हूँ।

"गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयति मखायेति प्रतिमन्त्रम्" (का०) (११)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि तीनों महावीरों को प्रत्येक *"मखाय त्वा"* इन तीन मंत्रों को प्रत्येक बोल २ कर गवेधुका (गड़ेरुआ अर्थात् कौड़ेना) से घिसकर चिकना करे।

"मखाय०" (मं०) हे महावीर! यज्ञ को शिर से पूर्ण करने के लिए मैं तुमको गवेधुका से चिकना करता हूँ।

गवेधुकाभिः महावीरान् घर्षणेन मृदून् करोति मखायेति प्रतिमन्त्रमेकैकम्। मखाय मखस्य शीर्ष्णे च त्वां गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयामि। एवमग्रिमौ मन्त्रौ ॥ ८ ॥

(७२) अथैनान् धूपयतीति (श० ब्रा० १४।१।२।२०)

(७३) अथैनान् श्रपयतीति (श० ब्रा० १४।१।२।२१)

(७४) अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः।

(७५) मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (यजु० अ० ३७ मं० ९)

म० ध० का०—(२६।१।२३) अश्वशकृता धूपयत्यश्वस्येति प्रतिमन्त्रम्। (१२)

दक्षिणाग्निदीप्तेनाश्वपूरीषेण त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रीन्महावीरान् धूपयेत् एकैकधूपने सप्तसप्ताश्वशकृन्ति गृह्णाति। हे महावीर ! पृथिव्याः देवयजने मखाय मखस्य शीर्ष्णे च वृष्णः सेक्तुरश्वस्य शक्ना शकृता पुरीषेण त्वा त्वां धूपयामि पद्दन्न इति सूत्रेण शकृच्छब्दस्य शकन्नादेशः एवमितरमन्त्राभ्यामितरौ धूपयेत्।

का०—(२६।१।२४) प्रदहनं च मखायेति प्रतिमन्त्रम्। (१३)

मखायेति त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रीन्महावीरानुखावत् श्रपयेत् पिन्वनरौहिणैः सहेत्यर्थः। मखाय मखस्य शीर्ष्णे त्वा त्वां निर्दहामि एवमितरौ ॥ ९ ॥

भाषा

"*मखाय०*" (मं०) हे द्वितीय महावीर ! यज्ञ को पूर्ण करने के लिए मैं तुमको गवेधुका से चिकना करता हूँ।

"*मखाय०*" (मं०) हे तृतीय महावीर ! यज्ञ को पूर्ण करने के लिए मैं तुमको गवेधुका से चिकना करता हूँ।

(७२) "*अथैनान्*" (ब्रा०) तदनन्तर तीनों महावीरों को अग्नि में क्रम से सेंकै (सूखने के लिए)।

(७३) "*अथैनान्*" (ब्रा०) तदनन्तर इनको क्रम से अग्नि में पकावै।

(७४) "*अश्वस्य त्वा०*" (मं०) "*अश्वशकृता धूपयत्यश्वस्येति प्रतिमन्त्रम्*" (का०) (१२)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि दक्षिणाग्नि से प्रज्वलित अश्वपुरीष की सात २ उपरियों से प्रत्येक महावीरों को 'अश्वस्य' इन समानार्थक तीन मंत्रों में प्रत्येक मंत्रों से सेंकै। मंत्र का यह अर्थ है कि हे महावीर ! इस यज्ञ में यज्ञ के शिर के लिए, अश्व के पुरीष से तुमको सेंकता हूँ।

"*प्रदहनञ्च मखायेति प्रतिमन्त्रम्*" (का०) (१३)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि 'मखाय' आदि तीन मन्त्रों से तीन महावीरों को अग्नि में पका करै।

"*अश्वस्य त्वा०*" (मं०) हे महावीर ! यज्ञ को शिर से पूर्ण करने के लिए मैं तुमको अग्नि में पकाता हूँ।

(७५) "*मखाय*" (मं०) अर्थ पूर्ववत् है।

(७६–८१) ऋजवे त्वा। साधवे त्वा। सुक्षित्यै त्वा। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। (यजु० अ० ३७ मं० १०)

म० ध० का०—(२६।१।२५) पक्वानुद्धरत्यृजवे त्वेति प्रतिमन्त्रम्। (१४)

पक्वान्महावीरानापाकादिवोद्धरति त्रिभिर्मन्त्रैरित्यर्थः। ऋजवे। असौ लोक ऋजुः तत्र सत्यमेव न तु कौटिल्यम् सत्यमादित्यः। हे महावीर ! ऋजवे सत्यादित्याय त्वा त्वाम् उद्वपामीति शेषः तथा च श्रुतिः (श० ब्रा० १४।१।२।२३)

(८२) स उद्वपत्यृजवे त्वेत्यसौ वै लोक ऋजुः सत्य ᳫं ह्यजुः सत्यमेष य एष तपत्येष उ प्रथमः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाहर्जवे त्वेति। अथ द्वितीयम्। साधवे त्वा साधवे वायवेऽर्थाय वायुप्रीत्यै त्वामुद्वपामि। तथा च श्रुतिः (१४।१।२।२३)

(८३) साधवे त्वेत्यय ᳫं साधुर्योऽयं पवत एव ह्रीमांल्लोकान्सिद्धोऽनु पवत एष उ द्वितीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैत्प्रीणाति तस्मादाह साधवे त्वेति। अथ तृतीयम्। सुक्षित्यै त्वा। सुतरां क्षियन्ति निवसन्ति सर्वभूतानि यस्यां सा सुक्षितिर्भूमिः (तथा च श्रुतिः १४।१।२।२४)

(८४) सुक्षित्यै त्वेत्ययं वै लोकः सुक्षितिरस्मिन् हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्त्यथो अग्निर्वै सुक्षितिरग्निर्ह्येवास्मिन् लोके सर्वाणि भूतानि क्षियत्येष उ तृतीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवै-तत्प्रीणाति तस्मादाह सुक्षित्यै त्वेति।

का०—(२६।१।२६) अजापयसाऽवसिञ्चति मखायेति प्रतिमन्त्रम्। (१५)

भाषा

(७६–८१) "ऋजवे त्वा०" (मं०)

"पक्वानुद्धरत्यृजवे त्वेति प्रतिमन्त्रम्" (का०) (१४)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि पक्व हो जाने पर "ऋजवे त्वा" इत्यादि मंत्र से एक एक महावीर को अग्निकुण्ड से निकाले। और मंत्र का यह अर्थ है कि हे महावीर ! सूर्य की प्रसन्नता के लिए मैं तुमको निकालता हूँ।

(८२) *"स उद्वप०"* (ब्रा०) "ऋजवे त्वा" इस मंत्र से महावीर को निकालै क्योंकि यह लोक ऋजु अर्थात् सत्य रूपी सूर्य है इस सूर्य को इस मंत्र से प्रसन्न करता है।

(८३) *"साधवे त्वा०"* (मं०) हे द्वितीय महावीर वायु की प्रसन्नता के लिए मैं तुमको निकालता हूँ। *"साधवे त्वा०"* (ब्रा०) इन्हीं वायु को साधु कहते हैं इसलिये इस मंत्र से वायु को प्रसन्न करता है।

(८४) *"सुक्षित्यै०"* (मं०) हे तृतीय महावीर ! अग्नि की प्रसन्नता के लिए मैं तुमको निकालता हूँ। *"सुक्षित्यै त्वे०"* (ब्रा०) सब भूतों को जगाने वाला क्षय रूप अग्नि को सुक्षिति कहते हैं। उनको इस मंत्र से प्रसन्न करता है।

"अजापयसा सिञ्चति मखायेति प्रतिमन्त्रम्" (का०) (१५)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि अग्निकुण्ड से निकलते हुए प्रत्येक महावीरों पर *"मखाय"* इत्यादि तीन मंत्रो से बकरी के दूध का छींटा दे।

अजादुग्धेन त्रीन्महावीरांस्त्रिभिस्तुल्यमन्त्रैः सिञ्चतीत्यर्थः । मखाय मखशीर्ष्णे चाजापयसा सिञ्चामीत्यर्थः ।

(८५) अथैनानाच्छृणत्ति अजायै पयसेति (श० ब्रा० १४।१।२।२५)

(८६–८६) यमाय त्वा। मखाय त्वा । सूर्यस्य त्वा तपसे । देवस्त्वा सवितामध्वानक्तु। पृथिव्याः स ँ स्पृशस्पाहि । अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि(यजु० अ० ३७ मं० ११)

म० ध०—का० (२६।२।१३) ब्रह्मानुज्ञातो यमाय त्वेति महावीरं प्रोक्षति । (१६)

प्रचरेति ब्रह्मणाऽनुज्ञातोऽध्वर्युरुपविश्य यमाय त्वेति मन्त्रत्रयेण प्रचरणीयं महावीरं वारत्रयं प्रोक्षतीत्यर्थः । त्रीणि यजूंषि । यमयति नियच्छति सर्वमिति यम आदित्यस्तत्प्रीत्यै त्वा त्वां प्रोक्षामि । तथा च श्रुतिः (श० ब्रा० १४।१।३।४)

(९०) स प्रोक्षति यमाय त्वा एष वै यमो य एष प्रतपत्येष हीद ँ सर्वं यमयत्येतेनेद ँ सर्वं यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति। मखाय त्वा । मखो यज्ञः प्रवर्ग्यः सूर्यरूपस्तस्मै त्वां प्रोक्षामि । तथा श्रुतिः (श० ब्रा० १४।१।३।५)

(९१) एष वै मखाय एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह मखाय त्वेति। सूर्यस्य त्वा तपसे । तपतीति तपस्तेजः सूर्यतेजोरूपाय प्रवर्ग्याय त्वां प्रोक्षामि । तथा च श्रुतिः (श० ब्रा० १४।१।३।६)

भाषा

"*मखाय०*" (मं०) हे महावीर ! यज्ञ को शिर से पूर्ण करने के लिए मैं तुमको बकरी के दूध से सींचता हूँ । "*मखाय०*" (मं०) अर्थ पूर्ववत् है। "*मखाय०*" (मं०) अर्थ पूर्ववत् है।

(८५) "*अथैना०*" (ब्रा०) तदनन्तर महावीरों को बकरी के दूध से स्नान करावे ।

(८६–८९) "*यमाय त्वा*"० (मं०)

"*ब्रह्मानुज्ञातो यमायत्वेति महावीरं प्रोक्षति*" (का०) (१६)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि ब्रह्मा (निरीक्षक ऋत्विज्) की अनुज्ञा से अध्वर्यु "*यमाय त्वा*" इत्यादि तीन मंत्रों से तीन महावीरों को क्रम से स्नान कराता है। और मंत्र का अर्थ यह है कि हे महावीर ! यम अर्थात् सूर्य की प्रसन्नता के लिए मैं तुमको स्नान कराता हूँ ।

(९०) "*यमाय त्वे०*" (ब्रा०) जो यह सूर्य तपता है वही यम है इसलिए "*यमाय त्वा*" इस मंत्र से उसको प्रसन्न करता है ।

"*मखाय त्वा०*" (मं०) हे महावीर ! यज्ञ अर्थात् सूर्य की प्रसन्नता के लिये मैं तुमको स्नान कराता हूँ ।

(९१) "*एष वै०*" (ब्रा०) मख यही जो तपता है इसलिए "*मखाय त्वा*" मंत्र से इसी को प्रसन्न करता है ।

"*सूर्यस्य त्वा०*" (मं०) हे महावीर ! सूर्य के तेज को प्रसन्न करने के लिए मैं तुमको स्नान कराता हूँ ।

(६२) एषवै सूर्यो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह सूर्यस्य त्वा तपस इति।

का० (२६।२।२०) अञ्जन्तीत्युच्यमाने देवस्त्वेत्यनक्ति महावीरमाज्यं संस्कृत्य। (१७)

होत्रा "अञ्जन्ति यम्प्रथयन्ति" इति मन्त्रे पठ्यमानेऽध्वर्युराज्यं विधिना संस्कृत्य तेनाज्येन प्रचरणीयं महावीरं मन्त्रेणानक्ति। सविता देवः मध्वा मधुना मधुरेण जगद्रूपेणाज्येन हे महावीर! त्वामनक्तु लिम्पतु मध्वेति नुमभावः आगमस्यानित्यत्वात्। तथा च श्रुतिः (श० ब्रा० १४।१।३।१३)

(६३) सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्च तदेनमनेन सर्वेण समनक्तीति।

(का० २६।२।२१) रजतशतमानं खर उपगूहति पृथिव्याः स ᳫँ स्पृश इति। (१८)

रजतस्य शतमानं शतरक्तिकामितं रजतं खरे सिकताऽन्तरुपगूहतीत्यर्थः। प्राजापत्या गायत्री रजतदेवत्या। संस्पृशति उपद्रवार्थं स्पर्शं करोतीति संस्पृक् राक्षसः किञ्चन्तम् पृथिव्याः संबन्धिनः संस्पृशः राक्षसात् महावीरं हे रजत! त्वं पाहि रक्ष। देवा राक्षसेभ्यो भीताः सन्तो यज्ञरक्षार्थमग्नेरपत्यं रजतं रक्षसां घाताय खरे निदधुः अथ च पृथ्वी महावीरपाकेऽग्नेर्भीता ततोऽसौ मा दह्यतामिति रजतं खरेऽन्तर्हितमिति श्रुतौ कथा। तथा च श्रुतिः (श० ब्रा० १४।१।३।१४) देवा अबिभयुर्यद्वैन इममधस्तात्रक्षा ᳫँ सि नाष्ट्रा न हन्युरित्यग्नेर्वा एतद्रेतो यद्धिरण्यं नाष्ट्राणा ᳫँ रक्षसामपहत्या इति तथा (श० ब्रा० १४।१।३।१४)

(६४) अथो पृथिव्यु ह वा एतस्माद्बिभयांचकार यद्वै माऽयं तप्तः शुशुचानो न हिंस्यादिति तदेवास्या एतदन्तर्दधाति रजतमिति।

भाषा

(६२) "एष वै" (ब्रा०) सूर्य का जो यह तेज तपता है उसी को प्रसन्न करने के लिए "सूर्याय त्वा" यह मंत्र पढ़ा जाता है।

"अञ्जन्तीत्युच्यमाने देवस्त्वेत्यनक्ति महावीरमाज्यं संस्कृत्य" (का० १७)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि जब 'होता' नामक ऋत्विज् *"अञ्जन्ति यम्प्रथयन्ति"* इस मंत्र को पढ़ने लगै उस समय अध्वर्यु, संस्कार किये हुए घी को महावीर की प्रतिमा में लेप करै।

"देवस्त्वा०" (मं०) हे महावीर! सूर्य देव तुमको मधुर घी से लेप करैं।

(६३) "सर्वं वा" (ब्रा०) जो कुछ है सब घी है इसलिए जो घी से लेप करता है वह मानो सब उत्तम वस्तुओं से लेप करता है।

"रजतशतमानं खर उपगूहति पृथिव्याः स ᳫँ स्पृश" इति (का०) (१८)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि सौ रत्ती चांदी, बालू के भीतर डालता है "संस्पृश" इस मंत्र से।

"संस्पृश" (मं०) हे रजत! तुम राक्षसों से महावीर की रक्षा करो।

(६४) "अथो०" (ब्रा०) पृथ्वी पहले डरती है कि कदाचित् महावीर को पाक करता हुआ अग्नि मुझको जला दे। इसलिये रजत को पृथ्वी अर्थात् बालू के भीतर रखता है।

(का०) (२६।३।३।४) स ७ँ सीदस्वेत्युच्यमाने मुञ्जप्रलवान् द्विगुणानादीप्य प्रतिदिशं खरे करोति तेषु महावीरमाज्यवन्तमर्चिरसीति (१९)

'होत्रा म ७ँ सीदस्व' (११।५७) इति पठ्यमानेऽध्वर्युर्द्विगुणितान्मुञ्जखण्डान् गार्हपत्ये प्रदीप्य खरे चतुर्दिक्षु कृत्वा तेषु मुञ्जेषु संस्कृताज्यपूर्णं प्रचरणीयं महावीरं निदधातीति सूत्रार्थः। यजुस्त्रिष्टुप् घर्मदेवत्या। हे महावीर ! त्वमर्चिः चन्द्रकान्तिरूपोऽसि शोचिरग्नितेजोरूपोऽसि तपः सूर्यातपरूपोऽसि।

(९५) एष वै घर्मो य एष तपति सर्वं वा एतदेष तदेतमेवैतत्प्रीणाति (श० ब्रा० १४।१।३।१७) इति श्रुतेः।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ इति।
(भगवद्गीता १५।१२) स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

(९६–१०१) अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्य आयुर्मे दाः।
पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः।

भाषा

"स ७ँ सीदस्वेत्युच्यमाने मुञ्जप्रलवान् द्विगुणानादीप्य प्रतिदिशं खरे करोति तेषु महावीरमाज्यवन्तमर्चिरसीति" (का०) (१९)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि जिस समय 'होता' नामक ऋत्विग् 'स ७ँ सीदस्व' इस मंत्र को पढ़े उस समय अध्वर्यु द्विगुणित मूजों के समूहों को नीचे वालुका पर चारों दिशा में भ्रमण कराकर 'त्वमर्चिः' इत्यादि तीन मंत्रों से उसी मूंज समूह पर महावीर को रखता है।

"अर्चि०" (मं०) हे महावीर तुम चन्द्रमा के तेज रूपी हो।

"शोचि०" (मं०) हे महावीर तुम अग्नि के तेज रूपी हो।

"तपो०" (मं०) हे महावीर तुम सूर्य के तेज रूपी हो।

(९५) "एष वै०" (ब्रा०) यह (महावीर) घर्म हैं जो जपते हैं, 'तपोसि' मंत्र से इनको प्रसन्न करता है।

(९६–१०१) "*अनाधृष्टाः*" (मं०) हे पृथ्वि ! जो तुम राक्षसों से आक्रान्त न हो कर पूर्व दिशा में अग्नि के अधीन हो सो तुम मुझे आयु (जीवन) दो।

"अनाधृष्टेति वाचयति प्रादेशमध्यधि धारयन्तम्" (का०) (२०)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि महावीर के ऊपर प्रादेश (उठे अङ्गूठे वाली मूठ) रखे हुए यजमान से अध्वर्यु 'अनाधृष्टाः' इत्यादि सात मन्त्रों को पढ़वाता है।

"अग्निमेवा" (ब्रा०) अग्नि ही को पृथ्वी का स्वामी बनाता है।

"पुत्रवती०" (मं०) जो तुम दक्षिण दिशा में इन्द्र के स्वामित्व से पुत्रवती हो सो तुम मुझे पुत्रादि प्रजा दो।

सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः ।
आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः ।
विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्य ओजो मे दाः ।
विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि (यजु० अ० ३७ मं० १२)

म० ध० (का०) (२६।३।५) अनाधृष्टेति वाचयति प्रादेशमध्यधि धारयन्तम् । (२०)

महावीरोपरि अङ्गुष्ठङ्गुलिदेशं धरन्तं यजमानमध्वर्युर्मन्त्रान्वाचयतीति सूत्रार्थः । सप्त यजूंषि पृथिवी देवत्यानि यजमानस्याशीः । हे पृथिवि या त्वम् पुरस्तात् पूर्वस्याम् दिशि अनाधृष्टा रक्षोभिरनाधर्षिता अग्नेराधिपत्ये स्वामित्वे सति मे मह्यं आयुर्दाः देहि ददातेर्लुङि मध्यमैकवचनेऽडभाव आर्षः ।

(१०२) अग्निमेवास्या अधिपतिं करोति (१४।१।३।१९)

इति श्रुतेः । या त्वं दक्षिणस्यां दिशि इन्द्रस्याधिपत्ये सति पुत्रवती पुत्रयुता सा मे मह्यं प्रजां पुत्रादिकाम् दाः देहि ।

(१०३) इन्द्रमेवास्याधिपतिं करोति नाष्ट्राणा ँ रक्षसामपहत्या (१४।१।३।२१)

इति श्रुतेः । या त्वं पश्चात् पश्चिमस्यां दिशि सुषदा भवसि सुष्ठु अस्यां सीदन्ति जना इति सुषदाः । ईषद्दुः सुष्विति खल् प्रत्ययः सवितुर्देवस्याधिपत्ये सति सा त्वं मे चक्षुः नेत्रेन्द्रियं दाः देहि ।

(१०४) देवमेवास्यै सवितारमधिपतिं करोति (१४।१।३।२१)

इति श्रुतेः । हे पृथिवि ! या त्वमुत्तरतः उत्तरस्यां दिशि धातुर्ब्रह्मणः आधिपत्ये सति आश्रुतिरसि आश्रावयन्ति ऋत्विजो यस्यां सा आश्रुतिः यज्ञियो ह्युत्तरदेशः सा त्वं मे रायो धनस्य पोषं पुष्टिं दाः देहि ।

(१०५) धातारमेवास्या अधिपतिं करोति (१४।१।३।२२)

भाषा

"*सुषदा*" (मं०) जो तुम पश्चिम दिशा में लोगों के बैठने योग्य हो सो तुम सूर्य देवता के स्वामित्व से मुझे नेत्र इन्द्रिय दो ।

"*आश्रुतिः*" (मं०) हे पृथ्वि ! जो तुम उत्तर दिशा में ऋत्विजों के मंत्र पढ़ने का स्थान हो सो तुम ब्रह्मा के स्वामित्व से मुझे अधिक धन दो ।

"*विधृतिः*" (मं०) हे पृथ्वि ! जो तुम ऊपर जुहू आदि को विशेष से धारण करती हो सो तुम बृहस्पति के वामित्व से मुझे बल दो ।

(१०२) "*अग्निमेव०*" अग्नि ही को पृथ्वी का अधिपति बनाता है ।

(१०३) "*इन्द्रमेव०*" इन्द्र ही को पृथ्वी का अधिपति बनाता है ।

(१०४) "*देवमेव०*" सूर्य ही को पृथ्वी का अधिपति बनाता है ।

(१०५) "*धातार०*" (ब्रा०) ब्रह्मा ही को पृथ्वी का अधिपति बनाता है ।

इति श्रुतेः। या त्वमुपरिष्टात् उपरि देशे बृहस्पतेराधिपत्ये सति विधृतिरसि विशेषेण धारयंतीति विधृतिः उपरिष्टाज्जुह्वादिकं ध्रियते सा त्वं मे मह्यं ओजो बलं दाः देहि।

(१०६) बृहस्पतिमेवास्या अधिपतिं करोति (१४।१।३।२३) इति श्रुतेः।

(का०)—विश्वाभ्यो मेति दक्षिणत उत्तानं पाणिं निदधाति (२१)

महावीराद्दक्षिणभूमौ यजमानो मन्त्रं पठन् स्वकरं निदधात्युत्तानम्। यजुर्बृहती। हे महावीरदक्षिणभूमे! विश्वाभ्यः सर्वाभ्यः नाष्ट्राभ्यः नाशकर्त्रीभ्यः पिशाचादिभ्यो लोकप्रसिद्धम् नोऽस्मान् पाहि रक्ष।

(१०७) सर्वाभ्यो माऽर्तिभ्यो गोपाय (१४।१।३।२४)

इति श्रुतेः। "छन्दसि वा प्राम्रेडितयो'रिति विसर्गस्य सत्वम्" (का०) (१६।३।८)

मनोरश्वेति प्रादेशमुत्तरतः। (का०) (२२)

महावीरादुत्तरतो यजमानो निजप्रदेशं निदधातीति सूत्रार्थः। दैवी पङ्क्तिः। हे धर्मोत्तरभूमे! त्वं मनोः राज्ञः अश्वा वडवासि वहनाय।

(१०८) अश्वा ह वा इयं भूत्वा मनुमुवाह (१४।१।३।२५) इति श्रुतेः ॥१२॥

(१०९–११३) स्वाहा मरुद्भिः परिश्रीयस्व। दिवः स ँ स्पृशस्पाहि। मधु मधु मधु (३७।१३)

म० ध०—(का०) (२६।३।६।१०) धृष्टिभ्यां भस्मना परिकीर्याङ्गारैश्च विकङ्कतशकलैः परिश्रयति त्रयोदशभिः प्रागुदग्भिः, स्वाहा मरुद्भिरित्यधिकं दक्षिणतो द्वौ मन्त्रेण। (२३)

भाषा

"विश्वाभ्यो०" (मं०)

(१०६) "बृहस्पतिमेवा०" (ब्रा०) बृहस्पति ही को पृथ्वी का अधिपति बनाता है।

"विश्वाभ्यो मेति दक्षिणत उत्तानं पाणिं निदधाति" (का०) (२१)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि महावीर के दक्षिण भूमि पर इस मंत्र से यजमान अपना उत्तान हाथ रखता है।

इस मंत्र का यह अर्थ है कि हे महावीर की दक्षिण भूमि! नाश करने वाली पिशाचिनी आदि सब से मेरी रक्षा करो।

(१०७) "सर्वाभ्यो०" (ब्रा०) सब आपत्तियों से मेरी रक्षा करो।

"मनोरश्वेति प्रादेशमुत्तरतः" (का०) (२२)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि महावीर की उत्तर भूमि पर यजमान अपना प्रादेश रखता है। "मनोर" (मं०) हे महावीर की उत्तरभूमि! तुम चढ़ने के लिए मनु राजा की घोड़ी हो। (१०८) "अश्वा ह०" (ब्रा०) यह महावीर की दक्षिण भूमि घोड़ी होकर मनु को ले चलती है।

(१०९–११३) "स्वाहा मरुद्भिः" (मं०)

"धृष्टिभ्यां भस्मना परिकीर्याङ्गारैश्च विकङ्कतशकलैः परिश्रयति त्रयोदशभिः प्रागुदग्भिः स्वाहा मरुद्भिरित्यधिकं द्वौ मन्त्रेण" (का०) (२३)

अध्वर्युर्धृष्टिभ्यां गार्हपत्यस्य भस्माङ्गारांश्च महावीरं परितो निक्षिप्य प्रागग्रैरुदगग्रैस्त्रयोदश विकङ्कतशकलैर्महावीरं परिवेष्टयति अङ्गारोपरि शकलान्निक्षिपतीत्यर्थः। तन्मध्याद्वौ शकलौ मन्त्रेण प्राञ्चौ निदधाति शेषां तूष्णीम्। एवं प्रतिदिशं त्रिषु त्रिषु स्थितेषु अधिकं त्रयोदशं दक्षिणतो निदधातीति सूत्रार्थः। मासानां त्रयोदशत्वात् त्रयोदशशकलैराच्छादनम्।

(११४) त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यः (१४। १।३।२८) इति श्रुतेः। यजुः पङ्क्तिर्धर्मदेवत्या हे घर्म! त्वं स्वाहाकारोऽसि हविराधारत्वात्सूर्यरूपोऽसि।

(११५) एष वै स्वाहाकारो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यः (१४।१।३।२६)

इति श्रुतेः। अतस्त्वं मरुद्भिः प्रजाभिरस्मद्रूपाभिः परिश्रीयस्व सेव्यस्व। कर्मणि यक्। मरुतस्त्वामाश्रयन्त्वित्यर्थः।

(११६) विशो वै मरुतो विशैवैतत् क्षत्रं परिबृ ँ हति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिबृढम् (१४।१।३।२७) इति श्रुतेः।

(का०) (२६।२।१०) सुवर्णशतमानेनापिदधाति दिवः स ँ स्पृश इति। (२४)

भाषा

इस सूत्र का यह अर्थ है कि अध्वर्यु, गार्हपत्य अग्नि के भस्म और अङ्गारों को महावीर के चारों ओर धृष्टि (स्रुवाविशेष) रख कर उन अङ्गारों के उत्तर महावीर के एक २ दिशा में तीन तीन विकङ्कत (कोयला विशेष) के खण्डों को रखता है और उनमें पूर्व दिशा के दो खण्डों को मन्त्र से और अवशिष्ट खण्डों को चुपके से रखता है। एक वर्ष में मलमास लेकर तेरह महीने होते हैं इसी से तेरह खण्ड अध्वर्यु रखता है जिनमें से प्रत्येक दिशा में तीन २ खण्ड होने से बारह खण्ड होते हैं। और एक खण्ड जो बचता है उसको *"स्वाहा मरुद्भिः"* इस मन्त्र से महावीर की दक्षिण दिशा में रखता है। और इसी मन्त्र से पूर्व दिशा वाले उक्त दो खण्डों को भी। और मन्त्र का यह अर्थ है कि हे महावीर? तुम स्वाहाकार अर्थात् सूर्य रूप हो। इससे हम सब प्रजा तुम्हारी सेवा करें। इस सूत्र से उक्त १३ खण्ड में प्रमाण ब्राह्मण वाक्य और इस मन्त्र में 'स्वाहाकार' शब्द का सूर्य और मरुत् शब्द का प्रजा अर्थ होने में प्रमाण ये दो ब्राह्मणवाक्य हैं।

(११४) *"त्रयोदश वै"* (ब्रा०) एक वर्ष के १३ मास होते हैं और वर्ष यही है जो कि तपता है अर्थात् सूर्य रूपी महावीर।

(११५) *"एष वै०"* (ब्रा०) यही स्वाहाकार है, जो तपता है अर्थात् सूर्य रूपी महावीर।

(११६) *"विशो वै०"* (ब्रा०) प्रजा ही मरुत है क्योंकि प्रजा ही का क्षत्रिय स्वामी होता है।

"सुवर्णशतमानेनापिदधाति दिवः स ँ स्पृश इति" (का०) (२४)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि चौबीस रत्ती सुवर्ण के बने हुए पत्र से "दिवः स ँ" इस मंत्र को पढ़ महावीर को आच्छादित करता है।

शतरक्तिकापरिमितेन सुवर्णेन महावीरमाच्छादयतीति सूत्रार्थः। दैवी जगती सुवर्णदेवत्या। हे शतमान! दिवः द्युलोकसम्बन्धिनः संस्पृशः स्पर्शकर्तॄन् देवान् पाहि। "देवा राक्षसेभ्यो भीता महावीररक्षायै स्वर्णं स्थापितवन्त" इति श्रौती कथा।

(११७) देवा अबिभयुर्यद्वै न इममधस्ताद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरित्यग्नेर्वा एतद्रेतो यद् हिरण्यं नाष्ट्राꣳरक्षसामपहत्यै इति (श० १४।१।३।३६)

(का० २६।४।२) कृष्णाजिनावक्तैर्धवित्रैरुपवीजयति त्रिभिर्दण्डवद्भिर्मधु मध्विति। (२५)

कृष्णाजिनकृतैर्दण्डयुक्तैस्त्रिभिर्व्यजनैरग्निं वीजयति दीपनायेति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि प्राणदेवत्यानि दैव्युष्णिक्। मधुररससाम्यात् प्राणो मधु उच्यते। मधु मधु मधु प्राणोदानव्यानत्रयं महावीरे स्थापयतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः (श० १४।१।३।३०)

(११८) अथ धवित्रैराधुनोति मधु मध्विति त्रिः प्राणो वै मधु प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति। त्रीणि भवन्ति त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्दधातीति।

(११९) गर्भो देवानां पिता मतीनां पतिः प्रजानाम्। सं देवो देवेन सवित्रा गत सꣳ सूर्येण रोचते। (यजु० अ० ३७ मं० १४)

म० ध०—(का० २६।४।११) परिक्रम्योपतिष्ठन्तेऽकृतं चेद् गर्भो देवानामिति। (२६)

भाषा

"*दिवः सꣳ स्पृशः*" (मं०) हे शतमान (सौ रत्ती सुवर्ण)! तुम स्वर्ग को स्पर्श करने वालों (देवता) की रक्षा करो। क्योंकि देवता, राक्षसों से डरकर महावीर की रक्षा के लिए सुवर्ण रखते हैं। यह आख्यायिका इस ब्राह्मण में है जो कि अब लिखी जाती है।

(११७) "*देवा अबिभयु०*" (ब्रा०) देवता लोग यह डरते हैं कि मेरे इस महावीर को भूलोक में नाशक राक्षस कदाचित् मारें इससे नाशक राक्षसों के नाशार्थ, अग्नि का वीर्य यह सुवर्ण है।

"*कृष्णाजिनावक्तैर्धवित्रैरुपवीजयति त्रिभिर्दण्डवद्भिर्मधु मध्विति*" (का०) (२५)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि कृष्ण मृगचर्म के बने हुए ३ पंखाओं से अग्नि को प्रज्वलित करता है। "*मधु मधु०*" (मं०) यह मन्त्र महावीर मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा के लिये है और इसमें एक २ मधु शब्द पृथक् पृथक् मन्त्र हैं, इससे वे ३ मन्त्र हैं, और इनका अर्थ जिस ब्राह्मण वाक्य में है वह यह है कि—

(११८) "*अथ धवित्रै०*" (ब्रा०) तदनन्तर "*मधु मधु मधु*" इन मन्त्रों को पढ़कर पंखाओं से अग्नि को प्रज्वलित करता है, क्योंकि प्राण ही को मधु कहते हैं, और वे मन्त्र ३ हैं, तथा प्राण भी ३ अर्थात् प्राण, उदान, व्यान। इसलिये इन ३ मन्त्रों से इन तीन प्राणों को महावीर की मूर्ति में प्रतिष्ठित करता है।

(११९) "*गर्भो देवानां०*" (मं०) देव अर्थात् रश्मियों का गर्भ (ग्रहण करने वाले) तथा बुद्धियों के पिता (पालक) और प्रजाओं के पति महावीर सूर्य देव के साथ मिलते हैं और मिलित होकर दीप्त होते हैं अर्थात् उनकी हम स्तुति करते हैं।

"*परिक्रम्योपतिष्ठन्तेऽकृतं चेद्गर्भो देवानामिति*" (२६)

धवित्रैर्वीजनसमये उत्तरं देववत् परिक्रमणं प्रागकृतं चेदिह त्रिः परिक्रम्येतरथाऽऽवृत्तिं सकृत् कृत्वा "गर्भो देवानामि"त्यादिभिः, नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीरित्यन्तैरवकाशसंज्ञकैर्मन्त्रैः सयजमाना ऋत्विजो महावीरमुपतिष्ठन्त इति सूत्रार्थः। घर्मदेवत्या अवकाशमन्त्रा मा मा हिंसीरित्यन्ताः आद्या ऋचां पङ्क्तिः। अथ मन्त्रार्थः। देवो दीप्यमानो महावीरः सवित्रा देवेन सह सङ्गत सङ्गच्छते। गमेर्लुङि 'वा गम' इति विकल्पेनात्मनेपदे सिचः कित्वा-'दनुदात्तोपदेशे'ति मलोपे 'ह्रस्वादङ्गादिति' सिचो लोपः 'बहुलं छन्दस्यमाङ् योगेऽपी' त्यडभावः "समो गमि"त्यादिना तङ्। यश्च घर्मः सूर्येण सहैकीभूतः सन् संरोचते सम्यग् दीप्यते तं वयं स्तुम इति शेषः। कीदृशः? देवानां दीप्तानां रश्मीनां दृश्यमानानां सर्वेषां वा गर्भः गृह्णातीति गर्भः ग्रहीता। (१४।१।४।२)

(१२०) एष वै गर्भो देवानां य एष तपत्येष हीद ँ सर्वं ँ संगृभ्णात्येतेनेद ँ सर्वं ँ गृभीतमेष उ प्रवर्ग्य इति श्रुतिः, तथा मतीनां बुद्धीनां पिता पालकः बुद्धिप्रवर्तकः प्रजानां पतिः पालकः॥ १४॥

(१२१) समग्निरग्निना गत सं दैवेन सवित्रा स ँ सूर्येणारोचिष्ट। स्वाहा समग्निस्तपसा गत सं दैव्येन सवित्रा स ँ सूर्येणारूरुचत् (य० अ० २७ मं० १५)

म० ध०—ब्राह्मचतुष्टुप्। यः अग्निः घर्मः अग्निना सह संगत सङ्गच्छते यश्च सूर्येण सह समरोचिष्ट संरोचते (१४।१।४।६)

(१२२) अवरं स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः इति श्रुतेः। स्वाहा अग्निः स्वाहासहितोग्निर्घर्मस्तपसा सूर्यतेजसा सङ्गत सङ्गच्छते। दैव्येन देवेन सवित्रा च सङ्गच्छते सूर्येण सह समरूरुचत सर्वं सम्यक् रोचयति प्रकाशयति रोचतेर्णिजन्ताल्लुङ्, वयं तं स्तुम इति शेषः॥ १५॥

भाषा

इस सूत्र का यह अर्थ है कि यदि पूर्व ही अर्थात् पंखा हाँकने के अनन्तर तुरत ही तीन प्रदक्षिणा महावीर की न हुई हो तो ३ वार, हुई हो तो १ बार यजमान सहित सब ऋत्विज् प्रदक्षिणा कर "*गर्भो देवानाम*" इस मन्त्र से लेकर "*नमस्ते अस्तु मा मा हि ँ सीः*" इस मन्त्र पर्यन्त इन "अवकाश" नामक मन्त्रों से महावीर की स्तुति करते हैं (वे मन्त्र क्रम से लिखे जाते हैं परन्तु बीच २ में यथा संभव इनका ब्राह्मण भी लिखा जाता है)।

(१२०) "*एष वै गर्भो०*" (ब्रा०) वही तेजों के गर्भ हैं जो कि यह तपते हैं, अर्थात् सूर्य रूपी महावीर।

(१२१) "*समग्नि०*" (मं०) जो अग्नि रूपी महावीर अग्नि के साथ मिलते हैं, और सूर्य के साथ मिलकर दीप्त होते हैं। अग्नि से मिलित महावीर, सूर्य के तेज और सूर्य देव से भी मिलते हैं, और सब जगत् को प्रकाशित करते हैं।

(१२२) "*अवरं०*" (मं०) महावीर को सूर्य रूपी परा देवता बनाता है।

(१२३) धर्ता दिवो विभाति तपसस्पृथिव्यां धर्ता देवो देवानाममर्त्यस्तपोजाः। वाचमस्मे नियच्छ देवा युवम् (य० अ० ३७ मं० १६)

म० ध०—ऊर्ध्वबृहती, त्रिजागतोर्ध्वबृहती। अत्राद्यौ त्रयोदशवर्णौ तृतीयएकादशवर्णस्तेनैकाधिका। स देवो घर्मः अस्मे अस्मासु। विभक्तेः शे आदेशः। वाचं नियच्छ पुरुषव्यत्ययः। यज्ञं नियच्छतु स्थापयतु। किं भूतां वाचम्? देवयुवम्, देवान् यौति मिश्रयति देवयुः ताम्, क्विपि तुगभाव आर्षः। अनित्यमागमशासनमिति वचनात्। देवसमूहमाह्वयन्तं यज्ञं समापयत्वित्यर्थः।

(१२४) यज्ञो वै वाग्यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ येन देवान्प्रीणामेत्येवैतदाहेति (१४।१।४।८)

श्रुतेः देवयुवमित्यत्र संहितायां वकाराकारस्य दीर्घः। स कः ? यो देवः पृथिव्यां विभाति शोभते। कीदृशः ? दिवो धर्ता द्युलोकस्य धारयिता तपसः रश्मिजालस्य च धर्ता। देवानाञ्च धर्ता। अमर्त्यः मनुष्यधर्मरहितः अजरामरः। तपोजाः तप आदित्यस्तस्माज्जायत इति तपोजाः सूर्योत्पन्नः ॥ १६ ॥

(१२५) अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ (य० ३७ मं० १७)

म० ध०—त्रिष्टुब्दीर्घतमोदृष्टा। स घर्मो भुवनेषु त्रिषु लोकेषु अन्तर्मध्ये व्यवस्थितः आवरीवर्ति पुनः पुनरावर्तते, वृतेर्यङ्लुकि रूपम्। कीदृशः ? सध्रीचीः सह अञ्चन्तीति सध्रीच्यः सहस्य सध्रिरादेशः सहाञ्चना दिशो रश्मीन् वा वसानः आच्छादयन् वस आच्छादने शानच् प्रत्ययः। विषूचीः विषुनिपातो नानार्थः, विषु अञ्चन्तीति विषूच्यः ताः नानाञ्चना दिशो रश्मीन् वा वसानः क्विबन्तादुगितश्चेति ङीपि अचश्च इत्यलोपे, चाविति पूर्वपददीर्घः।

(१२६) सध्रीचीश्च स ह्येष विषूचीश्च दिशो वस्तेऽथो रश्मीनिति (१४।१।४।१०) श्रुतिः। एकः सशब्दः पादपूरणः। स कः ? यमहमपश्यमादित्यरूपं पश्यामि। कीदृशम् ? गोपाम् गोपायतीति गोपास्तम् क्विपि यलोपः। अनिपद्यमानं निपद्यते पततीति निपद्यमानः, न निपद्यमानोऽनिपद्यमानस्तं, अन्तरिक्षे गच्छन्तमपि नाधः पतन्तम्, च पुनः पथिभिः देवमार्गैः आचरन्तमागच्छन्तं पराचरन्तं च गमनागमने कुर्वाणम् ॥ १७ ॥

भाषा

(१२३) "धर्ता दिवो०" (मं०) जो महावीर देव स्वर्ग लोक और तेज समूह तथा देवताओं को धारण करते, सूर्य से उत्पन्न और अजर अमर होकर पृथ्वी पर शोभित हैं वह, देव समूह को बुलाने वाले इस वाक्‌रूपी यज्ञ को स्थापन करै।

(१२४) "यज्ञो वै०" (ब्रा०) यज्ञ ही वाक् है।

(१२५) "अपश्यन्०" (मं०) जिसको हम आकाश में आते जाते देखते हैं वही सूर्य तीनों लोकों में महावीर रूप से व्यवस्थित और अनेक प्रकार के तेज को धारण करते हैं।

(१२६) "स सध्री०" (ब्रा) वह यह महावीर अनेक तेजों को धारण किये हुये हैं।

(१२७) विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनसस्पते, विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते। देवश्रुत्त्वं देव घर्मदेवो देवान् पाहि अत्र प्रावीरनु वां देववीतये। मधुमाध्वीभ्यां मधुमाधूचीभ्याम् (य० अ० ३७ मं० १८)

म० ध०—अत्यष्टिः। हे विश्वासां भुवां पते सर्वासां पृथिवीनां स्वामिन् विश्वस्य सर्वप्राणिगतस्य मनसः पते! अधिपते! विश्वस्य वचसस्पते! सर्वप्राणिवचनस्य पालक! सर्वस्य त्रयीलक्षणस्य वचसः पते! प्रवर्तक! हे देवश्रुत्! देवैः श्रूयत इति देवश्रुत् देवप्रसिद्ध हे देव! दीप्यमान! हे घर्म! देवस्त्वं देवान्पाहि रक्ष। एवं घर्मं संप्रार्थ्याश्विनावाह, हे अश्विनौ! अत्र यज्ञे देववीतये देवतर्पणाय अनु अनन्तरं घर्मो वां प्रावीः प्रावीत् तर्पयतु लोडर्थे लुङ् पुरुषव्यत्ययश्च युवयोस्तृप्त्या सर्वे देवास्तृप्यन्तीति भावः। याभ्यां युवाभ्यां दध्याङ्ङाथर्वणो मधुसंज्ञकं ब्राह्मणमुवाच।

(१२८) दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधुनाम ब्राह्मणमुवाच (१४।१।४।१३)

इति श्रुतेः। कीदृशाभ्यां युवाभ्याम्। माध्वीभ्यां मधुब्राह्मणमीयाते तौ माध्व्यौ ताभ्याम्, 'ई गतौ' क्विप्। तथा माधूचीभ्यां मधुब्राह्मणमश्चतः पूजयतस्तौ मध्वञ्चौ ताभ्याम्, मध्वञ्चस्यामिति प्राप्ते ङीपि, अलोपे, मधूचीभ्यामिति लिङ्गव्यत्ययः, आदिदीर्घश्छान्दसः (य० अ० मं० १८)

(१२६) हृदे त्वा मनसे त्वा सूर्याय त्वा ऊर्ध्वो अध्वरं दिवि देवेषु धेहि (य० अ० ३७ मं० १६)

म० ध०—परोष्णिक्। आद्यावष्टार्णौ तृतीयो द्वादशार्णः सा परोष्णिक्, 'परोष्णिक् परत' इत्युक्तेः। आद्ययोर्व्यूहः। हे घर्म, हृदे त्वा हृदयस्वास्थ्याय त्वा त्वां स्तुम इति शेषः। मनसे मनः शुध्यर्थं त्वा त्वां स्तुमः, दिवे स्वर्गप्राप्त्यै, त्वा त्वां स्तुमः। सूर्याय सूर्यतृप्त्यै त्वा त्वां स्तुमः।

भाषा

(१२७) "*विश्वासां०*" (मं०) हे सब भूमियों के पति! सब प्राणियों के मनों के अधिपति सब प्राणियों के वचनों के पालक, वेदसम्प्रदाय के प्रवर्तक, देवताओं में प्रसिद्ध महावीर देव! घर्म तुम देव! देवों की रक्षा करो। हे दोनों अश्विन् देवों के तर्पणार्थ महावीर हमको तृप्त करैं। क्योंकि आप की तृप्ति से सब देवताओं की तृप्ति, इसकारण होती है कि, "दध्यङ्" आथर्वण ने आप दोनों को "मधु" नामक ब्राह्मण ग्रन्थ सुनाया है।

(१२८) "*दध्यङ् ह वा०*" (ब्रा०) दध्यङ् आथर्वण, दोनों अश्विनों से मधु नामक ब्राह्मण को कहते हैं। उक्त मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ—आप दोनों मधु ब्राह्मण को जानते और उसकी प्रशंसा करते हैं।

(१२६) "*हृदे त्वा०*" (मं०) हे घर्म (महावीर)! हृदय की स्वस्थता के लिये तथा मन के शुध्यर्थ और स्वर्ग लोक के प्राप्त्यर्थ तथा सूर्य की तृप्ति के लिये हम तुम्हारी स्तुति करते हैं, अर्थात् हमारे हृदय को स्वस्थ और मन को निर्मल कर हमको स्वर्ग पहुँचा कर सूर्य को तृप्त कीजिये और सावधान होकर मेरे इस यज्ञ को स्वर्ग लोक में देवताओं के समीप प्रसिद्ध कीजिये।

हृदयं मे संशोध्य मनो निर्मलं कृत्वा दिवमस्मान्नीत्वा सूर्यं तर्पयेति भावः। किञ्च ऊर्ध्वः सावधानः सन् अध्वरमस्मदीयं यज्ञं दिवि द्युलोके वर्तमानेषु देवेषु धेहि स्थापय, यज्ञे गते यजमानो गच्छत्येवेति भावः ॥ १६।

(१३०।१३१) पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः । त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान्पशून्मयि धेहि प्रजामस्मासु धेहि अरिष्टाहꣳ सह पत्या भूयासम् (य० अ० ३७ मं० २०)

म० ध०—ऋग्गायत्री हे महावीर ! त्वं नो अस्माकं पिताऽसि पालको भवसि पितेव नोऽस्मान् बोधि बोधय, सर्वथा नमस्ते अस्तु मा मां मा हिंसीः मा जहि। महावीरोपस्थानं समाप्तम् ।

(का०) त्वष्टृमन्त इत्येनां वाचयति । (२७)

महावीरमीक्षमाणामपनीतशिरोवस्त्रां घर्मं पश्यन्तीं पत्नीमध्वर्युर्वाचयतीत्यर्थः। ऋचां त्रिष्टुप् घर्मदेवत्या पत्न्याशीः । हे घर्म! वयं त्वा त्वां सपेम। स पतिः स्पृशतिकर्मा । मैथुनाय त्वामुपस्पृशामः । कीदृशा वयम् ? त्वष्टृमन्तः त्वष्टा विद्यते येषां ते त्वष्टृमन्तः त्वष्टा रेतसामधिकारी तत्सहिताः मैथुनार्थोपस्पर्शे वीर्याधिष्ठाताऽपेक्षितोऽत एतद्युताः। अतः पुत्रान् पशून् च मयि धेहि स्थापय प्रजामुत्तरोत्तरवंशवृद्धिम् अस्मासु धेहि स्थापय। किञ्च पत्या भर्त्रा सह अरिष्टा अनुपहिंसिता अहं भूयासम् भवेयम्। भर्तृमती चिरञ्जीवेयमित्यर्थः।

(१३२) वृषा वै प्रवर्ग्यो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते (१४।१।४।४६) इति श्रुतेः।

भाषा

(१३०।१३१) "*पिता नोऽसि०*" (मं०) हे महावीर ! आप हमारे पिता (पालक) हैं, पिता के ऐसा हमको समझाइये। आप को सर्वथा नमस्कार है। हम पर क्रूर दृष्टि न कीजिये। यहाँ तक महावीर की स्तुति हो चुकी।

"*त्वष्टमन्त इत्येनां वाचयति*" (का०) (२७)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि यजमान की पत्नी अपने शिर से वस्त्र उतार दे, और अध्वर्यु "त्वष्टृमन्त" इस मन्त्र को उस समय उससे पढ़ावै।

"त्वष्टृमन्तः" (मं०) हे घर्म (महावीर)! हम अपने पति के साथ मैथुन सुख के लिये तुमको स्पर्श करती हैं क्योंकि वीर्य के देवता त्वष्टा हमारे हृदय में हैं, इस कारण हमारे पुत्रों और पशुओं का स्थापन कीजिये, और मेरे वंश की उत्तरोत्तर वृद्धि कीजिये, तथा मैं अपने पति के साथ चिरंजीविनी होऊँ।

(१३२) "वृषा वै०" (ब्रा०) यह महावीर वृषा (वीर्यदाता) हैं, इसी लिये यजमान की पत्नी प्रजा उत्पन्न करती है।

(१३३) यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शिर एतद्देवाः प्रत्यदधुर्यदातिथ्यं न ह वाऽस्यापशीर्ष्णा केन च न यज्ञेनेष्टं भवति य एवमेतद्वेद (श० ब्रा० १४।२।२।४६)

(१३४) यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शुगुदक्रामत्सेमान् लोकानाविशन्त यैवैनमेतच्छुचा समर्द्धयति कृत्स्नं करोतीति (श० १४।३।३।२)

(१३५–१३७) या ते घर्म दिव्या शुग्या गायत्र्या ँ हविर्धाने। सा त आप्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते घर्मान्तरिक्षे शुग्या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रे। सा त आप्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते घर्म पृथिव्यां ँ शुग्या जगत्या ँ सदस्या। सा त आप्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा॥ (य० अ० ३८ मं० १८)

म० ध०—(का०) (२६।७।४) चतुर्गृहीतेनाभिजुहोति या ते घर्म दिव्याशुगिति प्रतिमन्त्रम् (२८)

अध्वर्युराज्यं संस्कृत्य चतुर्गृहीतं कृत्वा तेन जुहोति अग्नीधा ध्रियमाणेषु त्रिषु शलाकात्रिकेषु त्रिभिर्मन्त्रैस्तृतीयेनोपविश्येत्यर्थः। त्रीणि यजूंषि घर्मदेवत्यानि ऋक्पङ्क्तयः। हे घर्म ! या ते तव दिव्या दिवि भवा शुक् दीप्तिः या गायत्र्यां छन्दसि प्रविष्टा या हविर्धाने यज्ञगृहे प्रविष्टा सा ते तव शुक् आप्यायताम् वर्धताम्। निष्ट्यायतां संहता दृढा भवतु 'ष्ट्यै स्त्यै शब्दसङ्घातयोः' लोट्। तस्यै शुचे ते तुभ्यं च स्वाहा। हे घर्म ! या ते तव अन्तरिक्षे

भाषा

(१३३) "यज्ञस्य शीर्ष्ण०" (ब्रा०) यज्ञ के कटे शिर को देवता पुनः लगा देते हैं, वह शिर ही है जो कि अतिथि का सत्कार करना है। और इस बात को जो जानता है उसके सब यज्ञ शिर से पूर्ण होते हैं।

(१३४) "यज्ञस्य शीर्ष्णा०" (ब्रा०) यज्ञ के शिर कटने पर गले से शुक् (दीप्ति) निकल कर सब लोकों में प्रविष्ट होती है, मन्त्र से उसको चढ़ाकर यज्ञ को शिर से पूर्ण करै।

"*चतुर्गृहीतेनाभिजुहोति या ते घर्म दिव्या शुगिति प्रतिमन्त्रम्*" (का०) (२८)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि अग्नीध्र नामक ऋत्विज् जिस समय बँधी हुई तीन २ शलाकाओं को धारण करता है, उस समय अध्वर्यु, घृत को संस्कार पूर्वक चार वार ग्रहण कर उससे "*या ते घर्म*" इन तीन मन्त्रों को पढ़ कर होम करता है अर्थात् दो मन्त्रों को खड़ा होकर और तीसरे मन्त्र को बैठ कर पढ़ता है।

(१३५–१३७) "*या ते घर्म०*" (मं०) हे घर्म (महावीर) ! जो तुम्हारी स्वर्ग की शुक् (तेज) गायत्री छन्द और "*हविर्धान*" नामक यज्ञमण्डप में प्रविष्ट है वह वृद्धि को प्राप्त और दृढ़ हो। उस शुक् के और तुम्हारे लिये स्वाहा (घृत देता हूँ)।

हे घर्म ! जो तुम्हारी आकाश की शुक् जगती छन्द और आग्नीध्र नामक इस मण्डप में प्राप्त है वह शुक् पूर्ववत्।

"*या ते घर्म०*" (मं०) हे घर्म ! जो तुम्हारी पृथ्वी लोक की शुक् जगती छन्द और सदस नामक मण्डप में प्रविष्ट है, वह तुम्हारी शुक् पूर्ववत्।

शुक् त्रिष्टुभिः छन्दसि अग्नीध्रे सदने च प्रविष्टा सा त इति पूर्ववत् । हे घर्म ! या ते पृथिव्यां शुक् जगत्यां छन्दसि प्रविष्टा । कीदृशी ? सदस्या सदसि प्रविष्टा यज्ञगृहे स्थिता सा त इत्युक्तम् (१८)

(१३८) मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः । घर्मस्त्रिशुग्विराजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह (य० अ० ३८ मं० २७) ।

म० ध०—(का०) (२६।७।५५) मयित्यदिति भक्षणम् । (२६)

हुतशेषं दधिघर्मं यजमानर्त्विजः सोपहवं भक्षयन्तीत्यर्थः । पङ्क्तिः अष्टाक्षरपञ्चपादा दधिघर्मदेवत्या यजमानाशीर्देवत्येति केचित् । बृहत् महत् त्यत् तत् इन्द्रियं प्रसिद्धं वीर्यं मयि विराजति, विराजतु । लकारव्यत्ययः । दक्षः संकल्पसिद्धिः मयि विराजतु । क्रतुः सत्संकल्पो मयि विराजतु विशेषेण राजते विराट् तेन जगत्प्रसिद्धेन ज्योतिषा तेजसा आदित्याख्येन सह ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन ज्योतिषा च सह घर्मो मयि विराजतु । कीदृशो घर्मः ? त्रिशुक् तिस्रः शुचः दीप्तयो यस्य सः । तास्तिस्रः शुचो 'या ते घर्मदिव्या शुगित्यष्टादश्यां कण्डिकायां शालाकमन्त्रे व्याख्याताः ॥ २७ ॥

(१३९) यस्य घर्मो विदीर्यते तस्य प्रायश्चित्तिः (श० ब्रा० १४।३।२।१)

(१४०) पूर्णाहुतिं जुहोति सर्वं वै पूर्णं सर्वेणैवैनद्भिषज्यति यत्किञ्च विवृढम् यज्ञस्य (श० ब्रा० १४।३।२।२)

(१४१–१४७) स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः । पृथिव्यै स्वाहा अग्नये स्वाहा । अन्तरिक्षाय स्वाहा । वायवे स्वाहा । दिवे स्वाहा । सूर्याय स्वाहा (यजु० अ० ३९ मं० १)

(१४८–१५४) दिग्भ्यः स्वाहा । चन्द्राय स्वाहा । नक्षत्रेभ्यः स्वाहा । अद्भ्यः स्वाहा । वरुणाय स्वाहा । नाभ्यै स्वाहा । पूताय स्वाहा । (य० अ० ३९ मं० २)

म० ध०—प्रवर्ग्ये घर्मभेदे प्रायश्चित्तम् का० तत्र (२६।७।४९) स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः इति पूर्णाहुतिमाद्यामुत्तमां च मनसः काममाकूतमिति । (३०)

भाषा

"*मयित्यदिति भक्षणम्*" (का०) (२९)

इस सूत्र का यह अर्थ है कि होम से बँचे हुऐ दही को यजमान और ऋत्विज "*मयित्यद*" मन्त्र से खाते हैं ।

(१३८) "*मयित्य०*" (मं०) वह प्रसिद्ध इन्दिय अर्थात् वीर्य मुझमें विराजै, संकल्प की सिद्धि मुझमें विराजै, शुभ संकल्प मुझमें विराजै, प्रसिद्ध ज्योति और तीनों वेद के साथ तीन दीप्ति वाले महावीर मुझमें विराजैं ।

(१३९–१४०) "*यस्य घर्मो०*" (ब्रा०) जिस यजमान के महावीर टूट जाय वह प्रायश्चित्त करै, इस प्रायश्चित्त का प्रकार कात्यायन ने कहा है कि—

"*स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति पूर्णाहुतिमाद्यामुत्तमां च मनसः काममाकूतमिति*" (का०) (३०)

अध्वर्युः "भूमिर्भूमिं" "य ऋतेचेदि"ति मन्त्राभ्यां भग्नं घर्ममभिमृश्य परमेष्ठयादि-चतुस्त्रिंशदाहुतीर्हुत्वा "स्वाहा प्राणेभ्य" इत्याद्यां पूर्णाहुतिं हुत्वा पृथिव्यै स्वाहेत्याहुतिर्विंशतिं सकृत् गृहीतेन हुत्वा मनस इत्यन्त्यां पूर्णाहुतिं करोतीत्यर्थः। मन्त्रार्थो यथा—साधिपति-केभ्यः अधिपतिना हिरण्यगर्भेण सह वर्तमानेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु इति पूर्णाहुति-मन्त्रः। ततो विंशतिः स्पष्टा मन्त्राः पृथिव्यै सुहुतमस्तु। एवमग्रेऽपि अग्नये अन्तरिक्षाय वायवे दिवे सूर्याय॥ १ ॥

दिग्भ्यः चन्द्राय नक्षत्रेभ्यः अद्भ्यः वरुणाय नाभ्यै देवतायै पूताय शोधकाय पुनाति पूतः देवस्तस्मै ॥ २ ॥

(१५५-१५८) "मुखमेवास्मिन्नेतद्दधाति" नासिके एवास्मिन्नेतद्दधाति। अक्षिणी एवास्मिन्नेतद्दधाति। कर्णावेवास्मिन्नेतद्दधाति। (श० १४।३।२।१७)

(१५९-१६५) वाचे स्वाहा। प्राणाय स्वाहा। प्रणाय स्वाहा। चक्षुषे स्वाहा। चक्षुषे स्वाहा। श्रोत्राय स्वाहा। श्रोत्राय स्वाहा। (य० अ० ३९ मं० ३ इति क्रमेण मन्त्राः) अत्र प्राणादीनामित्यस्य तदाश्रयनासापुटादीनामित्यर्थः।

भाषा

इस सूत्र का अर्थ है कि अध्वर्यु "*भूमिर्भूमिं*" "य ऋते चेद" इन मन्त्रों से टूटे महावीर को स्पर्श कर परमेष्ठी आदि ३४ आहुतियों को होमकर "*स्वाहा प्राणेभ्यः*" इस मन्त्र से पहली पूर्णाहुति देकर "*पृथिव्यै स्वाहा*" इत्यादि मन्त्रों से एक बार लिये हुये घृत की २० पूर्णाहुति देकर "*मनसः*" इस मन्त्र से द्वितीय पूर्णाहुति देता है।

(१४१-१४७) "*स्वहा*" (मं०) हिरण्यगर्भ के सहित प्राणों के लिये स्वाहा। (अच्छा होम हो) "*पृथिव्यै*" पृथिवी के लिये स्वाहा। "*अग्न्ये ०*" अग्नि के लिये स्वाहा। "*अन्त०*" आकाश के लिये स्वाहा। "*वायवे०*" (मं०) वायु के लिये स्वाहा (होम करता हूँ)। "*दिवे०*" (मं०) स्वर्ग के लिये स्वाहा। "*सूर्याय०*" (मं०) सूर्य के लिये स्वाहा।

(१४८-१५४) "*दिग्भ्यः*" (म०) दिशाओं के लिये स्वाहा। "*चन्द्राय०*" (मं०) चन्द्रमा के लिये स्वाहा। "*नक्षत्रेभ्यः०*" (मं०) नक्षत्रों के लिये स्वाहा। "*अद्भ्यः०*" (मं०) जल के लिये स्वाहा। "*वरुणाय०*" (मं०) वरुण के लिये स्वाहा। "*नाभ्यै०*" (मं०) नाभि नामक देवता के लिये स्वाहा। "*पूताय०*" (मं०) शोधन करने वाले देवता के लिये स्वाहा।

(१५५-१५८) "*मुखमेवा०*" (ब्रा०) टूटे महावीर में मुख का स्थापन करै। "*नासिके०*" (ब्रा०) टूटे महावीर में नासिका के दो पुटों का स्थापन करै। "*अक्षिणी०*" (ब्रा०) टूटे महावीर में आँखों का स्थापन करै। "*कर्णा०*" (ब्रा०) टूटे महावीर में कानों का स्थापन करै।

(१५९-१६५) "*वाचे०*" (मं०) मुख के देवता के लिये स्वाहा। "*प्राणाय०*" (मं०) नासिका के देवता के लिये स्वाहा। "*प्राणाय०*" (मं०) अर्थ पूर्ववत्। "*चक्षुषे*" (मं०) नेत्र के देवता के लिये स्वाहा। "*चक्षुषे०*" (मं०) पूर्ववत्। "*श्रोत्राय०*" (मं०) श्रोत्र के लिये स्वाहा। "*श्रोत्राय०*" (मं०) पूर्ववत्।

म० ध०—वाचे वागधिष्ठात्रे एवमग्रेऽपि। प्राणाय प्राणेन्द्रियाधिष्ठात्रे। प्राणादीनां द्वित्वान्मन्त्रावृत्तिः, चक्षुषे तदधिष्ठात्रे ॥३॥

(१६६) मनसा वा इदं सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतद्भिषज्यति यत्किञ्च विवृढं यज्ञस्य (१४।३।२।१९)

(१६७) मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय। पशूनाꣳ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा (य० अ० ३९ मं० ४)

म० ध०—द्वितीयः पूर्णाहुतिमन्त्रः। अहं मनसः काममभिलाषम्। आकुञ्चनमाकूतिः प्रयत्नस्तं च अशीय प्राप्नुयाम् वाचः सत्यं चाशीय यत् वाक् सत्यं वदतु। मयि एतत् सर्वं श्रयतां तिष्ठतु। पशूनां रूपं पशुसम्बन्धिनी शोभा अन्नस्य रसः स्वादुत्वं, यशः कीर्तिः, श्रीः लक्ष्मीश्च ॥ ४ ॥

(१६८) दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (य० अ० ३६ मं० १८)

म० ध०—दृते 'दृ विदारे' विदीर्णे जराजर्जरितेऽपि शरीरे हे महावीर! मा मां त्वं दृंह दृढीकुरु। यद्वा दृते विदीर्णे कर्मणि मां दृंह अच्छिद्रं कर्म कुरु। यद्वा ससुषिरत्वात्सेक्तृत्वाच्च दृतिशब्देन महावीरः। हे दृते महावीर! मां दृंह दृढीकुरु। कथं दार्ढ्यं? तदाह सर्वाणि भूतानि प्राणिनो मा मां मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम् सम्यक् पश्यन्तु, मित्रदृष्ट्या सर्वे मां पश्यन्तु नारिदृष्ट्या। सर्वेषां प्रियो भूयासमित्यर्थः। किञ्च अहमपि सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा समीक्षे पश्यामि, सर्वे मे प्रियाः सन्तु। मित्रचक्षुः शान्तं भवति। मित्रः कश्चन न हन्ति मित्रं च कश्चन न हन्ति। एवं परस्पराद्रोहेण सर्वानहिंसन्तो मित्रस्य चक्षुषा वयं समीक्षामहे पश्यामः ॥ १८ ॥

(१६९) दृते दृꣳह मा ज्योक्ते संदृशि जीव्यासं ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् (य० अ० ३६ मं० १९)

भाषा

(१६६) "मनसा वा०" (मं०) मन ही से सब व्याप्त है। इसलिये यज्ञ से जो कुछ बिगड़ता है, सबको मन से पूर्ण करै।

(१६७) "मनसः०" (मं०) मैं मन के अभिलाष और सन्तोष को पाऊँ। मेरी वाणी सत्य बोलै, यह सब मुझमें हो कि पशुओं की शोभा, अन्न की स्वादुता, यश और लक्ष्मी भी, इसलिये स्वाहा।

(१६८) "दृते०" (मं०) हे महावीर! मुझे दृढ़ करिये कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें अर्थात् मैं सबका प्यारा होऊँ। और मैं भी सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ अर्थात् सब प्राणी मेरे प्यारे हों और मैं तथा सब प्राणी मिलजुल कर सब मित्रता को प्राप्त हों।

(१६९) "दृते०" (मं०) हे महावीर! मुझको दृढ़ करो, तुम्हारे समक्ष मैं बहुत वर्षों तक जीऊँ।

म० ध०—हे दृते वीर ! मां दृंह आदरार्थं पुनर्वचनम् । हे महावीर ! ते तव संदृशि संदर्शने अहं ज्योक् चिरं जीव्यासम् जीवेयम् । जीवेराशीर्लिङि रूपम् । ज्योगिति निपातश्चिरार्थः । पुनरुक्तिरादरार्था ते संदृशि ज्योक् जीव्यासम् ॥ १६ ॥

(१७०) नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।

नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे (य० अ० ३६ मं० २१)

म० ध०—द्वे अनुष्टुभौ विद्युत्स्तनयित्नुरूपभगवद्देवते । हे महावीर विद्युते विद्युद्रूपाय ते तुभ्यं नमोऽस्तु स्तनयित्नवे स्तनयित्नुर्गर्जितं तद्रूपाय ते नमोऽस्तु । यतः कारणात् स्वः स्वर्गं गन्तुं त्वं समीहसे चेष्टसे, अतस्ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ २१ ॥

(१७२) कस्मादेतं मृन्मयेनैव जुहोति (श० ब्रा० १४।२।२।५३) इति प्रश्ने-

(१७३) यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत्स इमे द्यावापृथिवी अगच्छद्यन्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मृदश्चापां च महावीराः कृता भवन्ति ।

(१७४) स यद्वानस्पत्यः स्यात्प्रदह्येत स यद्धिरण्मयः स्यात्प्रलीयेत यल्लोहमयः स्यात्प्रसिच्येत यदयस्मयः स्यात्प्रदहेत्यरीशा सावथैष एवैतस्माऽतिष्ठत तस्मादेतं मृन्मयेनैव जुहोति (श० ब्रा० १४।२।२।५४) इत्युत्तरम् ।

इति महावीरप्रतिमासम्बन्धिषु ब्राह्मणेषु कतिपयानि ब्राह्मणानि तद्विनियुक्तेषु च मन्त्रेषु कतिपये मन्त्राः तदनुबन्धिषु कतिपयानि कात्यायनीयानि श्रौतसूत्राणि चेहोदाहृतानि। अन्यानि तु विस्तरभयादेव परित्यक्तानि । वस्तुतस्तु तान्यपि प्रतिमापूजायां प्रमाणीकर्तुं शक्यन्ते । तानि चाशेषतो दिदृक्षितानि चेत् तदा शतपथब्राह्मणे वाजसनेयिसंहितायाः षट्त्रिंशत्तममध्यायमारभ्योनचत्वारिंशाध्यायपर्यन्तं महीधरभाष्ये द्रष्टव्यानि ।

भाषा

(१७०) "*नमस्ते अस्तु०*" (मं०) हे महावीर ! विद्युत रूपी तुमको नमस्कार है, मेघ रूपी तुमको नमस्कार है ।

(१७१) "*नमस्ते भगवन्०*" हे भगवन् महावीर ! तुमको नमस्कार है क्योंकि तुम मेरे लिये स्वर्ग सुख चाहते हो ।

(१७२) "*कस्मादेतं०*" (ब्रा०) क्यों महावीरों की प्रतिमा मृत्तिका ही से बनायी जाती है ?

(१७३) "*यज्ञस्य शीर्ष०*" (ब्रा०) शिर कटने पर यज्ञ का रस बह २ कर आकाश और पृथ्वी पर गिरा तथा वही मृत्तिका और जल हुआ, इसी से मृत्तिका और जल के तीन महावीर बनाये जाते हैं।

(१७४) "*स यद्वान०*" (ब्रा०) वह महावीर यदि काठ के हों तो अग्नि में जल जायँ और यदि सुवर्ण के हों तो अग्नि में गल जायँ, यदि लोह के हों तो भी जल जायँ, इसलिये मृत्तिका के बनाये जाते हैं। यहाँ तक महावीर की प्रतिमा सम्बन्धी कतिपय मन्त्र प्रमाण दिये गये और विस्तर भय से अन्यान्य ब्राह्मणवाक्य छोड़ दिये गये, परन्तु वास्तविक महावीर की प्रतिमा के सम्बन्धी बहुत से ब्राह्मणवाक्य और यजुःसंहिता के छत्तीसवें अध्याय से लेकर उन्तालिसवें अध्याय पर्यन्त प्रायः सभी मन्त्र प्रतिमापूजन में प्रमाण हैं, जिनको देखना हो वे उक्त अध्यायों के महीधरभाष्य में देख लें।

अथ पौरुषेयाणि प्रमाणानि। तत्र पूर्वोपन्यस्तमहीधरयजुर्भाष्यवाक्यैर्विवृतानि कात्यायनश्रौतसूत्राणि एकत्रिंशत् । तानि यथा—

(१७५) उपतिष्ठते यजमानः (का० १७।४।६)
(१७६) मृदमादत्ते पिण्डवद्देवी द्यावा पृथिवी (,, २६।१।४)
(१७७) उत्तरतो देव्यो वम्र्य इति वल्मीकवपाम् (,, २६।१।५)
(१७८) इयत्यग्र इति वराहविहतम् (,, २६।१।७)
(१७९) इन्द्रस्यौजस्थेति पूतिकान् (,, २६।१।८)
(१८०) मखायेति पयः (,, २६।१।९)
(१८१) सम्भृतानभिमृशति मखायेति (,, २६।१।११)
(१८२) सम्भारैः संसृजति मखायेति (,, २६।१।१५)
(१८३) कृष्णाजिनं परिगृह्योत्तरतः परिवृतं गच्छन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति (,, २६।१।१२)
(१८४) निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिर इति (,, २६।१।१७)
(१८५) एवमितरौ प्रतिमन्त्रम् (,, २६।१।१९)

भाषा

यहाँ तक प्रतिमापूजन में वेदवाक्य रूपी प्रमाण संक्षेप से दिखलाये गये। और अब वेदानुसारी अन्यान्य प्रमाण दिखलाये जाते हैं, और उनमें भी पूर्व में महावीर की प्रतिमा सम्बन्धी, जो कात्यायन महर्षि के श्रौतसूत्र दिखलाये गये हैं, जिनकी संख्या दाहिने और पृथक् लिखी जा चुकी है, तथा उनका अर्थ भी पूर्व ही कह दिया गया है, उन सूत्रों का केवल प्रतीक मात्र यहाँ लिख दिया जाता है और उनकी प्रमाण संख्या बाईं ओर और सूत्र की संख्या दाहिनी ओर लिखी जाती है। तदनन्तर उन पूर्व प्रमाणों के अङ्क लिखे जाते हैं जिनमें इन सूत्रों के अर्थ पूर्व ही लिखे जा चुके हैं।

			पूर्वाङ्क
(१७५)	"उपतिष्ठते०"	(का० १७।४।६)	(१५)
(१७६)	"मृदम्०"	(,, २६।१।४)	(४८)
(१७७)	"उत्तरतो देव्यो०"	(,, २६।१।५)	(५०)
(१७८)	"इयत्यग्र०"	(,, २६।१।७)	(५२)
(१७९)	"इन्द्रस्यौजस्थेति०"	(,, २६।१।८)	(५४)
(१८०)	"मखायेति पयः०"	(,, २६।१।९)	(५५)
(१८१)	"संभृतान्०"	(,, २६।१।११)	(५६)
(१८२)	"सम्भारैः०"	(,, २६।१।१५)	(५८)
(१८३)	"कृष्णाजिनं०"	(,, २६।१।१२)	(६०)
(१८४)	"निष्ठितम्०"	(,, २६।१।१७)	(६३)
(१८५)	"एवमितरौ०"	(,, २६।१।१९)	(६५)

(१८६)	गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयति मखायेति प्रतिमन्त्रम्	(का० २६।१।२२)
(१८७)	अश्वशकृता धूपयत्यश्वस्येति प्रतिमन्त्रम्	(,, २६।१।२३)
(१८८)	प्रदहनं च मखायेति प्रतिमन्त्रम्	(,, २६।१।२४)
(१८९)	पक्वानुद्धरत्यृजवे त्वेति प्रतिमन्त्रम्	(,, २६।१।२५)
(१९०)	अजापयसाऽवसिञ्चति मखायेति प्रतिमन्त्रम्	(,, २६।१।२६)
(१९१)	ब्रह्मानुज्ञातो यमाय त्वेति महावीरं प्रोक्षति	(,, २६।२।१३)
(१९२)	अञ्जन्तीत्युच्यमाने देवस्त्वेत्यनक्ति महावीरमाज्यं संस्कृत्य	(,, २६।२।३०)
(१९३)	रजतशतमानं खर उपगूहति पृथिव्याः स ँ स्पृश इति	(,, २६।२।२१)
(१९४)	स ँ सीदस्वेत्युच्यमाने मुञ्जप्रबलवान् द्विगुणानादीप्य प्रतिदिशं खरे करोति तेषु महावीरमाज्यवन्तमर्चिरसीति	(,, २६।२।४)
(१९५)	अनाधृष्टेति वाचयति प्रादेशमभ्यधि धारयन्तम्	(,, २६।३।५)
(१९६)	विश्वाभ्यो मेति दक्षिणत उत्तानं पाणिं निदधाति	(,, २६।३।७)
(१९७)	मनोरश्वेति प्रादेशमुत्तरतः	(,, २६।३।८)
(१९८)	धृष्टिभ्यां भस्मना परिकीर्याङ्गारैश्च विकङ्कतशकलैः परिश्रयति त्रयोदशभिः प्रागुदग्भिः स्वाहा मरुद्भिरित्याधिकं द्वौ मन्त्रेण	(,, २६।३।९)

भाषा

(१८६)	*"गवेधुकाभिः०"*	(का० २६।१।२२)	(६८)
(१८७)	*"अश्वशकृता०"*	(,, २६।१।२३)	(७४)
(१८८)	*"प्रदहनम्०"*	(,, २६।१।२४)	(७५)
(१८९)	*"पक्वानुद्धरति०"*	(,, २६।१।२५)	(७६)
(१९०)	*"अजापयसा०"*	(,, २६।१।२६)	(८४)
(१९१)	*"ब्रह्मानुज्ञातो०"*	(,, २६।२।१३)	(८६)
(१९२)	*"अञ्जन्तीत्युच्यमाने०"*	(,, २६।२।२०)	(९२)
(१९३)	*"रजतशतमानं०"*	(,, २६।२।२१)	(९३)
(१९४)	*"स ँ सीदस्वेत्युच्यमाने०"*	(,, २६।३।४)	(९४)
(१९५)	*"अनाधृष्टेति०"*	(,, २६।३।५)	(९५)
(१९६)	*"विश्वाभ्यो मेति०"*	(,, २६।३।७)	(१०६)
(१९७)	*"मनोरश्वेति०"*	(,, २६।३।८)	(१०७)
(१९८)	*"धृष्टिभ्यां भस्मना०"*	(,, २६।३।९)	(१०९)

(१९९) सुवर्णशतमानेनापि दधाति दिवः स ॐ स्पृश इति (का० २६।३।१०)

(२००) कृष्णाजिनावकृत्तैर्धवित्रैरुपवीजयति त्रिभिर्दण्ड-
वद्भिर्मधुमध्विति („ २६।४।२)

(२०१) परिक्रम्योपतिष्ठन्तेऽकृतं चेत् गर्भो देवानामिति („ २६।४।११)

(२०२) त्वष्टृमन्त इत्येनां वाचयति („ २६।४।१३)

(२०३) चतुर्गृहीतेनाभिजुहोति या ते घर्म
दिव्याशुगिति प्रतिमन्त्रम् („ २६।७।४)

(२०४) मयि त्यदिति भक्षणम् („ २६।७।५५)

(२०५) स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति
पूर्णाहुतिमाद्यामुत्तमां च मनसः काममाकूतिमिति („ २६।७।४९)

(२०६) गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् ॥ १ ॥
(वा० रा० अ० का० स० ६)

(२०७) वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ॥ ४ ॥ („ स० ६)

(२०८) चतुष्पथान् देवपथांश्चैत्यांश्चायतनानि च।
प्रदक्षिणं परिहरन् जगाम नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥ („ स० १७)

भाषा

(१९९) "*सुवर्णशतमानेना०*" (का० २६।३।१०) (११६)

(२००) "*कृष्णाजिनावकृत्तै०*" („ २६।४।२) (११७)

(२०१) "*परिक्रम्योपतिष्ठन्ते०*" („ २६।४।११) (११९)

(२०२) "*त्वष्टृमन्त०*" („ २६।४।१३) (१३०)

(२०३) "*चतुर्गृहीतेनाभिजुहोति०*" („ २६।७।४) (१३५)

(२०४) "*मयि त्यदिति भक्षणम्०*" („ २६।७।५५) (१३८)

(२०५) "*स्वाहा प्राणेभ्यः०*" („ २६।७।४९) (१३९)

(२०६) "*गते०*" पुरोहित के चले जाने पर पत्नी (सीता) के साथ स्नान कर सावधान श्रीराम, नारायण के समीप (नारायण के मन्दिर में) चले गये।

(२०७) "*वाग्यतः०*" सीता के साथ मौन धारण कर और विष्णु में एकाग्र चित्त हो, शोभायुक्त विष्णु-मन्दिर में श्रीराम ने शयन किया।

(२०८) "*चतुष्पथान्०*" चौराहों, देवमन्दिरों, देववृक्षों और धर्मशालाओं को अपने दक्षिण भाग में छोड़ते हुए श्रीराम गये।

(२०९) देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा ।
देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठास्तथैव च ॥४०॥(वा०रा०अ०का०स०७१)

(२१०) क्वचिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः ।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तडागैश्चोपशोभितः ॥ ४३ ॥

(२११) श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतः सत्यविक्रमः ।
हृष्टमाज्ञापयामास शत्रुघ्नं परवीरहा ॥ १ ॥
दैवतानि च सर्वाणि चैत्यानि नगरस्य च ।
सुगन्धमाल्यैर्वादित्रैरर्चन्तु शुचयो नराः ॥ २ ॥ (यु० स० १२७)

(२१२) कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥

(२१३) एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्येन तु पूजितम् ॥ २० ॥
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥ २१ ॥ (यु० का० स० १२५)

(२१४) यत्र यत्र स याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः ।
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते ॥ ४२ ॥

भाषा

(२०९) "*देवा०*" भरत ने अयोध्या देखकर कहा कि देवताओं के मन्दिर सूने दीखते हैं, आज वैसे शोभायमान नहीं हैं जैसे पहिले थे, प्रतिमायें पूजारहित हो रही हैं, उन पर पुष्पादि चढ़े नहीं दीखते, यज्ञों के स्थान भी यज्ञकार्य से रहित हैं ।

(२१०) "*क्वचिच्चैत्य०*" हे राघव (भरत) ! हमारा देश यज्ञस्थानों से युक्त और बसे हुये सज्जनों से भरा तथा देवमन्दिरों, पौसलाओं और तड़ागों से शोभित है ।

(२११) "*श्रुत्वा तु०*" रामागमन रूपी परमानन्द सुनकर शत्रुघ्न को हर्ष से आज्ञा दिया कि कुल देवताओं और अयोध्या के देवालयों के सब देवताओं की पूजा, पवित्र मनुष्य चन्दन, माला और वाद्य से करै ।

(२१२) "*कच्चित्०*" हे राघव (भरत) ! तुम्हारा ग्राम समूह क्या विस्तृत हो कर सुख से है।

(२१३) "*एतत्त०*" श्रीराम ने समुद्र दिखला कर श्री सीता से कहा कि यह समुद्र तीर्थ जो देख पड़ता है, वह सेतुबन्ध के नाम से प्रसिद्ध और त्रैलोक्य में पूजित तथा परम पवित्र और ब्रह्म हत्यादि महापातकों का नाश करने वाला है । इसी सेतुबन्ध में पूर्व ही विभु महादेव ने मुझ (राम) पर अनुग्रह किया । अर्थात् समुद्र की प्रसन्नता के अनन्तर सेतु की निर्विघ्न सिद्धि के लिये मेरे हाथ से स्थापित हुये (यहाँ इतना लिखा है और कूर्म पुराण में तो शिवलिङ्ग के स्थापन के अनन्तर श्री राम को श्री शिव जी का बरदान देना भी लिखा है कि तुम्हारे स्थापित इस मेरे लिङ्ग के दर्शन से ब्रह्महत्या इत्यादि महापातकों का नाश होगा) ।

(२१४) "*यत्र यत्र०*" वह राक्षसराज रावण, जहाँ जहाँ जाता था वहाँ वहाँ प्रति दिन पूजा

वालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः ।
अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चामृतगन्धिभिः ॥ ४३ ॥

ततः सतामार्तिहरं परं वरं वरप्रदं चन्द्रमयूखशेखरम् ।
समर्चयित्वा स निशाचरो जगौ प्रसार्य हस्तान्प्रणनर्त चाग्रतः ॥ ४४ ॥

(उ० का० स० ३१)

(२१५) शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम् ।
मृन्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येनापूजयद्भवम् ॥ ६५ ॥

(महा० न० प० अ० २६)

(२१६) ततो देशे समे स्निग्धे प्रभूतयवसेन्धने ।
निवेशयामास तदा सेनां राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

परिहृत्य श्मशानानि देवतायतनानि च ।
आश्रमांश्च महर्षीणां तीर्थान्यायतनानि च ॥ २ ॥

मधुरानूषरे देशे शुचौ पुण्ये महामतिः ।
निवेशं कारयामास कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

(उद्यो० प० अ० १५१)

(२१७) देवताप्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च ।
वमन्ति रुधिरं चास्यैः स्विद्यन्ति प्रतपन्ति च ॥२५॥

(भीष्म० प० अ० २)

भाषा

के लिये सुवर्ण का लिङ्ग, राक्षस सब ले जाया करते थे। क्योंकि ऐश्वर्य की कामना से सुवर्णमय शिव लिङ्ग की पूजा करना तन्त्रों में कहा है। वहाँ नर्मदा की वालुका की वेदी पर उस लिङ्ग को रख कर चन्दन और पुष्पादि से उस लिङ्ग का रावण ने पूजन किया। सज्जनों के दुःखहारी, सब बड़ों के बड़े, बर देने वाले चन्द्रभूषण (श्री शिव) की विधिवत् पूजा कर वह निशाचर, श्री शिव लिङ्ग रूपी शिव जी के सम्मुख साम मन्त्रों को गाता हुआ नाचने लगा।

(२१५) "*शरण्यं०*" शरण देने वाले भगवान् पिनाकी (श्री शिव जी) के शरण जाकर मृत्तिका की वेदी बनाकर उस पर पुष्पमालाओं से श्री शिव जी का पूजन किया।

(२१६) "*ततो देशे०*" तदनन्तर कुरुक्षेत्र में राजा युधिष्ठिर ने अपनी सेना को उतारा अर्थात् श्मशानों, देवमन्दिरों, महर्षियों के आश्रमों और धर्मशालाओं से दूर, मधुर और ऊषर से भिन्न पुण्य और पवित्र भूभाग में अपनी सेना को राजा युधिष्ठिर ने रहने की आज्ञा दी।

(२१७) "*देवताप्रति०*" व्यास जी ने राजा धृतराष्ट्र से कहा कि देवताओं की प्रतिमायें भी आज कल कँपती हैं, हँसती हैं तथा मुख से रुधिर बमन करती हैं और पसीजती हैं तथा गिर भी पड़ती हैं ॥ (यही उत्पात सामवेद के वाक्य में पूर्व ही कहे हुये हैं)।

(२१८) सर्वभूतभवं ज्ञात्वा लिङ्गमर्चति यः प्रभोः ।
तस्मिन्नभ्यधिकां प्रीतिं करोति वृषभध्वजः ॥ ९६ ॥
(द्रोण० अ० २०१)

(२१९) ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
लिङ्गमस्यार्चयन्ति स्म तच्चाप्यूर्द्धं समाश्रितम् ॥१२३॥
पूज्यमाने ततस्तस्मिन्मोदते स महेश्वरः ।
सुखी प्रीतश्च भवति प्रहृष्टश्चैव शङ्करः ॥१२४॥
(द्रोण० अ० १०३)

(२२०) पूजयेत् विग्रहं यस्तु लिङ्गं चापि महात्मनः ।
लिङ्गपूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते ॥१३६॥

(२२१) नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥ (मनु० अ० २)

अत्र देवताऽभ्यर्चनपदस्यार्थम्—देवतानां हरादीनां पुष्पादिनाऽर्चनम् इति गोविन्दराजो विवव्रे । अतः प्रतिमानामेवैतत्पूजनविधानमिति मेधातिथिः, देवतानामर्चनं पुष्पाद्यैः इति सर्वज्ञनारायणः, प्रतिमादिषु हरिहरादिदेवपूजनम् इति कुल्लूकः । देवतेव

भाषा

(२१८) "*सर्वभूतं०*" जो शिवलिङ्ग को सब जगत् का कारण समझ कर पूजा करता है, उस पर शिव जी अति प्रसन्न होते हैं ।

(२१९) "*ऋषयः०*" ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सराओं ने श्री शिव जी के लिङ्ग की पूजा किया और वह शिवलिङ्ग नीचे से ऊपर तक अनन्त था । तब से श्री शिव जी शिवलिङ्ग की पूजा से प्रसन्न होते हैं ।

(२२०) "*पूजयेत्०*" जो शिव जी के शरीर की प्रतिमा पूजता है, और जो श्री शिव जी के लिङ्ग (जिसका अर्थ पूर्व ही कहा जा चुका है) को पूजता है, उन दोनों को अभीष्ट फल मिलता है परन्तु शिव लिङ्ग पूजा करने वाला, अन्य फलों को पाकर मोक्ष भी पाता है ।

(२२१) "*नित्यं०*" ब्रह्मचारी प्रतिदिन स्नान और संध्योपासन से शुद्ध होकर, देव, ऋषि, पिता का तर्पण और देवता (प्रतिमा) का सम्मुख पूजन तथा समिदाधान कर्म भी करै । यहाँ " देवतार्चन " पद में देवता शब्द से माता, पिता, गुरु आदि किसी मनुष्य का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि उनके पूजन आदर आदि को द्वितीयाध्याय ही में मनु ने पृथक् कहा है । अग्निहोत्र का विधान सस्त्रीक गृहस्थ के लिए है और ब्रह्मचारी के लिये अग्निहोत्र के स्थान में समिदाधान कर्म है । जैसे पाणिनीय अष्टाध्यायी अ० ५ पा० ३ सू० ९९ और १०० के अनुसार वासुदेव तथा शिव की प्रतिमाओं का भी नाम 'कन्' प्रत्यय के लुप् (लोप) हो जाने पर "वासुदेव" और "शिव" ही होता है वैसे ही देवता की प्रतिमा का नाम भी "देवता" ही होता है, इसलिये मनु के कहे "देवताभ्यर्चन" पद का स्पष्टार्थ यही सिद्ध होता है कि विष्णु शिवादि देवों की प्रतिमाओं का पूजन, ब्रह्मचारी को नियम से करना चाहिये । इसी से मनुस्मृति के टीकाकार पं० गोविन्द राज कहते हैं कि यहाँ देवता शब्द का

प्रतिकृतिरिति विग्रहे वासुदेव इव प्रतिकृतिः वासुदेव इत्यादिवदिह देवताशब्दः कनो लुपि साधुः प्रतिमावाचीति सर्वेषां सिद्धान्तनिष्कर्षः। "जीविकार्थे चापण्ये" (पाणि० अष्टा० अ० ५ पा० ३ सू० ६६) इति सूत्रे भाष्यम् यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति इति। अत्र कैयटः याः परिगृह्य गृहाद्गृहमटन्ति तास्वित्यर्थः इति।

(२२२) मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३६ ॥ (मनु० अ० ४)

(२२३) न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

(२२४) देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥ (अ० ८)

(२२५) देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः।
स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥ (अ० ११)

भाषा

शित्रादि अर्थ है, पुष्पादि से उनका पूजन देवताभ्यर्चन कहा जाता है। तथा मेधातिथि कहते हैं कि यहाँ प्रतिमाओं ही का पूजन अभिमत है। और सर्वज्ञ नारायण तथा कुल्लूक भट्ट को भी यही मत स्वीकृत है।

"*यास्त्वेता०*" जो प्रतिमा जीविकार्थ हों, परन्तु बेची न जायँ, उस अर्थ में 'कन्' प्रत्यय का लुप् होता है। उक्त भाष्य पर कैयट ने कहा है कि जीविकार्थी लोग जिन देवप्रतिमाओं को लेकर घर २ दर्शन कराते हैं और उनको बेचते नहीं वहाँ 'कन्' का लुप् होगा इति। (ऐसे विषय में "जीविकार्थे चापण्ये" इस सूत्र से और जो देवालयों में स्थापित कर पूजी जाती हैं, उस अर्थ में "देव-पथादिभ्यश्च" इस सूत्र से 'कन्' प्रत्यय का लुप् होता है)।

(२२२) "*मृदं०*" जब कहीं जाने लगे तब जो उसके सम्मुख खुदी मृत्तिका, गौ, पाषाणादि देवता, ब्राह्मण, घृत, मधु, चौराहा और देववृक्ष पड़ जायँ उनको अपने दक्षिण भाग में करता जाय। षोड़शोपचार में प्रदक्षिण भी पूजन है। यहाँ भी सब टीकाकारों ने देवता पद से देवता की प्रतिमा ली है।

(२२३) "*न मूत्रं०*" मार्ग, भस्म, गौओं के स्थान, जोते खेत, जल, शून्य अग्निकुण्ड, पर्वत, जीर्ण देवता मन्दिर और बिंबौट में कदापि विष्ठा वा मूत्र का विसर्ग (त्याग) न करे। यहाँ भी देव शब्द का देवप्रतिमा ही अर्थ है। एवं आगे भी।

(२२४) "*देवब्राह्मण०*" प्राड्विवाक (मैजिस्ट्रेट वा जज) दिन के प्रथम पहर में देवता की प्रतिमा और ब्राह्मणों के समीप त्रैवर्णिक साक्षियों को पूरब वा उत्तर मुख स्थापित कर साक्ष्य पूछे।

(२२५) "*देवस्वं०*" अर्थात् देवस्व (देवता की प्रतिमा को चढ़ा धन) वा ब्राह्मण के धन को

(२२६) मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥ (मनु० अ० ४)

(२२७) दैवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥१३०॥ (मनु० अ० ४)

(२२८) दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥

(२२९) कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ १८० ॥ (मनु० अ० ६)

(२३०) सङ्क्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः । (मनु० अ० ६।२८५)

(२३१) वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥ इति (अत्रिस्मृतौ)

(२३२) एवंविधान्नृपो राष्ट्रे देवान्संस्थापयेत् सदा ।
प्रतिसंवत्सरं चैषामुत्सवान्सम्यगाचरेत् ॥

भाषा

जो लोभ वश अपहरण करता है, उस पापी को अग्रिम जन्म में गीधों के जूठों से अपना जीवन निर्वाह करना पड़ता है।

(२२६) "*मैत्रं०*" अधः शौच, देहका अलङ्कार, स्नान, दन्तधावन, अञ्जन और देवताओं के पूजन को दिन के प्रथम ही प्रहर में करै।

(२२७) "*देवतानां०*" पाषाणादि देवताओं और पिता आदि गुरुओं तथा राजा और स्नातक तथा आचार्य और कपिल वर्ण के मनुष्य और यज्ञ के लिये दीक्षित तथा चांडालादि की छाया पर जान बूझकर आक्रमण न किया करै। यहाँ मेधातिथि टीकाकार ने कहा है कि देवता शब्द से प्रतिमा लेते हैं क्योंकि छाया उसकी हो सकती है।

(२२८) "*दैवतान्य०*" पर्वों के दिन, पाषाणादि देवता और धार्मिक ब्राह्मण तथा गुरुओं के अभिमुख उनके दर्शन के लिए उपस्थित हुआ करै। तथा अपनी लौकिक रक्षा के लिए राजा के अभिमुख भी पर्वों (अवसर) पर जाया करै।

(२२९) "*कोष्ठागार०*" राजा के कोठार, शस्त्रगृह, देवप्रतिमा गृह के भेदन करने वालों तथा हाथी, घोड़ा, रथ के चुराने वालों को राजा निःसन्देह वधदण्ड ही दे।

(२३०) "*सङ्क्रम०*" नालों के उतरने के लिये बने हुए पुल के और तालाव के मध्यवर्ती लट्ठों तथा देवता की प्रतिमा के तोड़ने वालों को राजा दण्ड दे।

(२३१) "*वापी०*" बावली, कुआँ, सरोवर, देवताओं के मन्दिर, सदाव्रत, बाग के बनवाने को पूर्त्त कहते हैं।

(२३२) "*एवं विधान्०*" राजा अपने राज्य में देवमूर्तिओं को सदा स्थापित करै और प्रतिवर्ष उनका उत्सव करावै।

(२३३) देवालये मानहीनां मूर्तिं भग्नां न धारयेत् ।
प्रासादाँश्च तथा देवाञ्जीर्णानुद्धृत्य यत्नतः ॥ (शुक्रनीति० अ० ४) इति ।

अथ कण्टकाग्रभङ्गः

तथाहि—

यत्तु—अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो ये उ संभूत्या ँ रताः ॥
न तस्य प्रतिमा अस्ति० ।
यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ १ ॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ २ ॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ३ ॥

भाषा

(२३३) "देवालये०" अर्थात् देवालयों में टूटी फूटी मूर्ति न रहने दे, किन्तु राजा को उचित है कि टूटे फूटे मन्दिर और प्रतिमाओं का संस्कार करता रहे ।

यद्यपि प्रतिमापूजन के विषय में स्मृति, इतिहास और पुराणों के अन्यान्य. सहस्रों वाक्य प्रमाण दिये जा सकते हैं, और उनके प्रमाण होने में कुछ शंका भी नहीं हो सकती क्योंकि परिखा परिष्कार ही में उन शङ्काओं का समूल उन्मूलन ऐसा हो चुका है कि जिससे वे शङ्कायें पुनः कदापि नहीं उठ सकतीं, तथापि वे अन्यान्य प्रमाण यहाँ इस अभिप्राय से नहीं लिखे जाते हैं कि जब वैदिक तथा अन्यान्य इतने प्रमाणों से प्रतिमापूजन की सिद्धि हो चुकी, तब उन अन्यान्य प्रमाणों को भी लिख कर इस ग्रन्थ को बहुत बढ़ाने का कुछ प्रयोजन नहीं हैं इति ।

अथ कण्टकोद्धार अर्थात् वेदवैनाशिक के मत का खण्डन

अब सत्यार्थप्रकाश उल्लास ११ के विषय में विचार किया जाता है:—

वे० वै०—"*अन्धन्तमः*" (१) "*न तस्य प्रतिमा०*" (२) "*यद्वाचा०*" (३) "*यन्मनसा०*" (४) "*यच्चक्षुषा०*" (५) "*यच्छ्रोत्रेण०*" (६) "*यत्प्राणेन०*" (७) इन श्रुतियों के विरोध से प्रतिमा-पूजन अकार्य ही है ।

खंडन—इन श्रुतियों का कौन २ सा तात्पर्य (अर्थ) समझ कर प्रतिमापूजन में इनका विरोध दिया जाता है ?

वे० वै०—"*अन्धन्तमः*" (ऋ० अ० ४ मं० १२) इस प्रथम श्रुति का यह अर्थ है कि ब्रह्म के स्थान में जो लोग असम्भूत (मूल प्रकृती अर्थात् माया) की उपासना करने वाले हैं, वे नरक दुःख पाते हैं, तथा ब्रह्म के स्थान में सम्भूति (पृथिव्यादि रूपी माया कार्य) की उपासना करने वाले मायोपासक की अपेक्षा और अधिक नरक दुःख पाते हैं । और प्रतिमा माया का परिणाम है, इस कारण विरोध स्पष्ट ही है ।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥
यत्प्राणेन प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥ (केनोपनिषदि)

इति श्रुतिविरोधात्प्रतिमापूजनमकार्यमिति वेदवैनाशिकः । तन्न युक्तम् । किं हि तात्पर्यमासां श्रुतीनां पर्यालोच्य विरोध एष उच्यते ? असंभूतिः अनुत्पत्तिः नित्या जगत्कारणीभूता प्रकृतिः संभूतिः उत्पत्तिमत् कार्यभूतं पृथिव्यादि । तथा च ब्रह्मणः स्थाने प्रकृतिमुपासीनो नरकदुःखं पृथिव्यादिकं चोपासीनोऽधिकतरं नरकदुःखमाप्नोति इत्याद्यश्रुत्यर्थ इति चेन्न; ब्रह्मणः स्थान इत्यंशस्य एतन्मन्त्राक्षरास्पृष्टस्याप्रामाणिकत्वात् ।

किञ्च "ईशावास्यमि" "त्यारभ्य "अन्धन्तमः प्रविशन्ति" इत्यन्तेषु प्रकृतश्रुतिपूर्वोत्तर-मन्त्रेष्वपि न केनचिद्वाक्येन तदंशेन वा ब्रह्मण इत्ययमंशः स्पृश्यत इति, न प्रकरणानुसारा-दप्येतदर्थलाभसंभवः ।

अपि च समस्त एवायमर्थः प्रकरणविरुद्धः । मान्त्र्या उपनिषदो ह्ययं मन्त्रो यदर्थ इदानीं विचार्यते, तत्र चेतः पूर्वे त्रयो मन्त्राः, परौ च द्वावयं चेति षण्मन्त्राः सभगवत्पादीयभाष्याः प्रकरणस्वरूपनिर्णयाय प्रदर्श्यन्ते—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः ॥

भाष्य०—अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्तप्रथमवेदार्थः । "ईशावा-स्यमिदं सर्वं मागृधः कस्यचिद्धनमिति" अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठासंभवे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेदिति" कर्मनिष्ठोक्तद्वितीयो वेदार्थः ।

भाषा

खं० १—"ब्रह्म के स्थान में" यह अर्थ सर्वथा मिथ्या ही है, क्योंकि श्रुति के किसी अक्षर से यह अर्थ नहीं निकलता ।

खं० २—जिस उपनिषत् का यह मंत्र है उसके "ईशावास्यम्" इस प्रथम मन्त्र से लेकर अन्तिम "*अन्धन्तमः*" यहाँ तक (जिसके मध्य में यह श्रुति है) जितने मन्त्र हैं उनमें से किसी मन्त्र के वाक्य वा पद से (ब्रह्म के स्थान में) इस अर्थ का स्पर्श मात्र भी नहीं होता । इस कारण उस प्रकरण से भी इस अर्थ के लाभ का संभव नहीं है ।

ख० ३—इतना ही नहीं है कि 'ब्रह्म के स्थान में यह अर्थ उस श्रुति वा उसके प्रकरण से नहीं निकलता किन्तु यह भी है कि यह अर्थ उस प्रकरण से विरुद्ध है । इसलिये इस श्रुति से पूर्व के ३ मन्त्र और अग्रिम २ मन्त्र तथा यह श्रुति रूपी एक मन्त्र अर्थात् ६ मन्त्र और उनका शाङ्करभाष्य दिखलाया जाता है, जिसमें कि प्रकरण के स्वरूप का निश्चय हो । "*अन्धन्तमः*" (अ० अ० ४ मं० ९) इस उपनिषद् में विरक्तों के लिये ज्ञाननिष्ठा यहाँ तक कही गयी और अब जो लोग कामना से केवल कर्म करने की इच्छा करते हैं, उनके लिये यह कहा जाता है, क्योंकि अद्वैत ब्रह्म-

अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः "सोऽकामयत जाया मे स्यादि" त्यादिना। अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति 'मन एवास्यात्मा वाग्जाये' त्यादि-वचनात् अज्ञत्वं कामित्वं च निश्चितमवगम्यते। तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गास्तेष्वात्मभावे-नात्मस्वरूपावस्थानम्, जायाद्येषणात्रयसन्न्यासेन चात्मविदां कर्मनिष्ठा प्रातिकूल्येनात्मस्वरूप-निष्ठैव दर्शिता।

"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक" इत्यादिना। ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्यानामत" इत्यादिनाऽविद्वन्निन्दाद्वारेणात्मनो याथात्म्यं 'सपर्यगा' दित्ये-तदेतैर्मन्त्रैरुपदिष्टम्। ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति। तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोप-निषदि "अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषि सङ्घजुष्ट" मित्यादि विभज्योक्तम्। ये तु कर्मनिष्ठाः कर्मकुर्वन्त एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते—"अन्धतम" इत्यादि। कथं पुनरेवमवगम्यते न तु सर्वेषामिति? उच्यते—अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन—

'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ॥

यदात्मैकत्वविज्ञानं तत्र केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा न ह्यमूढः समुच्चिचीषति। इह ग्रन्थे तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चयः संभवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते। तद्दैवं वित्तं देवतादिज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तम् न परमात्मज्ञानम् 'विद्यया देवलोक' इति पृथक् फलश्रवणात्। तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैका-नुष्ठाननिन्दासमुच्चिचीषया न निन्दाया परैव। एकैकस्य पृथक् पृथक् फलश्रवणात्। विद्यया तदारोहन्ति विद्यया देवलोकः न तत्र दक्षिणा यान्ति कर्मणा पितृलोक इति। नहि शास्त्र-विहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात् ततः अन्धन्तमः अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति। के? येऽविद्यां विद्ययाऽन्याऽविद्या तां कर्मेत्यर्थः। कर्मणो विद्याविरोधित्वात्। तामविद्यामग्नि-होत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धा-त्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव तमः प्रविशन्ति। कर्म हित्वा ये तु उ विद्यायामेव देवताज्ञाने रताः तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकरणमाह। अन्यथा फलवदफलवतोः सन्नि-हितयोरङ्गाङ्गितया जामितैव स्यादित्यर्थः॥ ९॥

भाषा

ज्ञानी अपने ज्ञान के साथ वैदिक कर्मों को नहीं कर सकता। इसलिये ब्रह्म से अन्य देवताओं के ज्ञान ही के साथ कर्म हो सकता है, जिस ज्ञान का फल "*विद्यया देवलोकः*" इस श्रुति में कहा है। अब इस श्रुति का यह अर्थ है कि जो लोग "अविद्या" विद्या विरोधी केवल अग्निहोत्रादि कर्म को ही करते हैं वह दुःख पाते हैं और जो लोग कर्म को छोड़ कर केवल ब्रह्म से अन्य देवता के ज्ञान में ही तत्पर रहते हैं वे केवल कर्मियों की अपेक्षा अधिक दुःख पाते हैं। वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म की निन्दा में इस श्रुति का तात्पर्य नहीं है किन्तु दोनों के एक साथ करने की प्रशंसा मात्र में।

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुः वदन्ति, अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियत इति । तथोक्तं कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक इति । एवं शुश्रुमः श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम् । ये आचार्याः नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥ १० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भय ँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

यत एवं विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः। यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेणानुष्ठेयं वेद तस्येदं समुच्चयकारिण एकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते । अविद्यया कर्मणाऽग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति तद्ध्यमृतमुच्यते, यद्देवतात्मगमनम् ॥ ११ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्या ँ रताः ॥ १२ ॥

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते, अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये असंभूतिं संभवनं संभूतिः सा यस्य कार्यस्य सा संभूतिः, तस्या अन्या असंभूतिः प्रकृतिः कारणमव्याकृताख्यां तां संभूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धतमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरं तमः प्रविशन्ति ये संभूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥ १२ ॥

भाषा

"*अन्यदेवाहुः०*" (ऋ० अ० ४ मं० १०) ऐसा कहते हैं कि विद्या (देवताज्ञान) का अन्य ही फल है, अर्थात् देवलोक की प्राप्ति फल है। और अविद्या (कर्म) का अन्य ही अर्थात् पितृलोक की प्राप्ति फल है । जो आचार्य, कर्म और ज्ञान के उपदेश करने वाले हैं उनसे ऐसा ही सुना जाता है ।

"*विद्याञ्च०*" (ऋ० अ० ४ मं० ११) देवताज्ञान और कर्म को जो एक साथ करना जानता है वह अग्निहोत्रादि कर्म करने से लौकिक कर्मों को और देवताज्ञान से लौकिक ज्ञानों को अतिक्रमण कर अपने उपास्य देवता के लोक में जाता है ।

"*अन्धन्तमः०*" (ऋ० अ० ४ मं० १२) अब व्याकृत (माया का कार्य आकाशादि) और अव्याकृत (प्रकृति अर्थात् माया) की उपासना को एक साथ करने के लिये उनमें से केवल एक २ की उपासना की निन्दा की जाती है। अर्थात् इस श्रुति का निन्दा में तात्पर्य नहीं है किन्तु दोनों उपासनाओं को एक साथ करने की प्रशंसा मात्र में । और इस श्रुति का शब्दार्थ यह है कि केवल असंभूति (प्रकृति अर्थात् माया) की जो लोग उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूप अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं और उससे भी अधिक अज्ञान में वे प्रवृष्ट होते हैं जो कि संभूति (केवल हिरण्यगर्भादि देवों) की उपासना करते हैं। इसी श्रुति को वेदवैनाशिक ने अपने मत में प्रमाण दिया है।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह । अन्यदेव पृथगाहुः फलं संभवात्संभूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणमाख्यातवन्त इत्यर्थः । तथा अन्यदाहुरसंभवादसंभूतेरव्याकृतादव्याकृतोपासनाद्यदुक्तमन्धन्तमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इति एवं शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥ १३ ॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय ँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

यत एवमतः समुच्चयः संभूत्यसंभूत्युपासनयोर्युक्त एकपुरुषार्थत्वाच्चेत्याह । संभूतिं च विनाशं च । यस्तद्वेदोभयं स विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणाऽभेदेनोच्यते विनाश इति तेन तदुपासनेनाऽनैश्वर्यमधर्मं कामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिफलम् तेनानैश्वर्यादि मृत्युमतीत्यासंभूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते । संभूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन विनिर्देशो द्रष्टव्यः । 'प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात्' । मानुषदैवतवित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम् । एतावती संसारगतिः । अतः परं पूर्वोक्त 'आत्मैवाभूद्विजानतः' इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम् । एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम् निवृत्तिलक्षणस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकम् । तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेत् यो विद्यया सहापरब्रह्मविषयया । तदुक्तं "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह" इति ॥१४॥

भाषा

"अन्यदेवाहु०" (ऋ० अ० ४ मं० १३) माया और उसके कार्य की एक साथ उपासना करने के लिये, उन दोनों उपासनाओं का फल भेद इस मन्त्र से कहा जाता है । क्योंकि जब दोनों के दो फल हैं, तब दोनों उपासनाओं को एक साथ करने से दोनों फलों का लाभ एक साथ हो सकता है । और इस मन्त्र का यह अर्थ है कि संभव अर्थात् संभूति (हिरण्यगर्भादि देवता) की उपासना का अन्य ही फल अर्थात् अणिमा आदि ऐश्वर्य का लाभ कहा जाता है । तथा संभव अर्थात् संभूति (माया) की उपासना का अन्य ही फल अर्थात् माया में लय होना कहा जाता है, ऐसा ही बुद्धिमानों से उपदेश सुना जाता है ।

"संभूतिं च०" (ऋ० अ० ४ मं० १४) संभूति (माया) और विनाश हिरण्यगर्भादि अनित्य देवता इन दोनों को जो पुरुष एक साथ जानता है, वह देवता की उपासना से अपने अशक्ति रूपी मृत्यु को अतिक्रमण कर माया की उपासना से माया में लय रूपी फल पाता है तात्पर्य यह है कि कर्म और उपासना यहाँ (प्रकृति लय) तक संसार गति होती है और इससे परे वही ज्ञाननिष्ठा है जो कि वैराग्यपूर्वक होती है ।

एवञ्च वेदवैनाशिकोक्ते द्वादशमन्त्रार्थे संभूतिं चेति चतुर्दशमन्त्रविरोधः । तत्र मृत्युतरणामृतत्वयोः शुभफलयोरुपदेशेन संभूत्यसंभूत्युपासनयोः प्रशंसनात्, अत्र च तयोरेवाशुभफलोपदेशेन विरोधस्य स्फुटतरत्वात्। किञ्च यथा "विद्यया देवलोक" इति श्रवणात् सफलाया देवताज्ञानरूपाया विद्यायाः "कर्मणा पितृलोक" इति श्रवणाच्च सफलायाः कर्मरूपाविद्याया "अन्धन्तमः प्रविशन्ति" "अन्यदेवाहुर्विद्यया" इति नवमदशममन्त्राभ्यां पार्थक्यमात्रे निन्दितेऽपि "विद्यां चाविद्या"ञ्चेति एकादशमन्त्रेण तयोः शुभफलमावेदयता निन्दायाश्च समुच्चयप्रशंसामात्रे तात्पर्यमाविष्कुर्वता विद्याऽविद्ययोः समुच्चय उपदिश्यते, तथैवास्मिन्नपि प्रकरणे भवितव्यम्। अत्र हि मन्त्रषट्के मन्त्राणां त्रिकद्वयरूपं प्रकरणद्वयं, तत्राद्यं विद्याऽविद्ययोः द्वितीयं त्वसंभूतिसंभूत्योः अनयोश्च प्रकरणयोर्विद्याऽविद्यापदे असंभूतिसंभूतिपदे च विहाय शब्देऽष्वर्थेषु वा न कश्चिद्विशेषलेशोऽपि । एवं च प्रकरणद्वयस्यादिमयोः "अन्धन्तमः प्रविशन्ती"ति नवमद्वादशवाक्ययोः समानपदत्वात्समानप्रकरणसंदंशत्वाच्च समानार्थकत्वं समानतात्पर्यकत्वमेव च न्याय्यम्, तथा च विद्यां चाविद्यां चेत्येकादशमन्त्रविहितस्य विद्याऽविद्यासमुच्चयस्य

भाषा

अब ध्यान देना चाहिये कि वेदवैनाशिक ने "*अन्धन्तमः* " इस १२ वें मन्त्र का जो अर्थ किया है उसमें "*संभूतिं च*" इस १४ वें मन्त्र का विरोध स्पष्ट है क्योंकि इस १४ वें मन्त्र में संभूति की उपासनाओं का अच्छा फल दिखला कर प्रशंसा की गयी है और वेदवैनाशिक के कहे हुये अर्थ के अनुसार "*अन्धन्तमः*" इस १२ वें मन्त्र से उन्हीं उपासनाओं की निन्दा निकलती है ।

ख० ४—(जैसे) "*विद्यया देवलोकः*" इस श्रुति के अनुसार देवताज्ञान रूपी विद्या उत्तम है और '*कर्मणा पितृलोकः*' इस श्रुति के अनुसार कर्म रूपी अविद्या भी उत्तम है, तथापि '*अन्धन्तमः*' इस ९ वें मन्त्र से उक्त अविद्या की और '*अन्यदेवाहुः*' इस १० वें मन्त्र से अविद्या की पृथक् पृथक् उपासना करने मात्र की निन्दा कर 'विद्याञ्चाविद्याञ्च' इस ११ वें मन्त्र से विद्या और अविद्या दोनों की साथ उपासना करने का उत्तम फल दिखला कर देवताज्ञान और कर्म के एक साथ करने का उपदेश पूर्व प्रकरण में है । (वैसे) ही १२ वें मन्त्र से लेकर १४ वें मन्त्र पर्यन्त इस प्रकरण का भी अर्थ लगाना उचित है क्योंकि उन छः मन्त्रों में तीन मन्त्र के दो प्रकरण हैं, अर्थात् देवताज्ञान और कर्म का प्रथम प्रकरण है, तथा माया और उसके कार्यों की उपासना का दूसरा प्रकरण है, और इन प्रकरणों के मन्त्रों का अन्योन्य में इतना ही विशेष है कि प्रथम प्रकरण में "विद्या और अविद्या" ये दो शब्द हैं और द्वितीय प्रकरण में 'असंभूति और संभूति तथा विनाश' ये तीन शब्द हैं। परन्तु इतने विशेष को छोड़कर दोनों प्रकरणों के सब शब्द और उनका विन्यास अर्थात् वाक्य सब एक ही प्रकार के हैं, इस रीति से दोनों प्रकरण के प्रथम २ दोनों वाक्यों अर्थात् '*अन्धन्तमः*' इस नवें वाक्य और '*अन्धन्तमः प्रविशन्ति*' इस १२ वें वाक्य के जब सब पद एक ही हैं और अपने २ प्रकरण का सम्बन्ध भी तुल्य ही है तब इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि इन दोनों वाक्यों का अर्थ और तात्पर्य तुल्य ही होना चाहिये, और ऐसी दशा में '*विद्याञ्चाविद्याञ्च*' इस ११ वें मन्त्र से कहे हुए देवताज्ञान और कर्म के अनुसार (जैसे) ८ वें मन्त्र का उक्त ज्ञान और कर्म की निन्दा में तात्पर्य

विरोधपरिहारायानुग्रहाय च यथाष्टमस्य मन्त्रस्य, 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते किन्तु विधेयं स्तोतुमि'ति वेददुर्गसज्जने पूर्वमुपपादितेनंशावरेणार्थवादन्यायेन समुच्चयप्रशंसामात्रे तात्पर्यं न तु विद्याया अविद्याया वा निन्दायाम्, तथैव द्वादशमन्त्रस्यास्याप्यनन्तरोक्तरीत्या न निन्दायां तात्पर्यम्, किंतु समुच्चयप्रशंसायामेवेति श्लिष्यतेतराम्। एवं च वेदवैनाशिकोक्तस्य निन्दारूपस्थूलार्थस्य संभवेऽपि तस्याविवक्षितत्वादेवाकिञ्चित्करत्वं विवक्षितत्वे "संभूतिं च विनाशं चे"ति चतुर्दशमन्त्रविरोधस्य वज्रलेपत्वात्।

अपि च ब्रह्मणः स्थान इत्यस्य कोऽर्थः ? ब्रह्मण आधारो वा १, ब्रह्मोपासनावलम्बनं वा २, ब्रह्मोपासनाप्रसङ्गो वा ३, ब्रह्मरूपं स्थानमिति वा ४, अन्यस्यासंभवात्। तत्र नाद्यः, जगदाधारस्य ब्रह्मण आधारासंभवात्। न च स्थानपदमत्र सम्बन्धिपरं ब्रह्मणश्च व्यापकत्वात् तत्स-

भाषा

नहीं है, किन्तु उनके एक साथ करने की प्रशंसा ही में तात्पर्य है। (वैसे) "*अन्धन्तमः प्रविशन्ति*" इस १२ वें मन्त्र (जिसको वेदवैनाशिक ने प्रमाण दिया है) का भी "*संभूतिं च विनाशं च*" इस १४ वें मन्त्र से कही हुई माया और उसके कार्य की एक साथ उपासना के अनुसार उन उपासनाओं की निन्दा में तात्पर्य नहीं है किन्तु उन उपासनाओं के एक साथ करने की प्रशंसा मात्र में तात्पर्य है। तो ऐसी दशा में यदि थोड़े काल के लिये वेदवैनाशिक का कहा हुआ मोटा २ अर्थ मान भी लिया जाय तो उस अर्थ से कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता। जैसे कि '*सिंहो माणवकः*' (यह लड़का सिंह है) इस लौकिक वाक्य में 'सिंह' शब्द का पशु रूपी अर्थ में तात्पर्य नहीं है इसलिये 'सिंह' शब्द का पशु रूपी अर्थ करना बुद्धिमान् का काम नहीं है। और वेदवैनाशिक के कहे हुए अर्थ में "*अन्धन्तमः प्रविशन्ति*" इस १२ वें मन्त्र का तात्पर्य तो हो ही नहीं सकता क्योंकि '*संभूतिं च विनाशं च*' इस १४ वें मन्त्र से विरोध पड़ जायगा, जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है। निदान जब माया और हिरण्यगर्भादि देवताओं की एक साथ उपासना करने मात्र में इस "*अन्धन्तमः*" १२ वें मन्त्र का तात्पर्य है अर्थात् 'माया और देवता की पृथक् २ उपासना नहीं करनी चाहिये' किन्तु एक ही साथ दोनों की उपासना करनी चाहिये, यही इस मन्त्र का अर्थ है, तब प्रतिमापूजन में इस मन्त्र का विरोध कहना वेदवैनाशिक की भूल अथवा वञ्चना नहीं है तो क्या है ?

ख० ५—उक्त मन्त्र के अर्थ में वेदवैनाशिक ने जो अपने मनमाना एक पेवना अर्थात् चकती यह लगाया है कि 'ब्रह्म के स्थान में' यह जोड़ भी बेजोड़ ही है क्योंकि इसके अर्थ चार ही प्रकार के संभव में आ सकते हैं। परन्तु वे सब दोष रूप अग्नि से दग्ध हो जाते हैं और उनके दग्ध होने की रीति यह है कि 'ब्रह्म के स्थान में' इसका क्या ब्रह्म का आधार (जिस पर बैठा जाता है) अर्थ है ? अथवा ब्रह्म की उपासना का आलम्बन (जिसमें ब्रह्म की उपासना की जाती है) अर्थ है ? किंवा ब्रह्म की उपासना का अधिकार अर्थ है ? यद्वा ब्रह्म रूपी स्थान ब्रह्म हैं ? क्योंकि पाँचवाँ अर्थ इसका हो ही नहीं सकता और इन अर्थों की भी यह दशा है कि जब जगत् के आधार ब्रह्म हैं तो ब्रह्म का आधार कोई नहीं है, इस कारण प्रथम अर्थ का संभव ही नहीं है। और यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म का आधार तो कोई नहीं है परन्तु सम्बन्धी तो ब्रह्म का सब जगत् है,

म्बन्धित्वं कारणे प्रकृतौ कार्ये च पृथिव्यादौ संभवत्येवेति वाच्यम् तथा सत्यसंभूतिं संभूतिं चेति द्वितीयाविरोधात्, नह्यसंभूत्यन्तरं संभूत्यन्तरं वा किञ्चिदस्ति यद्ब्रह्म सम्बन्धिन्यामसंभूतौ संभूतौ वोपास्येत, अन्यत्र ह्यन्यदुपास्यते न तु तत्रैव तत् । न चासंभूतिरेवासंभूतित्वरूपकारणत्वेन पृथिव्यादिश्च संभूतित्वरूपकार्यत्वेन शक्यत एवोपासितुमिति वाच्यम्। एवं सति ब्रह्मण स्थान इत्यस्यैव वैयर्थ्यापातात् ।

न द्वितीयः, अनुक्तोपालम्भप्रसङ्गात्। को हि सनातनधर्मानुयायी ब्रह्मोपासनालम्बनभूतासु प्रतिमासु कारणभूतां प्रकृतिं कार्यभूतं पृथिव्यादिकं वोपासितुं ब्रूते, य उपालभ्यते अचेतनेष्वचेतनोपासनाया अप्रसिद्धेः ।

अत एव न तृतीयः । प्रकृत्यादिचिन्तका हि प्रकृत्यादीनुपासत इति सत्यम्, किंतु न तत्र ब्रह्मोपासनाप्रसङ्गसंभवः, तेषां ब्रह्मोपासनानधिकारित्वात् । अत एव चतुर्थोऽपि

भाषा

इसलिए यहाँ 'स्थान' शब्द का सम्बन्धी अर्थ है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कहने से मन्त्र का यह अर्थ होगा कि "ब्रह्म के सम्बन्धी" में जो पुरुष माया अथवा उसके सम्बन्धी कार्य की उपासना करता है, वह नरक दुःख को प्राप्त होता है । और यह भी अर्थ असम्भव दोष ही से दुष्ट है क्योंकि माया और उसके कार्य से अन्य कोई पदार्थ ही नहीं है कि जिसमें माया या उसके कार्य की उपासना की जाय । तथा माया और उसके कार्य यद्यपि ब्रह्म के सम्बन्धी हैं, तथापि माया में किस दूसरी माया की उपासना होगी ? तथा उस माया में उसी माया की, और उस माया कार्य में उसी माया कार्य की उपासना हो नहीं सकती, क्योंकि एक में दूसरे की उपासना होती है न कि उसमें उसी की । तथा यदि उसमें उपासना कही जाय तो 'ब्रह्म के स्थान में' इस पेवना का लगाना ही व्यर्थ हो जायगा क्योंकि तब इतना ही कहना उचित होगा कि माया में जो उसी माया की उपासना करता है वह नरक दुःख पाता है । और इतना कहने पर भी दोष से छुटकारा न मिलैगा क्योंकि तब इतना ही कहना उचित होगा कि माया की उपासना करने वाला नरक दुःख पाता है, और जब इतना ही अर्थ है तब वह पेवना कहाँ लगा ?

द्वितीय अर्थ भी ऐसा ही है जैसे गौ को कोई कहै कि 'यह गौ है' और उसका खण्डन अन्य पुरुष करै कि यदि गर्दभी है तो रेंकती क्यों नहीं ? वैसा ही यह वेदवैनाशिक का कथन है, क्योंकि कोई सनातनधर्मी ब्रह्म की प्रतिमा में माया और उसके कार्य की उपासना करने को इस कारण नहीं कहता कि एक जड़ में दूसरे जड़ की उपासना निष्फल ही होती है तो ऐसी दशा में किसके खण्डन के लिए वेदवैनाशिक इस मन्त्र को प्रमाण देते हैं ।

ऐसे ही तीसरा अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह ठीक है कि माया आदि की उपासना लोग करते हैं; और उन्हीं के लिये वेदवैनाशिक के अर्थानुसार इस मन्त्र में नरक दुःख कहा है, किंतु ऐसे उपासकों को ब्रह्म की उपासना में अधिकार ही नहीं है, क्योंकि यह मलिन हृदयों की उपासना हैं ।

निरस्तः, नहि कश्चिदेवं ब्रूते ब्रह्मणि प्रकृत्यादीनामुपासना कार्येति न वा ब्रह्मणि देवान्तरे वा मूर्तयः कैश्चिदप्युपास्यन्ते, किमुत सनातनधर्मावलम्बिभिः प्रत्युत मूर्तिष्वेव देवा उपास्यन्ते। तस्मात्—

पदवाक्यप्रमाणानामज्ञानान्मोहमात्रजः।
वेदवैनाशिकस्यायमर्थो व्योमसुमायते॥ १ ॥

एवं 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' इत्यस्य मन्त्रैकदेशस्य 'यः परमेश्वरः सर्वजगद्व्यापको निराकारश्च तस्य प्रतिमा परिमाणं सादृश्यं मूर्तिर्वा नास्तीति वेदवैनाशिकेनार्थ उच्यते सोऽपि न युक्तः। तदुक्ते मन्त्रैकदेशे व्यापकत्वनिराकारत्वप्रतिपादकपदाभावात्। न चोक्तान्मन्त्रभागात्पूर्वं "नैनमूर्द्धं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्" इत्यस्ति व्यापकत्वनिराकारत्वप्रतिपादकं वाक्यमिति वाच्यम्। एवमपि परिमाणं सादृश्यं मूर्तिर्वेति वा शब्दघटितत्वेन संशयापादकतयैव तादृशव्याख्यानस्य हेयत्वात्, प्रतिमाशब्दस्यात्र परिमाणपरत्वे व्यापकत्वप्रतिपादकतया परिमाण-

भाषा

और चतुर्थ अर्थ भी युक्त नहीं है क्योंकि कोई यह नहीं कहता कि ब्रह्म में माया आदि की उपासना करनी चाहिये, वरुक उलटे प्रतिमा ही में देवताओं की उपासना होती है।

यहाँ तक प्रथम मन्त्र के अर्थ का विवेक हो चुका जिससे कि प्रतिमापूजन में कोई विरोध नहीं पड़ता। और पद (व्याकरण) वाक्य (मीमांसा) प्रमाण (न्यायशास्त्र) के न जानने के कारण वेदवैनाशिक ने जो अपने भ्रम मात्र से "*अन्धन्तमः प्रविशन्ति*" इस उक्त १२ वें मन्त्र का अर्थ किया है वह आकाश पुष्प ही है। अब "*न तस्य प्रतिमा*" इस वेदवैनाशिक के कहे हुए अधूरे मन्त्र के अर्थ का विचार किया जाता है। इस मन्त्र का वेदवैनाशिक ने यह अर्थ किया है कि 'जो परमेश्वर सब जगत् का व्यापक और निराकार है उसकी प्रतिमा अर्थात् तौल वा तुल्यता वा मूर्ति नहीं है, यह अर्थ भी ठीक नहीं है क्योंकि—

ख० १—इस अधूरे मन्त्र में कोई ऐसा शब्द नहीं है, जिसका जगत् का व्यापक अथवा निराकार अर्थ हो सकै।

ख० २—और क्या यह मन्त्र सब मन्त्रों से विलक्षण अथवा दो ही चरण का है? अथवा चार चरण का है, परन्तु अवशिष्ट दो चरणों से कुछ भय है, इससे वे दो चरण नहीं कहे जाते।

वे० वै०—मन्त्र का उत्तरार्द्ध मैंने कहा है और इससे मेरा प्रयोजन सिद्ध होता है, तो पूर्वार्द्ध के कथन का कुछ प्रयोजन नहीं है।

ख०—कि पूर्वार्द्ध कहा जाय औरं नहीं तो इसका उत्तर दिया जाय कि इस मंत्र में किस शब्द का जगत् का व्यापक और निराकार अर्थ है?

वे० वै०—अब तो कहना पड़ा सुनिये। इसका पूर्वार्द्ध यह है कि "*नैनमूद्‌ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्*" और इसी का अर्थ जगत् का व्यापक और निराकार है क्योंकि इसका यह वाक्यार्थ है कि इस ब्रह्म को सब ऊपर की और नीचे की तथा मध्य की दिशाएँ ग्रहण नहीं कर सकतीं।

ख०— अर्थ तो कुछ न कुछ हुआ परन्तु यह निश्चय नहीं हुआ कि यहाँ प्रतिमा शब्द का

निषेधकेन 'नैनमि'त्यादि पूर्ववाक्येनार्थपौनरुक्त्यापाताच्च एवं च परिशेषादत्र प्रतिमाशब्दः करणार्थकाङ्क्षन्तत्वादुपमानपरः उत भावार्थकाङ्क्षन्तत्वात्सादृश्य इति विचारे वेदवैनाशिकेनैव निर्णयः कार्यः। न च संशय एवास्तामिति वाच्यम्, तथा सति संशयान्धस्यास्य वाक्यस्य प्रतिमापूजननिषेधायोपन्यासे तदुपन्यसितुरन्धलग्नान्धन्यायविषयत्वापत्तेः। न च प्रतिमाशब्दस्योपमाने प्रयोगभूयस्त्वमत्र प्रतिमापदस्योपमानपरताया निर्णायकमिति वाच्यम्। सादृश्येऽपि प्रयोगभूयस्त्वदर्शनेनैकशेषस्य दुष्करत्वात्। तथा च वाल्मीकीयरामायणे वनवासप्रकरणे "इतो महात्मा वनमेव रामो गतः सुखान्यप्रतिमानि हित्वा" भारते च वनपर्वणि नलोपाख्याने 'रूपेणाप्रतिमो भुवि' नैषधेऽपि 'न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे' इत्यादयो भूयांसः सादृश्ये प्रतिमाशब्दस्य प्रयोगाः उपलभ्यन्ते, येषु न मूर्तिवाचिनः प्रतिमाशब्दस्य संभवोऽपि। नहि सुखानां नलरूपस्य वा मूर्तिः संभविनी या निषिध्येत, नापि मुखस्य प्रतिमा नासीदिति

भाषा

परिमाण (तौल) तुल्यता और मूर्ति इन तीन में से कौन अर्थ है ? क्योंकि वेदवैनाशिक ने अपने उक्त व्याख्यान में इन तीन अर्थों को वा शब्द लगाकर सन्देह रूप से कहा है और उसमें भी परिमाण रूपी अर्थ इसका नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वार्द्ध ही में जब ब्रह्म को व्यापक कह दिया गया, तब उसी से यह स्पष्ट हो गया कि ब्रह्म का परिमाण नहीं होता, तो ऐसी दशा में पुनः उत्तरार्द्ध से परिमाण का निषेध करना व्यर्थ ही हो जायगा। परन्तु व्याकरण की रीति से यहाँ प्रतिमा शब्द के तुल्यता और मूर्ति ये दो अर्थ हो सकते हैं, इसलिये यह सन्देह अवशिष्ट है कि यहाँ दोनों में से कौन अर्थ है, और इस सन्देह को वेदवैनाशिक ने अपने उक्त व्याख्यान ही में कहा है इसलिये दो में से एक अर्थ का निर्णय भी उन्हीं को करना चाहिये।

वे० वै०—यदि न निर्णय किया जाय तो हानि क्या है ?

ख० १—यही हानि है कि सन्देह ही रह जायगा। और यदि यहाँ प्रतिमा शब्द का तुल्यता अर्थ है, तब प्रतिमापूजन में इस श्रुति का विरोध नहीं पड़ सकता परन्तु यदि मूर्ति अर्थ है तो विरोध पड़ने का संभव है, इससे तुल्यता और मूर्ति इन दोनों में से एक पक्ष का निर्णय बहुत ही आवश्यक है, और जिसने इस मन्त्र का विरोध दिया है, उक्त निर्णय उसी को करना चाहिये।

वे० वै०—यदि हमी को निर्णय करना है, तो यही निर्णय है कि इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द का उपमान रूपी मूर्ति अर्थात् लौकिक पाषाणादि प्रतिमा ही अर्थ है, और उसी का निषेध इस मन्त्र में किया है, क्योंकि इसी अर्थ में प्रतिमा शब्द का प्रयोग बहुत सा मिलता है।

ख०—उपमा रूपी तुल्यता में भी प्रतिमा शब्द के बहुत से प्रयोग मिलते हैं जैसे "*इतो महात्मा श्रीरामः*" महात्मा श्रीराम जिनकी प्रतिमा नहीं है उन सुखों को छोड़कर यहाँ से बन ही को गये। "*रूपेण*" राजा नल अपने रूप से अप्रतिम अर्थात् तुल्यता रहित थे।

"*न तन्मुखस्य*" चर और अचर सब जगत् में दमयन्ती के मुख की तुल्यता न थी इत्यादि। ऐसे स्थानों में प्रतिमा शब्द के उपमान रूपी मूर्ति अर्थ का संभव भी नहीं है क्योंकि "सुखों की वा नल के रूप की कोई मूर्ति रूपी प्रतिमा नहीं हो सकती" और "दमयन्ती मुख की मूर्ति रूपी प्रतिमा

वक्तुं शक्यते, तदापि तच्चित्रफलकादीनां सत्वात् तथा। चैतन्निर्णयासमर्थस्य वादकथायां न विपक्षबाधकप्रमाणतयैतद्वाक्यस्योपन्यासेऽधिकारः। एवं न जल्पेऽपि प्रकृतवाक्योपन्यासस्य स्वनिग्रहातिरिक्तं किमपि फलम्, सादृश्यार्थकोऽयं प्रतिमाशब्द इति परेण सुवचत्वात्। एवं वितण्डायां नहि प्रतिमापूजनवादी वाक्यमेतदुपन्यस्यति, येनोक्तसंशयनिराकरणभारस्तस्य मूर्द्धनि निपतेत्। किञ्च प्रकृतवाक्यस्यतत्पदसाकाङ्क्षयत्पदघटितत्वात् 'यस्य नाम महद्यश' इत्युत्तरवाक्यार्थेन सह प्रकृतवाक्यार्थस्योपजीव्योपजीवकभावः। 'यस्य त्वेतानि चत्वारि वा नरेन्द्र यथा तव धृतिर्दृष्टिर्मतिर्दाक्ष्यं स कर्मसु न सीदति' इतिवत्। उपजीव्योऽपि यच्छब्दघटितस्यैव वाक्यस्यार्थः, तद्वदेव प्रकृते च यच्छब्दघटितस्य वाक्यस्य प्रसिद्धमहायशस्कत्वं नामात्मकमहायशस्कत्वं वाऽर्थः, नाम शब्दस्येह प्रसिद्ध्यर्थकाव्ययत्वात् आख्यापर्यायनपुंसकप्रातिपदिकत्वाद्वा, उभयथापीह प्रतिमाशब्दस्य यदि मूर्तिरर्थः, तदा तदभावरूपे पूर्ववाक्यार्थे प्रोक्तो-

भाषा

न थी" यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि चित्रफलक आदि प्रतिमा उसकी अवश्य थी। तो ऐसी दशा में वेदवैनाशिक कैसे यह निर्णय कर सकते हैं कि इस मन्त्र में "प्रतिमा" शब्द का मूर्ति ही अर्थ है न कि तुल्यता ? क्योंकि दोनों अर्थों में प्रतिमा शब्द के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। और जब यह निर्णय उनसे ही नहीं हो सकता तो किसी कथा अर्थात् पूर्वोक्तवाद वा जल्प वा वितण्डा में इस मन्त्र के प्रमाण देने का अधिकार वेदवैनाशिक को कदापि नही है, और सन्देह में निर्णय करना वेदवैनाशिक ही का काम है क्योंकि उन्हीं ने प्रतिमापूजन के निषेध में इसका प्रमाण दिया है, और सनातनधर्मी तो इतने ही कहने से विजय पाता है कि "जब वेदवैनाशिक के दिये हुए इस मन्त्र रूपी प्रमाण में प्रतिमा शब्द के मूर्ति रूपी अर्थ में सन्देह है, तो यह मन्त्र प्रतिमापूजन के निषेध में प्रमाण ही नहीं हो सकता"।

वे० वै०—अच्छा हम यदि इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द के अर्थ का निर्णय नहीं कर सकते तो कोई सनातनधर्मी ही इसका निर्णय करै।

ख० १—जब इस मन्त्र को प्रमाण देकर भी प्रतिमा शब्द के अर्थ का निर्णय न करने से वेदवैनाशिक कथा में हार बैठे, तब तो विवाद ही समाप्त हो गया। अब किस विवाद में सनातनधर्मी इस प्रतिमा शब्द के अर्थ का निर्णय करैगा ?

ख० २—उक्त प्रतिमा शब्द के अर्थ का निर्णय करने से सनातनधर्मी का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि उसने इस मन्त्र को किसी विषय में प्रमाण नहीं दिया है।

वे० वै०—यदि कथा समाप्त हो गयी, इसलिये मैं वादी नहीं हूँ, तथापि अब शिष्य रूप में आकर मैं प्रार्थना करता हूँ कि उक्त मन्त्र में प्रतिमा शब्द के अर्थ का निर्णय कर दिया जाय।

स० ध०—यदि आप शिष्य हैं तो इस मंत्र में प्रतिमा शब्द के अर्थ का निर्णय सुनिये कि इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में दो वाक्य हैं एक "*न तस्य प्रतिमा अस्ति*' (उसकी प्रतिमा नहीं है) दूसरा "*यस्य नाम महद्यशः*" (जिसका बड़ा यश अर्थात् प्रसिद्धि है अथवा जिसका नाम ही बड़ी कीर्ति है)। अब ध्यान देना चाहिये कि प्रथम वाक्य में 'तद्' (उस) द्वितीय वाक्य में यत् (जिस) शब्द के होने

त्तरवाक्यार्थप्रयोज्यतैव बाधिता भवति। नहि महायशस्कस्य मूर्तिर्न भवतीति वादिप्रतिवादिनोः क्वचिदन्यत्र सिद्धम्, तस्येदानीमेवानेनैव च वाक्येन वेदवैनाशिकस्य सिषाधयिषितत्वात् लोकानुभवविरुद्धा चासौ प्रयोज्यता। महायशस्कस्यापि राजादेर्मूर्तिदर्शनेन व्यभिचारग्रासात्।

यदि तु सदृशी मूर्तिः प्रतिमाशब्दस्येहार्थः, तथा च सदृशमूर्त्यभावे समञ्जसैवोक्तोत्तरवाक्यार्थप्रयोज्यतेत्युच्यते, तदा मूर्तिसत्वेऽपि सदृशमूर्त्यभावः, सादृश्याभावपर्यवसितः स्यात् 'शिखीध्वस्त' इतिवत् विशेषणे सादृश्य एवाभावपर्यवसानस्य विशेष्ये बाधेनानन्यगत्या योग्यता संपत्तये स्वीकर्तव्यत्वात्। तथा च तत्सादृश्याभावस्तन्महायशस्कत्वप्रयोज्य इत्येव वाक्यार्थः पर्यवसित इति प्रतिमाशब्दस्य प्रकृते सादृश्यार्थकत्वमेव युक्तम्, तस्यैव निषेध्यताया उभयवादिसम्प्रतिपन्नत्वात्। वेदवैनाशिकस्तु स्वाभिप्रायं प्रकाशयन्ननेन वाक्येन पर्यवसाने मूर्तिनिषेधमपहाय सादृश्यमात्रं निषिध्य मतानुज्ञया निगृहीत इति समाप्तोऽयं विवादः। अत एव च भयात् "यस्य नाम महद्यशः" इत्युत्तरवाक्यं नोल्लिखितं वेदवैनाशिकेनेति घट्टकुट्यां प्रभातम्। एतेन प्रतिमाशब्दोऽत्र मूर्तिसादृश्योभयपरः। न च प्रतिमाशब्दस्यानेकार्थतया सकृदुच्चरितन्यायविरोधः। तस्यैकार्थपरत्वनियामकप्रकरणशक्तिमूलकतया प्रकृते तादृशप्रकरणाभावेन प्रवृत्त्ययोगात्। एवं च 'न तस्य प्रतिमे'त्यस्य मूर्तिनिषेधपरत्वमपि संभवत्येवेत्यपि निरस्तम्। मूर्त्यभावे महायशस्कत्वप्रयोज्यताया व्यभिचारेणानुपदमेव निराकृततया तदंशे 'यस्य नामे'त्युत्तरवाक्यविरोधस्य दुर्वारत्वादिति प्रकृते प्रतिमाशब्दः परिशेषात्सादृश्यमात्रपरः।

किञ्च अयमेव याजुषो मन्त्रः कृष्णयजुर्वेदीयश्वेताश्वतरोपनिषद्यपि चतुर्थेऽध्याये पठ्यते—

भाषा

से यह बात स्पष्ट है कि द्वितीय वाक्य से प्रथम वाक्य के अर्थ में कारण दिखलाया गया है (जैसे) 'उसका पराजय नहीं होता जिसका बड़ा बल है। इन दो लौकिक वाक्यों में प्रथम वाक्य के अर्थ में द्वितीय वाक्य से कारण दिखलाया जाता है अर्थात् इन दो लौकिक वाक्यों का यह अर्थ होता है कि 'बल बड़ा होने से पराजय नहीं होता' ऐसे ही उक्त वैदिक वाक्यों का भी यही अर्थ है कि "ब्रह्म के यश बड़ा होने के कारण ब्रह्म की प्रतिमा नहीं है"। अब यह निश्चय हो चुका कि इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द का वही अर्थ है कि जो यश बड़ा होने के कारण नहीं होता। इसमें अब इतना ही देखना अवशिष्ट रहा कि मूर्ति और तुल्यता, इन दो अर्थों में ऐसा कौन है कि जो यश बड़ा होने के कारण नहीं होता और ऐसी दशा में प्रतिमा शब्द का मूर्ति अर्थ त्रिकाल में नहीं हो सकता क्योंकि बड़े यश वाले राजा आदि की भी मूर्ति होती ही है। तथा उपमान रूपी मूर्ति जिसको प्रतिमा कहते हैं, वह भी राजा आदि महा यशवालों की होती ही है, इस रीति से यह निर्णय है कि उक्त मन्त्रों में प्रतिमा शब्द का तुल्यता ही अर्थ है।

नं० २—उक्त मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् के चौथे अध्याय में भी पढ़ा है और उसके भाष्य में श्री स्वामी शंकराचार्य ने इसके उत्तरार्द्ध का यही अर्थ किया है कि उस ईश्वर की प्रतिमा (उपमा) अर्थात् तुल्यता किसी में नहीं है, क्योंकि ऐसा अखण्ड आनन्द अनुभव रूपी दूसरा कोई

नैनमूर्द्धं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ १९ ॥

अत्र शाङ्करभाष्यम्—कूटस्थस्य ब्रह्मण ऊर्द्धादिषु दिक्षु केनाप्यपरिग्राह्यत्वम् अद्वितीयत्वात्, केनाप्यतुलितत्वं कालदिगाद्यनवच्छिन्नयशोरूपत्वं चाह—नैनमिति। एवं प्रकृतं अपरिच्छिन्नरूपत्वान्निरंशत्वान्निरवयवत्वाच्च उर्द्धादिषु दिक्षु कश्चिदपि न परिजग्रभत् परिग्रहीतुं न शक्नुयात् । तस्य ईश्वरस्य अखण्डसुखानुभवत्वादेतादृशद्वितीयाभावात् प्रतिमा उपमा नास्ति । यस्य नाम महद्यशो, यस्येश्वरस्य नाम अभिधानं महत् दिगाद्यनवच्छिन्नं सर्वत्र परिपूर्णं यशः कीर्तिरिति ॥ १९ ॥

अत्र हि मन्त्रस्थस्य प्रतिमाशब्दस्य मूर्त्यर्थकतायामपदान्तरदर्शितदोषस्य प्रतिपादितरीत्या दुर्वारत्वादेव भगवत्पादेन 'प्रतिमा उपमा' इति वाक्येन कण्ठत एव तस्य सादृश्यार्थकत्वमुक्तम् 'अतुलित्वमाहे' त्यवतारितं च ।

अपि च 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुत्यैकमत्यानुरोधादपि प्रतिमाशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वमेव न तु मूर्त्यर्थकत्वमिति सुनिर्णयम् । किञ्चात्र प्रतिमाशब्दस्य मूर्त्यर्थकत्वे पूर्वोपदर्शितया, दर्शितयुक्तिभिश्च मायिकविग्रहप्रतिपादिकया 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्' (कैवल्योपनिषदि) इत्यादिकया श्रुतिमण्डल्या सहास्य मन्त्रस्य दुर्वार एव विरोधः प्रसज्येत, तत्र मायिकविग्रहरूपाया मूर्तेः स्पष्टमेव प्रतिपादनात् । तत्र श्रुतिमण्डल्यां तात्पर्यान्तरसंभावनायाश्च तदुपन्यासावसर एव स्वरूपव्याक्रियया निराकृतत्वात् ।

अन्यच्च प्रतिमाप्रतिपादिकाभिः पूर्वोदाहृताभिः 'काऽसीत्प्रतिमे'त्यादिकाभिः श्रुतिभिः

भाषा

नहीं है । इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि स्वामी जी के कहने मात्र से यहाँ प्रतिमा शब्द का तुल्यता अर्थ मान लिया जाय । किन्तु मेरा यह अभिप्राय है कि "पूर्वोक्त युक्ति से जब प्रतिमा शब्द का मूर्ति रूपी अर्थ नहीं हो सकता, तब अनन्यगति होकर उसका तुल्यता रूपी अर्थ मानना ही पड़ेगा, और ऐसी दशा में यही समझना चाहिये कि 'श्री स्वामी जी' ऐसे सर्वज्ञ पुरुष की सम्मति भी तुल्यता रूपी अर्थ में है तो यही अर्थ ठीक है ।

नं० ३—"*न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते*" (परमेश्वर के तुल्य अथवा उनसे अधिक कोई नहीं देख पड़ता) इस वेदवाक्य की सम्मति से भी यही निर्णय है कि उक्त मन्त्र में प्रतिमा शब्द का तुल्यता ही अर्थ है न कि मूर्ति ।

नं० ४—पूर्वोक्त देवशरीर के प्रकरण में जितने वेदवाक्य परमेश्वर के मायिक शरीर होने में प्रमाण दिये गये हैं, उन सब के अनुसार भी यहाँ प्रतिमा शब्द का तुल्यता ही अर्थ है क्योंकि यदि मूर्ति अर्थ माना जाय तो इस मन्त्र से मूर्ति निषेध करने में उन वाक्यों के साथ अटल विरोध पड़ जायगा, क्योंकि मायिक शरीर और उसकी उपमान रूपी मूर्ति वे दोनों परमेश्वर की मूर्ति ही हैं ।

नं० ५—अनन्तरोक्त प्रतिमा प्रकरण में १७३ संख्या से लेकर जो वेदवाक्य प्रतिमा में प्रमाण दिये गये हैं उनके अनुसार से भी यहाँ प्रतिमा शब्द का तुल्यता ही अर्थ है न कि मूर्ति

सह विरोधप्रसङ्गस्य भयादपीहस्थस्य प्रतिमाशब्दस्य सादृश्यमेवार्थो न तु मूर्तिः, तासामन्यार्थकत्वसंभावनास्तु तासामुपन्यासावसर एवाधस्तात्समूलमुन्मूलिताः ।

एवं युक्तिखण्डोद्धृतप्रतीकोपासनाधिकरणदर्शितश्रुतिकदम्बानुसारादपि प्रतिमाशब्दस्यात्र तुल्यार्थकत्वमेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन । एवं चात्र मंत्रे प्रतिमाशब्दः सादृश्यपरो मूर्तिपरो वेति संशयं षोढा निराकृत्य तस्य सादृश्यपरत्वरूपां कोटिं सिद्धान्तयितुं सुतरां समर्थः सनातनधर्मानुयायी, वेदवैनाशिकस्त्वेकधाऽपि मूर्तिपरत्वकोटिनिर्णयासामर्थ्यात् उक्तसंशयपङ्कनिमग्नो गौरिव 'दशहस्ता हरीतकीति' न्यायेन 'मूर्तिपरताकोटिरेव श्रेयसी'ति स्वहृदयविरुद्धं व्यर्थमेव क्रन्दतीति स्पष्टतरमस्य पाण्डित्यम् । तस्मात्—

पाणिनीयां नदीं श्रुत्वा श्रुत्वा न प्रतिमेति च ।
मरुस्थलीं श्रुतिं चेमां फलैक्यमभिधावतोः ॥ १ ॥

एवं "यद्वाचाऽनभ्युदित"मित्यादिकाभिः पञ्चभिः श्रुतिभिरपि, ब्रह्मस्वरूपमेव शुद्धं

भाषा

क्योंकि यदि यहाँ प्रतिमा शब्द का मूर्ति अर्थ मानकर उसका निषेध किया जाय तो उन वेदवाक्यों से भी विरोध अवश्य पड़ेगा ।

नं० ६—ऐसे ही प्रतीकोपासना के वेदवाक्य जो पूर्व ही युक्तिखण्ड में उद्धृत फलाधिकरण में दिखलाये गये हैं, उनके अनुसार भी प्रतिमा शब्द का यहाँ तुल्यता ही अर्थ है न कि उपमान रूपी मूर्ति । अब देखना चाहिये कि उक्त सन्देह की दशा में वेदवैनाशिक प्रतिमा शब्द का अपने कहे हुए मूर्ति रूपी अर्थ का किसी भी प्रमाण से निर्णय नहीं कर सके और सनातनधर्मी ने उसके तुल्यता रूपी अर्थ का अनेक दृढ़ प्रमाणों के अनुसार छः प्रकारों से निर्णय कर दिखलाया, इससे पक्षपातशून्य विचारकों को सहज ही में यह निश्चित हो जायगा कि वेदवैनाशिक का पाण्डित्य कैसा है ?

इस अवसर पर यह दृष्टान्त दिखलाने के योग्य है कि पाणिनि महर्षि से "नदी" सुनकर मरुस्थली (निर्जल देश) की ओर दौड़ने वाले प्यासे मनुष्य और "*न*" "*प्रतिमा*" इन्हीं दो शब्दों को केवल सुन कर इस मन्त्र की ओर दौड़ने वाले वेदवैनाशिक को फल तुल्य ही हुआ अर्थात् पाणिनि महर्षि ने अपने व्याकरण शास्त्रीय कार्यों के लिये "देवी" "दासी" "मरुस्थली" आदि ईकारान्त स्त्री लिङ्ग शब्दों का नाम 'नदी' रखा है । इतने मात्र से यदि कोई वज्रवैयाकरण प्यास से पानी पीने के लिये मरुस्थली (निर्जल देश) को श्री गङ्गा जी के तुल्य नदी समझ कर, उसकी ओर दौड़े तो उसका यही फल होगा कि परिश्रम से प्यास दूनी हो जायगी और वहाँ पहुँच कर धूली फाँकता हुआ पलटेगा । ऐसे ही हमारे वेदवैनाशिक महाशय भी 'न' और 'प्रतिमा' इन्हीं दो शब्दों को लेकर अर्थात् यहाँ प्रतिमा शब्द के अर्थ का कुछ भी विचार न कर इस मन्त्र की ओर एकाएकी दौड़ पड़े, अर्थात् अपने ग्रन्थ में इस मन्त्र को प्रतिमापूजन के निषेध में प्रमाण लिख मारा, परन्तु विचार होने पर प्रतिमा शब्द का उपमान रूपी मूर्ति अर्थ, उनके हाथ न लगा किन्तु तुल्यता रूपी वास्तविक अर्थ ही को लेकर उनको खेदपूर्वक इस मन्त्र से पलटना पड़ा ।

प्रदर्श्यते न तु तस्योपास्यत्वमभिधीयते। किंतु 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीते'त्यादावादित्यमित्यादि द्वितीयाश्रुत्योपास्यत्वेन बोधितानामादित्यादिप्रतीकानां ब्रह्मभिन्नत्वं 'यदिदमादित्यादिकं ब्रह्मदृष्ट्योपास्यते न तद्ब्रह्म, उपासना ह्यन्यस्मिन्नेवान्यस्याहार्याभेदारोपेण भवतीत्यभिप्रायेण प्रतिपाद्यते, ब्रह्मतत्वविवेकायेति' नास्त्याभ्यो वेदवैनाशिकस्य कश्चिल्लाभलेशोऽपि। न हि प्रतिमैव ब्रह्म नान्यदिति कोऽप्यभिधत्ते यं प्रतीमाः श्रुतयो बाधकतयोपन्यस्येरन् आसां च तात्पर्यनिर्णयाय क्रमेण भगवत्पादीयं भाष्यमुपन्यस्यते।

तथाहि केनोपनि० ख० १—सत्यानृत एव विकारो यस्यास्तया वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्याऽनभ्युदितमप्रकाशितमनभ्युक्तं, येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वागभ्युद्यते चैतन्यज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यत इत्येतत् 'यद्वाचो ह वागि'त्युक्तं 'वदन्वाक् यो वाचमन्तरोऽयमिती'त्यादि च वाजसनेयके। या वाक् पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता, कश्चित्तां वेद ब्राह्मण इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तं 'सा वाग्यया स्वप्ने भाष्यते' इति। सा हि वक्तुर्वक्तिः नित्या वाक् चैतन्यज्योतिः स्वरूपा। 'नहि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यत' इति श्रुतेः। तदेवात्मस्वरूपं ब्रह्मनिरतिशयं भूमाख्यं बृहत्वाद्ब्रह्मेति विद्धि, विजानीहि त्वम् यैर्वागुपाधिभिः "वाचो ह वाक्चक्षुषः चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः कर्ता भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता प्रशासिता विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"त्येवमादयः संव्यवहारा व्यवहार्ये निर्विशेषे परे सौम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते तान्व्युदस्यात्मानमेव निर्विशेष ब्रह्म विद्धीत्येव शब्दार्थः, नेदं ब्रह्म यदिदमित्युपाधिभेद-

भाषा

अब "*यद्वाचानभ्युदितम्*" इत्यादि वेदवैनाशिक के कहे हुए अवशिष्ट पाँच वेदवाक्यों के विषय में विचार किया जाता है कि—

इन वाक्यों से शुद्ध ब्रह्मस्वरूप का वर्णन किया जाता है न कि उनकी उपासना का, अर्थात् इन वेदवाक्यों का यह तात्पर्य है कि वेद में "*आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत*" (सूर्य को यह ब्रह्म है ऐसा समझ कर उपासना करै) इत्यादि वाक्यों से विहित उपासना के विषय, जो सूर्य आदि प्रतीक हैं, वे वास्तविक में ब्रह्म नहीं हैं किन्तु ब्रह्म से भिन्न ही हैं और उपासना तो अभेद मानने मात्र से एक की दूसरे में होती है। इस रीति से ये श्रुतियाँ केवल ब्रह्मतत्व के विवेक के लिये हैं, इससे इन श्रुतियों में न ब्रह्म की उपासना का निषेध है, और न सूर्यादि प्रतीकों की उपासना का निषेध है, इसलिये इन श्रुतियों से वेदवैनाशिक को लेश मात्र भी कोई लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि यह कोई नहीं कहता कि "प्रतिमा से अलग परमेश्वर कोई वस्तु नहीं है, किन्तु प्रतिमा ही परमेश्वर है"। हाँ यदि ऐसा कोई कहता तो उसके खण्डन के लिये ये श्रुतियाँ प्रमाण देने के योग्य थीं। निदान इन पाँच श्रुतियों का यह कदापि अर्थ नहीं है कि "प्रतिमाओं की उपासना न करो" इसलिये अब ऊपर संस्कृत भाग में लिखे हुऐ, शाङ्करभाष्य के अनुसार इन श्रुतियों का अर्थ लिखा जाता है।

"*यद्वाचा०*" वचन अर्थात् पदों से जो नहीं प्रकाशित किया जा सकता, और जिस चैतन्य रूपी ज्योति से सब वचन प्रकाशित होते हैं, उसी चैतन्य रूपी आत्मा को तुम ब्रह्म जानो अर्थात् वही

विशिष्टमनात्मेश्वराद्युपासते ध्यायन्ति। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धीत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्मेत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते, नियमार्थमन्यद्ब्रह्म बुद्धिपरिसङ्ख्यानार्थं वा।

"यन्मनसा न मनुते" मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते मनुतेऽनेनेति विग्रहे मनः, सर्वकारणसाधारणम्, सर्वविषयव्यापकत्वात्, कामः "सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे"ति श्रुतेः कामादिवृत्तिमन्मनस्तेन मनसा यच्चैतन्यज्योतिर्मनसोऽवभासकं न मनुते न सङ्कल्पयति, नातिनिश्चिनोति। मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात्, सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न वर्ततेऽन्तःकरणम्, अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषा अवभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यं तेन सवृत्तिकं मनो ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तमाहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः। तस्मात्तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि। नेदमित्यादि पूर्ववत्।

चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरोत्यन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन येन चक्षूंषि अन्तःकरणवृत्तिभेदाभिन्नाश्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति लोकः। चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकरोति व्याप्नोति।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेनाकाशकार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन विषयीकरोति लोकः, येन श्रोत्रमिदं श्रुतं येन प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेव पूर्ववत्।

यत्प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरावस्थितेनान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न विषयीकरोति, येन चैतन्यात्मज्योतिषाऽवभास्यत्वेन स्वविषयं प्रतिप्राणः प्रणीयते तदेवेत्यादि सर्वं समानम्॥ ४—८॥

यत्तु वेदवैनाशिक इमान् मन्त्राननन्यथा व्याख्यत् 'यद्वाचा' यत् वाचावशिष्य न

भाषा

ब्रह्म है और माया आदि रूपी उपाधि सहित चैतन्य रूपी ईश्वर आदि जिन इन पदार्थों की लोग उपासना अर्थात् ध्यान करते हैं, उन इन ईश्वर आदि को तुम ब्रह्म न जानो कि 'यही ब्रह्म हैं' इनसे अतिरिक्त कोई ब्रह्म नहीं है॥ ४॥

"यन्मनसा०" मन से जिसके विषय में पुरुष संकल्प (ज्ञान विशेष) नहीं उत्पन्न करता और जिससे मन स्वयं संकल्पित होता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। अवशिष्ट अर्थ पूर्ववत् है॥ ५॥

"यत् चक्षुषा०" जिसको कोई आँख से नहीं देखता और जिसके कारण आँखें देखी जाती हैं, उसी को तुम ब्रह्म जानो॥ ६॥

"यच्छ्रोत्रेण०" जिसको कोई कान से नहीं सुनता और जिसके कारण श्रोत्र इन्द्रिय से सुना जाता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो इत्यादि पूर्ववत्॥ ७॥

"यत्प्राणेन०" प्राण (अन्तःकरण और प्राण वायु सहित घ्राणेन्द्रिय) से जो चैतन्य ज्योति *"न प्राणिति"* किसी के गन्ध को नहीं सूँघता और जिस चैतन्य रूपी आत्मज्योति के प्रभाव से प्राण अपने विषयों पर चलता है उसी को तुम ब्रह्म जानो इत्यादि पूर्ववत्॥ ८॥

अब इस अर्थ के अनुसार मेरा कहा हुआ, इन श्रुतियों का तात्पर्य स्पष्ट ही प्रकट हो गया। और यह भी स्पष्ट हो गया कि इन श्रुतियों में प्रतिमापूजन के निषेध की गन्ध भी नहीं है। और

निर्दिष्टं यस्य सत्तया शक्त्या वा वाक् प्रवर्तते तदेव त्वं ब्रह्म विद्धि जानीहि उपास्स्व च तद्भिन्नश्च कश्चिन्नोपासनीयः ॥ ४ ॥

'यन्मनसा' मनसाऽपि विशिष्य यत्कर्म न कश्चिज्जानाति यच्च कर्तृ मनो विशिष्य जानाति तदेव त्वं ब्रह्म विद्धि जानीहि उपास्स्व च तद्भिन्नं जीवमन्तःकरणं च ब्रह्मस्थाने मोपासिष्ठाः ॥ ५ ॥

चक्षुषा यन्न दृश्यते येन चक्षूंषि पश्यन्ति तदेव त्वं ब्रह्म विद्धि जानीहि उपास्स्व च तद्भिन्नान्सूर्यविद्युदग्न्यादीन् जडानर्थान्मोपासिष्ठाः ॥ ६ ॥

श्रोत्रैर्यत् न श्रूयते श्रोत्रं च येन शृणोति तदेव ब्रह्म त्वं जानीहि उपास्स्व च तद्भिन्नं शब्दादिकं तत् स्थाने मोपासिष्ठाः । ॥ ७ ॥

प्राणैर्यन्न चलति येन च प्राणश्चलति तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि जानीहि उपास्स्व च तद्भिन्नं वायुं मोपासिष्ठाः, यदा च ब्रह्म प्राणैर्न चलति तदा तस्य मूर्तिः प्राणागमनेन चलतीति न संभवति इति ॥ ८ ॥

अत्रोच्यते—ब्रह्मोपासनाविधानं तावन्नैभिर्मन्त्रैः स्पृश्यतेऽपि तद्वाचकपदाभावात्। न

भाषा

वेदवैनाशिक ने तो इन श्रुतियों का यह अर्थ किया है कि–"*यद्वाचा*" वचन के द्वारा विशेष रूप से जो नहीं कहा जाता और जिसकी शक्ति से वचन शक्ति होती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो और उसी की उपासना भी करो तथा उससे अन्य की उपासना न करो ॥ ४ ॥

"*यन्मनसा०*" मन से जिसको कोई विशेष रूप से नहीं जानता और जो मन को विशेष रूप से जानता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो और उसी की उपासना भी करो और ब्रह्म के स्थान में किसी जीव वा अन्तःकरण की उपासना न करो ॥ ५ ॥

"*यत् चक्षुषा०*" जिसको आँखों से कोई नहीं देखता और जो आँखों को देखता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो और उसी की उपासना भी करो तथा उससे भिन्न सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि जड़ पदार्थों की उपासना न करो ॥ ६ ॥

"*यच्छ्रोत्रेण०*" कान से जो नहीं सुनाई देता और कान जिसकी शक्ति से सुनता है उसी को तुम ब्रह्म जानो और उसी की उपासना भी करो तथा उसके स्थान में उससे भिन्न शब्द आदि की उपासना न करो ॥ ७ ॥

"*यत्प्राणेन०*" प्राणों से जिसमें क्रिया नहीं उत्पन्न होती और जिससे प्राण में क्रिया उत्पन्न होती है उसी को तुम ब्रह्म जानो और उसी की उपासना करो तथा उससे अन्य वायु की उपासना न करो इति। और जब ब्रह्म में प्राण से क्रिया उत्पन्न नहीं होती तब मन्त्रों के द्वारा प्राण ले आने से ब्रह्म की मूर्ति में क्रिया उत्पन्न होने का संभव नहीं है ॥ ८ ॥

ख १—इन मन्त्रों में "ब्रह्म" शब्द के साथ 'विद्धि" शब्द है जिसका 'ज्ञान' अर्थ है, इसी से ये मन्त्र 'ब्रह्म' की उपासना को स्पर्श भी नहीं करते क्योंकि उपासना नाम ध्यानधारा आदि का

च विदिरुपासनावाचकम्, तथात्वेनाप्रसिद्धत्वात् । किञ्च न केवलमेतच्छ्रुतिपञ्चकमेव नोपासनाविधानस्पर्शि, किंतु सर्वमेवैतत्प्रकरणम् । ध्येयविलक्षणज्ञेयब्रह्मतत्वोपदेशस्य हीदं प्रकरणम्, न तूपासनायाः उपासते इति च वर्तमानापदेशो यदिदमिति यच्छब्दसमभिव्यापाराच्चानुवादकोटिप्रविष्टो न विधानं प्रस्तुमर्हति । एवं चोपास्स्वेति व्याख्यानं निर्मूलं महामोहपरमेव वा।

एवं ब्रह्मणः स्थाने इत्यपि न युक्तम् श्रौताक्षरैरस्पर्शात् । किं च प्रत्यक्षे ह्यालम्बने, यन्न प्रत्यक्षं तदुपास्यते न च ब्रह्म प्रत्यक्षं येनालम्बनी भवेत् । तथा च ब्रह्मणः स्थाने जीवान्तःकरणयोरुपासनायाः प्रसक्तिरेव नास्तीति तन्निषेधानर्थक्यापत्तिः । अपि चोपासनायाः उपास्य-

भाषा

है और उसका वाचक कोई शब्द इन श्रुतियों में ब्रह्म शब्द के साथ नहीं है, "विद्धि" में "विद्" धातु का तो ज्ञान मात्र ही अर्थ है न कि ध्यानधारा रूपी उपासना ।

ख० २—इतना ही नहीं है कि केवल ये ही पाँच श्रुतियाँ ब्रह्म की उपासना से सम्बन्ध नहीं रखतीं, किन्तु इनके आगे पीछे की सब श्रुतियाँ अर्थात् यह सब प्रकरण का प्रकरण ही ब्रह्म की उपासना से कोई सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि यह प्रकरण 'ज्ञेय' (ज्ञान के योग्य) ब्रह्मतत्त्व के उपदेश का है न कि 'ध्येय' (ध्यानयोग्य) ब्रह्मतत्व के उपदेश का, तब कैसे इस प्रकरण से ब्रह्मतत्व के ध्यान रूपी उपासना करने का विधान निकल सकता है ? और इन श्रुतियों में जो 'उपासते' कहा है उससे तो ब्रह्म की उपासना का विधान नहीं हो सकता क्योंकि उसमें वर्तमान काल है, अर्थात् उसका यह अर्थ है कि "उपासना करते हैं" और यदि विधान होता तो "*उपास्व*' (उपासना करो) कहा जाता, और वह भी '*उपासते*' जहाँ है वहाँ न कहा जाता किन्तु जहाँ "*विद्धि*" है वहाँ, अर्थात् ब्रह्म शब्द है वहाँ कहा जाता, तथा इस 'उपासते' के समीप में 'यद्' 'इदम्' दो शब्द हैं जिनके सम्बन्ध से यह अर्थ होता है कि "जिन इन प्रतीकों की उपासना करते हैं तो ऐसी दशा में इन श्रुतियों में उपासना का सम्बन्ध प्रतीकों हीं के साथ है न कि ब्रह्म के । और 'न' शब्द से प्रतीकों के ब्रह्म होने के ज्ञान ही का निषेध है कि 'केवल प्रतीकों ही को ब्रह्म न जानना' अर्थात् ब्रह्म इनसे भिन्न हैं, केवल अभेद को मान कर इन प्रतीकों की उपासना करते हैं । इससे यह सिद्ध है कि "उसी की उपासना करो" यह वेदवैनाशिक का अर्थ निर्मूल अथवा अज्ञानमूलक ही है ।

ख० ३—"ब्रह्म के स्थान में" यह अर्थ झूठा ही है, क्योंकि इस अर्थ में मन्त्र के अक्षरों का स्पर्श भी नहीं है ।

ख० ४—ऐसा अर्थ करने में 'ब्रह्म के स्थान में दूसरों की उपासना न करो' ऐसा निषेध करना ही व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि ऐसे वस्तु का निषेध नहीं किया जाता कि जिसकी प्राप्ति ही न हो सके, जैसे कि "दण्ड को अग्नि से शीतल न करो" इत्यादि, और उपासना की यह रीति है कि सूर्य आदि प्रत्यक्ष आलम्बन में अप्रत्यक्ष परमेश्वर आदि की उपासना की जाती है, तो ऐसी दशा में ब्रह्म के स्थान में जीव और अन्तःकरण की उपासना की जब प्राप्ति ही नहीं है तब उसका निषेध करना व्यर्थ ही है ।

ख० ५—उपास्य देवता का साक्षात्कार ही उपासना का फल है, अपने जीव और

साक्षात्कारः फलम्, जीवान्तःकरणयोः साक्षात्कारस्योपासनां विनैव सिद्धत्वाच्च न तयोरुपासनायाः प्रसक्तिः।

किञ्चोपासनानिषेधे "आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीते" त्यादिभिः श्रुतिभिर्विरोधो दुष्परिहार एव स्यात्। अपि चादित्यादीनां जडत्वाभिधानं "नो देवतासु जडिमा जडिमा मनुष्ये" इति न्यायादभिधातुरेव जडिमानं निबिडयति, देवताचैतन्यस्यानुपदमेव निपुणतरमुपपादितत्वात्। किं च विद्युतो जडत्वेऽपि न तत्र ब्रह्मोपासनानिषेधः कर्तुं शक्यते। "विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानात्" (बृ० उप० अ० ७ ब्रा० ७) इति श्रुतिविरोधात्। अन्यच्च अभ्युपेत्यवादमात्रेणेमे दोषा उपन्यस्यन्ते। वस्तुतस्तु नैतासु श्रुतिषूपासनाविधिनिषेधगन्धोऽपीत्यनुपदोक्तं न विस्मर्तव्यम्।

किञ्च पञ्चम्यां श्रुतौ प्राणशब्दस्य वायुपरत्वकथनमपि वेदवैनाशिकस्याज्ञानातिशयसूचकमेव ज्ञानशक्तिमन्ति हि चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि चतसृषु श्रुतिषु पूर्वं प्रक्रान्तानि, इति

भाषा

अन्तःकरण का तो सबको आप से आप साक्षात्कार रहता है, इससे जीव और अन्तःकरण की उपासना जब प्राप्ति ही नहीं है तब उसका निषेध करना व्यर्थ ही है।

ख० ६—इन श्रुतियों में यदि सूर्य आदि की उपासना का निषेध होता तो "*आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत*" इत्यादि अनेक श्रुतियों से इन श्रुतियों का विरोध हो जाता क्योंकि उन श्रुतियों में मुक्तकण्ठ होकर सूर्य आदि प्रतीकों की उपासना का विधान किया हुआ है।

ख० ७—सूर्य आदि को वेदवैनाशिक ने जो जड़ कहा है, उससे वेदवैनाशिक ही की जड़ता दृढ़ होती है। इसी से महात्माओं ने यह कहा है कि "*नो देवतासु जडिमा जडिमा मनुष्ये*" (देवताओं में जड़ता नहीं है किन्तु मनुष्यों ही में है) तथा इस ग्रन्थ के देवता शरीर प्रकरण में भी देवताओं का चेतन होना दृढ़ रूप से ऐसा सिद्ध हो चुका है कि वेदवैनाशिक उसके विरोध में अपना मुख भी नहीं खोल सकते।

ख० ८—विद्युत् यद्यपि जड़ है तथापि इन श्रुतियों के मिथ्या अर्थ के अनुसार विद्युत् में ब्रह्म की उपासना का निषेध त्रिकाल में भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा हो तो "*विद्युद्ब्रह्मेत्याहुः*" (विद्युत् ब्रह्म है ऐसा कहते हैं) इस बृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति से विरोध पड़ जायगा क्योंकि इस श्रुति में, विद्युत् में ब्रह्म की उपासना कही हुई है।

ख० ९—वेदवैनाशिक के अर्थ में जितने दोष यहाँ तक दिखलाये गये वे सब थोड़े समय के लिये, उस अर्थ को मानकर दिखलाये गये हैं परन्तु इस पूर्वोक्त बात को इस अवसर पर कदापि नहीं भूलना चाहिये कि वास्तविक इन पाँचों श्रुतियों में किसी उपासना के विधान वा निषेध की गन्ध भी नहीं है।

ख० १०—पाँचवीं श्रुति में तो वेदवैनाशिक ने "प्राण" शब्द का वायु अर्थ करने से अपने बड़े अज्ञान को प्रगट कर दिया, क्योंकि पूर्व चारों श्रुतियों में जो चक्षुरादि इन्द्रिय कहे हैं, वे सब ज्ञानशक्ति वाले हैं, और उसके अनुसार इस पाँचवीं श्रुति में इस प्राण शब्द का भी ऐसा

प्राणेनापि ज्ञानशक्तिमतैव भाव्यम् । न च प्राणवायुर्ज्ञानशक्तिमान् क्रियाशक्तिमानेव ह्यसौ, तस्मात् प्राणपदमत्र घ्राणेन्द्रियपरमवेति भगवत्पादभाष्योक्तमेव रमणीयम् । तस्मादेषां मन्त्राणां पूर्वोपन्यस्तभगवत्पादभाष्योक्ता एवार्था रमणीयाः । न च तेभ्यो वेदवैनाशिकस्य कोऽपि लाभः, वेदवैनाशिकस्तु—

अजानन् वृश्चिकस्यापि मन्त्रं तक्षककोटरे ।
करं प्रवेशयन्दष्टो मूर्छितो नष्टचेतनः ॥ १ ॥

यत्तु मूर्तिपूजा तत्वज्ञानविरुद्धत्वान्मोक्षविघ्नरूपिणी कथं न हेया ? नहि कश्चिन्मूर्तिपूजकस्तत्वसाक्षात्कारी दृष्टः,किन्त्वज्ञ एवेति । तदसत् ; शाखाचन्द्रन्यायेन वसिष्ठारुन्धतीन्यायेन च स्थूल आलम्बने चित्तासङ्गं विना सूक्ष्मस्यार्थस्य दुर्विभावनतया "कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तते" इति स्मृत्यनुसारादन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्वज्ञानोपयोगिनि

भाषा

ही इन्द्रिय अर्थ होना चाहिये, जिसमें कि ज्ञानशक्ति हो और वायु में तो क्रियाशक्ति ही है न कि ज्ञान कराने की शक्ति । इसी से पूर्वोक्त शाङ्करभाष्य में "प्राण" शब्द का घ्राण इन्द्रिय ही अर्थ कहा गया है । अब यह स्पष्ट हो गया कि वेदवैनाशिक का कहा हुआ इन श्रुतियों का अर्थ सर्वथा मिथ्या ही है, और शांकरभाष्य में कहा हुआ अर्थ ही वास्तविक है परन्तु उस अर्थ से वेदवैनाशिक को कोई लाभ नहीं हो सकता, और वेदवैनाशिक की चेतना शक्ति ठीक नहीं थी, क्योंकि विच्छू का मन्त्र भी न जान कर उन्होंने तक्षक सर्प के विवर में हाथ डालने के ऐसा यहाँ अपने अज्ञान साहस को दिखला दिया और यदि भाष्योक्त अर्थ को जान बूझ कर भी उन्होंने ऐसा किया तब तो यह वञ्चना ही है । यहाँ तक वेदवैनाशिक के प्रमाणों का खण्डन कर अब उनकी युक्तियों का खण्डन किया जाता है ।

वे० वै०—मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं किन्तु एक गहरी खाईं है, जिसमें गिरकर चकनाचूर हो जाता है । पुनः उस खाईं से निकल नहीं सकता किन्तु उसी में पड़ जाता है । मूर्तिपूजा करते करते कोई ज्ञानी तो नहीं हुआ किन्तु मूर्ख हो गये । स० प्र० ३११ पं० २१ ।

ख० १—जैसे शुक्ल द्वितीया की सूक्ष्म चन्द्रलेखा को दिखलाने के लिये प्रथम उस दिशा की वृक्षशाखा दिखलाई जाती है और अरुन्धती तारा दिखलाने के लिये, उसके समीप की वसिष्ठ तारा दिखलाई जाती है, वैसे सूक्ष्म ब्रह्मतत्व के ज्ञानार्थ, प्रथम प्रतिमापूजन का उपदेश है, क्योंकि स्थूल पदार्थ में मन को एकाग्र किये बिना, सूक्ष्म पदार्थ पर मन एकाएकी नहीं जाता, इसलिए प्रतिमापूजन तत्वज्ञान का उपयोगी ही है न कि प्रतिकूल ।

ख० २—*"कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तते"* (जब कर्म करने से अन्तःकरण के दोष नष्ट हो जाते हैं, तब उस शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान उत्पन्न होता है) इत्यादि अनेक स्मृति वाक्यों और अनुभवों के अनुसार यही सिद्ध है कि अन्तःकरण शुद्धि के द्वारा प्रतिमापूजन तत्वज्ञान में कारण है तब कैसे उसके प्रतिकूल हो सकता है ?

प्रतिमापूजने मोक्षविघ्नताया दूरनिरस्तत्वात् । किञ्च कथं नाम निरालम्बना निराकारोपासना । प्रसिद्धेरध्वानमप्यध्यारोहति । उपासना हि विजातीयप्रत्ययानन्तरितो मानसप्रत्ययप्रवाहः । तथा च निराकारोपासनाघटको मानसप्रत्ययो निराकारविषयो वाच्यः, स च प्रत्ययो निराकारः साकारो वा, नाद्यः; प्रमाणाभावात् । न हि कश्चित्प्रत्ययो निराकारः प्रत्यक्षसिद्धः, तार्किकमत-सिद्धस्यापि निर्विकल्पस्यातीन्द्रियत्वाभ्युपगमात् विशिष्टबुद्धेरन्यथानुपपत्त्या निर्विकल्पकस्य कल्पनेऽपि निराकारविषयकस्य मानसप्रत्ययस्य प्रमाणप्रसरबहिर्भावात्, द्वितीयेऽपि किमा-कारकोऽसौ मानसप्रत्ययः । न निराकार इत्याकारकः, आकाराभावरूपस्य निराकारत्वस्य

भाषा

ख० ३—किसी आलम्बन के बिना, निराकार की उपासना कदापि नहीं बन सकती और उपासना के बिना तत्वज्ञान नहीं हो सकता, इससे भी उपासना के लिये प्रतिमा रूपी आलम्बन बहुत ही आवश्यक है, और इसका विवरण यह है कि ज्ञानधारा को उपासना कहते हैं और निरा-कार की उपासना में निराकार का मानस ज्ञान अवश्य ही कहना पड़ेगा जो कि हो ही नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान के भी आकार होते हैं, जैसे यह चैत्र है, यह मैत्र है, यह घट है, यह पट है, इत्यादि । अब यह विचार है कि निराकार जो ज्ञान माना जाय, वह ज्ञान स्वयं निराकार है वा साकार ? यदि निराकार है तो वह ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि ज्ञान साकार ही होता है न कि निराकार जैसा कि अभी कहा गया है । और यदि उक्त मानस ज्ञान स्वयं साकार है तो बतलाना पड़ेगा कि उस ज्ञान का कौन आकार है ? यह आकार तो उसका हो नहीं सकता कि "निराकार है" क्योंकि जैसे मूल के विना वृक्ष नहीं हो सकता वैसे जिसको निराकार जानना है, उसके विना किसी ज्ञान का आकार नहीं बनता। जैसे "घट" है, इतना ही ज्ञान का आकार नहीं होता किन्तु यह "घट" है अथवा "इसमें घट है" ऐसे ही ज्ञान के आकार होते हैं। और यदि उस मानस ज्ञान का यह आकार कहा जाय कि "यह या वह निराकार है" तो कहना पड़ेगा कि 'यह' अथवा 'वह' इन शब्दों का क्या अर्थ है ? क्योंकि 'यह' अथवा 'वह' शब्द उसी को कहते हैं जो पदार्थ पूर्व ही से ज्ञात रहता है और परमेश्वर तो वेदार्थ के ज्ञान से पूर्व किसी प्रकार से ज्ञात नहीं रहता, तो उसको 'यह' अथवा "वह" कैसे कह सकते हैं ? और वेद में तो "निराकार" "निर्गुण" आदि शब्द ही से शुद्ध ब्रह्म कहे जाते हैं और इन शब्दों का अर्थ लोक में कहीं नहीं देखा गया है, क्योंकि लोक के सभी पदार्थ सगुण और साकार ही होते हैं, तो ऐसी दशा में जब पुरुष निर्गुण और निराकार वस्तु को जानता ही नहीं तब ऐसी वस्तु को कैसे 'यह' या 'वह' शब्द से कह सकता है ? और कैसे यह मानस ज्ञान हो सकता है कि 'वह' या 'यह' निराकार है और इस कारण भी मानस ज्ञान का 'यह' आकार नहीं हो सकता कि जब वह वस्तु 'यह' या 'वह' है तब वह निराकार कैसे ? क्योंकि साकार ही को 'यह' या 'वह' कहा जाता है और जब वह वस्तु निराकार है तो "यह" या "वह" कैसे हो सकता है ? क्योंकि लोक में निराकार को "यह" या "वह" नहीं कहते। ऐसे ही वह जगत् का कर्ता है, वह करुणा समुद्र है, वह सर्वशक्तिमान् है, वह मेरा स्वामी है, इत्यादि कोई आकार उस निराकार के मानस ज्ञान का कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि निराकार को 'यह' या 'वह' शब्द से कोई नहीं कह सकता । और यह भी नहीं कह सकते

स्वानुयोगितावच्छेदकज्ञानं विना बुद्धावेवानुपारोहात्। नहि घटाभववदित्येव प्रत्ययो भवति किंतु भूतलं घटाभाववदित्येव। निराकारशब्दात्तु जायमानोऽपि निर्धर्मितावच्छेदकको निराकार इति प्रत्ययः शाब्द एव न तु मानस इति नासावुपासनास्वरूपकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे। नापि निर्गुण इत्याकारः निर्गुणत्वस्याप्यभावरूपतया पूर्वदोषाक्रान्तत्वात्। न वा जगत्कर्तेत्याकारकः, स हि शाब्दो वा मानसो वा स्यात्, नाद्यः; उपासनाघटकत्वायोगात्। नान्त्यः; अप्रामाणिकत्वात् नहि कर्तृत्वज्ञानं निरवच्छिन्नविशेष्यताकं क्वचिदनुभवसिद्धमृते शाब्दात् देवदत्तः कर्तेत्येव हि प्रत्ययो भवति, न तु कर्तेत्येव। न च कारुणिक इति सर्वशक्तिरिति मम स्वामीति वा तदाकारो वक्तुं शक्यते, उक्तविकल्पदोषादेव। न चासौ स्मरणात्मक एवेति वाच्यम्। अनुभव संस्कारस्मरणानां समानप्रकारकत्वस्य कार्यकरणभावे व्यभिचारवारणयावश्याश्रयणीयतया "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी"ति श्रुतेश्च भगवद्विषयकस्योपनिषद्वाक्यजन्यस्य शाब्दस्योक्त-श्रवणमूलतया तादृशस्मरणपरम्पराया निदिध्यासनायामेवान्तर्भावप्रसङ्गात्, अस्तु निदि-ध्यासनायामेवान्तर्भाव इति चेत्, तर्हि "आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादिश्रुतीनां सालम्ब-नासुपासनां विदधतीनां का गतिरिति प्रतिपाद्यताम् अथोपासनासौकर्यार्थमेव सालम्बनो-पासनाविधानम्। अत एव गीतायां भगवता निराकारोपासनाया दौष्कर्यमुक्तम्—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखदेववद्भिरवाप्यते। अ० १२ श्लोक ५ ॥

इति चेत्तर्हि किमेवं विधासूपासनासु निदिध्यासनव्यावृत्तं सौकर्यप्रयोजकमृते सालम्बनतामि-त्युच्यताम्, सालम्बनत्वे च सौकर्यप्रयोजके स्वीक्रियमाणे किमपराद्धं प्रतिमाभिः।

भाषा

कि निराकार का वह ज्ञान स्मरण रूपी है, क्योंकि जिसका अनुभव ही नहीं हुआ उसका स्मरण कैसा ? और यदि यह कहा जाय कि वेदान्त वाक्यों ही से प्रथम २ निराकार का अनुभव होता है, तदनन्तर उसकी ध्यानधारा होती है, उसी को उपासना कहते हैं, तो यह बतलाना पड़ेगा कि *'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत'* (सूर्य की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करै) इत्यादि वेदान्तवाक्यों से विधान की हुई प्रतीक रूपी प्रतिमाओं की उपासना क्यों न की जाय ? और यदि इस पर यह कहा जाय कि *"क्लेशोऽधिकतर०"* (निराकार की उपासना में बहुत कठिनता होती है) इस गीतावाक्य के अनुसार कठिनता के भय से निराकार की उपासना जो नहीं कर सकता उसके लिये इस सहज उपाय अर्थात् सूर्य आदि प्रतीकों में ब्रह्म की उपासना का विधान वेद में किया है, तो यह बतलाना पड़ेगा कि प्रतीको-पासना रूपी उपाय निराकार की उपासना की अपेक्षा क्यों सहज है ? और इसका यही उत्तर देना पड़ेगा कि सूर्य आदि प्रतीक रूपी आलम्बनों ही के कारण, यह उपासना सहज में होती है, और आलम्बन के न होने ही के कारण, निराकार की उपासना कठिन है, तो ऐसी दशा में प्रतिमा रूपी आलम्बन में क्या अपराध है ? जिससे कि उसमें देवता की उपासना न की जाय; क्योंकि "सूर्यादि रूपी प्रतीक भी ब्रह्म की प्रतिमा ही हैं" जैसा कि प्रतिमा प्रकरण के युक्तिखण्ड में अनेक रीति से सिद्ध हो चुका है।

किञ्च साधनचतुष्टयेन श्रवणेन मननेन च रहितस्यानिदिध्यासतो वेदवैनाशिकस्य स्मरणधाराऽपि निराकारविषयिणी तद्विषयिणी शाब्दी बुद्धिरिव न शब्दमविषयीकृत्य वर्तितुं शक्नोति उक्तसमानप्रकारकत्वानुरोधादेव। तदुक्तम्—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते"॥ इति॥

शब्दानुवेधश्च विनिगमनाविरहात्प्रकारितामात्मकोऽपि वाच्यः। एवञ्च शब्दधीरिव परमात्मप्रकारिका तज्जन्या ध्यानधाराऽपि तथैव भवितुमर्हति। तस्याश्च विशेष्यताऽपि गत्यन्तरविरहाच्छब्दनिष्ठैव वाच्या। तथा च शब्दालम्बनैव भगवदुपासना पर्यवसिता। आलम्बनमेव च प्रतिमा ध्यानधारैव च पूजा नान्येति निराकारमुपासेन तु प्रतिमां पूजयामि, न च प्रतिमापूजा वेदविहितेत्यादि मिथ्या जल्पन् स्वक्रियाज्ञानव्याघातपराहतो वेदवैनाशिकः सर्वथैवोन्मत्तवदुपेक्षणीयः। क्व प्रतिमापूजनस्य मोक्षाविघ्ना चोक्तिः, क्व च स्वयमेव प्रतिमा-

भाषा

ख० ४—वैराग्य आदि चार साधनों तथा श्रवण और मनन से संयुक्त पुरुष के लिए वेदान्तों में उपासना रूपी निराकार का निदिध्यासन 'ध्यानधारा' वेदान्तों में कहा हुआ है और वैराग्यादि रूपी साधन से रहित वेदवैनाशिक की तो ध्यानधारा भी निराकार में नहीं हो सकती, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता। और यह भी है कि लोक में जितने ज्ञान वा ध्यान होते वा हो सकते हैं, उन सबमें शब्द अवश्य ही घुसा रहता है जैसे "यह घट है" "वह घट था" इत्यादि ज्ञानों और ध्यानों में घटादि शब्दों का प्रवेश अवश्य ही रहता है, अर्थात् लोक में शब्द के उल्लेख के बिना कोई ज्ञान वा ध्यान नहीं होता, तो ऐसी दशा में वेदवैनाशिक के ज्ञान वा ध्यान में वेदान्तवाक्यों के 'निर्गुण' और 'निराकार आदि शब्द अवश्य ही घुसे रहेंगे, क्योंकि ये शब्द ही केवल, वेदवैनाशिक के श्रोत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हैं, और परब्रह्म नहीं प्रत्यक्ष है। ऐसी दशा में पक्षपात से रहित निर्णय यह है कि वेदवैनाशिक महाशय स्वयं तो वेदान्त वाक्यों के उक्त शब्द रूपी प्रत्यक्ष प्रतिमा में परब्रह्म रूपी अप्रत्यक्ष देवता की उपासना करते हैं, परन्तु अपने शिष्यों के लिए, उलटी पुलटी मिथ्या बातों को कहकर वञ्चना करते हैं जैसा कि कहा है कि "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" और इस वञ्चना के कारण बहुत से अज्ञानी मनुष्य आज तक लोक परलोक से अपना हाथ धो बैठे और जब तक इस ग्रन्थ का पूर्ण प्रचार नहीं होगा, तब तक और भी बहुतेरे हाथ धो बैठेंगे। इस कारण परमेश्वर से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि इस वञ्चना पाप से परमेश्वर वेदवैनाशिक महाशय की रक्षा करै, क्योंकि स्कन्दपुराण काशीखण्ड में कहा है कि—

*"य आप्तत्वेन सम्पृष्टो दुर्बुद्धिं संप्रयच्छति
स याति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम्"।*

(जिस पर सत्यवादिता के विश्वास से कोई पुरुष अपने अर्थज्ञान के लिये प्रश्न करता है, वह यदि उस पुरुष के लिये, दुष्टबुद्धि देता है अर्थात् स्वयं कुछ और ही समझता है और उपदेश कुछ और ही देता है, वह उपदेशदाता महाप्रलय तक भयानक नरकों का भोग करता है)।

पूजनमिति अन्यच्च निराकारोपासनामभ्युपगच्छतः साधनचतुष्टयेन मननेन च शून्यस्य ज्ञानोपासनाकाण्डद्वयावेदितमार्गद्वयपरिभ्रष्टस्य वेदवैनाशिकस्य शब्दरूपद्रव्योपासनैव पर्यवस्यति शब्दस्य, द्रव्यत्वं च मंत्रप्रामाण्यप्रकरणे पूर्वमेव प्रदर्शितम्। तत्रापि यद्योङ्कारादिरूपशब्दप्रतीकोपासना तेनावलम्ब्यते तदा शब्दरूपप्रतिमापूजक एवासौ तादृशोपासनाया वेदेनैव विधानात्। अथ किंचन शब्दान्तरमुपास्ते तदा नासौ वैधीति वृथा शुष्कचर्वणम्। किं च भारते कर्णपर्वणि—

अथ पुरुषवरौ कृताह्निकौ
भवमभिपूज्य यथाविधि प्रभुम्।
अरिवधकृतनिश्चयौ तत-
स्तव बलमर्जुनकेशवौ स्मृतौ ॥ १ ॥

इति संजयवाक्येन कृष्णार्जुनयोरपि प्रात्यहिकी मूर्तिपूजा निश्चीयते। अत्र हि आभिमुख्यवाचिनोऽभीत्यस्य सत्वान्मूर्तिपूजैवेयम्। प्रसिद्धा च भारते बहुत्र मूर्तिपूजाऽनयोः। न चानयोर्गीतासम्प्रदायप्रवर्तकयोस्तत्वज्ञानित्वं साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुं शक्यम्, विशेषतश्च "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति" इति कर्मपूजां विदधतो भगवतः। एवं च नहि मूर्तिपूजकः कश्चित्साक्षात्कारी दृष्ट इत्युक्तिरपि मिथ्यैवेति दिक्।

भाषा

ख० ५—जब कि वैराग्यादि चारों साधन और मनन के बिना निराकार की उपासना वेद-वैनाशिक को स्वीकार है तब तो वैदिक ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड इन दोनों से तीसरा यह काण्ड हुआ जिसका कि योग्य नाम अकाण्डताण्डव ही है, और इस पर भी यह विशेष हुआ कि निराकार पदार्थ, जब उक्त रीति से ध्यान ही में नहीं आ सकता तब निराकार आदि शब्दों ही की यह उपासना हुई, तथा शब्द का द्रव्य होना मन्त्र के उपयोग प्रकरण में पूर्व ही सिद्ध हो चुका है, तो ऐसी दशा में यदि ओङ्कारादि शब्द रूपी वैदिक प्रतीकों की उपासना वेदवैनाशिक के सम्मत है, तब तो यह शब्द द्रव्यरूपी प्रतिमा की पूजा ही है, और यदि अन्य शब्द की उपासना है, तो वह वैदिक ही नहीं है किंतु छूछा मुंख चलाकर मिथ्या चर्वण ही है।

ख० ६—महाभारत के कर्ण पर्व में "*अथ पुरुषवरौ*" तदनन्तर दोनों पुरुषवर अपना सन्ध्यादि नित्यकृत्य और भव अर्थात् शिवजी महाप्रभु का विधिपूर्वक अभिमुख पूजन कर शत्रुवध के निश्चय से आप (धृतराष्ट्र) के सैन्य की ओर अर्जुन और केशव चले, इस सञ्जय वाक्य से कृष्ण और अर्जुन का प्रतिदिन पूजा करना सिद्ध है तथा "*पत्रं पुष्पं फलं तोयं*" इस गीता वाक्य से अन्य पुरुषों के प्रति भी कृष्ण भगवान् ने मूर्तिपूजा का उपदेश किया। और गीता संप्रदाय के प्रवर्तक इन दोनों महाशयों को, किसकी रशना (जिह्वा) ऐसी है जो अज्ञानी कहने का साहस करे। ऐसी दशा में वेदवैनाशिक का यह कथन कि "मूर्तिपूजा करते करते कोई ज्ञानी तो नहीं हुआ किन्तु मूर्ख हो गये" मिथ्या ही है।

यदपि साकारे वस्तुनि मनःस्थैर्यं न भवति, तद्धि झटिति गृहीत्वा मनः प्रत्यवयवं भ्रमति विषयान्तरे च धावति। निराकारे तु लग्नं धावदपि तस्यानन्त्याद्धावनपर्यवसानमनाप्नुवत्परिश्रान्तं मनश्चाञ्चल्यं जहाति तस्यैव च गुणकर्मस्वभावान् भावयदानन्दमग्नं मनः स्थैर्यमासादयति। किं च यदि साकारेऽपि मनः स्थिरी भवेत्, तदा स्त्रीपुत्रधनमित्रादिषु लग्नस्य तस्य चाञ्चल्यं न स्यात्। प्रसिद्धं च तत् अत एव मनःस्थैर्याय वेदनिराकारोपदेशः। तस्मान्मूर्तिपूजनमधर्म एवेति तदप्यत्यन्तविपरीतम्—साकार एव हि पूर्वं मनः स्थिरं भवति रूपादिविषयेषु मनःस्थैर्यस्य लोकानुभवसिद्धत्वात्। तथा च—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनु स्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु॥
सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्याः।
सङ्गे सैवं तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥
अजस्रमारोहसि दूरदीर्घं सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान्स वर्षत्याधिकं पुनर्यत् ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य॥
बिभेति रुष्टासि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपैति हसत्यकाण्डे।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयैव प्रतिवक्ति मोघम्॥

भाषा

वे० वै०—साकार में मन कभी स्थिर नहीं हो सकता क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके एक एक अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है, और निराकार परमात्मा के ग्रहण में यावत् सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है, तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चञ्चल भी नहीं होता, किन्तु उसी के गुण, कर्म, स्वभाव का विचार करता, आनन्द में मग्न होकर स्थित हो जाता है और जो साकार में स्थित हो, तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता क्योंकि जगत् में मनुष्य, स्त्री, पुत्र, धन, मित्र आदि में फँसा रहता है परन्तु किसी का मन स्थिर नहीं होता, जब तक निराकार में न लगावै, क्योंकि निरवयव होने से उसमें मन स्थिर हो जाता है, इसलिये मूर्तिपूजन अधर्म है, यह वेदवैनाशिक का कथन भी बहुत ही विपरीत है क्योंकि—

ख० १—प्रथम प्रथम साकार ही पदार्थ अर्थात् 'घट पट' आदि में मन का स्थिर होना लोक में अनुभव सिद्ध है, इसी से "*या प्रीति०*" हे परमेश्वर! लौकिक विषयों में अज्ञानियों की जो अटल प्रीति होती है, वही प्रीति आप में मेरी सदा बनी रहै। "*सङ्गमविरह०*" यदि मैं विचार करता हूँ कि उस स्त्री के साथ मेरा सङ्गम अच्छा है अथवा विरह, तो मुझे विरह ही अच्छा जान पड़ता है क्योंकि सङ्गम में मुझे एक वही वैसी ज्ञात होती है, और विरह में मेरे लिये तीनों लोक तन्मय हो जाता है) "*अजस्रमारोहसि*" (हे दमयन्ति! राजा नल के सङ्कल्प की ऊँची ऊँची सीढ़ियों पर तुम सदा चढ़ती रहती हो, अर्थात् वह तुम्हारा ध्यान सदा किया करते हैं। मैं इस बात को इस कारण से जानता हूँ कि वह यदि तुम्हारा ध्यान करते करते तुम्हारे में तन्मय न हो जाते तो ऐसी लम्बी साँस न भरते, अर्थात् उक्त सीढ़ियों पर चढ़ने से तुमको परिश्रम है, तो तुम्ही को लम्बी साँस भरनी चाहिये न कि उनको,

लोहदारुमयैः पाशैः पुमान्बद्धो विमुच्यते ।
पुत्रदारमयैः पाशैर्न च बद्धो विमुच्यते ॥

इत्यादौ सहस्रशो दृश्यते। किञ्च रूपादिषु विषयेष्वाकर्षणशक्तिरेवैतादृशी या बलान्मनः समाकृष्य स्वस्मिन्स्थैर्यं लम्भयति । तथा च—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो ये जीर्णपर्णाशनाः
तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ॥
शाल्यन्नं सघृतं पयो दधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवाः
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥
वेश्यैषा मदनज्वाला रूपेन्धनसमीरिता ।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥
अजानन्माहात्म्यं पतति शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानात् बडिशयुतमश्नाति पिशितम् ॥
विजानन्तोऽप्येते वयमपि विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥
न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश ।

भाषा

और जब ध्यान करते करते वह तुम्हारे रूप हो गये, तब तुम्हारे परिश्रम से लम्बी साँस उनका भरना ठीक ही है) "*विभेति०*" (राजा नल बिना अवसर के, तुमको रूठी समझ डरते हैं, और झूठा ही तुम्हारे पास आते हैं, तथा अवसर के बिना ही हँस पड़ते हैं और भ्रम से तुम्हारे पीछे चलते हैं, तथा तुम्हारी बातों का व्यर्थ उत्तर देते हैं, अर्थात् तुम्हारे विरह में यह उन्माद की दशा उनकी है) "*लोहदारुमयै०*" (लोहा और काठ की शृंखला से जो बद्ध होता है, वह छूट सकता है, परन्तु पुत्र और भार्या रूपी शृङ्खला से बद्ध पुरुष, जीते जी नहीं छूटता, इत्यादि सहस्रों उदाहरण उक्त विषय के मिलते हैं ।

ख० २—रूप, रस आदि लौकिक विषयों में एक प्रत्यक्ष आकर्षण शक्ति ही ऐसी है कि जो बलात्कार से उन विषयों में चित्त को खींच कर स्थिर कर देती है, इसमें उदाहरण भी "*विश्वामित्रपराशर०*" (जीर्ण पर्णों के खाने वाले विश्वामित्र पराशरादि भी स्त्रियों के मनोहर मुख कमल के दर्शन मात्र से मोह को प्राप्त हो गये और जो मनुष्य, घी, दूध के साथ भात और रोटी खाते हैं, उनके लिये यदि इन्द्रियों को वश में रखने की संभावना की जाय, तो यह संभावना क्यों न की जाय कि विन्ध्य पर्वत भी समुद्र में तैर कर पार हो सकता है ?

"*वेश्यैषा०*" (यह वेश्या नामक कामदेव रूपी अग्नि की ज्वाला है जो कि सौन्दर्य रूपी शुष्क लकड़ी से प्रज्वलित है जिसमें कामी लोग अपने यौवन और धन को होम कर देते हैं) "*अजानन्*" (पतङ्ग अज्ञान से अग्नि में गिरता है और मीन भी अज्ञान ही से कटिया वाले मांस को खाता है, परन्तु हम मनुष्य लोग, अनेक बार जान २ कर भी विपत्ति जाल से जटिल इस लौकिक काम को

रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ॥
आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन्महीम् ।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मयं जगत् ॥
विद्वेषादपि गोविन्दं दमघोषात्मजं स्मरन् ।
शिशुपालो गतः स्वर्गं किं पुनस्तत्परायणः ॥

इत्यादि सहस्रशो दृश्यते । एवं च रूपादिषु विषयेषु तच्छक्तिभिरेव बलादाकृष्यमाणं मनः सहजत एव तत्र स्थिरीभवति इत्यत्र कः सन्देहः ? किं च किं बहुना सर्व एव वैदिकाः शास्त्रीयाश्च वैराग्योपदेशाः विषयेषु मनःस्थैर्यस्य भङ्गायैवारभ्यन्त इतीदृशो विषयेषु मनः स्थैर्यस्वारसिकत्वस्य महिमा । निराकारे तु शून्यकल्पे मनः स्थैर्यमतीव दुर्लभम् ।

"अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देववद्भिरवाप्यते"

इति भगवतैवोक्तत्वात् । किं वा बहुना ! यत्र "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" "यन्मनसा न मनुते" इत्याद्याः श्रुतय एव निराकारे मनसो वृत्तिमपि प्रतिषेधन्ति । तत्र निराकारे मनःस्थैर्यसौकर्योक्तिर्बालचापलमेव वेदवैनाशिकस्य । वेदान्तदर्शनसिद्धान्तमार्गेण तत्र मनःस्थैर्यसंभवेऽपि तत्र न सौकर्यम् ।

भाषा

नहीं छोड़ते । अहा ! हा !! मोह की महिमा कैसी गहन है । "*न त्वां०*" (राजा दशरथ ने कहा है कि हे कौसल्ये ! मुझको अपने हाथ से भली भाँति स्पर्श करो, मैं तुमको आँख से देखता नहीं हूँ क्योंकि मेरी दृष्टि जो कि राम के साथ बन में चली गई, वह आज तक पलटती नहीं) "*आसीनः*" (कंस ने बैठते, सोते, खड़े रहते, भोजन करते, भ्रमण करते, अर्थात् सब दशा में कृष्ण भगवान् की चिन्ता करते २ जगत् ही को कृष्णमय देखा) "*विद्वेषादपि०*" (जब कि द्वेष बुद्धि से भी गोविन्द का ध्यान करते २ शिशुपाल ने उत्तम गति को पाया, तब भगवद्भक्तों की उत्तम गति कहना ही क्या है ? इत्यादि सहस्रों प्रसिद्ध ही हैं ।

ख० ३—अधिक क्या कहना है जब कि वैदिक और शास्त्रीय जितने वैराग्य के उपदेश हैं, सब ही अनादि काल से गँठी हुई विषयों की प्रबल वासना के निकालने ही के लिये हैं, तो ऐसी दशा में यह कहना कि "विषयों में मन की स्थिरता नहीं होती" कुछ भी नहीं है ।

ख० ४—शून्य के तुल्य निराकार में तो मन का पहुँचना ही कठिन है, और स्थिरता तो बहुत ही दुर्लभ है जैसा कि "*अव्यक्ता हि गतिर्दुखं*" (निराकार की उपासना में मनुष्य को दुःख होता है) यह गीता में कहा है ।

ख० ५—इससे अधिक क्या होगा कि जब "*यतो वाचो निवर्तन्ते*" (जिस अर्थात् निराकार को न पाकर मन के साथ वचन पलट आता है), "*यन्मनसा*" (जिस अर्थात् निराकार को मन से नहीं जानता) इत्यादि अनेक वेदवाक्यों में यह स्पष्ट ही कहा है कि निराकार में मन साक्षात् नहीं पहुँचता, तो ऐसी दशा में वेदवैनाशिक का यह कहना कि "निराकार में मन को स्थिर करना सहज है" बालकों की चञ्चलता ही है ।

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः"॥

इति भगवतैवोक्तत्वात्।

तथा च "पक्वेष्वपि सुरसेषु बिल्वफलेषु को लाभो बलिपुष्टकुलाना" मिति न्यायेन साधनचतुष्टयशून्यानां वेदवैनाशिकानां निराकारे मनःस्थैर्यलालसा स्वर्गगमनलालसेव पापीयसां पुंसामिति को नाम मनागपि संशयावकाश इति। यो निराकारो मनसो वृत्तिमपि नाध्यारोहति तस्य गुणस्वभावभावनापि दूरत एवापसरति। निराकारे कर्मोक्तिस्तु गगनमुष्टिग्रहणायमाना वेदवैनाशिकस्यैव मुखे शोभते।

अपि च प्रतिमापूजनमधर्म इत्युपसंहारोऽपि अज्ञानशिल्पमेव। अधर्मता हि श्रुत्यादि प्रतिषिद्धस्य कर्मणो भवति इति पूर्वं धर्मराजसज्जने प्रपञ्चितम्। न च मूर्तिपूजाया निषेधः श्रुत्यादौ क्वाप्युपलभ्यते वेदवैनाशिकेन तन्निषेधकतयोपन्यस्तानि श्रुतिवाक्यानि त्वनन्तरमेवान्यथोपपादितानि। न चात्र निषेधमूलकमधर्मत्वं वेदवैनाशिको ब्रवीति, किन्तु साकारे मनःस्थैर्यासंभवमूलकमेव मनःस्थैर्यासंभवस्य चाधर्मतामूलत्वं मीमांसादर्शनस्य चुम्बकोऽपि

भाषा

ख० ६—वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त मार्ग से यद्यपि निराकार में मन स्थिर हो सकता है, तथापि वह मार्ग सहज नहीं है किन्तु बहुत ही कठिन है जैसा कि "*बहूनां जन्मनामन्ते*" (बहुत जन्मों के अन्त में 'ब्रह्म ही सब है, ऐसा साक्षात्कार वाला मनुष्य मुझको पाता है और ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है) "*मनुष्याणां सहस्रेषु०*" (सहस्रों मनुष्यों में से एक कोई मेरे तत्व के ज्ञानार्थ उद्योग करता है, और उद्योग करने वाले सिद्धों में भी कोई तत्व से मुझे जानता है) इन गीतावाक्यों में स्पष्ट ही कहा है। अब थोड़ी समझने की बात यह है कि बेल पकने पर भी काक कुलों को कुछ भी लाभ नहीं होता और स्वर्ग लोक के उत्तम होने पर भी, पापियों को उसकी इच्छा रहने पर भी कुछ लाभ नहीं होता, वैसे ही वेदान्त दर्शन के उक्त सिद्धान्त मार्ग के रहने पर भी वेदवैनाशिक को (जो वैराग्य आदि साधनों के क्रम से हीन होने के कारण उस मार्ग से बहिर्भूत होकर एकाएकी निराकार ही की उपासना किया चाहते हैं) क्या लाभ हो सकता है ?

ख० ७—निराकार में भी गुण और कर्म का कहना तो वेदवैनाशिक ही के मुख से शोभित होता है।

ख० ८—"प्रतिमापूजन अधर्म है०" यह कहना ही अज्ञान के प्रताप को दिखलाता है क्योंकि पूर्व ही धर्मराजसज्जन में भली भाँति यह सिद्ध हो चुका है कि "वेदवाक्य से जिसका निषेध किया जाता है, वही अधर्म है" और मूर्तिपूजन का निषेध, वेदवैनाशिक ने जो दिखलाया है, उसका अनेक प्रकार से खण्डन हो चुका तब वेदवैनाशिक के इस कथन से यह स्पष्ट है कि वह 'अधर्म' शब्द का अर्थ नहीं जानते थे।

न वक्तुमर्हति । तत्र हि द्वितीयस्मिन्नेव "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इति सूत्रे अधर्म इति च्छेदार्थत एव वा वैदिकनिषेधचोदनाया एवाधर्मलक्षणत्वं सिद्धान्तितम् । एवं चात्राधर्मपद-प्रयोगो मीमांसादर्शनादर्शन मूलक एवेति दिक् ।

इति कण्टकाग्रभङ्गः

॥ समाप्तस्तृतीयः खण्डः ॥

भाषा

ख० ६—साकार से मन के स्थिर न होने के कारण वेदवैनाशिक ने मूर्तिपूजन को अधर्म कहा है परन्तु, ऐसा वह भी न कहेगा जो कि मीमांसा दर्शन के दो चार सूत्र भी पढ़े होगा क्योंकि उस दर्शन का दूसरा ही सूत्र यह है कि "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (इसका अर्थ धर्मराजसज्जन में बड़े विस्तार से कहा जा चुका है, परन्तु मोटा २ अर्थ यह है कि "वेद में जिसका विधान हैं वह धर्म और जिसका निषेध है वह अधर्म है" इस स्थूल अर्थ से भी इतना स्पष्ट है कि वेद से निषेध ही के कारण ब्रह्महत्या आदि कर्म अधर्म हैं, न कि किसी लौकिक कारण से, तो ऐसी दशा में निराकार में मन की स्थिरता न होने के कारण, मूर्तिपूजन को वही अधर्म कह सकता है जो कि मीमांसादर्शन का कदापि दर्शन न किये हो । मूर्तिपूजा के विदूषक वेदवैनाशिक के सत्यार्थ प्रकाश ११ वें उल्लास में जो २ बातें कुछ कुछ सार वाली थीं, उनका खण्डन यहाँ तक हो चुका, और उस उल्लास की अवशिष्ट अन्यान्य बातें निस्सार और अश्लील हैं, इसलिये ऐसे ग्रन्थ में उनका लिखना और खण्डन करना भी उचित नहीं है तथा "जैसी देवता वैसी पूजा" इस प्रसिद्धि के अनुसार, अनेक भाषा ग्रन्थों में उन बातों का लोगों ने खण्डन किया ही हैं इसलिये उन बातों के खण्डन की आवश्यकता नहीं है। स्वामी के मतानुसारी कतिपय जन जो यह कहते हैं कि—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

इस मन्त्र से मूर्ति का निषेध है, क्योंकि 'अकाय' शब्द का शरीर रहित अर्थ है, सो यह उनका अज्ञान ही है क्योंकि ऐसा अर्थ करने में 'अव्रणम्' और 'अस्नाविरम्' ये दोनों विशेषण व्यर्थ ही हो जायँगे । प्रथम का व्रण (घाव) से रहित, और द्वितीय का नस नाड़ी बन्धन से रहित अर्थ है और जब परमात्मा का शरीर ही नही है, तब व्रण और नस का सम्भव ही नहीं हो सकता, तो ऐसी दशा में किसके वारण के लिये ये विशेषण हैं । जैसे (देवदत्त पुत्र रहित हैं और उनका पुत्र गोरा भी नहीं है, स्थूल भी नहीं है) इस वाक्य में पुत्र रहित के दोनों विशेषण व्यर्थ हैं, वैसे ही उक्त विशेषण व्यर्थ हो जायँगे। किन्तु 'अकाय' शब्द में 'काय' शब्द चिञ् चयने धातु से बनता है इसलिये "काय" शब्द का वह शरीर अर्थ है जो कि सञ्चित कर्मों से बनता है, और अकाय कहने का यही तात्पर्य है कि परमात्मा का विग्रह दिव्य है न कि कर्म से जन्य, इसी से उसमें व्रण और नाड़ी बन्धन नहीं हैं । तथा स्वयम्भू शब्द भी इसी को दृढ़ करता है क्योंकि उसका यही अर्थ है कि परमात्मा स्वयं शरीर धारण करता है न कि जीवों के ऐसा कर्म के वशीभूत होकर। और यह तो ठीक ही है कि परमात्मा के दो प्रकार के स्वरूप हैं जैसा कि—

भाषा

उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च, परिमितश्चापरिमितश्च । द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तं च, असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है । ऐसे ही कोई बुद्धि के शत्रु यह भी कह पड़ते हैं कि—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधी ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में मूर्तिपूजकों को गधा बताया गया है, सो यह भी उनका साहस मात्र है । क्योंकि इसका यथार्थ अर्थ यह है कि जो मनुष्य, दुर्गन्धित और धातु त्रय से सम्बलित इस शरीर ही को आत्मा और स्त्री पुत्रादि को आत्मीय तथा भूमि से बनी वस्तुओं ही को पूज्य और जल ही को तीर्थ समझता है, और पण्डित मनुष्यों में कदापि पूज्य बुद्धि नहीं रखता, वह ऐसा है जैसे गौओं में गधा ।

इससे मूर्तिपूजकों से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वे प्रतिमा में उसके अधिष्ठात्री देवता ही का पूजन करते हैं, और यही कहते भी हैं कि मैं अमुक देवता का पूजन करता हूँ, तथा ऐसा कदापि नहीं कहते कि मैं पत्थर पूजता हूँ, ऐसे ही जल में भी जलाभिमानी देवता ही उनका पूज्य है । हाँ जो यह समझे कि प्रतिमा वा जल ही देवता है, उससे अन्य देवता नहीं है, उसी को इस श्लोक में गधा बताया है । ऐसे ही कोई कोई अज्ञानी यह भी कहते हैं कि—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥

भागवत के इस श्लोक में मूर्तिपूजा का खण्डन है, सो भी उनका व्यर्थ दुराग्रह ही है क्योंकि इसका सीधा २ यही अर्थ है कि तीर्थ केवल जलमय नहीं है, और न देवता ही मट्टी वा पाषाणमय है, वे अधिक काल में पवित्र करते हैं, और साधु लोग अपने दर्शन ही से पवित्र करते हैं । यदि इसमें मूर्तिपूजा का खण्डन होता तो यह कदापि नहीं कहते कि वे अधिक काल में पवित्र करते हैं, क्योंकि जिसमें पवित्र करने की शक्ति ही नहीं होती वह कालत्रय में भी पवित्र नहीं कर सकता है। जैसे बालू में तेल देने की शक्ति नहीं है, इसी से अनेक यत्न करने पर भी वह त्रिकाल में भी तेल नहीं दे सकता ।

इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्व श्लोक का जो तात्पर्य है वही इस श्लोक का भी है कि देवताओं को मट्टी पत्थर समझना और तीर्थों को जल मात्र समझना मूर्खों का काम है, किंतु मट्टी, पत्थर, जल के अधिष्ठातृ देव को पूज्य समझना ही बुद्धिमानों का काम है, और जिनको इतनी बुद्धि नहीं है, तब भी श्रद्धा से मूर्तिपूजा करते हैं, उनको अधिक काल में पवित्रता का लाभ होता है ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

सनातनधर्मोद्धारतृतीयखण्डस्य

शुद्धाशुद्धिपत्रिका

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
७३९	१९	कामना के विना	कामना से जो वैदिक कर्म किया जाता है वह वैदिक कर्म, प्रवृत्त धर्म है और उक्त विषयानन्द की कामना
७४०	१३	लोम	लोभ
,,	२०	यह	इससे यह
,,	२८	के होते हैं	का होता है
७४४	१६	वृत्तम्	वित्तं
,,	१७	ज्ञानं तथैव	जानंस्तथैव
७४५	२७	व्याख्यान	आख्यान
७४६	८	मोक्षजकत्व	मोक्षजनकत्व
७४७	११	अद्रोः	अद्रोहः
७४८	१६	गाहस्थः	गार्हस्थः
७५०	३१	क्रियायों	क्रियाओं
७५२	२८	मातापितृ-गुरूणां	मातृपितृगुरूणां
७५७	१६	ँचित्य	ँचिन्त्य
७६१	१८	तद्गृहाणार्घ्य	तद्गृहाणाघ्य
७६२	३	ह्वि	हि
,,	५	तिष्ठत्त्येत-द्दिनार्ध	तिष्ठत्येतद्दिनार्ध
७६७	३०	बांध कर लेचला	बांधकर उस लड़के को भी माता के साथ बांध कर लेचला
७७०	१५	कष्टश्चाण्डाल	कष्टञ्चाण्डाल
७७१	२६	पापिष्ट	पापिष्ठ
७७३	१४	वृहस्पते	बृहस्पते
७७४	९	नाभ्यजालान्तृ-पसुता	नाभ्यजान-नृपसुता
७७६	२६	मूछित	मच्छिंत
७७८	१२	मग्नः	भग्नः
७७९	१५	वद्ध्वाञ्जलिः	बद्धाञ्जलि,
७८२	१६	सोऽभ्यर्याचन्नृप	सोऽभ्यषिञ्चन्नृप
७८३	१६	मनुत्तम	मनुत्तमम्
७८३	२७	और म	और में
७८३	३३	वृत्यर्थे	वृत्त्यर्थे
७८६	१३	मात्रसज्जनाः	नात्र सज्जनाः
७८८	१३	विप्रत्ति	विप्रति
७९३	२	यस्त्वा	मस्त्वा
७९४	५	सभमवत्	समभवत्
,,	९	काश्यपः	कश्यपः
,,	२८	वह और	और वह
७९६	१३	काकुत्स्थस्य	ककुत्स्थस्य
७९८	६	माता पितरौ	मातापितरौ
,,	१६	प्रतीज्ञा	प्रतिज्ञा
८०४	१६	मत्रीन्	मन्त्रीन्
८०९	३	विष्णुाक्रान्तेषु	विष्णुक्रान्तेषु
८१३	२८	औषधि	ओषधि
८१५	२४	बनाने व	बनाने और
८२०	५	मीश्वरोऽपि	मीश्वरेऽपि
८२१	१७	लोकाः	लोकः
८२३	२०	नोऽस्मनात्य	नोऽस्मानात्य
८२४	८	वाक्वाऽसौ	वाक्क्वाऽसौ
८२५	८	मनुष्यैरेव	मनुष्यैरेवं
८२८	२२	विकत्थन	विकत्थन
८२९	१७	सश्रयः	संश्रयः
८२९	२४	आरुढ़	आरूढ़
८३०	२५	जहाँ को	जहाँ कि
८३०	३०	तपस्थान	तपस्या न
८३२	२९	हुइ	हुई
८३३	३१	सिर	शिर
८३५	२५	,,	,,
८३८	३०	आमात्य	अमात्य
८३९	७	परम्	वरम्

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
८४०	२६	कुष्ट	कुष्ठ
८४१	२७	इर्ष्याविग	ईर्ष्याविग
८४१	२९	कैमार	क़ौमार
८४१	३०	समूद्र	समुद्र
८४२	२७	गुरु पत्नी गमन	गुरुपत्नीगमन
८४३	२४	अतिथ	अतिथि
८४८	२३	सन्यासाश्रम	संन्यासाश्रम
८५८	१६	धर्मात्मानं	धर्मात्मनां
८६१	२	धमर्स्य	धर्मस्य
,,	३१	दान कि	दानकी
८६३	१७	करमादभिहितं	कस्मादभिहितं
८७१	४	अधृश्य:	अधृष्यः
८७२	२३	धम	धर्म
८७६	४	मांसमेकं	मासमेकं
८७६	१३	नृपेण	नृगेण
८७६	२३	पुरामांसं न भक्षितम्	क्षुपेण भरतेन च
८७६	२५	काल	काल के
८७९	२१	श्रद्वा	श्रद्धा
८८६	१९	दीघायु	दीर्घायु
८८६	२७	उवास	उपवास
८८७	१७	श्रणु	शृणु
८९१	२	सर्वेषावमे	सर्वेषामेव
८९५	३२	उपरोक्त	उपर्युक्त
८९७	२८	दुर्वल	दुर्बल
८९९	३१	श्राद्ध	श्रद्धा
९०३	२६	वेचता	बेचता
९११	३१	छिपे	लिये
९१६	१२	सदुःखितो	स दुःखितो
९१७	३	प्रसवत्यर्थे	प्रसवत्यर्थे
९१९	५	प्रवृत्यात्मक	प्रवृत्त्यात्मक
९२०	१५	भिन्न	मित्र
९२४	४	वृंत्या	वृत्त्या
९२४	१९	प्रत्याहतं	प्रत्याह तं
९२७	७	न सन्ति	नशन्ति
९२७	२१	जव	जन
९२८	३	उपानद्धूढ़	उपानद्गूढ
९३०	११	शुशूषका	शुश्रूषका
९३०	१३	ह्यनीषवः	ह्यनीर्षवः
९३०	३०	पुत्रदार	पुत्र, दार

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
९३९	२०	औषधि	औषध
९४३	२७	वर्छि	वरछी
९४८	१९	नात्यत्	नान्यत्
९४९	११	प्रसाद	प्रासाद
९४९	२४	श्रीराम	श्रीरामने
९५०	२७	विवाद	विषाद
९५१	६	प्रतिवत्सलः	प्रति वत्सलः
९५१	३३	विचार	विकार
९६०	१७	वर्णशंकर	वर्णसंकर
९६४	३१	आश्रुवों	अश्रुओं
९६५	२९	अवला	अबला
९६६	२७	परिक्षित	परीक्षित
९६७	३२	प्रदक्षिण	प्रदक्षिणा
९६७	३४	हुऐ	हुए
९६८	१७	विदाम्बर	विदाम्वर
,,	२४	के कारण	के शाप के कारण
,,	३३	और वंश	और ऋषिवंश
,,	३३	परम्परा ऋषिमें	परम्परा में
९६९	२७	वीर्यमान	वीर्यवान
९७०	९	वृहद्बलः	बृहद्बलः
,,	२०	शत्र	शत्रु
,,	२८	वृहद्बल	बृहद्बल
९७३	८	नीतैषां	नीतैषा
९७६	३३	शत्र	शत्रु
९७८	१७	वाच्यमेषते	वाच्यमेष ते
९८५	३२	मृत्यु के	मृत्यु को
९८८	२०	पियतरम्	प्रियतरम्
९८८	३३	गुरू	गुरु
९९०	९	वरस्त्री	परस्त्री
९९०	२५	जैसीकी	जैसी कि
९९१	१४	पत्नीरामस्य	पत्नी रामस्य
९९२	१३	यत्वमिहागतः	यस्त्वमिहागतः
९९२	३०	वाल्य	बाल्य
९९३	१३	कच्चित्वं	कच्चित्त्वं
९९९	३२	निश्चत	निश्चित
१००२	२१	सम विभाग	संविभाग
१००३	११	आत्मन	आत्मान
,,	२०	सम्विभाग	संविभाग
१००४	१३	ह्यधिष्ठानदाढर्यं	ह्यधिष्ठान-ज्ञानदाढर्यं

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१००४	२९	गुरू	गुरु
१००६	१४	कलाना	कलना
,,	२८	ब्रह्मारूपी रुद्ररूपी	ब्रह्मारूपी, विष्णुरूपी, रुद्ररूपी
१००८	५	मणिभिः	मणुभिः
१००९	२२	यह भाव	मनमात्र
१०१०	११	स्थानः स्तासां	स्थानस्तासां
१०११	२१	प्रावृहदग्नि	प्रावृहदग्नि
१०१२	४	रर्थभेदे	रर्थभेदः भेदे
१०१३	२४	एवौपत्तिकेन	एवौत्पत्तिकेन
१०१४	२०	तपति	तपन्ति
१०१४	२३	तेषां	एषां
१०१७	२५	स्तनायित्नु	स्तनयित्नु
१०१७	२६	विजुली	बिजुली
१०२०	४	चुक्रधुः	चुक्रुधुः
१०२०	१२	गुरू	गुरु
१०२१	११	चोपपबृंहक	चोपबृंहक
१०२१	१३	अयमेवचाङ्ग	अयमेव चाङ्ग
१०२२	१२	ऋतातवा	ऋतावा
१०२३	८	नृह्मादि	ब्रह्मादि
१०२६	१०	पिवत्	पिबत्
१०२६	१७	जगृम्माते	जगृम्भाते
१०२९	३	चारेण	चारणे
१०३१	२२	तु विग्रीवा- दयोऽस्य	तुविग्रीवा- दयोऽस्य
१०३४	६	अर्थित्वाद्या- धिकार	अर्थित्वाद्यधिकार
१०३७	२	प्राप्नुयत्	प्राप्नुयात्
१०३७	२१	योगों	यागों
१०३८	२९	वस्तु	वसु
१०४२	४	'भादविरुद्धम्	संभवादविरुद्धम्
१०४५	६	कृतिकाभ्यः	कृत्तिकाभ्यः
१०४६	३२	इह	इस
१०४७	११	ज्यौतिषि	ज्योतिषि
१०४८	२१	भवन्तु	भावं तु
१०४८	२२	द्वैयायन	द्वैपायन
१०४९	२४	इतिहाह	इतिहास
१०४९	२५	ब्रा०	ब्रा०
१०५१	१४	वेदराशी	वेदराशि

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१०५१	२३	यज्ञस्तभ	यज्ञस्तंभ
१०५१	३४	श्रतियों	श्रुतियों
१०५३	१५	आवो	आओ
१०५५	२१	समप्रयोगः	संप्रयोगः
१०५८	७	कल्पान्तर	कालान्तर
१०५९	२	दुखं	दुःखं
१०६०	२३	एवा साधु	एवासाधु
,,	३१	श्रौ	और
१०६१	२६	करना	कराना
१०६२	३१	रीत	रीति
१०६२	३३	सव	सब
१०६३	१९	हैं	हे
१०६६	२३	सं	स
१०७०	२५	इसके	इससे
१०७०	२९	पूर्वार्धं	पूर्वार्धं
१०७१	१०	वृत्येति	वृत्येति
१०७६	२२	घानोरर्था- नुगामा	धातोरर्थानुगमा
१०७९	३	पुनजर्न्म	पुनर्जन्म
१०८१	२३	पुराणप्रमाण्य	पुराणप्रामाण्य
,,	२८	,,	,,
१०८२	३०	शृग	शृंग
१०८३	२२	शं०	श०
१०८८	७	जाम्ववान्	जाम्बवान्
,,	९	प्राप्तास्म	प्राप्ताःस्म
,,	३२	ऐसे	ऐसा
,,	३३	बृद्ध	वृद्ध
१०८९	३०	कैसे पहुँच	कैसे हानि पहुँच
१०९०	४	प्रभाषाणां	प्रभावाणां
१०९१	१७	अस्थानी	आस्थानी
१०९३	२	प्रतिफाल्गुनम्	प्रति फाल्गुनम्
१०९८	५	प्रसादादीन्	विषादादीन्
११०१	४	न प्रतिकेन	न प्रतीके न
११०४	३	वृत्या	वृत्या
११०५	७	सादृश्यस्यारि	सादृश्यस्यापि
१११०	६	सुरर्गभा	सुरर्षभाः
,,	२०	चतुर्वक्त्रि	चतुर्वक्त्र
११२२	१८	परीश्रित्	परिश्रित
११२४	१८	अर्द्ध	अर्द्धं
,,	२२	घृत	घृत

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२५	वैठ	बैठ
११२५	२२	ही	हि
११२६	५	सहितः	सहितः सविता
११२६	१८	प्रऊग	प्रउग
११२८	१२	एवनिकषो	एव निकषो
११३०	५	विष्णु	विष्णोः
११३१	१५	चाक्ष्म्यधि-ष्ठित	चालक्ष्म्यधिष्ठित
११३२	३	दुष्टतत्	दुष्टैतत्
११३४	१४	का०	ब्रा०
११३९	२४	धूपयत्व-श्वस्येति	धूपयत्यश्वस्येति
११४०	१२	मेवंत्	मेवैतत्
११४२	१९	शूशचानो	शुशुचानो
११४३	२४	जपते	तपते
११४४	७	अङ्गुण्ठङ्गुलि	अङ्गुष्ठाङ्गुलि
११४५	३१	बा०	ब्रा०
११५१	५	त्वष्ट्ट	त्वष्टृ
,,	११	,,	,,
,,	१४	,,	,,
,,	२४	,,	,,
११५२	८	पृथिव्यां	पृथिव्या
११५३	२	अग्नीध्रे	आग्नीध्रे
,,	२६	हुऐ	हुए
,,	२८	इन्दिय	इन्द्रिय
११५४	१२	प्रणाय	प्राणाय
,,	२०	स्वहा	स्वाहा
११५४	२१	अग्न्ये	अग्नये
११५५	२५	यज्ञ से	यज्ञ में
११६०	२५	करै	करैं
११६५	३२	प्रक्ती	प्रकृति
११६८	३४	ति	श्रुति
११७१	३	मुपपादितेनं-शावरेण	मुपपादितमेव-शाबरेण
११७१	६	संभबे	संभवे
११७७	१२	अतुलित्व	अतुलितत्व
११७८	७	पंङ्क	पङ्क
११८१	९	श्रयते	श्रूयते
११८२	५	प्रस्टु	प्रष्टु
,,	१३	श्रतियाँ	श्रुतियाँ
,,	३१	आलम्वन	आलम्बन
११८३	१५	प्राप्ति	प्राप्त
११८४	३	परमवेति	परमेवेति
११८८	३१	रशना	रसना
११८९	६	निराकर	निराकार